आलोचना व निबन्ध

	. ाथा ।वजयेन्द्र स्नातक	५)
	नन्ददुलारे बाजपेयी	४)
.सद्धांत	यज्ञदत्त शर्मा	२॥)
. ...ाहत्य और सिद्धांत	यज्ञदत्त शर्मा	२॥)
सूरदास : साहित्य और सिद्धांत	यज्ञदत्त शर्मा	२॥)
हिन्दी काव्य-विमर्श	गुलाबराय	३॥)
हिन्दी नाटककार	जयनाथ 'नलिन'	५)
कहानी और कहानीकार	मोहनलाल जिज्ञासु	३)
तुलनात्मक अध्ययन	कृष्णचन्द्र शर्मा तथा देवीशरण रस्तोगी	३)
मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ	डॉ. सावित्री सिन्हा	८)
हिन्दी-निबंधकार	जयनाथ 'नलिन'	६)
कामायनी-दर्शन	सहल तथा स्नातक	४)
सिद्धांत और अध्ययन	गुलाबराय	६)
साहित्य-समीक्षा	गुलाबराय	१॥।)
रोमांटिक साहित्य-शास्त्र	डॉ. देवराज उपाध्याय	३॥।)
साहित्य-विवेचन	क्षेमचन्द्र सुमन तथा योगेन्द्रकुमार मल्लिक	७)
साहित्य-विवेचन के सिद्धांत	" "	३)
हिन्दी काव्यालंकार सूत्र	आचार्य विश्वेश्वर, सं. डॉ. नगेन्द्र	१२)
समीक्षायण	कन्हैयालाल सहल	३)
प्रगतिवाद की रूपरेखा		
साहित्य जिज्ञासा	ललिताप्रस . ुकुल	[illegible]
संतुलन	प्रभाकर माचवे	४)
साहित्यानुशीलन	शिवदान सिंह चौहान	६)
प्रबंध-सागर	यज्ञदत्त शर्मा	५॥)
आदर्श पत्र-लेखन	यज्ञदत्त शर्मा	७॥)
आदर्श भाषण-कला	यज्ञदत्त शर्मा	[illegible])
अनुसंधान का स्वरूप	डॉ. सावित्री ि न्हा	३)
हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति	स्नातक तथा सुमन	३)

आतमाराम एण्ड संस, दिल्ली-६

हिन्दी के आलोचक

सम्पा[illegible]

शचीरानी गुर्टू, एम. ए.

१९५५

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली—६

मूल्य आठ रुपये

काश्मीरी गेट, दिल्ली

शचीरानी गुर्टू के आलोचनात्मक ग्रन्थ

मौलिक

साहित्य-दर्शन		८)
कला-दर्शन	(प्रेस में)	२२)
भारतीय कलाकार	(प्रेस में)	१५)
साहित्यिकी		५)
साहित्य-चिन्तन		६)
विश्व की महान् महिलाएँ		५)

सम्पादित

सुमित्रानंदन पंत : काव्यकला और जीवन-दर्शन	६)
महादेवी वर्मा : काव्यकला और जीवन-दर्शन	६
हिन्दी के आलोचक	[illegible]
प्रेमचन्द और गोर्की	[illegible]
काव्य-दर्शन	३)

आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ६

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दि

निवेदन

ालोचकों पर प्रामाणिक सामग्री की कमी थी इस विचार से यह संकलन किया गया
नई हित्यिक रुचियों के निर्माण में यह कदाचित् उपादेय हो सके। आचार्य
अर्वाचीन आल [illegible] से लेकर इधर के मान्य आलोचकों को एक क्रम से रखकर और
आकर एक विशेष समय-प्रसार को न [illegible]
प्रयास किया गया है। कई बार उल्लिखित विचारों से सहमत न होते [illegible] लोचकों तक
लेखकों को छूट दी है, हाँ—अतिरंजना को कहीं प्रश्रय नहीं दिया गया।

निश्चय ही इस संकलन में त्रुटियाँ होंगी और उस स्तर के अनेक आलोचक भी [illegible]ूट गए होंगे जिन्हें कि इस पुस्तक में स्थान दिया गया है। यह उनकी जान-बूझकर उपेक्षा नहीं, बल्कि हमारी सूझ की कमी और उन तक दृष्टि न जाने का दोष है। इस सम्बन्ध में प्राप्त सुझावों का हम स्वागत करेंगे और आगामी संस्करण में सभी त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा भी।

७/२३, दरियागंज, दिल्ली
फरवरी, १९५५

शचीरानी गुर्टू

विषय-सूची

क्षुद्र एवं उदात्त चिन्तन, विचारधाराएँ, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष और जानी-अजानी क्रियाएँ, सचेत, अर्द्धचेत तथा अचेत मन के अज्ञात, अवांछित निर्देश, सुषुप्ति अथवा जाग्रतावस्था के कार्य-व्यापार, उसकी तूफ़ानी या संतुलित वृत्तियाँ सभी का उद्‌गम 'काम' अर्थात् भोगजन्य उत्तेजना है, जिसको फ्रायड युवावस्था में ही नहीं बल्कि शैशवावस्था से ही अविकसित रूप में स्वीकार करता है ।

अपने यहाँ भी विश्लेषणवादी आलोचकों का एक ऐसा वर्ग बन गया है जो फ्रायड के पदचिह्नों का अनुसरण करता हुआ स्त्री और पुरुष के बीच के स्थूल शारीरिक द्वंद्वात्मक आकर्षण को ही सर्वोपरि मानता है ।

"हमारे व्यक्तित्व में होने वाला संघर्ष मुख्यतया काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है; अतः उसकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है ।"
(डॉ. नगेंद्र, 'विचार और अनुभूति')

इसी प्रकार नगेंद्र जी ने समस्त छायावादी काव्य को 'काम' से प्रेरित माना है। प्रेमचन्द वाले लेख में उन्होंने लिखा है :

"साहित्य में कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूँ विश्व-साहित्य का वृहदांश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप में संवर्द्धन प्राप्त करता है ।"
('विचार और विवेचन' पृष्ठ ९३)

'अज्ञेय' ने तो आज के समूचे साहित्य को कुंठाजात माना है। 'त्रिशंकु' में 'परिस्थिति और साहित्यकार' शीर्षक निबंध में उन्होंने स्पष्ट उद्‌घोषणा की है––

"आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का, या कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास (wishful thinking) का साहित्य है।"

इसी लेख में एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं :

"––––––हमारे देश की आधुनिक अवस्था में अनुकूलता की, संतोषजनक सामाजिक परिवृत्ति की माँग दुस्सह हो उठी है ।

इसी माँग के कुंठित हो जाने से जो दोहृद, जो क्लान्त अतृप्ति पैदा होती है वह एक विशेष प्रकार के साहित्य को ही प्रेरित कर सकती है।

आज का हिन्दी साहित्य प्रायः ठीक ऐसा ही साहित्य है।"

'अज्ञेय' ने मनुष्य को अनुशासित करने वाली दो प्रमुख वृत्तियाँ मानी है––अहं और काम, जिनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है। मनुष्य की उपभोग वृत्ति के साथ उस का अहं टकराता रहता है। कहीं अहंभाव में दमित काम का पर्यवसान हो जाता है और कहीं काम के अनुशासन को स्वीकार करके अहंभाव की एकांगी विकासमूलक साधना की चरम परिणति सी दृष्टिगत होती है । नैतिक व्यवधान और सामाजिक परिवेश मानवीय विफल कुंठाओं पर प्रवंचना का पर्दा डाल देते है जिससे असहनीय स्थिति, अर्थात् उनकी भाषा में––दोहृद पैदा हो जाता है।

डॉ० नगेन्द्र अभी फ्रायड के मतवादों से मुक्त नहीं हो पाए हैं—"प्रगतिवाद के एकाध नादान दोस्त की मोटी अक़्ल में फ्रायड का महत्त्व नहीं बैठ पाता, पर इससे फ्रायड का कुछ नही बनता-बिगड़ता ।"

पर लगता है उनके पैर डगमगाने लगे हैं और वे फ्रायड से पीछा छुड़ाना चाहते है। एक रेडियो-प्रसारित वार्त्ता में उन्होंने कहा था, "मेरे सहयोगी और सम-सामयिक मुझे फ्रायडवादी समझते हैं, किन्तु उनकी यह धारणा ग़लत है।"

'अज्ञेय' तो पक्के यौनवादी होते हुए भी प्रगतिशीलता का दम्भ भरते नही थकते।

लेकिन फ्रायड के इस स्थूल दैहिक आकर्षण ने इधर नवशिक्षित नौसिखओं की बुद्धि को इतना झकझोरा है कि जो स्थापनाएँ अब पश्चिम में ही संदिग्ध हो गई है या उन्हें ना-काफ़ी मान कर कितने ही हेर-फेर किए जा रहे हैं—उन्हें नये सिरे से अपनाकर वे अपने आपको गौरवान्वित मानते है। दो-एक प्रतिष्ठित आलोचकों की शह पाकर तो आधुनिक मनोविज्ञान के प्रतिमानों को, जो स्वयं शैशव और प्रयोग की संदिग्धावस्था में है, हिन्दी-साहित्य पर इस प्रकार थोपा जा रहा है कि नकारात्मक संकीर्ण स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया जा रहा है। फ्रायड के इन अन्ध मतानुयायियों को देखकर उन अर्द्धविक्षिप्त, कामातुर और विकृत रोगियों की लम्बी कतार आँखों के सामने आ खड़ी होती है जिनके मस्तिष्क में विवशता की घुटन है और वहमी उलझनों के कीड़े कसमसा रहे हैं। मनोविज्ञान की आड़ लेकर और मतवादी संकीर्ण सीमाओं के कटघरे में बाँधकर जो साहित्य को एकांगी और मर्यादाहीन बना रहे है वे उसे चरम विकास के मुँहाने पर ले जाने के बहाने कहाँ—कितनी दूर तक—अधबीच में—ले जाकर छोड़ देंगे—कहा नही जा सकता। भीतर-ही-भीतर वासना का घुन इन्हें खाए जा रहा है जो इनके पशुत्व को उभार कर अधिकाधिक इन्हें खोखला और पुंसत्वहीन बना रहा है।

किसी भी आलोचक को आलोचना की निजी कसौटी अख्तियार करने की तो स्वतन्त्रता है, परन्तु साहित्य को इस प्रकार स्वेच्छाचार से कुंठित करने का उसे कोई अधिकार नहीं।

अतिचारवाद या अवैध उन्मुक्ति

उपर्युक्त मनोविश्लेषणवादी धारा के समानान्तर कुछ अन्य प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ भी साथ-ही-साथ पनप रही है। मुख्यतः हमारे अत्याधुनिक समीक्षकों में यह भावना घर करती जा रही है कि विचार और अभिव्यक्ति में बेरोकटोक स्वतन्त्रता बरतनी चाहिए। भले ही वे प्रगतिशील हों या प्रयोगशील, अथवा ऊपर से फ्रायड के दुश्मन ही क्यों न हों—वे किसी भी साहित्य के आचार-उपचार को न मान कर कहते हैं—'किसी भी प्रतिबन्ध को न मानो, जो बात कहनी हो खुले दिल से कहो। किसी की पर्वाह न करो, किसी की लिहाज़ में अपने भीतर की दबी हुई वासनाओं, अतृप्तियों, आकांक्षाओं का गला न दबाओ। अतएव उन तत्त्वों और निषेधों को निर्मूल कर दो, जो कला के रूप और विषय की पूर्ण स्वतन्त्रता एवं

नेर्बोधता में अड़ंगा डालें।' ऐसा प्रतीत होता है कि मानसिक संघर्ष मनुष्य की चेतना को ठेलकर और उसका कसमसाता भीतरी विद्रोह ऊबकर व खीझकर समस्त बंधनों को तोड़ता हुआ बाहर फूट पड़ना चाहता है। मनोविश्लेषणवादियों का कामशास्त्र बहुत कुछ मनः कल्पना है, अतः बौद्धिक अधिक है। जिन्हें इसमें काल्पनिक सुख मिला वे इससे सम्मोहित ही अधिक हुए, क्योंकि भारतीय साहित्य-परम्परा के अंतर्गत इस विजातीय तत्त्व की पूर्णतया खपत न हो पाई। यहाँ के मनोविश्लेषणवादी आलोचक भी इसे बुद्धि द्वारा ही ग्रहण कर सके, अनुभूति द्वारा उसे अनुप्राणित नही कर पाए।

किन्तु यथार्थवादियो ने इस भावना को नये स्वर मे जगाया है। वे मन के छद्म आवरणों का पर्दाफाश कर 'काम' के उद्वेग का खुला, निर्बाध निष्कासन पसंद करते है। इस पतनवादी प्रवृत्ति की ऐसी लहर सी आई है कि उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता आदि पर तो इसका गहरा प्रभाव है ही, आलोचना भी इसके असर मे अछूती नही रह सकी है।

एक और प्रवृत्ति इधर जोरों पर है, जो साहित्य की सहज गति को रुद्ध करने वाली है। प्रायः जो आलोचक आलोचना के क्षेत्र में उतरते है, वे विवाद या तर्क-वितर्क करना तो पसंद करते है, पर ग्राही नही है। कोरी युक्तियाँ ही उनके पास रहती है, अनुभूति की पूंजी उनके पास बहुत कम होती है। परिणाम यह होता है कि ऐसी अधिकांश आलोचनाएँ असंगत और अविश्वसनीय हो रही है।

प्रगतिवादी समीक्षा

नये युग की नवोद्भावित चेतना ने इधर साहित्य को नई राह दी है। जीवन बिखर कर इतनी धाराओं मे बहने लगा है कि साहित्य का गति-परिवर्त्तन अवश्यम्भावी भी हो गया। समष्टिगत गतिवेग ने प्रगतिवादी आलोचना को प्रश्रय दिया और इस तरह की आलोचना खूब पनपी भी, पर परम्परागत संस्कारों में अनास्था उत्पन्न करके विचारों की क़शमक़श, श्रेष्ठता के दम्भ और नित-नई समस्याओं की खीचतान ने जीवन के दुर्बल पक्ष ही उसमें अधिक उभारे। फिर ज्यों-ज्यों प्रगतिवाद मार्क्सवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialisn) से प्रभावित हुआ, वह वर्गहीन समाज-व्यवस्था में विश्वास करने लगा और उसके वाह्य परिवेश भी बदल गए। नई-नई शंकाओं के साथ नए-नए समाधान और निराली समस्याएँ भी सामने रखी गई। वर्त्तमान को अतीत से विच्छिन्न करके देखा गया और साहित्य के शाश्वत तत्त्व द्वन्द्ववाद में आ सिमटे।

इस द्वन्द्व से उद्भूत एक गतिरोध इधर की आलोचनाओं में दीख पड़ रहा है। प्रगतिवादी समीक्षक द्वन्द्व में ही विकास का स्रोत समझकर जिस अधिकारवादी रुख़ को अपनाते जा रहे है वह संकीर्ण सत्तावाद का वाहक बन कर प्रतिगामी और परस्पर-विरोधी तत्त्वों का एक दूसरे में अंतर्गठन कर साहित्य को गतिमान करने की बजाय उसके वेग को रोक रहा है।

अब तक विशेष सिद्धान्तों की कसौटी पर विभिन्न विचारधारा के विपक्षी दलों में ही

परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना हुआ करती थी, जिससे साहित्य के अच्छे-बुरे, सबल और दुर्बल पहलू उभर आया करते थे। इससे राहत मिलती थी और अपनी-अपनी रुचियों को प्रश्रय देने का मौक़ा भी मिल जाता था। मसलन, ऐसी आलोचनाएं सदैव अभिनंदनीय होंगी जो साहित्य के मिथुनाचार का वहिष्कार कर उसे स्वस्थता की ओर प्रेरित करेंगी।

"वात्स्यायन जी बार-बार कलाकार के 'स्वानुभूत सत्य' और उसकी 'ईमानदारी' की बात उठाते है, बातें दोनों ही ठीक है। जिस साहित्य में कलाकार का अपना स्वानुभूत सत्य नही होता वह घटिया साहित्य होता है, घटिया और प्रभावशून्य। बिलकुल ठीक बात है। उसी तरह जिस साहित्य के पीछे साहित्यकार की ईमानदारी नहीं होती वह दो कौड़ी का साहित्य होता है। बिलकुल ठीक बात है। देखना यह है कि इसमें कुछ बात बिन-कही भी छोड़ दी गई है। वह बिन-कही बात यह है कि एक ख़ास तरह की अनुभूति ही अनुभति है और एक ख़ास तरह की ईमानदारी ही ईमानदारी! यानी अगर अपने कमरे में बन्द आप अपने काम-ग्रसित या अहंपीड़ित या घुटन और अवसाद भरे मन की बारीक गुलकारियाँ दिखलायें तो वह आप की सच्ची अनुभूति और स्वानुभूति मानी जायेगी, लेकिन अगर आप किमी क्रांतिकारी भावना या घटना का चित्र खीचें तो वह आप की स्वानुभूत बात नही मानी जायेगी, वह रचना कम्युनिस्ट प्रचार के अन्दर परिगणित हो जायेगी! मगर बात ममझ में नहीं आती कि मेज़ पर पडी हुई धूल या ज़मीन पर रेंगते हुए कीड़े या मक्खी को अपने जाल में फँसाने वाली मकडी या मैथुन करती हुई छिपकिली या कबूतरी या पनीली स्याही की दावात का यथार्थवादी, क्लिनिकल परफेक्शन तक पहुँचा हुआ, चित्रण अगर कवि की ईमानदारी में दाख़िल है तो कूच-बिहार के गोलीकांड पर एक कहानी या कविता या रिपोर्ताज़ लिखना उसकी ईमानदारी में दाख़िल क्यों नही? शरद् की जुन्हाई या नदी-तट की अपार बालुका राशि देखकर ही हमारे इन कवियों की सरस्वती क्यो जागती है? निशीथ की ठिठुरती हुई निःस्तब्ध वेला में उन्हें हर बार अपनी प्रिया का ही ध्यान क्यों आता है, एक बार भी किसी ग़रीब बेचारी लड़की का ध्यान क्यों नहीं आता जो ठिठुरते हुए रात काट रही है और जिस की हर रात इसी तरह कटती है? कवि तो बड़ा भावुक प्राणी होता है। क्या एक बार भी उसे इस ग़रीब लड़की की पीड़ा की अनुभूति नही होती? अगर होती है तो उसके अपने साहित्य में उसका प्रमाण? और अगर नही होती तो क्यों नही होती? वह सत्य कभी भी उसका स्वानुभूत सत्य क्यों नही बनता, क्यों ये चीज़ें सदा उसके लिए बेग़ानी रही आती हैं? कवि के सारे प्रतीक व्यर्थता और थकान, पीड़ा और अवसाद, पराजय और मृत्यु के ही क्यों हैं, एक ख़ास तरह की Ennui क्यों उसका दामन नहीं छोड़ती? क्यों नयी ज़िन्दगी का उबाल, उसका जोश और जवानी, उसका अजेय संकल्प, उसका हज़ार तकलीफ़ों में भी मुसकराना, उसका sense of fulfilment 'अज्ञेय' जैसे कवियों के यहाँ नहीं मिलता (यहाँ चाहे विदेशी साहित्य में) यह सवाल हम वात्स्यायन जी से पूछते हैं। क्यों ऊब और थकन और

मौत और अँधेरे और फ्रायडीय मनोविज्ञान के बारीक से बारीक रेशों की तराश आप को उनके यहाँ मिल जायगी, मगर शासक-वर्ग के बड़े से बड़े जुल्म और बड़ी से बड़ी सख्तियाँ, गोलियाँ और लाठियाँ और पुलिस की हिरासत में और जेलों में दी गई यंत्रणाएँ—इनकी सब की कोई प्रतिध्वनि इस कवि-हृदय में नही होती, इनके खिलाफ एक भी प्रतिवाद का स्वर उसके मुँह से नही निकलता। मरे हुए कुत्ते को देखकर यह बीस पंक्तियों की एक कविता लिख सकता है, मगर सलेम के जेल गोलीकांड में मरे हुए पच्चीस और घायल एक सौ राजबंदियों की बाबत पढ़कर और सुनकर उसे दो पंक्तियाँ लिखने की भी प्रेरणा नही होती। कवि कहेगा—यह मेरा स्वानुभूत नही है।"

(अमृतराय, 'हंस', दिसम्बर, १९५१)

और इसी तरह फ्रायडीय पद्धति की कुत्सित मनोवैज्ञानिकता को कड़ी लताड़ देते हुए शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है:

"मोटे तौर पर, मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके सहज वृत्तियों, आवेगों और भावनाओं को अधिक मानवीय, संस्कृत और स्वस्थ बनाने वाले सामाजिक प्रभावों का निदश करना मनोविज्ञान का काम है। परन्तु ये मनोवैज्ञानिक!

इन लकड़बग्घों के घृणित मनोविज्ञान पर टिप्पणी करना भी किसी इंसान का स्वाभिमान गवारा नही कर सकता।...............मानवीय विचार, नैतिक, मर्यादा, मानवीय भाव, सांस्कृतिक परम्परा, समाज संबंध, कला-दर्शन, विज्ञान आज कोई चीज़ भी तो इन मौत के व्यापारियों के निकट सत्य और पुनीत नही है। मानव-आत्मा और मानव-विवेक की हत्या करके वहाँ पर एक विक्षिप्त नरभक्षी कुंभकरण को जगाना आज उनकी विध्वंस योजना का अनिवार्य अंग है। उनका दुःस्वप्न कभी सफल नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन मृत्यु से अधिक बलवान है।"

(नई चेतना, अंक ४, १९५१)

मगर मानवीय विवेक जगानेवाली और सद्भावना व हमदर्दी से विचारों के आदान-प्रदान की चीजें इधर कम लिखी जा रही है। कुछ अर्से से प्रगतिवादी समीक्षा में ऐसी शाब्दिक पटेबाज़ी चल रही है कि ये लोग खुद एक दूसरे पर कीचड़ उछालकर बेबुनियाद सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार में समय नष्ट कर रहे है। अविश्वास और क्षुद्र अहंकार ने उनके बीच दुर्लंघ्य प्राचीरें खड़ी कर दी है। इसका एक सबसे बडा कारण यह है कि प्रगतिवादी या मार्क्सवादी कहे जाने वाले आलोचक अधिकतर तो वे अधकचरे अवसरवादी नवयुवक हैं जो नवीनता की चकाचौंध में बे-पर के उड़कर धरती पर पैर टिकाना नहीं चाहते। वे बदहवास एड़ लगाकर इस क़दर आगे बढ़ने की हिमाक़त कर रहे हैं कि प्रगति की दौड़ में सबको पीछे ढकेल देना चाहते है। ऐसे ग़ैरजिम्मेदार लेखक न साहित्य को नई परम्परा दे सकते है, न गंभीर मौलिक जीवन-दृष्टि और न मानव-हृदय को उद्वेलित करने वाला अन्तर्भावों का घात-प्रतिघात। प्रगतिवादी विचारधारा के कतिपय

मान्य आलोचकों ने यथार्थ समस्याओं को सामने रखकर युगीन दायित्वों की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया था अवश्य, पर अब तो उनके दिलों में भी गहरी खाई, विचारों में विलगाव और साहित्य के खरेपन की परीक्षा करने वाली उनकी एक-सी प्रतीत होने वाली कसौटियाँ दिन-दिन रंग बदल रही हैं। महान् क्रांति के उन्नायक और साहित्य को सशक्त बनाने वाले उत्तरदायी लेखक आज गुमराह हुए से लगते हैं।

नवम्बर, १९५१ के 'हंस' में अमृतराय जी ने प्रगतिवादी आलोचकों की सर्जनात्मक शक्ति का परिचय देते हुए डॉ. रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, शिवमंगलसिंह सुमन, शमशेर बहादुर सिंह, चन्द्रभूषण त्रिवेदी, राधाकृष्ण आदि कई लेखकों के नाम गिनाए थे और लिखा था : "क्या इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि सभी लोग बहुत मौलिक प्रतिभाएँ लेकर साहित्य में आए हैं और सभी ने अपने-अपने माध्यम से साहित्य को भावों की नई गहराइयाँ, नई सूझ-बूझ, ज़बान की नई करवटें, टेकनीक के नये निखार दिए ? पर क्या इतने ही से यह बात साफ नहीं हो जाती कि हमारी पीढ़ी बाँझ नहीं है ?"

उपर्युक्त मत से हम सहमत हैं और मानते हैं कि प्रगतिवादी समीक्षा महज़ ठूह पर स्थित या उजाड़ बीराने में से नहीं गुज़र रही है। उसमें प्रेरक शक्ति है, युग-चेतना के अधिक अनुकूल सत्य की साधना है और सामाजिक अर्थ में सृजनशील तत्त्व भी उसमें अधिक सक्रिय है।

जहाँ तक प्रगतिवाद की सहज गतिशील प्रवृत्तियों का प्रश्न है, वे केवल स्वीकार्य ही नहीं अपितु सामाजिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने के लिए आवश्यक भी हैं। कोई भी उनकी उपयोगिता एवं दुर्जेय शक्ति का तिरस्कार नहीं कर सकता। साहित्य के गृहीत रस को सर्वसुलभ बनाने के लिए युग की आत्मा की अनेकमुखी व्यंजना अनिवार्य है और साहित्यकार अपनी संवेदना को अधिकाधिक उभाड़ कर मानव-जीवन की व्यापक अनुभूति में पैठ सकता है। प्रगतिवाद शुरू से ही सामूहिक उत्क्रान्ति के रूप में सभी थोथे और औपचारिक बन्धनों को विच्छिन्न करता हुआ एक गतिशील विराट् शक्ति बन कर आया। उसने न केवल प्रचलित रूढ़ धारणाओं के विपरीत, वरन् समाज के ढाँचे और उसकी मौजूदा व्यवस्था में निहित अन्याय, आर्थिक असमानता, समाज के घुन 'पूँजीवाद', अनिवार्य वर्ग-संघर्ष और परस्पर-विरोधी धर्म-अधर्म, सामान्य-विशिष्ट, सापेक्ष-निरपेक्ष, औचित्य-अनौचित्य की द्वन्द्वात्मक अन्विति पर गहरी चोट की। उसने हमारी धार्मिक और नैतिक स्थापनाओं को लेकर जीवन-साम्य का समाधान प्रस्तुत किया और दलित, शोषित मानवता के चित्र आँककर न केवल हमारी कोमल वृत्तियो को झकझोरा, बल्कि समाज की उभरती हुई शक्तियों और साहित्य व कला के द्वैत और विसंगतियों पर भी दृष्टिपात किया।

व्यापक से वृहत्तर व्यापकता की ओर मनुष्य की गति है। वह निजत्व का प्रसार

और बौद्धिक चेतना को क्रमशः विकसित देखना चाहता है। प्रगति की भावना उसके विचारों को ठेलती, कुरेदती और आगे बढ़ाती है, अन्यथा जीवन चल नहीं पाता। शरच्चन्द्र ने लिखा था, "यदि मृत और खण्डहर ही हमारा रास्ता रोके रहेंगे तो आगे बढ़ने को पथ कैसे मिलेगा?" वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य की भावनाएँ विकसित होती रहती है। विगत युगों में जो हमारा जीवन-लक्ष्य था वह आज भी कैसे स्थायी रह सकता है? अपने सुख-दुःख में तो हृदय एक परितृप्त विह्वलता का अनुभव करता ही है, किन्तु समाज में रहकर वह वाह्य संघर्षों से भी मुँह मोड़कर कैसे जी सकता है? अतएव विकास के क्रम का कौन हिमायती न होगा, पर यह उत्कर्ष, यह विकास साहित्य में मूर्त्त होना चाहिए। कोरे सिद्धान्त, कोरा विरोध, कोरी स्थूल कल्पना कुछ मानी नही रखती। कोई अत्युक्ति न होगी यदि यह कहा जाय कि परस्पर-विरोधी वृत्तियो एवं सघर्ष-भावना से प्रेरित होकर साहित्यकारों ने साहित्य में कुछ ऐसी सीमारेखाये निर्धारित की है जिसके संकुचित दायरे में हमारी सामान्य सृजन-शक्ति और उदात्त अंतश्चेतना उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त हो रही है।

'इज्म' की भावना ने अभीष्ट उद्देश्य को भुलाकर तर्क-वितर्क और नये मतवादों की प्रवर्त्तना की है। हमारी साहित्यिक प्रतिभाएँ कुछ गुटों, वादों और दलबन्दियों के दलदल में फँसकर अपनी शक्ति का अपव्यय कर रही है। उन्होंने एकांगी, असामाजिक रुख अपनाकर एक दूसरे के विचारों का बहुत कुछ खंडन-मंडन किया है और साहित्य के उच्च लक्ष्य से पथभ्रष्ट होकर अराजक साहित्य की सृष्टि की है।

"अपने क्रान्ति-विरोध का सबूत देकर चौहान ने बुर्जुआ मनोविज्ञान की माला जपना शुरू की। मार्क्सवाद अधूरा है, उसे बुर्जुआ मनोविज्ञान से मिलाकर भरापूरा बनाओ---यानी साहित्य का लड़ाकू वर्गरूप खत्म कर दो, साहित्य को ग़ैर जानिबदार बनाओ, वर्ग-संघर्ष में निर्लिप्त और निस्संग रहो, चौहान ने पूंजीवाद के पढाए हुए तोते की तरह यह रट लगानी शुरू की। रूप के नाम पर छायावादी विचार-वस्तु की हिमायत की और आखिर में अश्क जैसे टुटपुँजिया लेखक को गोर्की और प्रेमचन्द के बराबर बिठाया। प्रगतिशील लेखकों का मोर्चा कमजोर करने के लिए चौहान ने यह नारा उठाया कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है और कला आत्मसिद्धि का परिणाम है।"

(डॉ. रामविलास शर्मा, 'नया सबेरा' में प्रकाशित शिवदानसिह चौहान पर लिखे गए निबन्ध से---)

"कुओ० मो० जो० के अनुसार जो व्यापक संयुक्त मोर्चा तीस वर्ष के संयुक्त कार्य और सम्मिलित संघर्ष और उससे उत्पन्न चीनी लेखकों की पारस्परिक सद्भावना और एकता का स्वाभाविक परिणाम होना था, उसे रामविलास शर्मा ने तीन-चार वर्षो तक नियमित रूप से प्रगतिशील लेखक आन्दोलन की जड़ों पर कुठार चलाने और देश की साहित्यिक शक्तियों में फूट और वैमनस्य की चौड़ी खाई खोदने के बाद हठात् एक अनि-

वार्य आरम्भ-बिन्दु के रूप में पेश कर दिया और इस प्रकार अपनी और अपने कुत्सित समाजशास्त्रीय जनद्रोही गुट की संस्कृति-विरोधी करतूतों पर पर्दा डालने की चेष्टा की।"

(शिवदान सिंह चौहान—'आलोचना', अक्तूबर, १९५१)

रूस के सुविख्यात लेखक मैक्सिम गोर्की को लेकर ही इन दोनों आलोचक-महारथियों के आरोप-प्रत्यारोप का एक नमूना देखिए :

"चौहान मार्क्सवाद और पतित पूँजीवादी मनोविज्ञान के समन्वय का मसौदा पेश करते रहे हैं, वह साहित्य में तटस्थता की माँग करते रहे हैं और गोर्की तक के लिए उन्होंने लिखा है कि उस महान् लेखक ने रूसी क्रान्ति के अवसर पर, 'तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ कीं', उनका इसी तरह की वाल्तेयर और शैली की रचनाओं की तरह 'कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा।' चौहान की कोशिश रही है कि प्रगतिशील साहित्य को तत्कालीन प्रश्नों से हटा कर शाश्वत तथा अर्द्ध शाश्वत प्रश्नों की तरफ़ मोड़ा जाय।"

('हंस', मई, १९५१)

"प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना क्यों नहीं की जा सकती, और गोर्की को प्रेमचन्द से हीन क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता? और सबसे पहले यह सिद्ध करने का श्रेय भी डॉ. रामविलास शर्मा को है। सच तो यह है कि 'साहित्य' के इस 'डॉक्टर' ने एक ही तीर से विश्व के तीन महान् लेखकों—टॉल्स्टॉय, दॉस्तॉव्स्की और गोर्की—को प्रेमचन्द के मुक़ाबले में धराशायी कर दिया। उन्होंने 'युग के साथ' होने की 'जनवादी' कसौटी पर कस कर सिद्ध किया कि "अनेक दृष्टियों से ये महान् लेखक अपने युग से पिछड़े थे।" (देखिए डॉ. रामविलास शर्मा कृत 'प्रेमचन्द' की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३) इस हिन्दी आलोचक के ही शब्दों में गोर्की के पिछड़ेपन का ज़रा मुलाहिज़ा कीजिए।

"गोर्की में आवारापन अत्यधिक था और वर्ग-संघर्ष की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी में अपनी आवारा प्रवृत्तियों का मार्मिक वर्णन किया है। अपने रोमांटिकपन के कारण वह क्रान्ति के पश्चात् भी क्रान्ति के पूर्व के ही चित्र बनाता रहा। प्रेमचन्द अपने युग के साथ थे और अपने युग की उथल-पुथल को उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।" (वही पृष्ठ ३)

............इस वक्तव्य के गूढ़ार्थों में गागर में सागर भरा हुआ है।"

('प्रेमचन्द और गोर्की' पुस्तक से उद्धृत, पृष्ठ ५५४)

और 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' पुस्तक में डॉ. रांगेय राघव का यह आक्रोश-भरा विद्रूप—

"डॉक्टर साहब ठीक कहते है। चौहान जी की ग़लती है कि वे अपनी तरह सबको ग़लती महसूस करने वाली ईमानदारी का मालिक समझते हैं। उन्हें टुटपूँजिआ वर्ग की अवसरवादिता के पक्ष पर मार्क्सवाद से शिक्षा लेनी चाहिए। तब यहाँ मिसालें गिना देना ठीक होगा। आज जैसे डॉ. रामविलास शर्मा चीन की खाल खींच रहे हैं एक दिन वे रूस

की आँखें निकाल रहे थे।"

(पृष्ठ ८०)

डॉ. रामविलास शर्मा ने सुमित्रानंदन पंत और राहुल सांकृत्यायन पर लम्बी आलोचनाएँ की थीं, जिन पर कितनों ने ही अपने-अपने ढंग से एतराज़ किया। अर्से तक एक हंगामा सा मचा रहा, जिसके आसार अब भी सर्वथा मिटे नही है। धर्मवीर भारती ने पंत जी का पक्ष लेते हुए 'संगम' में लिखा–

"जैसे एक पागल कुत्ता कभी कभी खिसिया कर अपनी ही पूँछ नोचने के लिए नाचने लगता है, वैसे ही इन प्रगतिवादियों ने अपने ही पक्षवालों को हाथ नचा-नचा कर गालियाँ देनी शुरू कीं। सबसे पहला वार हुआ पंत जी पर। पंत जी के उस कैम्प में जाने मे लोगों को आश्चर्य हुआ था, परन्तु पंत जी की सरलता से जो लोग अवगत थे, वे जानते थे कि कैसा जाल बिछाया गया था। और बाद में उनके शिकंजे को पंत जी के लिए बर्दाश्त करना असंभव हो गया।"

और राहुल जी के पक्ष-समर्थन में प्रभाकर माचवे ने 'प्रज्ञाचक्षु' नाम से अपना आक्रोश यों व्यक्त किया –

"डॉ. रामविलास शर्मा के लेखों का शास्त्रीय विश्लेषण अनावश्यक है, चूँकि उनका दृष्टिकोण नितान्त अशास्त्रीय, अवैज्ञानिक है। राहुल को तो उन्होंने निमित्त मात्र बनाया है। उनका उद्देश्य कुछ और ही है। उनका उद्देश्य ध्वंसात्मक नीति के लिए नैतिक समर्थन प्राप्त करना है। उस नीति की असफलता की खीझ से व्याकुल रामविलास इस प्रकार की अंधी आलोचना के लेख लिख कर प्रगतिशील आन्दोलन का कितना बड़ा अहित कर रहे हैं, यह शायद वे नहीं समझते। एक ओर संयुक्त साहित्य मोर्चे की चर्चा और दूसरी ओर ये प्रतिदिन के फ़रमान—आज शिवदान सिंह चौहान को चारों खाने चित्त करो, कल पन्त को पटक दे मारो, परसों रांगेय राघव को 'धोबी पछाड़' दो, नरसों यशपाल पर लट्ठ लेकर दौड़ पड़ो। यह है साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में रामविलास की पहलवानी, और उनके पट्ट शिष्य चन्द्रबलीसिह जी का उस्ताद की ताबीज़ पहिन कर मुगदर में तेल चुपड़ना।"

('नवयुग', २४ जून, १९५१)

इस पर बौखला कर डॉ. शर्मा ने लिखा—

"यह कीचड़ फेंकते हुए इन सज्जन को खुद उसकी दुर्गन्ध से इतनी पीड़ा हुई कि उन्होंने मुँह पर कपड़ा बाँध लिया और असली नाम का 'प्र' लेकर नकली नाम प्रज्ञाचक्षु रख कर ही साहित्य के मैदान में क़दम रख सके।"

('हंस', मई, १९५१)

उपर्युक्त आरोप का उत्तर दिया डॉ. रांगेय राघव ने। अपनी पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' में उन्होंने लिखा –

१३. एक प्रगतिशील आलोचक* के शब्दों में—"मार्क्सवाद ने जीवन को देखने-समझने और बदलने के लिए अमल करने का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है, पर यह दृष्टिकोण जादू की लकड़ी नहीं है कि उसको छूते ही आदमी 'सर्वगुणसम्पन्न' बन जाता हो।"

असंतुलन

आज अन्तर्वादी और वस्तुवादी समीक्षा का द्विधाग्रस्त वैषम्य ही हमारी समस्या नहीं बना हुआ, अपितु अपने यहाँ चिन्तकों का एक ऐसा वर्ग भी है जो विभ्रम और संशय की इस स्थिति में कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा है। साहित्य के पहले के संस्थापित सिद्धांत एवं मानदंड, अथवा उसकी मान्य सीमा से परे वे उसमें ऐसे अभिनव तत्त्व खोज लाना चाहते हैं जो अब तक कभी प्रयोग में नहीं आए। उनका मत है कि जो कुछ लिखा जाय उसमें नव्यता और निरालापन तो होना ही चाहिए। इनमें अपनी श्रेष्ठता का दम्भ तो है ही, साहित्य के अंतरंग अक्षय स्रोतों के प्रति खुला विद्रोह भी है जिससे एक तिक्त घुटन और असंतोष का स्वर नित-नई बदलती विचार-धाराओं के साथ तीव्रतर होता जा रहा है। सनातन मान्यताओं के प्रति निष्ठा खोकर वे ऐसे बे-तुके सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में नहीं हिचकते जिनसे उनकी भावनाओं का कभी लगाव नहीं हुआ, जिनको उन्होंने अपने भीतर अनुभव करने की आवश्यकता नहीं समझी और जिनमें उनकी आत्मा की किंचित् भी पैठ नहीं हुई।

इस नव्य भूमि पर उतरने के प्रयास में उनकी भ्रमित चेतना साहित्य के मर्म और असलियत को भुला बैठी है। एक विचित्र विरोधाभास सा इधर दीख पड़ रहा है जिससे एकाएक विरोधी दबावों से विशृंखल वृत्तियाँ, अनिश्चय और संशय में, उनके स्वानुभूत से तादात्म्य नहीं कर पाती।

इन अन्तर्विरोधों की कोई सीमा नहीं है और न इनके द्वारा किसी विशेष मत या सिद्धान्त का प्रतिपादन ही हो सकता है। एक प्रवृत्ति यदि सृजन को व्यक्तिपरक तो दूसरी उसे सामाजिक बनाने के पक्ष में है। सामाजिक सकल्प से अधिक उसमें व्यक्ति के विकल्प गुँथे हैं। साहित्य की संगठित शक्तियाँ आज एक ऐसी अविभाज्य इकाई के रूप में नहीं देख पड़तीं जिसमें स्रष्टा के संवेदक पहलू तिरोहित होकर एक पुंजीभूत प्रकाश पैदा कर सकें। इसके विपरीत 'वादों' का वह एक बड़ा उलझावपूर्ण समवाय है जिसमें वादपरक होना उसकी सम्पूर्ण साधना की एक अनिवार्य शर्त्त बन गई है और जिनका न परस्पर समझौता हो सकता है और न समन्वय। स्पष्ट है कि साहित्य के ये वादपरक पहलू एक सम्पूर्ण समष्टि के रूप में नहीं, व्यष्टि के रूप में एक बड़ी प्रायोगिक प्रक्रिया के अंग भर हैं जिनमें ज़िन्दगी की सही सीमाएँ आँकने की ताकत है, न वस्तु और अभिव्यंजना का

* शिवदानसिंह चौहान, 'आलोचना', अक्तूबर, १९५१

अंतरंग सम्बन्ध और न सहजात स्वनिर्मित वैचारिक स्वीकृति।

आज आलोचना का क्षेत्र विस्तृत है, पर उसके अभावों की सर्वांगीण पूर्ति के लिए कौन से प्रयत्न हो रहे हैं ? हमारी वर्त्तमान आलोचना का स्तर क्या है ? पाठकों की माँग क्या है और उसकी किस प्रकार पूर्ति हो रही है ? यह किसी ने कदाचित् सोचने का कष्ट नहीं किया। तर्क-वितर्क और वाद-विवादों का आग्रह ज़ोरों पर है जिससे उसमें साधन-संबल बटोरने की शक्ति बढ़ी है, पर साहित्य की यह शंकाकुल स्थिति जीवन और जगत् के गतिमय प्रेरक तत्त्वों को कितने समय तक रूपायित कर सकेगी——यह समझना है।

ज्यों-ज्यों साहित्य में दिखावटी, अतिरंजित और वाह्य असंभावताएँ बढ़ रही हैं, पलायनवादी नकारात्मक तत्त्व उसमें अधिकाधिक उभर रहे हैं। नवीन परिस्थितियों के साथ भौतिक आवेष्टन, युग-विशेष की मान्यताएं, संवेग, रुचियाँ और मनोगत द्वन्द्व जीवन की जटिल समग्रता के साथ सामंजस्य नहीं कर पाते। अतएव इस द्रुत और अस्थिर क्रम में मनुष्य इतना हतबुद्धि और विभ्रान्त सा है कि वह साहित्य के ओर-छोर हीन विस्तार के बीच मुँह बाए निःस्तब्ध खड़ा है। सामाजिक समस्याओं में उलझा हुआ और अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखों में रत, साथ ही जीवन-यापन की अविरत अस्थिरता, परेशानी, व्यस्तता और क़शमकश ने उसके रसोद्रेक को शिथिल और चिन्तना को ऐसा पंगु सा बिना दिया है कि वह कुछ भी सोचने-समझने में सक्षम नहीं है। एक विचित्र प्रकार का 'अहम्' उसमें जगा है जो भीतर ही भीतर घुलकर प्राचीन और नवीन के समय-प्रसार और वैविध्य से एकरस नहीं हो पाता। अत· साहित्य में स्थायी और निर्माणक तत्त्वों का बहुत कम समावेश हो पा रहा है। अतीत की थोथी, बेजान मिट्टी में या तो नये आशांकुर उगाने की चेष्टा की जा रही है अथवा नये नये मतवादों के नागपाश में जकड़े जाकर जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना और बेवम दुराग्रह का अनिश्चित कुहासा छाया है।

फिर भी आलोचक चूंकि अधिक जागृत है वह भीतरी और बाहरी अन्तर्विरोधों में संतुलन स्थापित कर साहित्य को नई गति दे सकता है। प्रत्येक युग के कुछ ख़ास प्रश्न होते हैं और नीर-क्षीर-विवेकी आलोचक की प्रखर प्रतिभा अपने ढंग से उन सभी का समाधान खोजती है। युग-युगान्तर की कड़ी मे बंधकर वह समय की नब्ज को टटोलता हुआ सचेत होकर, जागरूक रह कर, सर्जक के हृत्स्पंदन को उसके सृजन के स्पंदन से एकरूप कर साहित्य के मूल आधारों को नया पथ देता है।

आलोचना का आधेय

इसमें संदेह नहीं कि लेखक के मनोबल पर परिस्थितियों का भारी दबाव है और वह इसे बख़ूबी महसूस भी कर रहा है, पर आलोचक का आस्थावान् हृदय अभिव्यक्ति को निरूपित करने वाली क्षमता का दिग्दर्शक होता है, अतः वह कभी भी हार नहीं मानता। आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह साहित्य के सत्य और सौंदर्य को अधिक पूर्णता और अंत-

दृष्टि से आँके, उसकी समग्रता में पैठ कर विषयवस्तु का अंगांगि अनुपात खोजते हुए अधिक गहराई और सशक्त रूप में उसे छुए।

आलोचक के पास मूल्य आँकने की व्यावहारिक कसौटियाँ हैं, किन्तु उसके कृतित्व की अंतरंग परीक्षा द्वारा हमें देखना यह है कि उसमें उत्कर्ष का धरातल क्या है, युगीन दायित्वों को उसने कहाँ तक निभाया है और किन शक्तियों को मुखर करता हुआ वह सनातन कला का मापक बन सका है। उसकी दृष्टि जितने ही सुदूर तक फैले जीवन पर पड़ेगी उतने ही सौंदर्य के शाश्वत स्वरूप की प्रतिष्ठा वह अपने कृतित्व में कर सकेगा और उसकी गहराइयों में उतर सकेगा। उसके दिल-दिमाग का दायरा ज्यों-ज्यों फैलता जायगा उसकी दिलचस्पियाँ बढ़ेंगी, सार्वजनीन संस्कारों को ग्रहण करने के अलावा उसके रागात्मक संबंधों और अनुभूतियों का क्षेत्र विस्तृत होगा और युग-सत्य को प्रेष्य बनाकर सामयिक स्थितियों को वह अधिक सचाई से आँक सकेगा।

आलोचक की युक्तियों में युगानुरूप विश्वासों के प्रतिरूप और अन्तर्दृष्टि की दुर्जेय शक्ति निवास करती है। किसी भी कलात्मक कृति और उसके सौंदर्य-भावन की प्रक्रिया को ऐसी विवेक-तुला पर रख कर जाँचना-परखना चाहिए कि जिससे उसकी असलियत आँकी जा सके। सामंजस्य की कसौटी पर आलोचक एक बड़ी हद तक किसी भी कृति की नाप-जोख कर सकता है, पर स्थिर किए मानदंड और समीक्ष्य सामग्री दोनों में समानुपात और सर्वांगपूर्णता तो अवश्य होनी ही चाहिए।

तो फिर—वह कौन सी तुला है जिस पर समीक्ष्य सामग्री को तौला जाय ? सबसे पहली बात तो कला-परीक्षण करते समय आलोचक को अपने गंभीर दायित्वों को ध्यान में रखना है। साहित्य के स्वस्थ समुन्नयन के लिए—जबकि इस संक्रान्ति युग में सारे प्राचीन मूल्य और मान बदलते जा रहे हैं—सामयिक उतार-चढ़ाव को भाँपता हुआ वह रूप और स्वरूप की वर्चस्वता को लेकर वाह्य विवेचन और आन्तर अनुभूति के नित्य सम्बन्ध की ओर दृक्पात करे। उसमें यदि सचाई होगी तो वह संस्थापित कसौटियों में निष्पक्षता और निष्ठा बरत सकेगा।

साध्य और साधन

आलोचक की खूबी 'सत्य' की पकड़ है, पर हाँ—इस अनित्य 'सत्य' का जो मूल प्रकार है वह सदा अविच्छिन्न रूप से परिवर्त्तनशील तत्त्वों के ऊपर उठा होना चाहिए। आज साहित्य ऊँचे उसूलों के बोझ से दबा कराह रहा है। विभिन्न वादों, मत-मतान्तरों और सिद्धान्तों से उसकी साँस घुट रही है, लेकिन कोई भी उसकी मर्यादा को नही माप सका है। युगीन समस्याएँ नित्य बदलती हैं और इंसान 'उनसे जूझता है, खेलता है, उलझता है, पर उनकी कोई थाह नहीं पाता। समय से टकराकर साहित्य के शाश्वत उपादान जीर्ण होकर धूलिसात् नहीं होते, वरन् नित-नए रूप में उभरते हैं। आलोचक को इस द्वन्द्व, इस

क़शमक़श में से ही पथ खोजना पड़ता है। उसकी लेखनी की शक्ति असीम है, किन्तु उसकी शक्ति की असीमता सर्वसंवेद्य अनुभूति-प्रवणता में है। उसे समीक्षा के व्यापक तत्त्वों की गवेषणा करते हुए, ऐकान्तिक से समष्टिगत और एकदेशिक से सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहिए।

आज आवश्यकता इस बात की है कि आलोचक अपनी आन्तरिक दायित्व-भावना को पूर्णतया उद्बुद्ध करे। वह दिग्भ्रमित न हो, अपितु विरोधी सिद्धान्तों एवं वाद-विवादों की वहिर्गत विषमता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल पर साहित्य के स्वीकृत सौंदर्यात्मक स्वस्थ तत्त्वों को आत्मसात् कर ले, क्योंकि उसकी मूल्य-मान्यताओं का प्रश्न केवल बौद्धिक संवेदन का प्रश्न नहीं है, साहित्य के निर्माण और विन्यास का प्रश्न है।

वर्तमान युग के दो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विशिष्ट आलोचक टी. एस. इलियट और आइ. ए. रिचर्ड्स ने एकमत हो स्वीकार किया है "आलोचक का उद्देश्य किसी वस्तु के मूल्यों का निर्धारण करना है।"

पर इससे एक और सवाल पैदा होता है कि ये निर्धारित मूल्य कैसे हों और वह उन्हें किस रूप में रखे। आलोचना का सोष्ठव, उसकी अर्थवत्ता, और उसका तात्त्विक आधार उसके महत्तर अंतःसंयोजन में निहित है जहाँ आलोचक केवल उस हवा से—जहाँ कि वह साँस लेता है—क्षर परमाणुओं को एकत्र कर ही तुष्ट नहीं होता प्रत्युत् कलात्मक मूल्यों का अपनी चेतना से तादात्म्य कर और अपने मन-प्राणों में उन्हे उतार परिचालित करता है। सेंत ब्यूवे के मत से 'साहित्य की श्लाघ्य परिपाटियाँ स्थापित करके ही आलोचना को ऊँचा उठाया जा सकता है।' साहित्य तो अनत स्रोत है जिसकी प्राणदायिनी बूंदे आत्मा का अभि-सिंचन और चेतना-केन्द्रों को अनुप्राणित कर सकती है। साहित्य को आँकने वाली कोई निश्चित मापरेखा तो नही खीची जा सकती, परन्तु कलात्मक मूल्यों का महत्त्व आलोचक की प्रबुद्ध सहानुभूति में रसकर कहीं अधिक व्यापक, कही अधिक महनीय हो सकता है। वह अपनी जिम्मेवारी को जितनी ही गहराई से समझेगा उतनी ही अपनी निर्दिष्ट कसौटियों को साहित्य की स्थायी परम्परा से ग्रथित कर सकेगा।

हिन्दी के आलोचक

१

महावीर प्रसाद द्विवेदी

[श्री गुलाबराय]

आचार्य द्विवेदी जी हमारे सामने कई रूपों में आते हैं। उनमें समालोचक का रूप कुछ विशेषता रखता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध 'सरस्वती' के प्रायः बीस वर्ष के सम्पादन से है। समालोचक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सम्पादक ही हो, किन्तु यदि वह सम्पादक के आसन पर भी विराजमान हो, तो आलोचना का कार्य उसके जीवन के कार्य से सम्बन्धित हो जाता है। द्विवेदी जी उन लोगों में से थे जो किसी काम को बेगार के रूप में नहीं करते थे। इसलिए उनकी आलोचनाओं और टिप्पणियों में बड़े अध्ययन और मनोयोग का परिचय मिलता है। इसीलिए उनकी आलोचनाओं ने साहित्य-निर्माण में बहुत कुछ योग दिया है।

द्विवेदी जी की आलोचनाओं के सम्बन्ध में हमको तीन बातों पर विचार करना चाहिए : (१) उनके आलोचना सम्बन्धी सिद्धान्त (२) उनकी लिखी हुई आलोचनाएँ (३) आलोचकों में उनका स्थान।

द्विवेदी जी के आलोचना सम्बंधी सिद्धान्त उनके कतिपय लेखों में बिखरे हुए मिलते हैं। उन लेखों से यह प्रकट होता है कि वे केवल गुण-दोष निरीक्षण में आलोचक की इति-कर्त्तव्यता नहीं समझते थे। द्विवेदी जी सम्पादकों, समालोचकों और लेखकों का 'कर्त्तव्य' शीर्षक लेख में लिखते हैं—

"छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि तो गौण बातें हुई, इन्हीं पर ज़ोर देना अविवेकता प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं। व्याकरण आदि की भूलें होतीं किससे नहीं ? अंग्रेजी, फ़ारसी, अरबी, संस्कृत आदि भाषाओं के बड़े-बड़े विद्वानों ने क्या इस तरह की भूलें नहीं कीं ? पर इससे क्या उनके ग्रन्थों की प्रतिष्ठा कुछ कम हो गई है ? किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है, या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है, या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नयी बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उसने पुरानी ही बात को नये ढंग से लिखा है या नहीं—यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए। लेखक ने अपने लेख या पुस्तक को जिस उद्देश्य से लिखा है, वह यदि सिद्ध होता है, तो समझना चाहिए कि उसने अपने कर्त्तव्य का पालन कर दिया।"

किन्तु इसी के साथ किसी काव्य के गुण-दोषों को बतलाना, द्विवेदी जी समालोचक

का प्रमुख कर्त्तव्य समझते थे, यदि उसमें कोई व्यक्तिगत द्वेष-भावना न हो। उन्होंने कवि-कुलगुरु कालिदास की कविता में बड़ी निर्भीकता से काव्य और छंद सम्बन्धी दोष दिखलाये हैं और अपने इस कार्य का ज़ोर से समर्थन भी किया है। द्विवेदीजी ने जो दोष दिखलाये हैं वे यद्यपि नये नहीं हैं, तथापि वे उनकी निर्भीकता और उनके प्रगाढ़ अध्ययन का परिचय देते हैं। आचार्य द्विवेदी जी प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना के सम्बध में लिखते हैं—

"जिस देश के पढ़े-लिखे लोगों का यह हाल है कि पुराने ग्रन्थों के दोष दिखलाना वे पाप समझते हैं, उनमे गुण-दोष निर्णायक शक्ति, बतलाइए, कैसे उत्पन्न हो सकती है? ऐसी शक्ति उत्पन्न हो या न हो, बोलो मत। बाल्मीकि और कालिदास के दोष दिखलाकर नरक में जाने का उपक्रम मत करो। यदि समालोचना किये बिना न रहा जाय तो प्राचीन ग्रन्थकारो के गुण ही गुण गावो। जब उन्हें सुनते-सुनते लोग ऊब जायँ, तब दोष दिखाना। भाषा-विज्ञान और गुण-दोष विवेचनात्मक आलोचना सीखने के लिए गवर्नमेन्ट भारतीय युवकों को विलायत भेजे तो उसे भेजने दे। तुम क्यों पुराने पंडितों के दोष दिखाकर व्यर्थ के लिए पातक मोल लेते हो?"

द्विवेदी जी ने अपने कथन की पुष्टि में रवीन्द्रनाथ, अरविंद घोष, मेकडोनैल, ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर आदि विद्वानों के उदाहरण देकर बतलाया है कि उन्होंने कालिदास की किस प्रकार से आलोचना की थी। इन उदाहरणों से विदित होगा कि द्विवेदीजी यद्यपि समालोचक के कर्त्तव्य में लेखक की विशेषताएँ और उसके कथित विषय का पाठकों को परिचय देना भी समालोचक का कर्त्तव्य मानते हैं, तथापि उसके काव्य में दोष बतलाने को वे मुख्यता देते हुए प्रतीत होते हैं।

दोष-दर्शन बुरा नही है। पुस्तकें जनता की सम्पत्ति होती हैं और उनमें दोष-दर्शन करना कोई बुरी बात नही। इससे लेखकों में सावधानी और सचेतता रहती है, किन्तु केवल दोषोद्भावना समालोचना में एकांगीपन उत्पन्न कर देती है। कालिदास की निरंकुशता और स्वर्गीय रायबहादुर ला० सीताराम जी की हिन्दी कालिदास की आलोचनाएँ इसी प्रकार की एकांगी आलोचनाएँ हो गई हैं। केवल दोषोल्लास पढ़कर पाठक को यह धारणा होने लगती है कि लेख मे सिवाय दोषों के कुछ नही है। यदि दोषों के साथ गुणों और विशेषताओं का भी वर्णन हो, तो पाठक को गुण और दोषों का अनुपात मालूम हो जायगा और उसकी जानकारी भी बढ़ेगी। मेरे कहने का यह अभिप्राय नही कि द्विबेदीजी ने अपनी आलोचनाओं मे केवल दोष-दर्शन ही किया है या जिनमें दोष-दर्शन किया है वह किसी द्वेष-भावना से किया था। द्विवेदीजी की जो आलोचनाएँ सम्पादकीय कुर्सी से लिखी गई हैं उनमें बहुत-सों मे तारीफ़ और बुराई दोनों ही है। किन्तु जहाँ बुराई करने का अवसर आया है, वहाँ उसको व्यक्त करने में उन्होंने रू-रियायत नहीं की है। रू-रियायत करना वे सम्पादकीय कर्त्तव्य के विरुद्ध समझते थे और यह बात बहुत अंश में ठीक भी थी, किन्तु

यह कहना होगा कि यह निर्भीकता कहीं-कहीं उचित मात्रा से अधिक हो जाती थी। वे हिन्दी लेखकों की कोई भी कमज़ोरी क्षम्य नहीं समझते थे। यदि कोई आफ़त का मारा लेखक या प्रकाशक अच्छी समालोचना के लिए निजी पत्र भी लिख देता, तो वे उसका उद्घाटन किये बिना नहीं रहते। इतनी विवेचना के पश्चात् हम द्विवेदी जी की आलोचना-पद्धति पर थोड़ा प्रकाश डालना चाहते हैं।

आलोचना की कई शैलियाँ हैं, उनमें निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक प्रमुख हैं। निर्णयात्मक आलोचना उसको कहते हैं, जिसमें किसी रचना की आलोचना शास्त्रीय नियमों के आधार पर की जाती है। काव्य-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों में जो काव्य के गुण-दोष बतलाये गये हैं, उनके आधार पर पुराने ग्रन्थों में तत्कालीन साहित्य की आलोचना होती थी। मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने गुण-दोषों का विवेचन करते हुए प्रमुख ग्रन्थों से उदाहरण दिये हैं। द्विवेदी जी ने भी कालिदास की निरंकुशता आदि ग्रन्थों में इसी प्रकार की आलोचना की है। कालिदास के ग्रन्थों में व्याकरण के दोष, छन्द के दोष, न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व, औचित्य आदि के दोष दिखलाये हैं। इनके पढ़ने से विद्यार्थी का दोष सम्बन्धी ज्ञान बढ़ जाता है। वह काव्य के इस अंग को समझ जाता है, किन्तु लेखक की विशेषताओं पर उसका कम ध्यान जाता है। वह यह नहीं जानता कि कालिदास में कौन से गुण थे, जिनके कारण उनको यह आसन मिला। इस सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि वह एक निबन्ध मात्र था। द्विवेदी जी ने पूरे कालिदास पर कोई पुस्तक नहीं लिखी। अस्तु, 'विक्रमांकदेव चर्चा' में हम व्याख्यात्मक शैली का कुछ प्रयास पाते हैं। उसमें कवि का वर्णन और उसके काव्य का सहृदयतापूर्ण परिचय मिलता है। द्विवेदी जी ने बहुत-सी आलोचनाएँ ऐसी भी लिखी थी, जिनमें केवल पुस्तक का सार ही दिया गया था। उदाहरणार्थ लोकमान्य तिलक के 'गीता-रहस्य' की आलोचना।* इस आलोचना में भी गुण-गान के साथ थोड़ा दोष-निरूपण है, किन्तु बहुत स्वल्प मात्रा में। अश्वघोष-कृत 'सौन्दरनन्द' काव्य में अश्वघोष की कालिदास से थोड़ी बहुत तुलना भी है। इसको हम तुलनात्मक आलोचना का पूर्व रूप कह सकते हैं। पण्डित नन्दलाल विश्वनाथ दुबे के शकुन्तला के अनुवाद की आलोचना* में भी थोड़ी-सी तुलनात्मक आलोचना है, किन्तु इसको हम उन आलोचनाओं में रक्खेंगे, जिसमें उन्होंने लेखक की कलई खोलने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। यद्यपि पुस्तक के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे मालूम तो ऐसा ही पड़ता है कि पुस्तक बहुत अच्छी नहीं है, तथापि जो ग़लती करता है वह उपहास का पात्र नहीं, दया का पात्र है। इस आलोचना में द्विवेदी जी प० पद्मसिंह शर्मा की तीक्ष्ण शैली से समानता प्राप्त कर लेते हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा ने जिस निर्दयता से 'सतसई-संहार' नामक लेख में पं० ज्वालाप्रसाद की आलोचना की है, उसी निर्दयता से द्विवेदी जी ने दुबे जी की आलोचना की है,

---

*ये आलोचनाएँ द्विवेदीजी की 'आलोचनाञ्जलि' में देखी जा सकती हैं।

आलोचना में दुबे जी के पुत्र को भी नहीं छोड़ा है। जो कुछ कहा गया है सत्य अवश्य है, किन्तु बड़ा अप्रिय सत्य हो गया है। द्विवेदी जी सत्य को प्रिय बनाने की परवाह नहीं करते थे। इसी प्रकार भाषा, पद्य, व्याकरण, आलोचना में भी आपने लेखक महोदय पर खूब व्यंग-बाण चलाये हैं, देखिए—

"हाँ, महाराज! आप विद्वान्, आप आचार्य, आप प्रधान पंडित, आप विख्यात ंडित और हम अगाध अज्ञ और दुर्जन, क्योंकि हमें आपका व्याकरण तोषप्रद नही। सरकार की सेवा करते-करते और प्रधानतया संस्कृत पढ़ाते-पढ़ाते आपने अज्ञता और दुर्जनता की अच्छी पहचान बताई। आपकी संस्कृतज्ञ लेखनी सचमुच विलक्षणता की कामधेनु है।"

अहम्मन्य लोगों के लिए ऐसी भाषा लिखना अधिक दोषपूर्ण नही, किन्तु हमारे मत से तो वे भी दया के पात्र है। यह मतभेद की बात है, किन्तु जहाँ कही सीधे-सादे आदमियों को उन्होंने अपने व्यंग-बाणों का शिकार बनाया है, वहाँ मेरी समझ में अन्याय किया गया है।

द्विवेदी जी हिन्दी में भिन्न-भिन्न विषयों पर लेख और पुस्तकें लिखवाना चाहते थे। ऐसी पुस्तकों की आलोचना में द्विवेदीजी ने पाठकों का खूब ज्ञान-विस्तार किया है। ये आलोचनाएँ सम्पादकीय गौरव को बढ़ाती है। द्विवेदी जी की प्रोत्साहन और प्रशंसापूर्ण आलोचनाओं का थोडा-सा उदाहरण नीचे दिया जाता है। 'भारत-भारती' की आलोचना में द्विवेदी जी लिखते हैं—

"यह काव्य वर्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्त्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा। यह सोते हुओं को जगाने वाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है। निरुद्योगियों को उद्योगशील बनाने वाला है; आत्म-विस्मृतों को पूर्व-स्मृति दिलाने वाला है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है, जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नही हो सकती है।"

ऐसी प्रोत्साहनपूर्ण आलोचना ने गुप्त जी को महाकवि बनाने में बहुत कुछ सहायता दी होगी। गुप्तजी ने भी 'साकेत' की भूमिका में द्विवेदी जी का ऋण स्वीकार किया है। पुस्तक के लिए जो कुछ कहा गया है अनुचित नही है। राष्ट्रीय-जागृति में 'भारत-भारती' ने बहुत कुछ काम किया है। ठाकुर गोपालशरणसिंह की कविताओं की भी द्विवेदी जी ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी।

द्विवेदी जी ने सरकारी विभागों की रिपोर्टों पर जो आलोचनाएँ लिखी हैं, वे बड़ी विद्वत्ता, मननशीलता और कुशाग्र-बुद्धि का परिचय देती हैं। कहीं-कहीं तो द्विवेदीजी सच्चे देशभक्त की भाँति सात्विक क्रोध से तिलमिला उठते हुए मालूम होते हैं और उनकी भाषा बड़ी जोरदार हो जाती है, देखिए—

"बड़े ही अफ़सोस की बात है कि इस सूबे में जिले की हाकिमी करके और हज़ारों देहातियों की दुर्दशा का चित्र आँखों देखकर भी एडी साहब कचहरी जाना और रेल से

सफ़र करना दीन-दुखिया किसानों के लिए आमोद-प्रमोद और मनोरंजन में दाखिल समझते है और इन बातों के वे उनके मुतमौव्वल होने का प्रमाण मानते हैं। भेड़-बकरियों की तरह रेल के डिब्बों में भर जाना, धक्के खाना, और ५) की दीवानी की नालिश के लिए खेती, किसानी का काम छोड़कर महीनों कचहरियों में मारे-मारे फिरना भी यदि मनोरंजन और चित्र-दर्शन में शामिल समझा जा सकता है, तो २४ घण्टे में एक बार रूखी-सूखी मकई की रोटी से पेट भर लेना शायद मोहनभोग का मजा लूटने में भी दाखिल समझा जायगा।"

इस प्रकार से क्या साहित्य की आलोचना में और क्या राजनीतिक रिपोर्टों की आलोचना में द्विवेदी जी ने अपनी जोरदार लेखनी का परिचय दिया है। उनकी लेखनी से बहुत-से लोग रुष्ट भी हुए होंगे, बहुत-से प्रसन्न भी, किन्तु वे अपने विचार में एक रेखा-मात्र भी नही झुके। संक्षेप में हम उनकी अलोचनाओं की पाँच विशेषताएँ बतला सकते हैं—

(१) घोर निर्भीकता—जो कही-कही लोगों को अरुचिकर और कभी दोषपूर्ण भी हो जाती थी।

(२) प्रगाढ़ पाण्डित्य—जिसमें प्राचीन साहित्य और पुरातत्त्व सम्बन्धी बातों से विशेष सम्पर्क रहता था। उनकी आलोचना की कसौटी अधिकतर देशी रहती थी।

(३) लेखकों के रचना सम्बन्धी दोषों को सहन न करना। 'भारं न बाधते राजन् यथा बाधति बाधते' की-सी बात उनमें बहुत कुछ थी।

(४) अपने मत को जोरदार भाषा में प्रकट करना। उनकी आलोचनाओं में हास्य और व्यंग्य की मात्रा कुछ अधिक रहती थी।

(५) विषय विवेचन—में बड़ी सावधानी और सतर्कता से काम लेना। नई बात को बड़े सरल शब्दों में बड़ी स्पष्टता के साथ समझाना।

समालोचकों में द्विवेदी जी का स्थान बतलाना बड़ा कठिन है। किसी का स्थान निर्धारित करना बड़े उत्तरदायित्व का काम है। हम द्विवेदी जी का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक मानते हैं। वे समालोचना के भवन में पहली ईंट जमाने वालों में से थे। पुस्तकाकार आलोचनाएँ शायद पहले-पहल उन्होंने ही प्रकाशित की थीं।

द्विवेदी जी का स्थान निर्धारित करने में हमको यह न भूल जाना चाहिए कि जिस समय उन्होंने आलोचना का कार्य प्रारम्भ किया था, उन दिनों विदेश में भी आलोचना का आदर्श निश्चित नही हुआ था। स्वदेश में तो गुण-दोष विवेचन बहुत दिनों से आलोचना का लक्ष्य चला आ रहा था और उनके समय विदेश में भी कुछ ऐसा ही हाल था। द्विवेदी जी अपने समय से प्रभावित थे। उनके ऊपर भी बहुत कुछ आक्षेप हुए थे और शायद अदले-का-बदला देने की प्रवृत्ति ने उनमें दोष-दर्शन की प्रवृत्ति को प्रबल कर दिया।

यद्यपि मिश्रबन्धुओं से द्विवेदी जी का वाद-विवाद रहा है, तथापि द्विवेदी जी के और

आलोचना में दुबे जी के पुत्र को भी नहीं छोड़ा है। जो कुछ कहा गया है सत्य अवश्य है,किन्तु बड़ा अप्रिय सत्य हो गया है। द्विवेदी जी सत्य को प्रिय बनाने की परवाह नहीं करते थे। इसी प्रकार भाषा, पद्य, व्याकरण, आलोचना में भी आपने लेखक महोदय पर खूब व्यंग-बाण चलाये है, देखिए—

"हाँ, महाराज ! आप विद्वान्, आप आचार्य, आप प्रधान पंडित, आप विख्यात पंडित और हम अगाध अज्ञ और दुर्जन, क्योंकि हमें आपका व्याकरण तोषप्रद नहीं। सरकार की सेवा करते-करते और प्रधानतया संस्कृत पढ़ाते-पढ़ाते आपने अज्ञता और दुर्जनता की अच्छी पहचान बताई। आपकी संस्कृतज्ञ लेखनी सचमुच विलक्षणता की कामधेनु है।"

अहम्मन्य लोगों के लिए ऐसी भाषा लिखना अधिक दोषपूर्ण नही, किन्तु हमारे मत से तो वे भी दया के पात्र है। यह मतभेद की बात है, किन्तु जहाँ कही सीधे-सादे आदमियों को उन्होंने अपने व्यंग-बाणों का शिकार बनाया है, वहाँ मेरी समझ में अन्याय किया गया है।

द्विवेदी जी हिन्दी में भिन्न-भिन्न विषयों पर लेख और पुस्तकें लिखवाना चाहते थे। ऐसी पुस्तकों की आलोचना में द्विवेदीजी ने पाठकों का खूब ज्ञान-विस्तार किया है। ये आलोचनाएँ सम्पादकीय गौरव को बढ़ाती है। द्विवेदी जी की प्रोत्साहन और प्रशंसापूर्ण आलोचनाओं का थोड़ा-सा उदाहरण नीचे दिया जाता है। 'भारत-भारती' की आलोचना में द्विवेदी जी लिखते हैं—

"यह काव्य वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्त्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा। यह सोते हुओं को जगाने वाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है। निरुद्योगियों को उद्योगशील बनाने वाला है; आत्म-विस्मृतों को पूर्व-स्मृति दिलाने वाला है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है, जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नही हो सकती है।"

ऐसी प्रोत्साहनपूर्ण आलोचना ने गुप्त जी को महाकवि बनाने में बहुत कुछ सहायता दी होगी। गुप्तजी ने भी 'साकेत' की भूमिका में द्विवेदी जी का ऋण स्वीकार किया है। पुस्तक के लिए जो कुछ कहा गया है अनुचित नही है। राष्ट्रीय-जागृति में 'भारत-भारती' ने बहुत कुछ काम किया है। ठाकुर गोपालशरणसिह की कविताओं की भी द्विवेदी जी ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी।

द्विवेदी जी ने सरकारी विभागों की रिपोर्टों पर जो आलोचनाएँ लिखी हैं, वे बड़ी विद्वत्ता, मननशीलता और कुशाग्र-बुद्धि का परिचय देती है। कही-कहीं तो द्विवेदीजी सच्चे देशभक्त की भाँति सात्विक क्रोध से तिलमिला उठते हुए मालूम होते हैं और उनकी भाषा बड़ी जोरदार हो जाती है, देखिए—

"बड़े ही अफ़सोस की बात है कि इस सूबे में जिले की हाकिमी करके और हज़ारों देहातियों की दुर्दशा का चित्र आँखों देखकर भी एडी साहब कचहरी जाना और रेल से

सफ़र करना दीन-दुखिया किसानों के लिए आमोद-प्रमोद और मनोरंजन में दाख़िल समझते हैं और इन बातों के वे उनके मुतमौव्वल होने का प्रमाण मानते हैं। भेड़-बकरियों की तरह रेल के डिब्बों में भर जाना, धक्के खाना, और ५) की दीवानी की नालिश के लिए खेती, किसानी का काम छोड़कर महीनों कचहरियों में मारे-मारे फिरना भी यदि मनोरंजन और चित्र-दर्शन में शामिल समझा जा सकता है, तो २४ घण्टे में एक बार रूखी-सूखी मकई की रोटी से पेट भर लेना शायद मोहनभोग का मजा लूटने में भी दाखिल समझा जायगा।"

इस प्रकार से क्या साहित्य की आलोचना में और क्या राजनीतिक रिपोर्टों की आलोचना में द्विवेदी जी ने अपनी ज़ोरदार लेखनी का परिचय दिया है। उनकी लेखनी से बहुत-से लोग रुष्ट भी हुए होंगे, बहुत-से प्रसन्न भी, किन्तु वे अपने विचार में एक रेखा-मात्र भी नहीं झुके। संक्षेप में हम उनकी अलोचनाओं की पाँच विशेषताएँ बतला सकते हैं——

(१) घोर निर्भीकता——जो कही-कही लोगों को अरुचिकर और कभी दोषपूर्ण भी हो जाती थी।

(२) प्रगाढ़ पाण्डित्य——जिसमें प्राचीन साहित्य और पुरातत्त्व सम्बन्धी बातों से विशेष सम्पर्क रहता था। उनकी आलोचना की कसौटी अधिकतर देशी रहती थी।

(३) लेखकों के रचना सम्बन्धी दोषों को सहन न करना। 'भारं न बाधते राजन् यथा बाधति बाधते' की-सी बात उनमें बहुत कुछ थी।

(४) अपने मत को ज़ोरदार भाषा में प्रकट करना। उनकी आलोचनाओं में हास्य और व्यंग्य की मात्रा कुछ अधिक रहती थी।

(५) विषय विवेचन——में बड़ी सावधानी और सतर्कता से काम लेना। नई बात को बड़े सरल शब्दों में बड़ी स्पष्टता के साथ समझाना।

समालोचकों में द्विवेदी जी का स्थान बतलाना बड़ा कठिन है। किसी का स्थान निर्धारित करना बड़े उत्तरदायित्व का काम है। हम द्विवेदी जी का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक मानते हैं। वे समालोचना के भवन में पहली ईंट जमाने वालों में से थे। पुस्तकाकार आलोचनाएँ शायद पहले-पहल उन्होंने ही प्रकाशित कीं थीं।

द्विवेदी जी का स्थान निर्धारित करने में हमको यह न भूल जाना चाहिए कि जिस समय उन्होंने आलोचना का कार्य प्रारम्भ किया था, उन दिनों विदेश में भी आलोचना का आदर्श निश्चित नही हुआ था। स्वदेश में तो गुण-दोष विवेचन बहुत दिनों से आलोचना का लक्ष्य चला आ रहा था और उनके समय विदेश में भी कुछ ऐसा ही हाल था। द्विवेदी जी अपने समय से प्रभावित थे। उनके ऊपर भी बहुत कुछ आक्षेप हुए थे और शायद अदले-का-बदला देने की प्रवृत्ति ने उनमें दोष-दर्शन की प्रवृत्ति को प्रबल कर दिया।

यद्यपि मिश्रबन्धुओं से द्विवेदी जी का वाद-विवाद रहा है, तथापि द्विवेदी जी के और

इन लेखकगणों के समालोचना सम्बन्धी आदर्श कुछ बातों में मिलते हैं। गुण-दोष विवेचन के सम्बन्ध में तो मिश्रबन्धुओं के विचार भी उनसे कुछ मिलते-जुलते है, किन्तु भाषा का विवेचन, अलंकारों की विवेचना तथा अन्य विशेषताओं के उद्घाटन में मिश्रबन्धुओं की आलोचनाएँ कुछ नवीनता लिये हुए होती हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा और द्विवेदी जी दूसरों की हँसी उड़ाने में एक से है, द्विवेदी जी की आलोचना अधिक शास्त्रीय हो जाती थी। शर्मा जी अपनी पसन्द के कवि की प्रशंसा में जमीन-आसमान के कुलाबे मिला देते थे, यह बात द्विवेदी जी में नहीं थी। शर्मा जी तुलनात्मक आलोचना में सिद्धहस्त थे। हास्य और व्यंग्य के होते हुए भी द्विवेदी जी में कुछ अधिक संयम था। भारतीय पद्धति का आधार लेने में तो शुक्लजी और द्विवेदी जी की समानता है, किन्तु शुक्लजी समालोचना की विदेशी पद्धति का भारतीय पद्धति के साथ समन्वय करने में अधिक समर्थ हुए हैं। उनकी आलोचनाएँ नवीन रचनाएँ होती हैं। द्विवेदी जी की आलोचनाएँ आलोचनाएँ ही रहती थी। द्विवेदीजी की अपेक्षा शुक्लजी का हास्य भी कुछ गम्भीर है। यह द्विवेदीजी का दोष नहीं, पचास वर्ष पहले पैदा होना पाप नहीं है। द्विवेदीजी ने अपने समय के ज्ञान से पूरा-पूरा लाभ उठाया था। वे अपने समय से किसी अंश में आगे भी बढ़े थे। उन्होंने समालोचना-साहित्य की नींव डाली। हिन्दी-साहित्य को अच्छी-अच्छी आलोचनाएँ दी। लेखको को प्रोत्साहन दिया और उनको सतर्क भी किया। प्रायः बीस वर्ष तक 'सरस्वती' द्वारा हिन्दी-साहित्य पर एकच्छत्र शासन कर साहित्य के निर्माण में बहुत कुछ योग दिया। हिन्दी-साहित्य पूज्य द्विवेदीजी की सेवाओं के लिए चिरऋणी रहेगा।

द्विवेदी जी के काव्य सम्बन्धी विचार

द्विवेदी जी ने अपने समय के काव्य की गतिविधि निश्चित करने में भी बहुत कुछ योग दिया था। उन्होंने समालोचना ही नहीं लिखी थीं, किन्तु समालोचक के लिए अच्छे काव्य का आदर्श भी बतलाया था। काव्य के पारखियों के लिए उन्होंने कसौटी भी दी थी।

काव्य की कसौटी के सम्बन्ध में 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण', 'रस गंगाधर', 'काव्यादर्श' आदि संस्कृत ग्रन्थों में तो सुन्दर और विशद विवेचना मिलती है, किन्तु हिन्दी गद्य मे इस प्रकार की विवेचना कम मिलती है। नाटक के सम्बन्ध में तो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने लिखा था और उन्होंने रीतिकाल की इस कमी को पूरा किया था। स्वर्गीय द्विवेदी जी ने काव्य का विवेचन केवल विवेचन के लिए नही किया है, वरन् क्रियात्मक रूप से तत्कालीन कवियों को पथ-प्रदर्शन करने के लिए।

द्विवेदीजी के काव्य सम्बन्धी विचार बहुत-से ग्रन्थों और निबन्धों में बिखरे मिल सकते हैं। किन्तु यदि हम उनको किसी सम्बद्ध रूप में देखना चाहें तो 'रसज्ञ रंजन' में देख सकते हैं। इस पुस्तक में कविता सम्बन्धी जो पाँच लेख दिये गये है, वे सब मौलिक नहीं कहे जा सकते। द्विवेदीजी ने जिन जिन आधारों पर ये लेख लिखे है, उनको स्पष्ट रूप से

स्वीकार किया है। किन्तु जिन विचारों को उन्होंने अपनाया है और जिनकी सराहना की हैं वे उनके ही कहे जायँगे।

द्विवेदीजी ने कविता के सम्बन्ध में व्यवहार-बुद्धि से लिखा है। वे काव्य की आत्मा अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति वा ध्वनि मानने वाले आचार्यो के झगड़ों में नही पड़े है, किन्तु उन्होंने अपने मत में सभी मतों का थोडा-बहुत सहारा लिया है। वे पारिभाषिक शब्दों के वाक्‌जाल से बहुत दूर रहे है। नीचे हम कुछ उद्धरण देते है, जिनसे आप देख सकेंगे कि वे कवि के हृदय में रस का होना काव्य के लिए आवश्यक मानते है और वे यह भी मानते है कि वही सफल कवि है जो उपयुक्त शब्दावली द्वारा पाठकों या श्रोताओं के हृदय में समान भाव उत्पन्न कर सके। वे कविता को प्रभावोत्पादक चाहते है और इस कारण उक्ति-वैचित्र्य के भी पक्ष में हैं। लेकिन वे कोरे वक्रोक्तिवादी (अनूठी तौर से कहने को ही कविता माननेवाले) नही हैं। सच्ची कविता के उन्होंने दो उदाहरण दिये हैं। एक 'रामचरित-मानस' से बनगमन समय सीताजी का श्रीरामचन्द्रजी के साथ जाने का आग्रह और दूसरा पण्डित श्रीधर पाठक का 'एकान्तवासी योगी' नामक अंग्रेजी से अनुवादित काव्य से अंजलोना की उक्ति। यहाँ पर द्विवेदीजी के काव्य सम्बन्धी विचारों के उदाहरण दिये जाते है :—

(१) "कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा जिस वस्तु का वर्णन करते है, उसका रस अपने अन्तःकरण में लेकर उसे ऐसा शब्दरूप दे देते हैं कि उन शब्दों को सुनने से वह रस सुनने वालों के हृदय में जाग्रत हो उठता है।"

(२) "कविता को सरस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। नीरस पद्यों का कभी आदर नहीं होता। जिसे पढ़ते ही पढ़ने वाले के मुख से 'वाह' न निकले अथवा उसका मस्तक न हिलने लगे, अथवा उसकी दंत-पक्ति न दिखलाई देने लगे, अथवा जिस रस की कविता है उस रस के अनुकूल वह व्यापार न करने लगे, तो वह कविता कविता ही नही, वह तुकबन्दी मात्र है।"

(३) "जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर ज़रूर पड़े, उसी का नाम कविता है।"

(४) "प्राचीन कवियों का सारा ध्यान अर्थ की ओर रहता था, भाषा की ओर कम रहता था। इसलिए उनकी कविता में हृद्‌गत भाव बहुत ही अच्छी तरह से ग्रथित हो जाता था। परन्तु उनके अनन्तर होने वाले कवियों में प्रबन्ध, शब्द-रचना और अलंकार आदि की ओर अधिक ध्यान जाने से कविता में अर्थ सम्बन्धी हीनता आ गई है।"

(५) "कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी ज़रूरत है। किसी मनोविकार का दृश्य-वर्णन करने में ढूँढ-ढूँढ कर ऐसे शब्द रखना चाहिए जो सुनने वाले के सामने वर्ण्य-विषय का चित्र-सा खीच दें।"

ऐसे बहुत से अमूल्य उद्धरण बिखरे पड़े है। उपर्युक्त उद्धरणों से हम कह सकते

हैं कि यद्यपि आचार्य ने किसी एक 'वाद' को नहीं अपनाया है तथापि वे कविता उसी शब्द-रचना को कहते है जिसमें सत्य पर आश्रित भावों की ऐसी सुन्दर ढंग से अभिव्यंजना की जाय कि पाठकों के मन में समान भाव की उत्पत्ति हो और वे बोल उठें कि सच कहा।

द्विवेदीजी रसवादी भी है, (जैसा पहले उद्धरण से विदित होता है)। वक्रोक्तिवादी, अभिव्यंजनावादी भी हैं (जैसा तीसरे उद्धरण से विदित होता है) और प्रभाववादी भी है (जैसा कि दूसरे उद्धरण से लक्षित होता है)।

द्विवेदीजी चमत्कारवादी हैं। यदि कविता में चमत्कार नही तो आनन्द की प्राप्ति नही हो सकती, किन्तु उसी के साथ वे अलंकारों और शब्दाडम्बर के भी पक्षपाती नहीं हैं। सब बातों को लेते हुए द्विवेदीजी प्रभावोत्पादन को अधिक महत्त्व देते हुए प्रतीत होते है। इसीलिए वे भाषा की शक्ति पर अधिक ज़ोर देते है।

द्विवेदीजी ने सभी 'वादों' का कुछ कुछ लिया है। किन्तु उन्होंने किसी एक बात को भी सर्वप्रधान नही कहा है, इसलिए वे किसी 'वाद' में नही हैं।

चमत्कारवाद का पक्ष और साथ ही अलंकारों का विरोध आदि बातें कुछ लोगों को परस्पर-विरोधी प्रतीत होती है। वास्तव में थोड़ी मात्रा में सभी चीज़ें एक दूसरे की सहायक और पूरक होती है। अनुचित मात्रा में विरोध हो जाता है। द्विवेदीजी ने चमत्कार-वाद को इसी हद तक माना है कि वह शब्दाडम्बर न बन जाय। जहाँ प्रभाववाद में पड़े, वहाँ उसका यह अर्थ न लेना चाहिए कि कोरा सर हिलवा देना कविता की इतिकर्त्तव्यता है। वस्तु-विवेचन सच्चा होना चाहिए। उनके प्रभाववाद में सत्य की उपेक्षा नहीं है। वैसे प्रभाववाद में कहीं-कही सत्य की उपेक्षा अधिक हो जाती है।

प्रभाववाद में एक खराबी यह भी है किसी की वाह-वाह चाहिए? तुलसीदास जी ने बुधजनों की वाह-वाह चाही है। द्विवेदीजी का भी अभिप्राय बुधजनों से ही समझना चाहिए। इक्के-ताँगे वालों का नही। जो कविता इक्के-ताँगे वालों की वाह-वाह ले सकती है, वह आदरणीय नही। जिसकी बुधजनों के साथ इक्के-ताँगे वाले भी सराहना कर सकें, वह अवश्य आदरणीय है। वे मिल्टन का उदाहरण देते हुए कविता के लिए तीन गुण आवश्यक समझते है :—

"अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये है। उनकी राय में कविता सादी हो; शब्दाडम्बर दुरूहता और गूढ़ता से दूर अर्थात् प्रसाद गुण से युक्त, जोश से भरी (रसपूर्ण) और असलियत से गिरी न हो" (कल्पनामय हो, किन्तु सत्याश्रित हो)।

द्विवेदीजी छन्द को कविता के लिए आवश्यक नहीं मानते हैं। इसीलिए वे अंग्रेज़ी में किये हुए वर्स (Verse) अर्थात् पद्य और पोइट्री (Poetry) अर्थात् कविता पर ज़ोर देते है :–

"आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अंग्रेज़ी की पोइट्री (Poetry) और वर्स में है।

किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नही होता, वह कविता नही।"

द्विवेदीजी ने कविता के सम्बन्ध में चार बातों पर विशेष रूप से विचार किया है: (१) छन्द (२) भाषा (३) अर्थ (४) विषय।

छंद—द्विवेदीजी छंद के लिये तुकबन्दी आवश्यक नही बतलाते है। इसीलिए उन्होंने संस्कृत छंदों के अनुकरण पर ज़ोर दिया है। सम्भव है, पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय इसी अपील से प्रभावित हुए हों। (संस्कृत छंदों में पहले रहीम ने भी कविता की है)। आजकल के कवियों ने हिन्दी के ही छन्दों में अतुकांत कविता कर द्विवेदीजी के उद्देश्य की पूर्णतया पूर्ति की है।

द्विवेदीजी के छंद सम्बन्धी विचार बड़े उदार है। वे छंदों में नवीनता चाहते है। वे संस्कृत वृतों तथा उर्दू तक के छन्दों के पक्ष मे है।

भाषा—भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदीजी कहते है कि कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ लें, क्योंकि कविता समझी जाने के लिए ही लिखी जाती है। कविता में व्याकरण के नियमों का भी पूरी तौर से पालन होना चाहिए। उनका कहना है कि शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, उतना अशुद्ध भाषा का नही। भाषा में शब्दों की उपयुक्तता पर बहुत जोर दिया है। देखिए इस सम्बन्ध में वे क्या कहते है:—

"विषय के अनुकूल शब्द-स्थापन होना चाहिए। कविता एक अपूर्व रसायन है। रसायन सिद्ध करने में आँच के न्यूनाधिक होने से जैसे रस बिगड़ जाता है, वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य रूपी रस भी बिगड़ जाता है। शब्द चुनने में अक्षर-मैत्री का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

आचार्य द्विवेदी उन लोगों में अग्रगण्य है, जिन लोगों ने खड़ीबोली को काव्य की भाषा बनाने का आन्दोलन उठाया था। इस सम्बन्ध में वे लिखते है:—

"गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य की एक प्रकार की और पद्य में दूसरी प्रकार की भाषा लिखी जाती है।"

अर्थ के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए द्विवेदीजी अर्थ-सौरस्य को कविता का प्राण मानते हैं। इस विषय में वे लिखते है।

"कवि जिस विषय का वर्णन करे, उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नहीं आ सकता। विलाप-वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वयं विलाप कर रहा है और वर्णित दुःख का अनुभव कर रहा है।"

अर्थ-सौरस्य के सम्बन्ध में वे तीन बातों पर ज़ोर देते हैं—पहली बात कवि की भावुकता और सहृदयता अर्थात् वर्ण्य विषय से कवि का तादात्म्य। दूसरी बात यह है कि जो भाव कवि के हृदय में स्वभाव से उठें उन्ही का वह वर्णन करे। बलात् किसी अर्थ के

लाने की चेष्टा न करनी चाहिए। इससे कविता में अस्वाभाविकता आ जाती है। तीसरी बात अर्थ की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में है। द्विवेदीजी कविता में प्रसाद गुण के पक्ष में हैं। वे चाहते हैं कि अपने मनोनीत अर्थ को इस प्रकार व्यक्त किया जाय कि पद्य पढ़ते ही पढ़ने वाले उसे तत्क्षण हृदयगम कर सकें। क्लिष्ट कल्पना अथवा सोच-विचार करने की आवश्यकता न पड़े। वे चाहते हैं कि कविगण शब्दों को तोल-तोल कर विषय और प्रसंग के अनुकूल रक्खें। वामा, तन्वी, गृहलक्ष्मी, रमणी, महिला आदि सब पर्यायवाची शब्द हैं। किन्तु प्रत्येक शब्द प्रत्येक प्रसग मे शोभा नही देगा। महिला परिषद् की जगह तन्वी परिषद् कहना अच्छा नही लगेगा। द्विवेदीजी निरर्थक या भर्ती के शब्दों के पक्षपाती नही हैं। न वे शब्दों की तोड़-मरोड़ चाहते है। इसीलिए वे बार-बार तुकबन्दी के खिलाफ़ आवाज़ उठाते हैं। कविता को वे निर्दोष देखना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में वे कहते है :—

"अश्लीलता और ग्राम्यता गर्भित अर्थो से कविता को कभी न दूषित करना चाहिए। न देश-काल तथा लोक आदि के विरुद्ध कोई बात कहनी चाहिए" (देश और काल-सम्बन्धी दूषण अवश्य खटकते हैं, किन्तु अधिक या न्यून पद और मामूली बात में अतिसंस्कृति दोष भी उपेक्षणीय हो सकता है यदि काव्य सरस हो) जिन लोगों ने द्विवेदीजी द्वारा की हुई 'कालिदास की निरंकुशता' शीर्षक आलोचना पढ़ी है, वे जानते होंगे कि उन्होंने दोषों को कितना महत्त्व दिया है। इस सम्बन्ध में लोग उनकी निर्भीकता की तारीफ़ करते हैं। निर्भीकता तारीफ़ की वस्तु अवश्य है, क्योंकि हमारे देश में पूर्वजों के अत्यधिक आदर के कारण मौलिकता आने मे कुछ बाधा पड़ती है, किन्तु निर्भीकता केवल निर्भीकता के लिए नही होनी चाहिए। बड़े आदमी के खिलाफ़ दस-बीस बातें कहने को ही शाबासी देना अच्छा नही। (कालिदास की प्रखर प्रतिभा के सामने न्यून पदत्व या अधिक पदत्व दोष नगण्य हो जाते हैं। स्वयं कालिदास जी के शब्दों में कहा जा सकता है 'एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवांकः'। गुणों के इकट्ठे होने पर एक दोष इसी प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार किरणों के बाहुल्य में चंद्रमा का कलंक) दोषों से बचना सोने में सुगंध की बात हो जाती है। किन्तु मुख्य और गौण बात मे भेद रखना चाहिए। कविता में रस मुख्य है, निर्दोषिता गौण बात है और दोष भी सब बराबर नही होते। हाथ धोकर भोजन न करना दोष है, किन्तु इतना बड़ा नही जितना कि किसी का सर काट लेना। द्विवेदीजी भी स्वयं सब दोषों को बराबर महत्त्व देने वाले लोगों में नही थे। वे गुण-दोष का अनुमान जानते थे, किन्तु उससे प्रभावित प्राचीनता के उपासक आलोचक पारिभाषिक दोषों को खोज निकालने में ही आलोचक के कर्म की इतिश्री समझ लेते है, यह बुरा है। इस थोड़े से प्रसंगान्तर के लिए पाठकों से क्षमा चाहता हूँ। यह बात स्पष्ट कर देना मै आवश्यक समझता था।

काव्य-विषय मे द्विवेदीजी के विचार बड़े महत्त्व के है। रीतिकाल के संकुचित वातायन-हीन भवन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आलोक आने के लिए दो एक वातायन खोल दिये थे,

किन्तु वे काफ़ी नहीं थे। विषय-विस्तार के लिए कड़ी आवाज़ लगाई जाने की ज़रूरत थी और आचार्यजी ने इस सम्बन्ध में तत्कालीन कवियों को अच्छा उपदेश दिया है। आचार्य द्विवेदी जी को युग-निर्माता कहा जाना इस अर्थ में सार्थक है। विषय-विस्तार की इस काल में भी आवश्यकता है। कविता का पुराना भवन ढह कर नया भवन अवश्य बन गया है, किन्तु अब भी उस भवन के विस्तार की आवश्यकता है। विषय-विस्तार के सम्बन्ध में नीचे उद्धृत किए हुए वाक्य बड़े मार्मिक हैं :—

"चीटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है। फिर क्या कारण है कि इन विषयो को छोड़ कर कोई कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं ? केवल अविचार और अन्ध परम्परा।" मैं स्त्रियों के 'बायकाट' करने के पक्ष में तो नहीं हूं, क्योंकि वे चीटी और जुगनू से, नही-नहीं हाथी से भी बढ़ कर महत्त्व इस जगत् में रखती हैं, किन्तु कविता स्त्री-केन्द्रित न होनी चाहिए। वैसे तो शास्त्रो में कहा है 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' किन्तु इस पूजा मे और चीज़ की उपेक्षा न होनी चाहिए। पूज्य द्विवेदी जी ने संसार की स्त्रियेतर वस्तुओं की ओर लोगों का ध्यान आर्कषित कर सच्चे नेता का काम किया है। हर्ष की बात है कि वर्त्तमान युग में काव्य-विषय के सम्बन्ध में पहले का-सा संकोच नही है। अब कलेजे के दो टूक करने वाले भिखारी, काश्मीर, सृष्टि, प्रलय, बन, पर्वत, कछार, वियना की सडक सभी पर कविता लिखी जाती हैं, किन्तु अब विस्तार की आवश्यकता है। कविता को जीवन से अधिक सम्पर्क में आना चाहिए।

द्विवेदीजी ने कवियों के लिए नैसर्गिक शक्ति और अभ्यास दोनों को आवश्यक माना है, कवि हीरे की भाँति पैदा अवश्य होते है, किन्तु उनके गढ़े जाने की भी आवश्यकता है। द्विवेदीजी ने कवि की शिक्षा के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र के उदाहरण दिये है। वे बड़े महत्त्वपूर्ण है। आजकल के कवियों को उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। कवि में सहृदयता, विस्तृत निरीक्षण, अध्ययन, अभ्यास और व्यवहार की उदारता अत्यन्त आवश्यक है। क्षेमेन्द्र का बताया हुआ कवि बनने का नुसखा देखिए। क्षेमेन्द्र के इस नुसखे में बढ़े हुए बाल और फाउन्टेन पैन की कमी है। बिचारे के समय में फाउन्टेनपैन था ही नहीं, क्या करता ? संक्षेप में हम कह सकते है कि द्विवेदीजी ने निम्नलिखित बातों पर जोर देकर अपने समय के कवियों का पथ-प्रदर्शन किया है :—

(१) काव्य का विषय-विस्तार।
(२) कवि की भावुकता और उसके हृदय की सत्यता।
(३) कविता मे सादगी और आडम्बरशून्यता।
(४) छन्दों मे नवीनता, संस्कृत छन्दो का प्रयोग और तुकबन्दी का विरोध।
(५) कविता में सत्य का आधार।

(६) कविता में व्याकरण के नियमों का पालन ।

'रसज्ञ-रंजन' में 'कविता में उर्मिला संबन्धी उदासीनता' शीर्षक लेख यद्यपि द्विवेदीजी का नहीं है, तथापि द्विवेदीजी ने उसको मुख्यता देकर श्री मैथिलीशरण जी को 'साकेत' लिखने की आन्तरिक प्रेरणा दी । इसी प्रकार संस्कृत छन्दों का पक्ष लेकर उपाध्याय जी को 'प्रिय-प्रवास' लिखने में प्रेरित किया । द्विवेदीजी की प्रेरणा के दो अमूल्य रत्न वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ा रहे हैं । गोविन्द की अपेक्षा गुरु का महत्त्व अधिक है । 'बलिहारी वा गुरु की जिन गोविन्द दियो बताय ।'

: २ :

मिश्रबन्धु

[ललिता प्रसाद सुकुल]

हमारे देश का विश्वविख्यात विक्रम सम्वत् चैत्र पूर्णिमा से माना जाता है। अनायास ही कुछ ऐसी ही घटना आधुनिक हिन्दी साहित्य के सूत्रपात के साथ भी घट गई। इसका प्रारम्भ हिन्दी साहित्य के क्षितिज पर भारतेन्दु के उदय के साथ हो गया। भारतेंदु की असाधारण प्रतिभा ने क्या-क्या नही दे डाला! साहित्य का शायद कोई ऐसा अंग नही जो उनकी लेखनी से अछूता रहा हो। क्या मौलिक कलात्मक रचनाएँ, और क्या सामयिक जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक और राष्ट्रीय महत्त्व की जनसाधारणोपयोगी वैचित्र्यपूर्ण गम्भीर चिन्ता से युक्त विविध प्रकार की रचनाएँ, सभी तो भारतेन्दु ने हिन्दी को दे डाली। अभी कुछ ही समय पूर्व उनके कुछ ऐसे निवन्ध भी प्रकाश में आए है जिनमे उनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। उनका भारतेंदु मंडल भी विशिष्ट प्रतिभावान् कृती व्यक्तियों से युक्त था। उनके अपने समय में तथा उसके कुछ काल बाद तक भी भारती की अच्छी सेवा होती रही। लेकिन उस समय की सामग्री पर एक साधारण दृष्टि डालने से ही ज्ञात हो जायगा कि भारतेन्दु के बाद और महावीर प्रसाद द्विवेदी के आगमन के पूर्व तक हिन्दी के क्षेत्र में पूर्ण निष्ठा से लगन के साथ सेवा करने वाले, उसके विविध अंगों की छानबीन करके पूर्त्ति करने वाले, सूझबूझ के लोग अधिक नही आए।

लगभग १९०८ ई० के सहसा हिन्दी क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं का नाम कुछ विशिष्ट रूप से सामने आता देख पड़ा। बहुत दिनों तक हिन्दी का साधारण पाठक इसी उधेड़बुन में रहा कि यह मिश्रबन्धु कहाँ से और कैसे हिन्दी की सेवा में रत हो गए। क्योंकि लखनऊ का यह मिश्र परिवार उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध घरानों में से एक था। इनकी ख्याति अपनी बड़ी ज़मीदारी के लिए थी, आर्थिक सम्पन्नता के लिए थी और यह घराना अंग्रेज़ी शिक्षाविदों का घराना था। इस मिश्रबन्धु में सम्मिलित थे उसी कुल के तीन भाई; पण्डित गणेश बिहारी मिश्र, पण्डित श्यामबिहारी मिश्र और पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र। पण्डित श्यामबिहारी मिश्र प्रयाग विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी साहित्य में प्रतिष्ठा के साथ एम०ए० की डिग्री लेकर डिप्टी कलेक्टरी कर रहे थे। पण्डित शुकदेवबिहारी जी कानून की डिग्री लेकर मुसिफ़ हो चुके थे। ज्येष्ठ भ्राता, पण्डित गणेशबिहारी जी ख्यातनामा ज़मीदार के रूप में प्रतिष्ठित थे। सरकारी अफ़सरों और ज़मीदार-पेशा व्यक्तियों का साहित्य-क्षेत्र में यह पदार्पण एक विचित्र संयोग था। इस समय तक शायद बहुतों को यह पता न था

कि यह परिवार युगों से हिन्दी और संस्कृत साहित्य का भी अनन्य भक्त रहा है। हस्त-लिखित संस्कृत और हिन्दी कवियों की कृतियों का अमूल्य ख़ज़ाना भी इस परिवार के पास युगों से सुरक्षित था, यह भी बिरले ही जानते थे। परम्परागत इनके कुल में प्रतिष्ठित यह गुप्त साहित्य-निष्ठा ही इनके साहित्य-क्षेत्र में अवतरित होने का रहस्य है। साथ ही अंग्रेजी की उच्च शिक्षा का संयोग सोने में सुगन्ध का काम कर गया। इस काल तक भारतीय शासन के बड़े-बड़े ओहदों पर आसीन अंग्रेज़ अफ़सर—ग्रियर्सन, बीम्स् और हार्न्ले जैसे मेधावी साहित्यानुरागी भारतीय साहित्य और भाषाओं पर काम करने की स्वस्थ परम्परा स्थापित कर चुके थे। मिश्रबन्धुओं की जन्मजात साहित्यिक रुचि इस परम्परा से काफ़ी प्रोत्साहित हुई। समय, सुविधा और साधनों की इनके पास कमी न थी। लगन के ये पक्के थे, इनकी सूझबूझ भी निखरी हुई थी।

साहित्य-क्षेत्र में पैठते ही इन्हे समझने में देर न लगी कि सबसे पहली आवश्यकता थी, हिन्दी की अपार साहित्य राशि की क्रमबद्ध समीक्षा की। यों तो इनसे बहुत पहले हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे जाने की एक साधारण-सी परम्परा पड़ चुकी थी, किन्तु वैसे वे पूर्वकालिक प्रयास न सही अर्थो मे इतिहास थे और न उनमे अपेक्षित, सतुलित समीक्षा थी। इस अभाव को सब से पहले पूरा करना इन्हें परम आवश्यक जान पड़ा। सम्भव है, मूल में विनोद की भावना रही हो, लेकिन उस विनोद स्वरूप मे हिन्दी साहित्य को इनकी सर्वप्रथम ठोस भेंट मिली 'मिश्रबन्धु विनोद' के रूप में। इसमें हिन्दी के आदि कवि माने जाने वाले पुष्य से लेकर मध्यकालीन कवियों और उनकी कृतियों का भरपूर लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया।

अपने ढंग का यह शायद पहला ही ग्रन्थ है जिसमे हिन्दी के पाठक सूर, तुलसी, कबीर, मीरा इत्यादि कतिपय अति प्रसिद्ध भक्तों के अतिरिक्त सैकड़ों अन्य हिन्दी के कवियों एवं उनकी कृतियों के नामों से परिचित हो सके। भले ही कुछ अनभिज्ञ आलोचक 'मिश्रबन्धु विनोद' के विषय में यह कहते सुने जाएँ कि वह तो केवल हिन्दी के कवियों और उनकी कृतियो की अविश्वसनीय एक सूची मात्र है। किन्तु जिन्होंने सचमुच 'मिश्रबन्धु विनोद' का अवलोकन किया होगा वे शायद ऐसा न कह सकेंगे। निश्चित रूप से मानना ही होगा कि ऐतिहासिक रूपरेखा से युक्त पुष्ट आलोचनात्मक दृष्टिकोण को लिये हुए यदि आधुनिक काल मे हिन्दी के विशाल साहित्य की कोई समीक्षा सर्वप्रथम प्रस्तुत की गई है तो वह 'मिश्रबन्धु विनोद' के रूप में। हाँ, यह ठीक है कि उसमें अनेक सूचनायें बाद की—की गई गवेषणा की कसौटी पर शायद सही नहो उतरतीं। लेकिन तब यही कौन कह सकता है कि आज की स्थिर सूचनाये—विशेषकर प्राचीन और मध्यकाल के सम्बन्ध में—कल भी स्थिर रह सकेंगी। औरों की बात ही क्या, अभी तो सूर और तुलसी जैसे महाप्रसिद्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी हमारा ज्ञान पग-पग पर बहुत आधारभूत नहो। खैर, यह तो बात ऐतिहासिक छानबीन की है। प्रस्तुत प्रसंग में हमें अध्ययन करना है, मिश्रबन्धुओं की

विशिष्ट आलोचना-पद्धति का और मूल्यांकन करना है इस क्षेत्र में उनके द्वारा दिए गए अवदान का ।

विचार-सामग्री और उसके प्रस्तुत किये जाने के रूपों की समीक्षा, उसका वर्गीकरण और तुलनात्मक अध्ययन, यही तो समालोचना-क्षेत्र की पहली आवश्यकता है । 'मिश्रबन्धु विनोद' इस प्रकार के अध्ययन का विशेषकर आधुनिक हिन्दी साहित्य मे—सर्वप्रथम उद्योग है । इसके लिखने के बाद ही मिश्रबन्धुओं को समझने में देर न लगी कि ऐतिहासिक वृत्त के अतिरिक्त क्रमबद्ध सन्तुलित वैज्ञानिक आलोचना की भी हिन्दी साहित्य को अपनी प्रगति के लिए कितनी आवश्यकता है । इसी को लक्ष्य मे रख कर कुछ ही वर्षो मे इन्होंने हिन्दी के कोष मे भेंट किया अपना प्रसिद्ध न्थ 'हिन्दी नवरत्न' । यद्यपि इस ग्रन्थ का नाम 'नवरत्न' है, किन्तु इसमें समीक्षात्मक अध्ययन नव से अधिक कवियों का किया गया है । प्रायः प्रत्येक सस्करण में कुछ न कुछ नवीन सामग्री जुड़ी मिलती है । यह भी एक प्रमाण है कि इसके लेखक निरन्तर अध्ययन में रत थे और उनका दृष्टिकोण नित्य नवचेतना से युक्त था । अपनी इस कृति मे इन्होंने चन्द बरदाई से लेकर १८ वीं शताब्दी तक के कतिपय अति प्रसिद्ध हिन्दी के कवियों का मार्मिक समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर दिया । इसकी भूमिका मे लेखकों ने केवल अपने आलोचनात्मक दृष्टिकोण का ही परिचय नही दिया वरन् उसमें संक्षेप मे भारतीय आलोचना-पद्धति का इतिहास भी दे दिया गया है ।

'हिंदी नवरत्न' मे विविध प्रसिद्ध कवियों का अध्ययन उनकी भाषा, विचार धारा, उनके जीवन दर्शन तथा उनकी कृतियों मे निहित कलात्मक सौष्ठव के आधारों पर किया गया है । वर्गीकरण का भी प्रयास है, भले ही वह सर्वसम्मत न माना जा सके । कहने में संकोच न होना चाहिए कि इस प्रकार का यह तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी में सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं के द्वारा ही किया गया है । आधुनिक आलोचक सम्भवतः इस प्रकार के तुलनात्मक दृष्टिकोण को बहुत पसन्द नही करता और वास्तव में यदि देखा जाए तो इस प्रकार के अध्ययन बहुत सफल भी नही हो सकते और न उनकी विशेष सार्थकता हो सकती है । क्योंकि प्रत्येक प्रतिभावान् कलाकार अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार अपने ही दृष्टिकोण से अपनी कला को जन्म देता है । वे सर्वदा समान हों, यह सम्भव नही । विशेषकर हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के कलाकारों की समीक्षा तो इस रूप में तो और भी अधिक असम्भव है । क्योंकि पूर्वमध्यकालीन हिन्दी की विभूतियाँ कविधर्म की अपेक्षा अन्य दार्शनिक और धार्मिक आदर्शों से अधिक प्रभावित थी । लेकिन उत्तर मध्यकाल का हिंदी काव्य-साहित्य कविधर्मी कलाकारो की ही देन है । दोनों में तुलना का कोई विशेष आधार नही है । फिर भी हम मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' की सराहना अवश्य करेंगे । यदि इस प्रकार का यह ग्रन्थ न लिखा जाता तो बहुत सम्भव था कि देव और बिहारी, बिहारी और देव तथा बिहारी पर पद्मसिंह शर्मा द्वारा लिखित परम विद्वत्तापूर्ण भाष्य कदाचित्

हमें देखने को न मिलता। और कुछ न सही, मिश्रबन्धुओं के इस प्रयास ने हिन्दी कवियों के मार्मिक, विवेचनात्मक अध्ययन की पुष्ट परिपाटी का सूत्रपात तो कर ही दिया।

"मिश्रबन्धु विनोद" के द्वितीय संस्करण में ही जुड़ गई हिन्दी साहित्य की एक क्रमबद्ध संक्षिप्त ऐतिहासिक भूमिका। एक हज़ार या बारह सौ वर्षों के साहित्य का समुचित अध्ययन बिना किसी प्रकार के काल-विभाजन के सम्भव नही। यह भी सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं के द्वारा ही किया गया। इसमें भी मतभेद की काफ़ी गुंजाइश थी और अन्त में हम देखते है कि प्रायः इसी के आधार पर शब्द-सागर के प्रकाशन के साथ पण्डित रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा प्रस्तुत किए गए हिन्दी साहित्य के इतिहास में आज का स्वीकृत काल-विभाजन परिमार्जित रूप में स्थिर किया गया। हिन्दी के विविध कालों के नामकरण की प्रथा भी मिश्रबन्धुओं से ही चली। थोड़े बहुत परिवर्त्तनों के साथ आज तक वह क़ायम है।

साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन जैसा पहले कहा जा चुका है केवल साहित्यिक रूपों का ही नही होता, भाषा या कलात्मक वैशिष्ट्य का ही नही होता, वरन् प्रस्तुत की गई समस्त विचार-राशि का भी होता है, कलाकार के मानसिक व्यक्तित्व का भी होता है। यह ठीक है कि विशिष्ट व्यक्तित्व अपनी सत्ता स्वतन्त्र रखता है, किन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि व्यक्तित्व का निर्माण, जीवन का दृष्टिकोण और विचारधारा पूर्वपरम्पराओं पर ही निश्चित रूप से आधारित रहती है। यदि किसी कलाकार की रचना की आत्मा तक समीक्षक पहुँचना चाहता है तो उसके प्रेरणास्रोतों तक समीक्षक को जाना ही होगा। यही सार्थकता सिद्ध हो जाती है, काल-विभाजन की और ऐतिहासिक अध्ययन की।

मिश्रबन्धुओं द्वारा प्रस्तुत की गई साहित्यिक सामग्री स्पष्ट प्रमाणित करती है कि ये प्राचीन संस्कृत आलोचना-पद्धतियों के केवल पण्डित ही नही थे वरन् उसी के क़ायल भी थे। क्योंकि काव्य-शास्त्र का विवेचन भी इन्होंने पर्याप्त रूप से किया है। इनकी आलोचना का क्षेत्र अधिकाश मध्यकालीन हिन्दी साहित्य ही रहा, उसी में इनकी रुचि भी थी। रस-सिद्धान्त की अपेक्षा ये ध्वनि-सिद्धांत के अधिक क़ायल थे इसका प्रमाण है, देव की कविता में इनका सर्वाधिक अनुराग। मध्यकालीन कवियों में देव ध्वनिसिद्धान्तवादी ही थे। सम्भवतः यह भी एक कारण था कि भक्त कवियों की समीक्षा में ये तुलसी की अपेक्षा सूरदास को विशेष महत्त्व देते थे। कबीर का विचार-पक्ष यदि अति पुष्ट न होता तो सम्भव है, मिश्रबन्धुओं के 'नवरत्न' में उन्हें गौण स्थान ही मिलता। क्योंकि कबीर के काव्य-पक्ष पर उनका सन्देह पग-पग पर स्पष्ट था।

ध्वनिसिद्धान्तवादी स्वभाव से ही शब्द-सौष्ठव और निष्कलुष छन्द-रचना का क़ायल होता ही है। अंग्रेज़ी साहित्य में भी पारंगत होने के कारण ये जिस युग और परम्परा के थे उसमें क्रान्ति और कवियोचित उच्छृंखलता या संयम और अनुशासन से मुक्ति स्वीकृत नहीं थी। उसके अनुसार उस क्षेत्र में भी इनका पैमाना अटका हुआ था—टेनिसन

के आदर्शों से। अपने तुलनात्मक अध्ययनों में इन्होंने कभी शेली, कीट्स या बायरन को प्रश्रय नही दिया, वरन् यदि उल्लेख कही मिलते है तो अधिक अंशों मे टेनिसन के। वह भी तो विक्टोरियन काल का कवि था जिसमे किसी प्रकार की उच्छृंखलता की छूट नही थी। शब्द-परिमार्जन, नैतिक मर्यादा तथा विशुद्ध दृष्टिकोण कलाकार के अनिवार्य गुण थे। सभी दृष्टियों से कहना पड़ेगा कि मिश्रबन्धुओं की आलोचना के सिद्धान्त मान्य "क्लासिसिज़्म" पर अवलम्बित थे। शब्दों की तोड़-मरोड़ या अवाछित भाषा की मिलावट के ये क़ायल न थे। इनकी स्पष्ट घोषणा थी कि अवधी में व्रज की मिलावट या व्रज में खडीबोली की मिलावट कविता का कलंक है और अक्षम्य दोष है। श्रीधर पाठक कुछ इसी प्रकार की मिलावट के समर्थक थे, उन्हे प्रारम्भ में किसी कारणवश समर्थन प्राप्त हो गया था पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी का। मिश्रबन्धुओं ने इस प्रवृत्ति की निर्भीक कटु आलोचना कर दी थी। यह भी एक कारण बन गया था--द्विवेदीजी तथा मिश्रबन्धुओं के जगत् प्रसिद्ध वैमनस्य का। सर्वतोमुखी विशुद्धता का उनका आदर्श उनके युग मे विकसित होने वाली खडीबोली की हिन्दी कविता के प्रतिकूल था और यही कारण है कि वे आधुनिक हिन्दी कविता के विशेष समर्थक न हो सके। "रबड छन्द", "केचुआ छन्द" और अनर्गल बेसिर-पैर की कल्पना से युक्त तथाकथित छायावादी रचनाएँ उन्हे आकर्षित न कर सकी। उनकी यह उदासीनता 'मिश्रबन्धु विनोद', अन्तिम भाग मे अधिक स्पष्ट है। उसमें आधुनिक युग के व्रजभाषा कवियों को अधिक ऊँचा स्थान मिला है। खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवि भी उसमे स्थान पा गए है, किन्तु प्रशंसा नही।

यदि आज मिश्रबन्धु होते तो सम्भव है आज की प्रौढ बोली की रचनायें उनकी दृष्टि में कुछ परिवर्त्तन अवश्य कर देती, क्योंकि खड़ीबोली की काव्योचित मर्यादा और शक्ति आशातीत उन्नति कर गई है। लेकिन आज की तथाकथित प्रगतिवादी रचनाएँ जो किसी प्रकार की मर्यादा मानने के लिए तैयार नही, कहाँ तक उनकी कसौटी पर खरी उतराई जाती--कहना कठिन है।

: ३ :

आचार्य पद्मसिंह शर्मा

[पं० हरिशंकर शर्मा]

पंडित पद्मसिंह शर्मा संस्कृत और हिन्दी के प्रकांड पंडित थे। प्राकृत और व्रजभाषा का उन्होंने विशेष रूप से अध्ययन किया था। इन भाषाओं के अतिरिक्त उन्हें फ़ारसी और उर्दू साहित्य पर भी पूरा अधिकार था। उनका पांडित्य 'पल्लवग्राही' नहीं; बल्कि ठोस और व्यापक था। ऊपर जिन भाषाओं का उल्लेख है, उनके साहित्य—विशेषकर काव्य-साहित्य में कदाचित् ही कोई काव्य-ग्रंथ रहा हो, जिसका पंडित जी ने गम्भीरतापूर्वक अध्ययन नहीं किया। वे किसी ग्रंथ को कहानी की तरह न पढ़ते बल्कि प्रत्येक दृष्टि से उस पर गम्भीर विचार करते थे। शर्माजी के पुस्तकालय में उच्च कोटि के सब ही ग्रंथरत्नों का संग्रह है। और प्रायः ये सब ही ग्रंथ उनकी टिप्पणियों से भरे हुए हैं। उनके अध्ययन की शैली को देखकर बडे बड़े रिसर्च-स्कॉलर चकित हो जाते थे। फिर तारीफ़ यह कि वे जो कुछ पढ़ते वह उन्हें अच्छी तरह उपस्थित रहता था। अवसर आने पर श्लोकों, छंदों, दोहों और शेरों की झड़ी लगा देते थे। जिन लोगों ने पंडित पद्मसिंह शर्मा के लिखे निबंधों को पढ़ा है, वे जानते हैं कि उनमें कितना अधिक ज्ञान भरा पड़ा है, और उनमें विविध ग्रंथों के उद्धरण किस खूबी से 'फ़िट' किये गये हैं।

पंडितजी जिन भाषाओं के ज्ञाता थे, उनके विद्वानों से बड़े शौक़ से मिलते रहते थे। 'हाली','इक़बाल', 'अकबर','चक़बस्त' 'फ़ानी' आदि उर्दू के महाकवि उनके मित्र थे। ये सब महाकवि भी पंडितजी की विद्वता और विनम्रता का बड़ा आदर करते थे। जब संस्कृत और हिन्दी के विद्वानों में बैठ जाते तो उस समय पंडितजी के ही प्रभाव और पांडित्य की प्रधानता दृष्टि आती थी। आपने संस्कृत में भी अनेक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण निबंध लिखे, जिनकी बहुत प्रशंसा हुई और धूम मच गयी। पंडितजी की शिष्य-मंडली साधारण नहीं है, उनके कितने ही शिष्य तो चोटी के विद्वान, लेखक और वक्ता हैं। पचासों साहित्याचार्य और शास्त्री हैं।

पंडित पद्मसिंह शर्मा के अध्यापक, व्याख्याता, निबंध-लेखक और आलोचक—चार रूप रहे। जहाँ तक मेरा अनुमान है, व्याख्यानदाता के रूप में वे उतने सफल नहीं हो सके जितने अन्य क्षेत्रों में। वे व्याख्यान देते थे और उसमें बहुत सी सामग्री उपस्थित कर देते थे, परन्तु उनकी वाणी में साधारण जनता को प्रभावित या आकृष्ट करने की शक्ति अथवा कला न थी। हाँ, अध्यापक रूप उनका बड़ा प्रभावशाली था। शास्त्री

और साहित्याचार्य जब उनसे किसी ग्रंथ का अध्ययन करते थे, तो वे पांडित्य पर मुग्ध हो जाते थे। साधारण विद्यार्थियों की तो बात ही क्या। प्रसंग के प्रसंग और स्थल के स्थल बिना किसी पुस्तक के आधार के उद्धृत होते चले जाते थे।

पंडितजी के गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण निबंधों ने अभी पुस्तकाकार धारण नहीं किया। 'पद्म-पराग' आदि दो-तीन पुस्तकें ही प्रकाशित हो पाई है। उनके क्रांतिकारी ठोस निबंध आज से प्रायः पैंतीस-चालीस वर्ष पहले पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। उस समय उनकी धाक जम गयी थी। खेद है कि ये उच्च कोटि के निबंध संग्रहीत और सम्पादित होने पर भी अभी तक प्रेस मुख-दर्शन नही कर सके। इन निबंधों में कितने ही आलोचनात्मक निबंध भी हैं, जिनमें शर्माजी की विशिष्ट और आकर्षक शैली की सुन्दर सुषमा दिखाई देती है। कितने ही आलोचनात्मक निबंध तो संस्कृत के आकर ग्रंथों पर हैं। वह दिन शुभ होगा जब पंडितजी की यह दुर्लभ सामग्री साहित्य संसार के सामने आकर उसे आश्चर्यचकित कर देगी।

अब से लगभग चालीस वर्ष पहले की बात है, पं० पद्म सिंह शर्मा ने व्रज-भाषा के ग्रंथों का अध्ययन किया था। सबसे अधिक उन्हें 'बिहारी सतसई' के दोहों ने प्रभावित किया। जितनी सतसइयाँ--नयी पुरानी--उपलब्ध हो सकीं--एकत्र की। उस समय विद्यावारिधि श्री पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र की बड़ी धूम थी, आर्य समाज और सनातन धर्म के शास्त्रार्थ के अखाड़े अड़ते थे। मिश्रजी बड़े प्रभावशाली व्याख्याता थे; उनके व्याख्यानों की खूब चर्चा होती थी। शर्माजी ने मिश्रजी की भी सतसई-टीका देखी और उसे बहुत ही दोषपूर्ण पाया। फिर क्या था, 'सतसई-संहार' शीर्षक एक निबंध लिख डाला, जो उन दिनों 'सरस्वती' में धारावाही रूप से प्रायः एक वर्ष तक प्रकाशित होता रहा। इस आलोचना से जहाँ मिश्रजी के भाष्य की निरर्थकता सिद्ध हुई, वहाँ पंडित जी के पांडित्य और लेखन-कौशल का प्रभाव भी पाठकों पर अंकित हो गया। चारों ओर शर्माजी की सजीव और विद्वत्तापूर्ण आलोचना शैली की चर्चा होने लगी। संभवतः हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना पर यह पहला निबंध था। पीछे 'सतसई संहार' पुस्तकाकार भी छापा गया।

फिर तो पं. पद्मसिंह शर्मा ने सतसई (बिहारी सतसई) पर विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी और केवल दो ढाई सौ दोहों पर 'सतसई संजीवन भाष्य' भी किया। दुःख है कि पंडितजी का शरीर 'सतसई' को समाप्त करने से पहले ही समाप्त हो गया। शर्मा जी ने 'सतसई' पर जो भूमिका लिखी है, उसी पर हिन्दी संसार का सर्वश्रेष्ठ 'श्री मंगला प्रसाद पुरस्कार' सर्वप्रथम उन्हें ही प्रदान किया गया था। आधुनिक शैली के कुछ समालोचकों को शर्माजी की शैली में 'उछलकूद या उच्छृंखलता की भावना' दिखाई दी, किसी को उनकी आलोचना-शैली में वे तत्त्व नहीं दिखाई दिये, जो अंग्रेजी शली में पाये जाते हैं। एक-आध लेखक या समालोचक की राय में तो शर्माजी कविता

या साहित्य के ज्ञाता या पारखी ही न थे। आश्चर्य तो यह है कि पंडितजी के संबंध में ऐसी सम्मतियाँ कुछ लेखकों ने अपनी टैक्टबुकों में भी लिख डाली हैं; यद्यपि ऐसी सम्मति रखने वाले सज्जन स्वय साहित्यिक भावना और काव्य-ज्ञान से कोसों दूर हैं।

पंडित पद्मसिंह शर्मा की शैली पर संस्कृत प्रणाली और उर्दू स्टाइल का अधिक प्रभाव है। उनकी भाषा में फ़ारसी शब्दों का उपयोग भी खुल कर हुआ है। परन्तु ये शब्द अस्वाभाविक रूप से नहीं आये। ऐसा ज्ञात होता है, मानों उन शब्दों का उचित स्थान वही है, और वे अपनी जगह पर बिलकुल 'फिट' बैठे हैं। पंडितजी ने अपनी आलोचनाओं में कहीं-कहीं लेखकों के व्यक्तित्व पर भी कटाक्ष किये हैं, यह बात उपयुक्त नहीं कही जा सकती। इस संबंध में पंडितजी अपने कितने ही मित्रों और भक्तों को भी सहमत न कर सके, परन्तु पंडितजी की आलोचना में जो मीमांसा-जन्य सार-वस्तु है, उसकी प्रशंसा न करना या उनकी शैली को न सराहना संकीर्णता ही कही जायगी। पाठक के मन और हृदय पर प्रभाव अंकित कर देना यह शर्माजी की शैली की विशेषता है।

पंडित पद्मसिंह शर्मा ऐसे विद्वान और प्रतिभाशाली थे, कि वे साहित्य या काव्य के रहस्य अथवा मर्म को तुरन्त समझ जाते थे। महाकवि बिहारी की कविता के ऐसे-ऐसे गूढ़ मर्म उन्होंने समझाए हैं कि सहृदय पाठक अवाक् रह जाते हैं। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी सभी कविताओं के संबंध में उनकी समान गति थी। महाकवि 'अकबर' और 'चकबस्त', 'इकबाल' और 'फ़ानी' तो पंडितजी की सूझ-बूझ पर हज़ार जान से फ़िदा थे। आलोचना करते हुए विविध भाषाओं के महाकवियों की कविताओं का भाव-साम्य दिखाना तो उनके लिए एक साधारण सी बात थी। उससे उनके व्यापक पांडित्य का पता चलता था।

शर्माजी बड़े अक्खड़ थे, उनसे मुँहचुपड़ी बातें न आती थी। न ऐसे लेखकों को वे पसन्द करते थे। वे कई वर्षों तक 'भारतोदय' नामक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक रहे। उस समय उसमें बड़े-बड़े विद्वानों के लेख प्रकाशित होते थे। श्री काशीप्रसाद जायसवाल, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद (राष्ट्रपति), महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, श्री विधुशेखर भट्टाचार्य इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'भारतोदय' में सम्पादकीय कर्त्तव्य-वश पंडितजी ने जिन घटनाओं और विचारधाराओं की निर्भीक और निष्पक्ष आलोचना की, वह एक अद्भुत और महत्त्वपूर्ण कार्य है। प्रायः वे अंक लोगों ने अपने यहां सुरक्षित रूप से रख छोड़े हैं। पंडितजी निरीह और निर्लोभ थे, उन्होंने अपने विचारों के आगे बड़े से बड़े लाभ की परवा नहीं की। अपने घर का सहस्रों रुपया पानी की तरह बहा दिया।

पंडितजी की मित्रमंडली में, उनके समय के बड़े बड़े सभी विद्वान सम्मिलित

थे। जीवित कवियों में उन्हें शंकरजी की कविता अधिक पसन्द थी, शायरों में अकबर, चकबस्त और इकबाल की। वे छुटभइयों को प्रोत्साहन देने में बड़े सिद्धहस्त और उदार थे। कहीं किसी की कोई चीज़ पसन्द आ जाती तो वे उससे तुरन्त मिलते अथवा चिट्ठी भेज कर दाद देते। वे साधारण समाचारपत्रों को भी बिना लाल, नीली पेंसिल हाथ में लिये न पढ़ते थे। कोई पत्र उठाते, थोड़ी देर में ही उसे रंग देते और उसके गुण-दोषों पर लाल-नीली पेंसिल पोत देते। यही उनके पुस्तक पढ़ने का हाल था। रात के बारह बजे तक पढ़ते और सुबह चार बजे उठकर फिर अध्ययन में संलग्न हो जाते थे। इतिहास, पुराण, व्याकरण, काव्य, दर्शन आदि किसी भी विषय पर बात कर लीजिये, कहीं विश्रृंखलता या शिथिलता दिखाई न देगी। सामयिक घटना-प्रवाह से भी वे पूर्ण रूप से परिचित रहते थे। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के प्रसंगों को बड़ी सुन्दरता और सरलता से समझाते तथा उपयुक्त आलोचना करते थे।

वे विनोदी भी बड़े थे। घंटों पास बैठकर भी उनके पास से उठने को जी न चाहता था। पंडितजी ज्वालापुर महाविद्यालय की निःस्वार्थ सेवा करते थे। वहाँ विद्वान अतिथियों का मेला-सा लगा रहता था। बड़े-बड़े साहित्य-महारथी वहाँ जाते और कई-कई दिन रहते थे। इन पंक्तियों के लेखक को एक शिष्य और भक्त के रूप में शर्माजी की सेवा में रहने का काफ़ी अवसर मिला। वह अपनी सोलह वर्ष की अल्पायु से ही पंडितजी का कृपापात्र रहा। जिन लोगों को कभी एक घंटे भी पंडित-जी के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे उन्हें कभी नहीं भूल सकते। शर्माजी आलोचना करने में जितने कठोर थे, उतना ही उनका हृदय कोमल था। आतिथ्य करने में तो वे स्नेह की मूर्त्ति दिखाई देने लगते थे। उनका हृदय सचमुच स्नेह और सहानुभूति के परमाणुओं से बना हुआ था।

पंडितजी संस्कृत और हिन्दी के प्रबल पक्षपाती, सबल समर्थक होते हुए भी, फ़ारसी-उर्दू के शब्दों का बहिष्कार नहीं चाहते थे। उनकी सम्मति में हिन्दी का अच्छा लेखक या साहित्यकार बनने के लिए अन्य भाषाओं के साथ-साथ उर्दू जानना भी अति आवश्यक था। एक बार प्रो. श्री रामदास गौड़ एम. ए. ने (जो पंडित जी के घनिष्ठ मित्र थे) कहा "सम्पादक जी, यदि आप अंग्रेज़ी भी जानते होते तो आपकी विद्वत्ता की धाक अंग्रेज़ी वालों पर भी जम जाती और भारत से बाहर भी आपका यशःसौरभ उड़ता।" सम्पादक जी (सब मित्र और भक्त उन्हें सम्पादकजी ही कहते थे) ने तुरन्त उत्तर दिया—"गौड़जी, अंग्रेज़ी पढ़कर शायद मैं वे सब बातें भूल जाता जिनके लिए आज आप लोग मुझे दाद देते रहते हैं।" सम्पादकजी के सीधे से मुँह से ये शब्द सुनकर सब लोग हँस पड़े। यों तो सम्पादकजी के सैकड़ों मित्र, शिष्य और भक्त थे, परन्तु श्री पं. सुन्दरलाल जी (महाप्रभु) और श्री पं. वैशम्पायन शर्मा जी से उनका बहुत पुराना स्नेह था। श्री महाप्रभुजी तो यात्रा में भी प्रायः उनके साथ

ही रहते थे। श्री वैशम्पायनजी के साथ भी इन पंक्तियों के लेखक ने सम्पादकजी की बड़ी स्नेहशीलता और बेतकल्लुफ़ी देखी।

पं० पद्मसिंह शर्मा बिहारी के समर्थक थे, मिश्रबन्धु देव के। एक बार बिहारी और देव को लेकर विवाद छिड़ गया। दोनों ओर से बड़े-बड़े विद्वत्तापूर्ण और मार्मिक लेख लिखे गये। बड़ी सुन्दर चर्चा रही। श्री पं. कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक एक पुस्तक लिखी। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और महाकवि रत्नाकरजी से भी सम्पादकजी का बड़ा स्नेह था। गुप्तजी और आचार्य द्विवेदी (श्री पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी) ज्वालापुर महाविद्यालय में पं. जी के अतिथि रहे थे। सम्पादकजी वर्ष मे लगभग तीन मास अपने मित्र महाकवि शंकरजी के सान्निध्य में बिताते थे। उस समय और भी अनेक कवि और साहित्यकार हरदुआगंज पहुँच जाते थे। बड़ा सुन्दर सम्मेलन होता था। एक बार महाकवि रत्नाकरजी भी वहाँ पधारे, और अपना अप्रकाशित 'गंगावतरण' महाकाव्य स्वयं पढ़ कर सुनाया। बड़ा आनन्द रहा। सम्पादक जी ने झूम-झूम कर दाद दी और रत्नाकरजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

महामना मालवीयजी पंडितजी की योग्यता को भली प्रकार जानते थे। मालवीयजी ने कई बार आग्रह किया कि सम्पादकजी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत या हिन्दी शिक्षण के उपाध्याय हो जायें, परन्तु उन्होंने यह कहकर इन्कार कर दिया "महाराज, मैं स्वतन्त्र प्रकृति का जीव हूँ, मुझ से टैक्स्ट बुकों की बंधी गत न बजाई जायगी।" सम्पादकजी ने अपनी मृत्यु से कुछ सप्ताह पूर्व 'हिन्दुस्तानी एकाडमी' प्रयाग में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी पर बडा विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया था। जिस की प्रशंसा एकाडमी के तत्कालीन सभापति जस्टिस सुलेमान ने मुक्त कंठ से की थी। पंडितजी का यह महत्त्वपूर्ण भाषण एकाडमी ने पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया है। इस भाषण में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी की गुत्थी बड़ी सुन्दरता से सुलझाई गई है।

सन्-संवत तो याद नही, मुरादाबाद में हुए युक्तप्रांतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद को भी श्री शर्माजी ने सुशोभित किया था। फिर पटना में संगठित अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद पर भी वे प्रतिष्ठित हुए थे। उक्त दोनों अवसरों पर दिये गये उनके भाषण बड़े ही उत्कृष्ट और ज्ञान गरिमा से सम्पन्न है।

अभिप्राय यह कि पं. पद्मसिंह शर्मा हिन्दी संसार के लिए विभूति स्वरूप थे। उनके कारण हिन्दी का गौरव बढ़ा और उन्होंने अपने मातृभाषा को पर्याप्त भेंट दी। परन्तु हिन्दी में एक विचित्र प्रकार की गुटबन्दी हो गई है, जिसमें ऐसे लोगों का मान-सम्मान प्रायः नही किया जाता जो स्वतन्त्र विचार-धारा के प्रवर्त्तक रहे है, और जिन्होंने अपनी पार्टी की पलटन बनाकर आगे बढ़ना पसन्द नहीं किया।

पं. पद्मसिंह शर्माजी ऐसे ही प्रकांड पंडितों में थे कि निस्सन्देह उनकी काफ़ी उपेक्षा की गई है और की जा रही है।

पं. पद्मसिंह शर्मा 'रेखाचित्र' (स्कैच) अंकित करने में बड़े सिद्धहस्त थे। उन्होंने व्यक्तियों, वस्तुओं और दृश्यों के बड़े ही सजीव, सुन्दर और सफल शब्द-चित्र खींचे हैं। बार-बार पढ़ने पर भी पाठक की तृप्ति नही होती। जब पढ़िये, तभी नवीनता दिखाई देती है। वे बात में बात पैदा करना जानते थे।

शर्माजी में एक और बड़ी विशेषता थी। वे पत्र-लेखक भी बहुत उच्च कोटि के थे। यदि उनके लिखे सब पत्र प्रकाशित किये जायें तो साहित्य की बडी अनूठी सामग्री उपलब्ध हो सकती है। इन पंक्तियों के लेखक को प्रायः सभी हिन्दी महारथियों के पत्र पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, परन्तु शर्माजी की सी पत्र-लेखन-कला का आनन्द या रस कहीं भी नही मिला। वे अपने पत्रों में वह जीवन या सरसता का स्रोत प्रवाहित करते थे कि पंक्तियाँ--बोलने लगती थी। आशय उछलने और भाव नृत्य करने लगता था। गम्भीर से गम्भीर बात और रूखे सूखे प्रसंगों में भी ज़िन्दगी और ताज़गी दिखाई देने लगती थी। ऐसी थी उनकी कलम में करामात !

हिन्दी में उसके साहित्य-महारथियों तथा अन्य महान् पुरुषों के पत्र-प्रकाशन को विशेष महत्त्व नही दिया गया। कदाचित् दो तीन ही पत्र-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उर्दू इस दिशा में, हिन्दी से, बहुत आगे है। उसमें प्रायः सभी बड़े-बडे आदमियों के पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। जिस दिन पं. पद्मसिंह शर्मा के पत्र प्रकाशित होंगे वह दिन निश्चय ही धन्य होगा और उस पत्र-संग्रह से हिन्दी-जगत् को बड़ा लाभ पहुँचेगा। लेखों की अपेक्षा चिट्ठियों का बड़ा महत्त्व माना गया है। इनमें लेखक अपने हृदय और आत्मा को उँड़ेल देता है। तन्मय और तद्गत होकर भाव-प्रकाशन करता है। पं. पद्मसिंह शर्मा के पत्रों में तो यह गुण प्रचुर और प्रभूत मात्रा में, पंक्ति-पंक्ति में, पाया जाता है। उनका शब्द-शब्द दिल की आवाज बताता और आत्मा का सुन्दर संदेश सुनाता है।

पं. पद्मसिंह शर्मा सजीव भाषा लिखने वालों में सिरमौर थे। वे गम्भीर से गम्भीर और रूखे-सूखे प्रसंगों में जान डाल देते थे। वे ज़िन्दादिली के सबल समर्थक और पक्के प्रवर्त्तक थे। वे एक प्रसंग में लिखते हैं--

"जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है, इससे सुरुचि का संचार हो चुका। यह सहृदय-समाज के हृदयों में घर कर चुकी। यह सूखी टहनी साहित्य-क्षेत्र में बहुत दिन खड़ी न रह सकेगी। कोरे काम-चलाऊपन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है।"

शर्माजी हिन्दी संसार की वर्त्तमान परिस्थिति और प्रगति से खिन्न होकर एक

स्थान पर, प्राचीन साहित्यकारों का यश वर्णन करते हुए खेदपूर्वक लिखते हैं—

"अब दुबारा ऐसे कवि यहाँ पैदा होने से रहे जो वर्त्तमान सभ्य समाज की सुरुचि के अनुसार, सामयिक निबंधों का ऐसी ललित, मधुर-परिष्कृत और फड़कती हुई, जानदार भावमयी भाषा में वर्णन करके मुर्दा दिलों में जान डाल जायें, सोते हुओं को जगा जायें, और जागतों को किसी काम में लगा जायें। हमारी भाषा की बहार बीत गयी। अब कभी खत्म न होने वाली 'खिज़ाँ' के दिन हैं। भाषा के रसिक भौरें कान देकर सुनें और आँख खोलकर देखें कोई पुकार कर कह रहा है—

जिन दिन देखे वे कुसुम, गयी सुबीत बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार॥

हमें आश्चर्य और खेद तो उन आलोचकों पर है, जिनकी सम्मति में शर्माजी की भाषा उछलती-कूदती और 'महफ़िली ढंग' की है। कहना चाहिए कि सजीव या ज़िन्दा भाषा की आज के आलोचकों की राय में बस इतनी ही कीमत है—वे स्वयं नीरस और शिथिल शैली के प्रवर्त्तक एवं समर्थक होने के कारण दूसरे की ज़िन्दादिली की दाद देना भी पसन्द नहीं करते। परन्तु हम तो पं. पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में ऐसे शुष्क समालोचकों से यही कहना चाहते हैं—

"यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो उस पुरानी वाटिका से—जिसे हज़ारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्षों तक दिल के खून से सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के डर से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता। मकरन्द के लिए मधु-मक्षिकाओं को इस चमन में आना ही होगा। यदि वे इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के खयाल में स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिये उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं अपने ही साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है। परमात्मा इस 'सुरुचि' से साहित्य की रक्षा करे।"

शर्म्माजी ने अपनी विलक्षण शैली द्वारा उपर्युक्त पंक्तियों में यही कहा है कि रोती-झींखती भाषा में भाव व्यक्त करना उतना आकर्षक और प्रभावशाली नहीं होता, जितना सजीव, सुन्दर और चुलबुली भाषा में। शर्म्माजी की शैली में यही सबसे बड़ी विशेषता है। वह पाठक को बलात् और हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

अंग्रेज़ी और उर्दू में तो तुलनात्मक समालोचना का अध्याय बहुत पहले प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु हिन्दी में पं० पद्मसिंह शर्म्मा ने ही इसका सूत्रपात किया। 'बिहारी सतसई' की आपने ऐसी सुन्दर, सजीव और सतर्क तुलनात्मक आलोचना की कि साहित्यिक संसार चकित रह गया। हिन्दी जगत् में ही नहीं, उर्दू की दुनिया में भी 'सतसई' की धूम मच गयी।

एक दिन देहली में पण्डितजी उर्दू के मशहूर साहित्यकार और शायर श्री पूरन

नारायन 'मिहिर' से मिलने गये। 'मिहिर' साहब बडी ख्याति लाभ कर चुके थे, बातों ही बातों में 'बिहारी सतसई' का ज़िक्र भी आ गया। 'सतसई' का नाम सुनकर 'मिहिर' साहब बड़ी घृणा से कहने लगे--वह 'गन्दी' 'फ़ुहश' और 'ज़लील' किताब!!! शर्म्माजी ने कुछ न कहा, वे यह सुनकर अपने स्थान पर आ गये और 'मिहिर' साहब को पढने के लिए अपनी लिखी 'सतसई' की आलोचना या भूमिका भेज दी। 'मिहिर' साहब शर्म्माजी की शैली उसके प्रभाववश पढ़ गये और बिहारी की प्रतिभा तथा पंडितजी की आलोचना पर मुग्ध हो गये। पता लगाते-लगाते वे सत्य नारायण के मन्दिर में---जहाँ पण्डितजी ठहरे हुए थे आये--और अपने भ्रम के लिए बार-बार क्षमा माँगते हुए शर्म्माजी की आलोचना-शैली तथा बिहारी की प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। यह इन पंक्तियों के लेखक के सामने की ही घटना है।

पं० पद्मसिंह शर्म्मा की तुलनात्मक आलोचना शैली के यहाँ दो एक उदाहरण देना कदाचित् अनुचित न होगा। आशा है, वे पाठकों के मनोरंजन का कारण होंगे।

बिहारी के दोहों की प्रशंसा में शर्म्माजी लिखते हैं--"छोटी-सी संकुचित कुण्डली के घेरे में जिस तरह मोटा-ताज़ा करतबी नट हाथ-पाँव समेट शरीर को तोल कर साफ़ जाता है, इसी तरह ज़रा से दोहे की कुण्डली में होकर अपने सब अवयवों समेत इतने गौरवशाली अर्थ का सही सलामत बिना उलझे निकल जाना, जितना कौतूहलोत्पादक है, उतना ही कठिन भी है। बडे परिश्रम से, वर्षों के आभास से नट को यह कुण्डली की कला सिद्ध होती है। दोहे में कमाल पैदा करने की कला उससे भी कहीं कठिन है। कुल ४८ मात्रा के छोटे-से छन्द में इस खूबी से इतना 'मैटर' भर निकालना, सचमुच जादू है जादू!"

"बिहारी के दोहों पर समय-समय पर, बडे-बड़े बा-कमाल लोगों ने 'कुण्डलियाँ' और 'कवित्त' गढ़ने का प्रयत्न किया है, पर किसी की भी कला ठीक नहीं बैठी। ज़रा-से दोहे में जो अर्थ सिमटा बैठा था, वह वहाँ से निकलते ही इतना फैला कि कुण्डलियों और कवित्तों के बडे मैदान में नहीं समा सका। मानों गंगा का समृद्ध वेग-प्रवाह है जो शिवजी की लटों से निकल कर फिर किसी के काबू में नहीं आता, इंजीनियर लाख कारिस्तानी कर हारें, पर भागीरथी के प्रवाह को किसी बड़े से बड़े गढ़े में भर कर रोक रखना, सामर्थ्य से बाहर की बात है।"

'कनक कनक तै सौगुनी मादकता अधिकाय
उहि खाये बौराय जग इहि पाये बौराय'—बिहारी

*   *   *

"सुवर्ण बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथं मदः
नाम साम्यादहो यस्य धुस्तूरोपि मदप्रदः"

"ऊपर का 'उद्भट' श्लोक, नहीं कह सकते, इस दोहे को देखकर बना है, या दोहा इसे देखकर। यदि यह दोहे को देखकर बना है तो अपनी असलियत से बहुत दूर जा पड़ा,

और यदि दोहे की रचना इसे देखकर हुई है तो बिहारी ने मज़मून छीन लिया है।

"श्लोक का भाव है कि जिसके पास बहुत सा सुवर्ण है, उसे मद क्यों न हो। जिस सुवर्ण के नाम-सादृश्य से धतूरे में भी मादकता आ गयी है, वह स्वयम् मादक क्यों न होगा।

"श्लोक में एक तो 'बहु' पद व्यर्थ है, भरती का है। जो पदार्थ मादक है, वह बहुत हो या थोड़ा—मादकता उसके साथ है। यदि बहुत परिमाण में हर कोई पदार्थ मादकता प्रकट करता है तो उसमें कुछ चमत्कारयुक्त वैशिष्ट्य नहीं।

"दूसरे, 'सुवर्ण' और 'धुस्तूर' पदों में साक्षात् इतना नाम साम्य भी नहीं है, जितना 'कनक'—'कनक' में सादृश्य है। . . . . इसके अतिरिक्त किसी मादक पदार्थ के नाम साम्य से ही कोई पदार्थ मादक हो जाय, इसमें प्रमाण नहीं। 'आबे जौहर' (मुक्तापानिप) में भी 'आब' है, पर उसके छिड़काव से न धूल दब सकती है, न पीने से प्यास बुझ सकती है। दोहे में कनक के पाने में मादकता बतलायी गयी है, जो अनुभवसिद्ध है। अनेक विष ऐसे हैं, जिनके स्पर्श से और पास रखने से मनुष्य बौरा हो जाता है। दृष्टि-विष सर्प के देखने में भी घातकता होती है। इसलिए दोहे में जो "उहि खाये बौराय जग इहि पाये बौराय" कहा है, इस 'व्यतिरेक' में यथार्थता है। श्लोक में केवल कवि-कल्पना का सूक्ष्म चमत्कार है। यथार्थता का अभाव है। दोहे में दोनों बातें हैं। इस कारण दोहे के 'कनक कनक ते सौ गुनी' वाक्य में श्लोक की अपेक्षा अधिक नही तो सौ गुनी उत्कृष्टता अवश्य है।"

* * *

'या भव पारावार को उलंघि पार को जाय
तिय छवि छाया-ग्राहिनी, गहै बीच ही आय' —बिहारी

'संसार, तव निस्तारपदवी न दवीयसी
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः'

"श्री भर्तृहरि महाराज की उल्लिखित श्रुति-मधुर सूक्ति बड़े मार्के की चीज़ है। इसे सुन कर विरक्त जनों के शुष्क हृदयों में भी सरसता के रक्त का संचार होने लगता है। बिजली-सी दौड़ जाती है, भाव-शवलता की प्रबल तरंगों का तूफ़ान उठने लगता है। वे बड़ी आनन्द मुद्रा से आँखें बन्द करके झूम-झूम कर, हर्षातिरेक से रुक-रुक कर, एक-एक पद पर विराम करते हुए मदिरेक्षणा के पास पहुँचते हैं। एक साथ बेदम होकर निराशा के अथाह समुद्र में डूब जाते हैं। उन्हें इस बरफ़ की पहाड़ी से टकराकर अपने वैराग्य रूप निर्णय 'टैटनिक' के भी ुकड़े होते दीखने लगते हैं। इस तारपीड़ो की तनक टक्कर से शमदमादि मुदृढ़ साधनों के बेड़े—बड़े बेड़े—चकनाचूर होते दीख पड़ते हैं।

"पर हम समझते हैं, इसमें कोई ऐमी घबराने की बात नही है। भर्तृहरिजी ने तो सिर्फ़ 'दुस्तरा'—दुःखेन तीर्यन्त इति दुस्तराः—कहा है, 'केनाप्युपायेन कथमपि तरितुम-शक्याः" तो नही कहा। फिर घबराने की कौन वात है? यदि जहाज़ कमज़ोर है, समुद्र में तूफ़ान आने का या किसी छिपी चट्टान से टकराने का डर है, या तारपीडो की टक्कर

का भय है, तो जाने दो इस जहाज़ को, हवाई जहाज़ पर बैठकर समुद्र को पार कर जाओ।

"स्वामीजी महाराज! छक्के तो बिहारी के इस दोहे को सुनकर छूटते हैं, देखिये, ज़रा सँभल कर, धैर्य्य धर कर सुनिये। वाक्य-समाप्ति के पूर्व ही कहीं समाधि न लगा जाइये। हाय रे निष्ठुर बिहारी! तेरी विभीषिका ने तो किसी तरह भी कहीं के न छोड़े, एक दम सारे साधन ही बेकार कर दिये।

"तिय-छबि छाया-ग्राहिनी गहै बीच ही आय"

हरे-हरे! इससे भला कोई कैसे बचने पावेगा। यह तो ऊपर उड़ते हुए हवाई जहाज़ों की भी छाया पकड़ कर—अनायास नीचे खीच कर—निगल जायेगी। इस "छाया-ग्राहिनी" के पंजे से छूटना तो सिर्फ़ 'पवनसुत' महायोगी महावीरजी का ही काम था। पर महावीर तो एक ही थे, सब कोई तो महावीर नही है। नहीं है तो फिर पड़ो छाया-ग्राहिनी के माया-जाल मे। देखा? डराने वाले भय का ऐसा भयानक रूपक बाँधा करते है—'तिय छवि छाया-ग्राहिनी—दुस्तरा मदिरेक्षणाः—तिय-छबि छाया-ग्राहिनी।"

* * *

'अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान' —बिहारी

गाथा—

'अण्णांण वि होन्ति मुहे पम्हल धवलाइं दी हक सणाइं। णयणाइँ सुन्दरीगं तह वि हु दट्ठुण जाणन्ति।

अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मलधवलानि दीर्घ कृष्णानि। नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टु न जानन्ति।'

गाथा का भाव है—और सुन्दरियों के चेहरों पर भी घनी पलकों वाली—श्वेत-श्याम रंग की, बड़ी-बड़ी आँखें है, तो भी देखना नही जानती, (इतनी कसर है!) गाथाकार ने नेत्रों का 'नखसिख' लिखने में कोई कसर छोड़ी नहीं 'पक्ष्मल' 'धवल', 'कृष्ण' 'दीर्घ' सब कुछ है, फिर 'सुन्दरियों' के सहारे उनमे और भी बल आ गया है। इतने पर भी देखना न जाने तो दुर्भाग्य उनका! यहाँ 'द्रष्टु न जानन्ति" की असलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि ने गाथा के चमत्कार पर कुछ भारी सा पर्दा डाल दिया है। देखना नही जानती, क्यों? कोई विचित्र बीमारी तो नही है? कही चित्रलिखित आँखें तो नहीं है?

"पर वाह जी बिहारी लाल, धन्य तुम्हारी प्रतिभा! "जिहि प्रतिभा औरें कछू जिहि वस होत सुजान।"

"बात वही है, पर देखिये तो आलम ही निराला है। क्या तानकर 'शब्द-वेधी' नावक का तीर मारा है। लुटा ही दिया! एक अनियारेपन ने धवल, कृष्ण, पक्ष्मल, सबको एक अनी की नोक में बीध कर एक ओर रख दिया! और वाह रे 'चितवन' तुम्हारी चितवन की ताव भला कौन ला सकता है, फिर 'सुन्दरी' और 'तरुणि' में भी कहते है कुछ भेद है, एक

(सुन्दरी) वशीकरण का खजाना है तो दूसरी (तरुणि) खान है। और 'सुजान' तो कविता की जान ही ठहरा। इस एक पद पर तो एड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही कुर्बान है।

'वह चितवन ओरै कछू जिहि वस होत सुजान'

लोहे की यह जड लेखनी इसकी भला क्या दाद देगी? भावुक सहृदयों के वे हृदय ही कुछ इसकी दाद देंगे जो इसकी चोट मे पड़े तड़पते होंगे।

* * *

'उनके देखे से जो आ जाती है रौनक मुँह पर
वे समझते है कि बीमार का हाल अच्छा है।' —ग़ालिब

अर्थात् अपनी विरहजन्य कृशता या दयनीय दशा का प्रेमी अपने प्रेमपात्र पर किसी प्रकार ज़ाहिर नही कर सकता, क्योंकि विरह की दशा में प्रेमपात्र उसके पास नही होता, और जब वह आता है तो हर्षातिरेक से उसकी दशा बदल जाती है।

* * *

इसके साथ एक शेर शेख़सादी का है —

'गुफ़्ता बूदम चु बियाई ग़मे दिल बा तो बगोयम्
चे बग़ोयम के ग़म अज़् दिल बरबद चूं तो बिआई'

"अर्थात् प्रेमी अपने प्रेम-पात्र से कहता है कि मैं कहता था कि जो तू आवे तो दिल का ग़म तुझ से कहूँ, पर अब क्या कहूँ, क्योकि जब तू आता है, तब दिल से ग़म ही जाता रहता है। इन दोनो शेरो का अभिप्राय यही है कि किसी प्रकार अपना दुःख-सन्ताप प्रेम-पात्र पर ज़ाहिर नही किया जा सकता। सादी के बयान में यह सदेह बाकी रह जाता है कि सम्भव है, प्रेमपात्र अपने प्रेमी की जाहिरी बदहाली देखकर समझ जाय कि इसका मन सन्तप्त है। क्योंकि सादी के बयान से सिर्फ़ यही मालूम होता है कि प्रेमपात्र के आने से ग़म जाता रहता है न यह कि जाहिरी हालत भी बदल जाती है। पर मिर्ज़ा ग़ालिब के बयान में यह सन्देह भी नही ठहरा। तथापि सादी के शेर को मिर्ज़ा के शेर पर तर्जीह देनी चाहिए, क्योंकि वह इससे पहला है।

यह तो हुई शेख़सादी और मिर्ज़ा ग़ालिब की बात, अब देखिये ब्रजभाषा में गोवर्धनाचार्य कविराज बिहारी लाल इसी विषय को ग़ालिब से पहले कैसे अच्छे और निराले ंग से कह गये है।

'जो वाके तन की दसा देख्यों चाहत आप
तौ बलि नैकु विलोकिये चलि औचक चुपचाप'

अर्थात् जो आप उस विरहिणी के शरीर की दशा देखना चाहते है, तो मैं बलि-हारी, ज़रा अचानक और चुपचाप चलकर देखिये। यदि आप के पहुँचने की उसे खबर हो गई तो, उसकी कृशता और दुर्बलता दूर होकर उसे स्वस्थता प्राप्त हो जायगी, फिर उसकी

विरहजन्य अवस्था का ीक-ठीक प्रत्यक्ष अनुभव आपको न हो सकेगा। सलिए मेरी प्रार्थना है कि अचानक और चुपचाप चलकर उसे देखिये जिससे मेरी बात पर आपको विश्वास हो और उस पर दया आवे।

हमारी राय में यह दोहा उक्त दोनों शे ों से बहुत उत्कृष्ट है।

: ४ :

डॉ० श्यामसुन्दरदास

[डॉक्टर नगेन्द्र]

बाबू श्यामसुन्दरदास ने यों तो अनेक आलोचना ग्रन्थ लिखे हैं—परन्तु उनकी आलोचना-पद्धति का विश्लेषण करने के लिए हम 'साहित्यालोचन' के परिवर्द्धित संस्करण और 'हिन्दी भाषा और साहित्य' को आधार मानकर चल सकते हैं। 'साहित्यालोचन' में उसके सैद्धांतिक रूप की चरम परिणति है और हिन्दी साहित्य में व्यावहारिक रूप की। इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों में बाबूजी का आलोचक रूप संपूर्ण हो जाता है।

काव्य-सिद्धान्त—बाबूजी के सिद्धान्तों में पूर्व और पश्चिम दोनों की ही स्वीकृति है—कला, कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि का विवेचन सर्वथा पश्चिमीय पद्धति पर है—नाटक आलोचना और शैली के विवेचन में पश्चिमीय और पूर्वीय दोनों साहित्य-शास्त्रों का आधार ग्रहण किया गया है। रस का विवेचन मुख्यतः भारतीय परंपरा के अनुसार ही है। इससे स्पष्ट है कि पौरस्त्य सिद्धान्तों की अपेक्षा बाबूजी पर पाश्चात्य सिद्धान्तों का प्रभाव कहीं अधिक है, इसीलिए उन्होंने निर्विवाद ही कविता को कला मान लिया है। कला में कविता का अन्तर्भाव सर्वथा पश्चिमीय सिद्धान्त है—जिसका सूत्रपात जर्मन दार्शनिक 'हीगेल' ने किया था। भारतीय साहित्य-शास्त्र काव्य को कला से सर्वथा पृथक् रखकर देखता आया है। कला का स्थान हमारे यहाँ काव्य की अपेक्षा अत्यन्त निम्न रहा है—काव्य का सम्बन्ध जहाँ अभौतिक रस-चेतना से है, वहाँ कला का सम्बन्ध भौतिक जीवन-विलास से है। इसीलिए एक को जहाँ ब्रह्मानन्द-सहोदर की पदवी दी गई है, दूसरे को नागरिक जीवन का शृंगार-मात्र माना गया है। आज भी भारतीय दृष्टिकोण काव्य को कला के अन्तर्गत मानने को प्रस्तुत नहीं है। प्रसादजी और शुक्लजी के मन्तव्य प्रमाण हैं—दोनों ने अत्यन्त सबल शब्दों में हीगेल के मत का तिरस्कार किया है।

प्रसाद—काव्य की गणना विद्या में थी—और कलाओं का वर्गीकरण अविद्या में था। × × × × कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।
—'काव्य और कला'

शुक्ल— + + + कलाओं के सम्बन्ध में, जिनका लक्ष्य केवल सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है, यह मत बहुत ठीक कहा जा सकता है। इसी से ६४ कलाओं का उल्लेख हमारे यहाँ काम-शास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं में नहीं की गई।
—'रसात्मक बोध के विविध रूप'

इसके विपरीत बाबूजी ने कोई शंका ही नही उठाई। उन्होंने ज्यों-का-त्यों पश्चिमीय सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है। वे वास्तव में हीगेल तक पहुँचे भी नहीं हैं। हडसन और वर्सफोल्ड को ही प्रमाण मानकर उपर्युक्त तथ्य को ग्रहण कर बैठे है।

सामान्यतः बाबूजी रसवादी ही हैं—आपने स्पष्ट रूप से अनेक प्रसंगों में जीवन और काव्य में भावों की महत्ता स्वीकृत की है :—

"ऊपर के विवेचन का सारतत्त्व इतना ही है कि साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक व्यापार से है और उस मानस-व्यापार में भी भाव की प्रधानता रही है। . . . . . यह भी हम भली भाँति जानते है कि कर्म तो प्रत्यक्ष व्यवहार में दीख पड़ता है। ज्ञान जन्म देता है दर्शन, विज्ञान आदि शास्त्रों को, और भाव का सम्बन्ध होता है साहित्य के सुकुमार जगत् से। इसी से साहित्य में भाव की प्रधानता रहती है।" साहित्य में रसवाद वास्तव में सबसे अधिक मान्य सिद्धान्त है। योरोप के साहित्य-शास्त्र में प्रायः तीन प्रकार के मूल्यों का प्रचलन रहा है:—एक क्लासिकल जिनमें शांति और गम्भीरता का प्राधान्य था, दूसरे रोमाण्टिक जिनमें वैचित्र्य और आवेश की प्रभुता थी—और तीसरे बौद्धिक मूल्य जो इस युग की सृष्टि है और आज अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय भी हो रहे हैं। इनमें पहले दो तो निश्चित रूप से रसवाद के अन्तर्गत आ जाते हैं—एक काव्य की आत्मा गम्भीर एवं शांतिमय आनन्द को मानता है और दूसरा उत्तेजना तथा आवेशपूर्ण आनन्द को। परन्तु दोनों ही निश्चित रूप से बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा रागतत्त्व पर बल देते हैं—और इस प्रकार ये नवीन बुद्धिवादियों के वर्ग से सर्वथा पृथक् है जिनका लक्ष्य रागात्मक आनन्द न होकर बौद्धिक उत्तेजना ही है। भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में भी अलंकार-सम्प्रदाय और कुछ अंशों में ध्वनि-सम्प्रदाय ने भी राग की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया था—परन्तु धीरे-धीरे रसवाद ने उनको आच्छादित कर लिया। हिन्दी में आरम्भ से ही रसवाद का प्रभुत्व रहा है—आधुनिक आलोचना में भी प्रगति-वर्ग के कुछ अति-प्रेमी प्रयोगवादियों को छोड़कर एक स्वर से रसवाद की ही प्रतिष्ठा है। यह दूसरी बात रही कि रस के स्वरूप के विषय में आधुनिक पण्डितों के मत भिन्न-भिन्न हों। बाबूजी रस अथवा काव्यानन्द को प्राकृतिक आनन्द से केवल मात्रा में ही नहीं, वरन् प्रकार में भी भिन्न मानते हैं : "तथापि यह भी हम जानते हैं कि दोनों में बड़ा भेद है—केवल मात्रा में नहीं, प्रकार में भी। प्राकृतिक आनन्द से काव्यानन्द भिन्न होता है।" उन्होंने उसके लिये अलौकिक और ब्रह्मानन्द सहोदर दोनों ही विशेषणों का प्रयोग किया है—परन्तु उनका अर्थ विवेक-सम्मत और वैज्ञानिक रूप में किया है। अलौकिक से तात्पर्य इस लोक से परे का नहीं है—और न असाधारण अथवा असामान्य का। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि बिना प्राकृतिक आनन्द की भावना के काव्यानन्द नही मिलता, प्राकृतिक अनुभूति ही अलौकिक अनुभूति का आधार बनती है। इस प्रसंग में वे पं० केशवप्रसाद मिश्र की ही तरह अलौकिक का अर्थ अति-प्राकृतिक (Super-natural) अथवा असामान्य (Extra-

ordinary) न मान कर पर-प्रत्यक्ष-गम्य (Super-Sensuous) ही मानते हैं। और स्पष्ट शब्दों में :—

१—काव्यानन्द इसी लोक का अनुभव है, उसका आधार निश्चय ही ऐन्द्रिय अनुभव है।

२—परन्तु वह स्वयं ऐन्द्रिय अनुभव नही है, वह इन्द्रियातीत (Super-Sensuous) अनुभव है।

३—यह अनुभव पर-प्रत्यक्ष-गम्य है। पर-प्रत्यक्ष मन की सत-प्रधान उस अवस्था को कहते हैं जिसमें वितर्क अथवा अपने-पराये का ज्ञान तथा अनुभव नहीं रहता। इस प्रकार पर-प्रत्यक्ष-गम्य अनुभव से, एक प्रकार से, साधारणीकृत अनुभव का ही अभिप्राय है।*

कहने की आवश्यकता नही कि यह विवेचन सर्वथा भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुकूल है और इसमें उसी के गुण-दोष वर्त्तमान हैं। उपर्युक्त विशेषणों में से 'पर-प्रत्यक्ष-गम्य' काव्यानन्द के केवल प्रकार की ओर संकेत करता है, और 'इन्द्रियातीत' अभावात्मक है। ये दोनों मिल कर भी रस के स्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या नही कर पाते : पहला वर्णनात्मक है, दूसरा निषेधात्मक। इस प्रकार सार केवल यही रह जाता है कि काव्यानन्द एक विशिष्ट अनुभव है जो इन्द्रियों से परे है। परन्तु 'विशिष्ट' और 'इन्द्रियों से परे' पद भी तो व्याख्या चाहते हैं। 'इन्द्रियों से परे' का एक स्पष्ट अर्थ 'आध्यात्मिक' हो सकता है—किंतु यह अर्थ यहाँ पर निश्चित ही अभिप्रेत नही है, क्योंकि काव्यानन्द को शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव कहीं नही माना गया। स्थूल दृष्टि से दूसरा अर्थ 'बौद्धिक' भी किया जा सकता है, परन्तु वह भी यहाँ निर्दिष्ट नही है। इस प्रकार यह विशेषण अभाव का द्योतक भर ही रह जाता है, वास्तविक रूप को स्पष्ट नही कर पाता। इसी को अनिर्वचनीय आदि शब्दों से व्यक्त करना अपनी बौद्धिक पराजय स्वीकार कर लेना है। काव्यानन्द की यह विशिष्टता एवं अतीन्द्रियता आज के मनोविज्ञान को सर्वथा अमान्य है। इसके प्रमाण में हम प्रसिद्ध मनोविज्ञानी आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स का एक सबल तर्क उपस्थित करते हैं, जिसका आशय कुछ इस प्रकार है:

काव्यानुभूति को यदि विशिष्ट अनुभव मान लिया जाय तो फिर भी प्रश्न यह उठता है कि उसका माध्यम क्या है ? क्या उसके लिए किसी विशिष्ट इन्द्रिय अथवा अनुभूति-संस्थान की कल्पना की जायगी ?

काव्य के उद्देश्य के विषय में आपका दृष्टिकोण गम्भीर और व्यापक है। काव्य

---

* पाद-टिप्पणी—'साहित्यालोचन' में बाबू साहब ने पर-प्रत्यक्ष-गम्य (Super-Sensuous) को साथ-साथ दे दिया है, इससे दोनों के विषय में एक दूसरे के पर्याय होने का भ्रम हो सकता है। परन्तु एक ही वस्तु के विशेषण होते हुए भी ये दो भिन्न अर्थों का बोध कराते हैं।

की सिद्धि आप केवल मनोरंजन में नहीं मानते और इसीलिए लोकप्रियता को उसकी गौरव-कसौटी मानने से साफ़ इंकार करते हैं। काव्य की सिद्धि आनन्द की स्फूर्ति द्वारा भावनाओं के उन्नयन और परिष्कृति में है—इसी दृष्टि से वह लोक-हित में सहायक होता है।

आनन्द को बाबूजी ने मूल लोक-हित माना है—और उसको रूढ़ि-बद्ध नियमित लोक-हित से निश्चयपूर्वक पृथक् दिखाया है :—

"पर केवल सौन्दर्य से मुग्ध होकर, अथवा आनन्द-पूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य रचना की जा सकती है और की गई है। वह सौन्दर्य अथवा वह आनन्द-झलक उस काल में आकर स्वयं लोक-हित बन जाती है, और काव्य के लिए यही मूल लोक-हित है। काव्य तथा कला के संख्याहीन रूपों को देखते हुए और उसके प्रभाव को समझते हुए किसी रूढ़ि-बद्ध नियमित लोक-हित को हम काव्य या कला का अंग नही मान सकते।"

उन्होंने काव्य और आचार के सम्बन्ध को स्वीकार अवश्य किया है—परन्तु उसको अधिक दृढ़ और अनिवार्य नही बनाया। शुक्लजी के काव्यालोचन में नीति के बन्धन अत्यन्त सुदृढ़ और कठोर हैं—वहाँ लोक-धर्म के प्रतीक शिवं का प्रभुत्व है, सत्य और सुन्दर दोनों उसके पीछे हैं। परन्तु बाबूजी ने सुन्दर और सत्य को काव्य के लिए अनिवार्य माना है, शिवं की अनिवार्यता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। धार्मिक आदेशों अथवा नीति-विधान को काव्य की सिद्धि माननेवाले आलोचकों की रुचि को उन्होंने स्पष्ट रूप में निकृष्ट माना है—"उनका सार अर्थ यही जान पड़ता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कला और आचार, कला और धर्म, कला और दार्शनिक परम्परा का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। परन्तु इतिहास से इस निष्कर्ष के विपरीत कुछ अद्भुत प्रकार के तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझकर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते हैं। उनके लिए धार्मिक आदर्शों का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियन्ता तथा माप-दण्ड बन जाता है। ये कला-समीक्षक किसी सुन्दरतम सुगठित मूर्ति का नग्न सौन्दर्य सहन नही कर सकते, न उस कला-सत्य का अनुभव कर सकते हैं, जो उस नग्नता से स्फुटित हो रहा है। उनमें कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओं की भाव-व्यंजना उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। वे केवल उनके वाह्य रूप को ही अपने रूढ़िबद्ध आचार-विचारों की कसौटी पर कसते हैं।"

यही कारण है कि शुक्लजी जहाँ 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को सहन भी नहीं कर सकते, वहाँ श्यामसुन्दरदासजी थोड़ा व्यापक और विवेक-सम्मत रूप देकर लगभग उसे स्वीकार ही कर लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे डॉ० ब्रैडले अथवा मि० क्लाइववेल की तरह कला की दुनिया की एक नई, अपने में पूर्ण, एवं स्वतन्त्र सृष्टि नहीं मानते—परन्तु वे कला पर किन्हीं बाहरी मूल्यों का आरोपण करने के विरुद्ध हैं। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त में कला के आनन्द पक्ष पर ही बल दिया गया है—इस दृष्टि से वह भारतीय

रसवाद के अनुकूल है, यही उनका मत है, और इसीलिए वे उसको विशेष आपत्तिजनक नहीं मानते। हाँ, हठवादियों के 'वैचित्र्यवाद' का वे घोर विरोध करते हैं।

मौलिकता—बा. श्यामासुन्दरदास ने काव्य के सभी अंगों का विस्तृत विवेचन किया है और पूर्व तथा पश्चिम के प्रायः सभी समीक्षा-सिद्धांतों पर दृष्टिपात किया है। परन्तु उनकी मौलिकता पर अनेक बार और अनेक प्रकार से आपत्ति उठाई गई है। शुक्लजी ने अपनी अमोघ सव्यंग्य शैली में उनके 'साहित्यालोचन' को संकलन कहा है। जहाँ तक नवीन विचारों तथा काव्य-सिद्धांतों की उद्भावना का प्रश्न है, बाबूजी क्या हिन्दी का कोई भी आलोचक या विचारक इस श्रेय का अधिकारी नहीं है। विदेश के भी आधुनिक साहित्य-शास्त्री इससे वंचित रह जाते हैं। और वास्तव में साहित्य-शास्त्र की मौलिकता का अर्थ नवीन सिद्धांतों अथवा तथ्यों की उद्भावना या आविष्कार नहीं है। यहाँ मौलिकता से अभिप्राय विवेचन की मौलिकता का ही है। बाबूजी ने अपनी सफ़ाई में यही तर्क उपस्थित किया है और जहाँ तक इस सिद्धांत का संबंध है, हम सर्वथा उनसे एकमत हैं। परन्तु 'साहित्यालोचन' के मूल-रूप पर यह सफ़ाई लागू नहीं होती— उसमें दिये हुए सिद्धांत और विचार तो अमौलिक हैं ही, उनकी विवेचन-पद्धति भी अनुकृत है। उसकी रूप-रेखा, उसका प्रसंग-विभाजन, उसके शीर्षक-उपशीर्षक प्रायः हडसन की लोकप्रिय पुस्तक 'इंट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ़ लिटरेचर' से ग्रहण किये गये हैं। कला के विवेचन में उनका आधार वर्सफोल्ड की पुस्तिका 'जजमेंट इन लिटरेचर' है। काव्य, साहित्य, कविता, शैली, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि के विवेचन बहुत कुछ हडसन की पुस्तक से अनूदित कर दिये गए हैं। नाटक के प्रसंग में भारतीय नाट्य-विधान की व्याख्या थी तथा विश्वनाथ से और पश्चिमीय नाटक के अंगों का विवेचन हडसन से प्रायः ज्यों-का-त्यों ले लिया गया है। इस प्रकार 'साहित्यालोचन' अपने आदिम रूप में मौलिक नहीं है— उसकी मौलिकता के विरुद्ध किए गए आक्षेप अप्रिय सत्य हैं। अप्रिय हम इसलिए कह रहे हैं कि इनमें उस परिस्थिति का ध्यान नहीं रखा गया जिसमें कि 'साहित्यालोचन' की रचना हुई थी। इस विषय में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर प्रथम संस्करण की भूमिका के कुछ वाक्य उद्धृत किए देते हैं—"एम. ए. के पाठ्य-क्रम में तीन विषय ऐसे रखे गए जिनके लिए उपयुक्त पुस्तकें नहीं थीं। वे विषय थे भारतवर्ष का भाषा-विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, और साहित्यिक आलोचना। इन तीनों विषयों के लिए अनेक पुस्तकों के नामों का निर्देश कर दिया गया, जिनकी सहायता से इन विषयों का पठन-पाठन हो सके, परन्तु आधार-स्वरूप कोई मुख्य ग्रंथ न बनाया जा सका। सबसे पहले मैंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिए जिन पुस्तकों का निर्देश किया गया था, उन्हें देखना आरम्भ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि इस विषय का भली-भाँति अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को पहले आलोचना के तत्वों का आर-

म्भिक ज्ञान करा दिया जाय। इसके लिए मैंने सामग्री एकत्र करना आरम्भ किया और संपूर्ण ग्रंथ के परिच्छेदों का क्रम, विषय का विभाग, आदि अपने मन में बनाकर उसे लिखना आरम्भ किया। इधर मैं लिखता जाता था और उधर उसको पढ़ाता जाता था..... इस प्रकार यह ग्रंथ क्रमशः प्रस्तुत हो गया।" स्वभावतः इस प्रकार रचे गए ग्रंथ में 'उद्भावना' की अपेक्षा 'संकलन' की ही सम्भावना अधिक हो सकती थी।

संशोधित संस्करण में आकर इस दोष की कुछ शुद्धि हो गई है। यद्यपि मूल संस्करण की सामग्री भी इसमें प्रायः ज्यों-की-त्यों समाविष्ट कर दी गई है, फिर भी उसके अतिरिक्त इसमें और भी उपयोगी सामग्री जोड़ी गई है जिससे विवेचन अधिक व्यापक तथा समयानुकूल होने के साथ ही भारतीय भी अधिक हो गया है। इसमें संदेह नही कि यह सामग्री भी अधिकांशतः बाबूजी की अपनी नही है, परन्तु एक तो इसके आधार अनेक एवं विविध हैं—दूसरे अब बाबूजी को उसे पचाकर ग्रहण करने का अवकाश था। तीसरे, उनका दृष्टिकोण भी इस समय तक परिपक्व हो चुका था। अतएव इस संस्करण के विषय-प्रतिपादन में अपनापन आ गया है और इसे पढ़कर एक साथ संकलित अथवा अमौलिक नहीं कहा जा सकता।

मौलिकता की कमी का यह आरोप बाबूजी की व्यावहारिक आलोचना पर भी लगाया जाता है। जैसा कि आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है, उनकी व्यावहारिक आलोचना का सबसे अधिक विकसित रूप 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' में मिलता है। उसका काल-विभाजन कवियों और लेखकों पर आलोचनात्मक सम्मतियाँ प्रायः शुक्लजी के इतिहास पर आधारित हैं। परन्तु इस इतिहास की प्रमुख विशेषता काल-गत प्रवृत्तियों का निरूपण ही है। इसमें विभिन्न कालों की राजनीतिक, सामाजिक तथा कलागत प्रवृत्तियों के प्रकाश में उनकी साहित्यिक विशेषताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। कहा जा सकता है कि सामग्री यहाँ भी प्रायः उधार ली हुई है। राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का हवाला इतिहास-ग्रंथों से लिया गया है और कला के प्रवृत्ति-गत विकास की पूरी सामग्री जैसा कि बाबूजी ने भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है, 'राय कृष्णदास की कृपा का फल है।' इसी प्रकार रीतिकाल की शास्त्रीय पृष्ठभूमि में विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों का विवेचन काणे से लिया गया है। परन्तु साहित्य के आलोचक से यह आशा करना कि वह राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का भी मौलिक इतिहास उपस्थित करे अथवा कला का भी मर्मी हो, उसके साथ अन्याय होगा। हाँ, यह नक्शा बाबूजी का अपना है—हिन्दी में ऐतिहासिक आलोचना का यह प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है—और इससे अधिक श्रेय का अधिकारी उन बेचारों ने कभी अपने को माना भी नहीं,—उन्होंने असन्दिग्ध शब्दों में 'साहित्यालोचन' की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि " × × × इस ग्रंथ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है, परन्तु उस सामग्री को सजाने, विषय को

प्रतिपादित करने तथा उसको हिन्दी भाषा में व्यजित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है।"

आलोचना में 'मौलिकता' के हम तीन वर्ग बना सकते हैं :—

१—जो आलोचक नवीन सिद्धांतों की उद्भावना करे—और मौलिक सामग्री प्रस्तुत कर मौलिक रीति से विषय का प्रतिपादन करे, वह पहले वर्ग में आता है।

२—जो नवीन सिद्धांतों की उद्भावना न कर सके—परन्तु सामग्री और उसका विवेचन जिसका अपना हो, वह दूसरे वर्ग में आता है।

३— जो सिद्धांत और सामग्री दूसरों से ग्रहण करे, परन्तु उनको प्रस्तुत अपने ढंग से करे, वह तीसरे वर्ग में आता है।

मौलिकता की दृष्टि से बाबूजी इसी तीसरे वर्ग में आते हैं।

आलोचना-शैली—बाबूजी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं में भारतीय तथा पश्चिमीय काव्य-सिद्धांतों को समन्वित करने का प्रयत्न लक्षित होता है—अपनी भूमिकाओं में भी उन्होंने दोनों के समन्वय पर बार-बार बल दिया है । परन्तु इस प्रयत्न में वे कृतकार्य नहीं हो सके— दोनों प्रकार के सिद्धांत उनमें पथक्-पृथक् ही मिलते हैं, मिलकर एकरूप नही हो पाए। इसका कारण यह है कि उनकी साहित्यिक चेतना इतनी प्रबल नही थी कि इन सिद्धांतों को पचाकर आत्मसात् कर ले और इस प्रकार उन्हें अपनी अनुभूति का अंग बना ले। उन्होंने दोनों काव्य-शास्त्रों का अध्ययन किया और उनके सिद्धान्तों को बुद्धि से ग्रहण भी किया, परन्तु उनको अनुभूत नही किया। बुद्धि में भेद का अस्तित्व अनिवार्य है, वह अनुभूति में आकर ही मिटता है। पं. रामचन्द्र शुक्ल की यही विशेषता थी—उन्होंने पूर्व और पश्चिम के सिद्धांतों को बुद्धि से ग्रहण कर अपनी अनुभूति की अग्नि में पचाकर एक कर लिया था। इस प्रकार वे न केवल संश्लिष्ट ही हो गए थे, वरन् शुक्लजी की अपनी अनुभूति का अंग भी बन गए थे। उनकी साहित्यिक चेतना इतनी सजग और प्रखर थी कि नए-से-नए अथवा बड़े-से-बड़े सिद्धांत के प्रति वह तीव्र प्रतिक्रिया करती थी और अपनी अनुभूति पर कसकर ही उसका निश्चयपूर्वक त्याग अथवा स्वीकार करती थी। इसमें सन्देह नही कि इस प्रकार उदारता की हानि हुई, परन्तु उसके स्थान पर शुक्लजी की आलोचना में वह प्रगाढ़ता, वह घनता तथा अनिवार्यता आ गई जिसके कारण उन्हें निःसन्देह विश्व के किसी आलोचक के समकक्ष खड़ा किया जा सकता है । बाबूजी ऐसा नही कर पाए— इसीलिए उनकी आलोचना में भारतीय और पश्चिमीय तथा प्राचीन और नवीन मूल्य समानान्तर चलते हैं—समन्वित और एकसार होकर 'श्यामसुन्दरदास' की वैयक्तिक छाप ग्रहण नही कर पाते । उन पर अमौलिक होने के आरोप, जो चारों ओर से लगाए गए, वे बहुत कुछ इसी कारण थे। और, इसलिए वे सूक्ष्म जटिलताओं को चीरते हुए अपने निरूपण को अन्तिम स्तर तक

पहुँचाने में समर्थ नहीं होते—उदाहरण के लिए काव्य के उपकरणों के अन्तर्गत उनके द्वारा किया हुआ सौंदर्य का निरूपण पेश किया जा सकता है। वहाँ आप देखिये कि बाबू जी ने विविध दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करने के उपरांत अन्त में यह कह दिया है—"क्या काव्यगत 'सुन्दर' की कोई निश्चित व्याख्या की जा सकती है × × × ? इसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है, परन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकी। वह यह है कि सौंदर्य काव्य का एक अभिन्न अंग है। यह बात दूसरी है कि सौंदर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असंभव हो।" शुक्लजी के लिए इस प्रकार बीच में ही रुक जाना असंभव था। इसीलिए तो मूलतः शिक्षक और व्याख्याता होते हुए भी वे चिन्तन की गहराइयों में बढ़ते हुए स्रष्टा के धरातल को भी अनेक बार छू लेते थे। —परन्तु श्यामसुन्दरदासजी अध्यापक के धरातल से ऊपर-नीचे कभी नहीं गए। वे एक-रस साहित्य के शिक्षक और व्याख्याता ही रहे और शिक्षक तथा व्याख्याता के तीन प्रमुख गुण उनमें वर्त्तमान थे। ग्रहण में विवेक, व्याख्यान में हठधर्मी का अभाव, और अभिव्यक्ति में स्वच्छता। यही उनका अपना विशिष्ट धरातल था— और इस पर उनकी सफलता एवं महत्ता असन्दिग्ध है। आरम्भ से ही हिन्दी के विद्यार्थी के लिए 'साहित्यालोचन' की अनिवार्यता इसका अकाट्य प्रमाण है। आज विदेशी आलोचना साहित्य से उसका इतना घनिष्ठ परिचय है—हिन्दी का अपना आलोचना-साहित्य भी यथेष्ट विकसित और समृद्ध हो गया है, परन्तु कोई विद्यार्थी 'साहित्यालोचन' की उपेक्षा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से 'साहित्यालोचन' को हिन्दी में जितनी सफलता मिली है उसकी आधी भी उसके आधार-ग्रंथ 'इंट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ़ लिटरेचर' को अंग्रेज़ी में नहीं मिली।

: ५ :

लाला भगवान दीन

[श्यामला कान्त वर्मा]

भारत में आरम्भ से ही समीक्षक का कर्त्तव्य कवि और काव्य के गुण-दोष का विवेचन करना रहा है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'ध्वन्यालोकलोचन' में लिखा है—

"यत्किंचिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्यालोकं
स्वलोचननियोजनया जनस्य ।।"

अर्थात् मैं अपने लोचन, ज्ञान या मन द्वारा न्यूनाधिक व्याख्या से जनसाधारण के लिए काव्यालोक को स्पष्ट करता हूँ। 'ध्वन्यालोकलोचन' के इस उद्धरण से प्राचीन समीक्षा के उद्देश्य का पता चलता है। वंकालीन समीक्षक विश्लेषण, व्याख्या अथवा उत्कर्षापकर्ष-योजना के दिग्दर्शन को ही समीक्षा मानते थे। उस समय आधुनिक काल की भाँति ग्रंथकार की अन्तःप्रवृत्तियों का उद्‌घाटन अभीष्ट नहीं था। गुण-दोष विवेचन के लिए कुछ सर्वसामान्य सिद्धांत निर्धारित थे, अतः समीक्षाएँ सिद्धांतवादी हुआ करती थीं। इस प्रकार की समीक्षा को प्रस्तुत करने की विभिन्न पद्धतियाँ थीं, जिनमें दो का ही प्राधान्य था। सिद्धांत-निरूपण और मान्य सिद्धांतों के आधार पर भाष्य, टीका-टिप्पणी आदि। लाला भगवानदीन जी का आलोचक रूप समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वे प्राचीन परम्परा के थे, आधुनिक विदेशी दृष्टि लेकर समीक्षा के क्षेत्र में नहीं उतरे थे। अतः उनकी समीक्षा सिद्धांतवादी या शास्त्रीय समीक्षा है। उन्होंने लक्षण-ग्रंथ भी प्रस्तुत किए, टीकाएँ भी प्रस्तुत कीं और सिद्धांतानुयायिनी खंडनात्मक या मंडनात्मक समीक्षाएँ लिखीं।

लालाजी ने स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में कोई समीक्षा प्रस्तुत नहीं की। 'बिहारी और देव' उनके खंडनात्मक समीक्षा संबंधी निबंधों का संग्रह मात्र है। उनकी मंडनात्मक समीक्षा संपादित ग्रंथों की भूमिका के रूप में है। टीकाकार ही नहीं वे संपादक भी थे ग्रंथों के भी और पत्रिका के भी। 'लक्ष्मी' पत्रिका में उनकी समीक्षाएँ धारावाहिक निकली हैं। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' और रामचरित उपाध्याय की 'रामचरित-चिंतामणि' की खंडनात्मक समीक्षाएँ खरी भी हैं और लम्बी भी। समीक्षक के लिए जिस प्रकार के विस्तृत ज्ञान की आवश्यकता होती है वह हिन्दी, उर्दू और फ़ारसी के साहित्यों का मंथन तथा संस्कृत, अंग्रेज़ी भाषाओं के ज्ञान का संपादन करने से उनमें परिपूर्ण थी। गम्भीर ज्ञान के लिए उनकी अध्ययन की वृत्ति सहायक हुई। उनमें विस्तृत (एक्सटेंसिव) और गम्भीर (इंटेंसिव) दोनों प्रकार का ज्ञान था। पहले वे

फ़ारसी के अध्यापक थे, फिर हिन्दी का अध्ययन करने लगे। पर आलोचक वे हिन्दी के ही थे, उर्दू-फ़ारसी के नहीं।

समीक्षा-विषय से संबद्ध उनकी मुख्य पुस्तकें ये हैं —:

सिद्धान्त-ग्रंथ:—

(१) अलंकार-मंजूषा

(२) व्यंग्यार्थ-मंजूषा

टीका-ग्रंथ:—

(१) केशव-कौमुदी

(२) प्रिया-प्रकाश

(३) बिहारी-बोधिनी

(४) 'मानस' की टीका

(५) दोहावली

(६) कवितावली

(७) छत्रसाल–दशक

संपादित ग्रंथ:—

(१) सूर-पंचरत्न

(२) केशव- ंचरत्न

(३) तुलसी-पंचरत्न

(४) ठाकुर-टसक

(५) अन्योक्ति-कल्पद्रुम

(६) राज विलास

(७) विरह-विलास

(८) सनेह-सागर

(९) सूक्ति-सरोवर

प्राचीन कवियों पर कई लेख नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में भी निकले हैं।

लक्षण-ग्रंथों के प्रणयन में ध्यान बराबर स बात पर रहा है कि लक्षण सुबोध हों और उदाहरण स्पष्ट । संस्कृत की सूत्र-वृत्ति वाली उलझाऊ पद्धति उ ोंने नहीं ली। लक्षणों की सरलता के लिए अलंकार की परिभाषा देखिए—: "किसी वाक्य के वर्णन करने का चमत्कारिक ढंग 'अलंकार' कहलाता है । दूसरे शब्दों में यों कहिए कि 'जिस सामग्री से किसी वाक्य में रोचकता वा चमत्कार आ जाय वह 'अलंकार' है। जैसे गहने पहनने से किसी व्यक्ति का शरीर कुछ अ क रोचक देख पड़ता है, वैसे ही अलंकार से वाक्य की ोचकता बढ़ जाती है।"

उदाहरणों का चुनाव प्राचीन ग्रंथों से किया गया है, कई उदाहरण दिए गए हैं

और उनकी अपेक्षित व्याख्या तथा लक्षण से समन्वय भी किया गया है। उदाहरण शिष्ट रुचि के अनुरूप चुने गए है, अश्लीलता से रहित। अलंकारों के नाम उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेजी के भी दिए गए है तथा यथास्थान उर्दू-फ़ारसी के उदाहरण देकर उन्हें समझाया गया है, तुलना भी की गई है। यही नहीं, यह भी बताया गया है कि किस अलंकार का अधिक और सफल प्र ोग किस कवि ने किया है जैसे 'व्याज-स्तुति' के प्रसंग में कहा है कि प ्माकर-कृत 'गंगा-लहरी' में सके बहुत उत्तम उदाहरण हैं। 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' में भी 'शब्द-शक्तियों' का विवेचन इन्हीं विशेषताओं के साथ किया गया है।

टीका में पहले मूल-पाठ (यथासाध्य शुद्ध) है फिर शब्दार्थ तथा भावार्थ। अन्त में छंदों, अलंकारों का निरूपण तथा यथास्थान तुलनात्मक विचार और विशेष टिप्पणियाँ है। जैसे 'सुन्दर-कांड' की टीका में पृ. २६ पर के नोट में 'चन्द्रहास हरु मम परितापं। रघुपति विरह अनल संजातं।' को जयदेव के 'प्रसन्नराघव' के 'चन्द्रहास हरु मम परितापम्। रामचन्द्र विरहानलजातम्।' का अनुवाद बतलाया गया है। टीका में एक-एक शब्द का विचार रखा है। 'किष्किन्धाकांड' की टीका में पृ. ३५ पर 'कृषी निरावहि चतुर किसाना' में प्रयुक्त 'निरावहिं' शब्द की व्याख्या है। पढ़े-लिखे इन बहु प्रचलित शब्दों को भी नही जानते, कदाचित् इसी आशंका से ऐसा किया गया है और बताया गया है कि "अनावश्यक घास-फूस आदि पौधों को खेत से उखाड़ डालने को 'निराना' कहते है।" शब्दों के प्रयोग का भी विचार है। 'सुन्दरकांड' में, 'नाथ जुगल लोचन-भरि वारी। बचन कहे किछु जनक-कुमारी॥' में 'जनक-कुमारी' के प्रयोग का विवेचन करते हुए बताया है कि 'जनक—कुमारी' इस वात का द्योतन करता है कि कुमार्यवस्था की सीता का कष्ट जैसे धनुष-भंग कर राम ने तोड़ा था, वैसे ही इस सीता का वर्त्तमान कष्ट भी गुरुतर है और उसे भी दूर करना चाहिए।" पाठों के रूप का भी कही कही विमर्श है। अयोध्याकांड की टीका में बताया गया है कि 'पुलक गात जल नयन' और 'कहि विनीत मृदु बयन।' में 'नयन' और 'बयन' को 'नैन' और 'बैन' की तरह प ना शुद्ध होगा।

'बिहारी-बोधिनी' में बिहारी के बुन्देलखंडी प्रयोगों का विचार और इसकी विवेचना है कि कवि एक-एक दोहे में कितने अलंकार भर सकने की क्षमता रखता है अवतरण को स्पष्ट करने के लिए वक्ताबोधव्य का भी उल्लेख है, और शब्दार्थ तथ भावार्थ का भी। विषय-क्रम से संगृहीत बिहारी की 'सतसैया' को उपयुक्त समझक प्रसिद्ध आज़मशाही क्रम ही ग्रहण किया गया है। 'दोहावली' में 'सरल वक्रगति पं ग्रह' और 'तुलसी सूधे सूर ससि' में ज्योतिष की आवश्यक बातें भी समझाई गई हैं— "ज्योतिष में मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि की चालें वक्री (टेढ़ी) भी हैं, प सूर्य और चन्द्र सदा मार्गी 'सीधी चाल' रहते हैं।" 'केशव कौमुदी' के तेईसवें प्रकाश 'विनयता' के प्रयोग पर टिप्पणी है कि 'विनयता' में 'ता' प्रत्यय अधिक है, क्योंकि विन

स्वयं ही भाववाचक है, उसमें भाव-वाचक प्रत्यय 'ता' का लगना अनुपयोगी है। 'केशव कौमुदी' में छंदों की विशेष विवेचना करनी पड़ी है। न जाने कितने नए-पुराने छंद 'रामचन्द्र चन्द्रिका' में केशव ने रखे भी तो है, उसे पिंगल की पोथी ही बना डाला है।

व्याख्यात्मक समीक्षा यथास्थान टीकाओं और भूमिकाओं में मुखरित है। कवि के संबंध में कुछ निश्चय करने के पूर्व वे उसकी कृति को पहला आधार मानते है। 'बिहारी बुन्देलखंड में रहे' इस घोषणा के पूर्व उन्होंने बिहारी के बुन्देलखंडी प्रयोगों का कथन किया है। बिहारी और केशव दोनों कवियों ने "सौ' न कहकर 'स्यों' कहा है और यह 'स्यों' बुन्देलखडी रूप है। 'लखबो' 'रहँटघरी' 'गिनिबी' आदि बुदेलखण्डी प्रयोग है। अतः बिहारी बुन्देलखण्डी हे या बुन्देलखंड में जाकर रहे है, क्योंकि अन्य प्रांत के कवियों में ऐसे प्रयोग नही मिलते। जब वे बिहारी को श्रृंगार-रस में प्रथम स्थान देते है तो उसके पीछे भी तर्क है। बिहारी प्रत्येक प्रकार की घटना को श्रृंगार में घटा सकने की शक्ति रखते है, अतः वे श्रृंगार-रस में प्रथम स्थान पाने के अधिकारी है। बिहारी का यह महत्त्व स्वीकार करके ही लालाजी, देव से बिहारी को अधिक मानते है, उनकी समीक्षा प्रायः निर्णयात्मक होती थी। वे प्रायः सब कुछ लिखकर ऐसा अवश्य कह देते थे--"बिहारी के मुक़ाबले में देव जी ही मध्यम जान पड़ते है।"

'कवितावली' में कहा गया है कि तुलसीदास जी की प्रत्येक पुस्तक किसी न किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए लिखी गई है। 'रामचरित मानस' साहित्यिकों, हरिभक्तों और प्रत्येक श्रेणी के मनुष्यों का उपकार करने का प्रयोजन रखता है। 'विनय-पत्रिका' और 'गीतावली' गायकों के लिए लिखी गई है, तथा 'रामलला नहछू' घर घर में विवाह के समय स्त्रियों के द्वारा गाए जाने के लिए है। 'कवितावली' की सृष्टि भाटों और बन्दी-जनों के लिए हुई है। प्रबंध काव्य न होने के कारण ही 'कवितावली' में मंगलाचरण नही है और बहुत से राम-चरित संबंधी प्रसंग छूट गए है। 'कवितावली' में प्रयुक्त छंदों का निर्देश करते हुए उन्होंने लिखा है कि उनकी रचना सवैया, मनहरण, कवित्त, छप्पय और झूलना जैसे छंदों में हुई है जो 'कवित्त' कहलाते है। 'कवितावली' की घटनाओं की 'मानस' के प्रसंगों से तुलना भी है।

'दोहावली' में समीक्षा के आधारभूत तत्त्व का भी परिचय दिया गया है। कविता का मर्म समझने के लिए कवि के स्वरूप को समझना तथा उसकी कविता की विशेषताओं को हृदयंगम करना वे आवश्यक ठहराते है। कविता को हृदय की वस्तु मानने के साथ ही उसमें मस्तिष्क का योग भी आवश्यक ठहराते है। वे लिखते है:—"हृदय और मस्तिष्क की संसृष्टि से ही कविता का उद्रेक हो सकता है, केवल हृदय या केवल मस्तिष्क से नहीं। यदि ऐसा हो भी तो वह कविता नही पद्य मात्र कहा जावेगा।" कविता के भाव को समझने के लिए अलंकार और रस का समझना तो आवश्यक ही है, व्यंजना ध्वनि का समझना भी अनिवार्य है। तुलसी की कविता को इस दृष्टि से देखा जाय तो

'दोहावली' के मूल में सगुण ईश्वर का वर्णन तथा प्रेम और आनन्द का उच्च रूप ही देखने में आएगा। प्रेम के आदर्श के रूप में चातक के प्रेम का कथन कर तुलसी ने प्रेम की मर्यादा का निश्चय किया है। लाला जी ने 'दोहावली' के इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि 'फुटकल दोहों का संग्रह होने पर भी 'दोहावली' उत्तम ग्रंथ है।'दोहावली' के विषय का निरूपण करते हुए वे बतलाते हैं कि उसमें 'आदि में भगवान् रामचन्द्रजी का बहुत सुन्दर ध्यान वर्णित है।'(पृ. ७) फिर ध्यान के तीनों प्रकार--आयतन, पंचायतन और नवायतन का उल्लेख है। ईश्वर-संबंधिनी चार बातों--नाम, रूप, लीला और धाम--की योजना का सौंदर्य उद्घाटित किया गया है। उनके अनुसार रूप में आकार ही नहीं, भाव-सौंदर्य अपेक्षित है। ईश्वरोपासना के तीन मार्ग-- भक्ति, कर्म और ज्ञान--का विवेचन करके कहा गया है कि कर्म के बिना न केवल ज्ञान से काम चलेगा, न भक्ति से। 'माया और जीव' के प्रसंग में इस दोहे--"काम, क्रोध, लोभादि, मद प्रबल मोह कै धारि। तिन मँह अति दारुण दुखद माया रूपी नारि॥"-- की 'नारि' का तात्पर्य 'स्त्री' नहीं 'आकर्षक' या 'फँसानेवाला' किया गया है। 'दोहावली' में विषयों का विवेचन बहुत मार्मिक है। 'प्रेमवर्णन', 'सुसंग-कुसंग वर्णन' 'राजनीति और साधारण नीति' आदि अनेक शीर्षकों के अन्तर्गत विस्तृत विमर्श किया गया है। अन्त में तुलना है और उसमें तुलसी की विशेषता का निदर्शन है। जैसे:--

"आपन छोड़ो साथ जब तब जग हितू न कोइ।
तुलसी अंबुज अंब बिनु तरनि तासु रिपु होइ॥"

--तुलसी

पर रहीम कहते है: **"जब लगि वित्त न आपने, तब लगि मित्त न कोय।**
रहिमन अंबुज अंबु बिनु, रवि नाहिन हित होय।"

'केशव-कौमुदी' में केशवदास को कवि, भक्त और आचार्य तीनों सिद्ध किया गया है। प्रश्न होता है--'रामचन्द्र चन्द्रिका' में कैसा आचार्यत्व? वे कहते हैं कि आचार्यत्व के प्रदर्शन में विभिन्न छंदों के प्रयोग किए गए है। यहाँ तक कि दोषों की भी नियोजना उन्होंने जानबूझ कर की है। पांडित्य-प्रदर्शन भी केशव में बहुत है। बाण, भवभूति माघ, कालिदास आदि के सरस अंशों का सुन्दर ढंग से अनुवाद किया गया है। 'रामचन्द्र चन्द्रिका' के २८ वें प्रकाश में 'होम धूम मलिनाई जहाँ', 'कादम्बरी' के कथामुख के 'यत्र मलिनता हविधूमेषु' का अनुवाद है। तुलसी और केशव का तुलनात्मक विचार करके उन्होंने दिखाया है कि 'केशव' में कौन-कौन से उत्तम अंश हैं। उनके ग्रंथों की कठिनता का हेतु क्या है?--आचार्यत्व और पांडित्य-प्रदर्शन की कामना। केशव के संबंध में उनका मत इस दोहे में प्रकट है जो 'केशव कौमुदी' के उत्तरार्द्ध में सिद्धांत-वाक्य के रूप में मुख्य पृष्ठ पर मुद्रित है:--

"सूर सोई जिन बाँचियो केसव तुलसी सूर।
सूर सोई जिन बाँचियो केसव तुलसी सूर॥"

'सूर-संग्रह' में कवि का प्रतिपाद्य स्पष्ट करके उसकी भाषा पर विचार किया गया है और बताया गया है कि सूर की भाषा ब्रजभाषा थी। 'ब्रजभाषा की पहचान कैसे हो तथा ब्रजभाषा की उपयोगिता क्या है?'—आदि प्रश्नों का उत्तर भी यथासंभव बहुत सरल ढंग से दिया गया है। श्री कृष्ण को आधार चुनने के मूल में 'गाने' की कामना है। किसी कवि का स्थान उसके अपने क्षेत्र में ही निरूपित किया जाना चाहिए। उनके अनुसार सूरदास भक्ति-काव्य और गीत-काव्य के महाकवि हैं।

'सूर-पंचरत्न' सूरदास जी की विस्तृत समीक्षा है। भक्ति-काव्य, ब्रज भाषा, सूर साहित्य, सूर की शैली आदि में सुबोध रीति से विचार किया गया है। यही स्थिति 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' की है। 'दोहावली', 'सूर-पंचरत्न', 'अन्योवित-कल्पद्रुम' में बड़ी भूमिकाएँ हैं और तीनों में कहीं नाम के साथ कहीं वक्तव्य में उनके दो शिष्यों का उल्लेख है— मोहनवल्लभ पंत और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का; अतः कितना अंश लालाजी का है और कितना उनके शिष्यों का है, यह कहना कठिन है। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि लाला जी ने जहाँ स्वयं न भी लिखा होगा वहाँ दिक्-निर्देश अवश्य किया होगा और सारी सामग्री उनके दृष्टि-पथ में अवश्य आई होगी।

सबका निष्कर्ष यह है कि आलोच्य-वस्तु को वे उसी के माध्यम से देखते थे, शास्त्रीय नियमों की कसौटी पर उसे कसते थे तथा उसकी तुलना तत्सदृश कृतियों से ही करते थे। उनकी आलोचनाएँ स्वविषयपर्यवसायिनी हैं, भारी भरकम बनाने के लिए विषयांतर उनमें न मिलेगा।

लालाजी की आलोचनाएँ इन तथ्यों का उद्घाटन करती हैं:— (१) हिन्दी में आधुनिक युग की आलोचना का आरम्भिक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए उन्होंने भारतीय प्राचीन पद्धति को ही अधिकतर अपना आधार बनाया। भारतीय रस-मीमांसा की प्राचीन पद्धति और पश्चिमी अंतःप्रवृत्ति विश्लेषण शैली का सामंजस्य भी उन्हीं के समय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कर रहे थे। संप्रति आलोचना में प्राचीन पद्धति बहुत कुछ उठ गई है। जहाँ है भी वहाँ वह उन्ही महानुभावों के शिष्यों की परम्परा में मिलती है।

(२) लालाजी के अनन्तर टीका लिखने की पद्धति एक प्रकार से समाप्त ही हो गई। नवीन पश्चिमी आलोचना की व्याप्ति का परिणाम यह हुआ कि मूल में प्रवेश चाहे न भी हो, पर शाखा-प्रशाखा का विस्तार सानन्द हो सकता है।

(३) कवियों के सटिप्पण संस्करण अब निकलते हैं, टीकाएँ नही। उनकी आवश्यकता का अनुभव तो करते हैं, पर टीका लिखना ओछा काम समझा जाने लगा है। फल यह है कि 'कठिन-काव्य के प्रेत' की रचना की कथा ही क्या 'सरस काव्य के सुरेश'

की कृतियाँ भी दुरूह हो रही हैं। वैज्ञानिक प्रणाली से ग्रंथों के संपादन तो होते हैं पर परम्परा से चली आती अर्थ-परम्परा और तदनुसार पाठ-निर्णय की पद्धति समाप्त-प्राय है। अब इसका विचार कहाँ होता है कि 'मनु ससि सेखर की अकस' के बदले 'मनु ससि सेखर के अकस' पाठ रखने में क्या साहित्यिक स्वारस्य है। अब यह कौन बतायेगा कि 'आजु दीन्ह बिधि बनि भलि पूरी' में 'बनि' का अर्थ 'मज़दूरी' है 'बनकर' नहीं। परम्परा का त्याग नूतन विकास में हितकारी हो सकता है, पर प्राचीन साहित्यानुशीलन में उसका परित्याग अनर्थकारी ही होगा। इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं लालाजी की कृतियाँ और यह भी धीरे से मन के कानों में कह जाती हैं कि आलोचना चाहे जितनी आगे बढ़ जाय, यदि उसका संबंध प्राचीनता से छूट जायगा तो हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो कर ही रह जायगी, उसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त होने में संदेह हो जायगा। हिन्दी का अपनापन ही खो जायगा।

: ६ :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

[विश्वनाथ प्रसाद मिश्र]

शुक्लजी लड़कपन से ही हिंदी की ओर प्रवृत्त थे। विद्यार्थी-जीवन में ही विद्या की ओर उनकी ऐसी रुचि हो गयी थी कि रात-रात भर पुस्तकें पढ़ते रह जाते थे। उनके साथी इसके लिए उनकी हँसी भी उड़ाया करते थे। वाङमय के दोनों पक्षों पर उनका समान अधिकार था अर्थात् वे काव्य और शास्त्र दोनों के कर्त्ता थे। इसी के साथ यदि भाषा को भी मिला लें तो काव्य, शास्त्र और भाषा तीनों पर वे समान अधिकार के साथ युवावस्था से ही लिखते आ रहे थे।

काव्य की जितनी शाखाएँ है उन सबमें उन्होंने अपनी प्रतिभा दिखाई है, कविता भी लिखी, नाटक भी लिखा, कहानी भी लिखी। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में उनकी कविताएँ हैं, ब्रजभाषा में तो उन्होंने 'बुद्धचरित' नामक प्रबंध काव्य भी लिखा है, जिसमें महाकाव्य की सामग्री तो है ही, ब्रजभाषा का ऐसा प्रसन्न और परिमार्जित स्वरूप भी दिखाई देता है जैसा हिंदी में आज तक नहीं दिखाई पड़ा था। पर खड़ी बोली के कोलाहल में ब्रजभाषा की ओर से कवि लोग ऐसे मुड़े कि उस स्वरूप पर ध्यान देना तो दूर की बात है, जभाषा में रचना करना ही त्याग देना चाहते है। उन्होंने खड़ी बोली में कुछ मुक्तक और पद्य-निबन्ध लिखे है। 'हास्यविनोद' नाम का नाटक पूरा लिख डाला था, पर उनके एक मित्र उसे पढ़कर इतना हँसे कि हँसते हँसते उसे फाड़ ही डाला। फिर उन्होंने ऐतिहासिक नाटक 'पृथ्वीराज' लिखना आरम्भ किया, पर वह पूरा न हो सका, दो अंकों के बाद अधूरा ही रह गया। हिंदी में साहित्यिक मौलिक कहानियों का आरम्भ शुक्लजी की 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी से होता है, जो सं. १९६० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी।

शास्त्र-पक्ष अर्थात् समीक्षा पर भी उनके फुटकर निबन्ध बहुत पहले ही प्रकाशित होने लगे थे, और वे जिस रूप में पहले थे प्रायः उसी रूप में अब भी है। तात्पर्य यह कि शुक्लजी ने बहुत आरम्भ में ही विचारों की ऐसी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी जिससे उन्हें २५, ३० वर्ष के दीर्घकाल के अनन्तर भी अपने पुराने निबन्धों में कोई विशेष परिवर्त्तन या संशोधन करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। ऐसी थी उनकी प्रत्यभिज्ञा और प्रतिभा। 'कविता क्या है', 'भारतेंदु की समीक्षा' आदि निबन्ध उसी समय के है।

अब देखना चाहिए कि शुक्ल जी ने हिंदी में कौन सा ऐसा काम किया जिसके कारण हिंदी की नींव दृढ़ और पुष्ट हुई। हिंदी में काव्यपक्ष को प्रस्तुत करने वाले तो बहुत से दिखाई पड़े, उनमें ऐसे ऐसे प्रतिभावान् भी हुए जिन्होंने हिंदी में ऐसी रचनाएँ की जिनके

कारण वह अन्य समृद्ध भाषाओं की होड़ करने के योग्य होने लग गई। पर शास्त्र-पक्ष पर कुछ भी नहीं था, जो था भी वह आरम्भिक, साधारण या एकपक्षीय था। संस्कृत साहित्य में शास्त्र-पक्ष की जो प्रभूत सम्पत्ति थी उसे रीतिकाल के कवि तो भली भाँति ले ही नहीं सके थे, इस गद्यकाल में भी अधकचरी बातें अनुवाद के रूप में या स्वच्छंद पुस्तकों के रूप में निकल रही थीं। पश्चिमी देशों में समीक्षा का जो प्रसार हो रहा था, उसकी ओर अंग्रेज़ी पढ़ने वाले लालायित दृष्टि से देखा करते थे, हिंदी के प्रति जैसे संस्कृत के पंडित 'भाखा' कहकर उपेक्षा दिखाते थे, उसी प्रकार अंग्रेज़ी पढ़ने वाले बाबू इसे 'बोली' मात्र समझते थे। उन्हें पढ़ने-लिखने की सामग्री इसमें दिखाई ही न पड़ती। जब कभी दबाव से लिखने भी बैठते तो अंग्रेज़ी के समीक्षकों के नामों तथा गद्यांशों की उद्धरणी ही किया करते थे। उन्हें हिंदी के साथ ही संस्कृत में भी, 'कुछ नहीं' ही समझ में आता था।

इधर विश्वविद्यालयों में हिंदी को प्रतिष्ठित कराने के प्रयत्न में सफल होनेवाले (सम-सामयिक साथियों सहित) शुक्लजी ने समीक्षा का वह वाङमय भी प्रस्तुत किया जिसे पढ़कर और समझकर अंग्रेज़ी में रँगे रहने वाले भी समझने लगे कि विदेशी समीक्षाओं का परिणाम चाहे जितना हो. किन्तु तत्त्व की मात्रा उसी परिमाण में सभी स्थानों पर नहीं मिलती। भारतीय पक्ष को अपने ढंग से प्रस्तुत करने वाले और उसके मानदंड से देशी-विदेशी सभी प्रकार की विचार-सरणियों को ठीक माप लेने वाले सबसे पहले भारतीय समीक्षक शुक्ल जी ही हैं।

इसके लिए शुक्लजी ने कुछ साँचे अथवा कसौटियाँ बना रखीं थीं। इसमें सन्देह नहीं कि ये कसौटियाँ उन्होंने बहुत सोच-विचार के पश्चात् खोज निकाली थीं। संस्कृत के आचार्यों ने जैसे रस की कसौटी निकाली थी, उसी प्रकार शुक्लजी ने भावों की, लोक की, प्रकृति की कसौटियाँ निकालीं। इनके द्वारा वे सारे विश्व का साहित्य परख सकते थे। सबसे अद्भुत बात यह है कि ये कसौटियाँ एक दूसरी से मिली हुई हैं, पृथक् पृथक् नहीं। बुद्धि और हृदय के सच्चे योग से यह कौशल दिखलाया गया है। अतः अब हिंदी साहित्य का भांडार एक दम खाली नहीं रह गया। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' प्रस्तुत करते हुए उन्होंने छाँट कर वह रत्नराशि एकत्र कर दी और उसकी चमक-दमक को कस कर ऐसा चमका दिया कि बहुतों की आँखें खुल जायँगी। अपनी रचनाओं के बीच-बीच में उन्होंने बहुत से संकेत भी कर दिये हैं, जिन पर संभवतः वे लिखने वाले थे, पर यम के अनिवार्य आतिथ्य के कारण वह न हो सका। राजमार्ग उन्होंने प्रस्तुत कर दिया है, उससे न जाने कितनी वीथिकाएँ निकल सकती हैं जिनके लिए वे उसी मार्ग में स्थान-स्थान पर चिह्न छोड़ते गये हैं।

हिंदी के आधुनिक युग में उसकी प्रतिष्ठा के लिये जैसा प्रयत्न भारतेंदु और द्विवेदी जी द्वारा अतीत में हुआ वैसा ही क्या, उससे भी सबल प्रयत्न शुक्लजी का वर्त्तमान युग में माना जाना चाहिये। ज्यों-ज्यों किसी राज्य का विस्तार बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसके सँभा-लने वाले शासक का उत्तरदायित्व भी बढ़ता जाता है। इस नवीन युग में शुक्लजी को

हिन्दी की पूर्ण प्रतिष्ठा करने में विशेष सावधानी दिखलानी पड़ी, यह मेरा मत है।

अब उनकी समीक्षाओं का विचार कीजिए। उनकी प्रधान समीक्षाएँ, तुलसीदास, सूरदास और मलिक मुहम्मद जायसी इन तीन कवियों पर हैं। किसी पुराने साहित्यिक ने कहा है, "सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास"। पर शुक्लजी ने जीवनव्यापिनी दृष्टि से तुलसीदास को ही प्रधान कहा। उक्त दोहे को यमक के किसी लोभी का निर्माण बतलाया। दोहे के 'केशवदास' को शुक्लजी ने अपनी आलोचना के द्वारा स्थानच्युत कर दिया और वहाँ बैठा दिया अपनी क्षमता और आलोचना से 'जायसी' को। हिंदी साहित्य की प्राचीन परम्परा में जायसी की प्रशस्ति करनेवाला कोई नहीं दीखता। शुक्लजी की आलोचना के पूर्व जायसी के नामलेवा तो हो चुके थे, पर उनको हिंदी साहित्य में वह आसन नहीं प्राप्त था जो उनकी आलोचना के अनंतर प्राप्त हुआ। जायसी की आलोचना के पूर्व केशवदास जी हिंदी साहित्य में छाए हुए थे। शुक्लजी के पूर्व हिंदी-आलोचना केशवदास को मानती थी यह मिश्रबंधुओं का 'हिंदी-नवरत्न' भी बता देता है, भले ही उसमें देव के लिए विशेष आग्रह हो। पर जायसी उनकी दृष्टि में 'रत्न' नहीं थे। केशवदासजी का पठन-पाठन भी था। पर शुक्ल जी ने केशवदास जी को हृदयहीन और जायसी को पूर्ण सहृदय कहकर ऐसा उच्चाटन और संम्मोहन किया कि केशवदास जी 'कठिन काव्य के प्रेत' कहकर प्रायः सर्वत्र से बहिष्कृत हो गए। और जायसी ! कोई संग्रह नहीं जहाँ उन्हें स्थान न मिले। केशवदास छूट सकते हैं, जायसी नहीं। यह है शुक्ल जी की आलोचना की शक्ति, यह है उनकी आलोचना का प्रभाव !

शुक्लजी काव्य या साहित्य को रसभाव-प्रधान मानने वाले थे। इसे उन्होंने भाव-योग या अनुभूति योग कहा है। अलंकारवादी रचना के स्थान पर वे रसवादी या भाववादी रचना को विशेष महत्त्वपूर्ण मानते थे। वे व्यक्तिवादी के बदले समष्टिवादी को अधिक पसंद करते थे। मुक्तक को बँधे जल का तालाब कहते थे और प्रबंध को प्रवाहित धारावाली सरिता। जीवन के विविध पक्षों का समन्वय करने वाले को विशिष्ट और श्रेष्ठ मानते थे। जीवन के जितने कम अंशों की अभिव्यक्ति जिसने की हो वह उतनी ही नीची कोटि का कवि। साहित्य के जितने अधिक अंगों पर जिसका जैसा अधिकार हो वह उतना हो वैसा ही,उत्तम कवि। वे इस प्रकार समष्टि, विविधता, पूर्णता और व्याप्ति के पक्षपाती थे। इसी से तुलसीदास को उन्होंने सर्वोत्कृष्ट कवि माना। नवीनोद्भावना और भावगांभीर्य का महत्त्व भी उनकी दृष्टि में कम न था। इसी से सूरदास को उन्होंने जायसी की अपेक्षा श्रेष्ठतर लक्षित किया, भले ही उनका विरह-वर्णन विरह-वर्णन की दृष्टि से ही किया हुआ उन्हें लगा। जायसी और तुलसी के विरह-वर्णन में उन्हें यथार्थ रूप के उत्तरोत्तर अधिक दर्शन हुए।

शुक्लजी ने भारतीय समालोचना, जो प्रायः सैद्धांतिक है और यूरोपीय आलोचना, जो प्रायः व्यावहारिक है, दोनों का समन्वय करके हिंदी में आलोचना का नवीन मार्ग निकाला। उन्होंने अंधानुसरण किसी का नहीं किया। इसी से साधारणीकरण की उनकी

व्याख्या भारतीय परंपरा के रूढ़िवादियों को नहीं रुचती। और रहस्यवाद का उनका विवेचन पश्चिमी आलोचना के अनुयायियों को नहीं भाता। रसवाद को सुदृढ़ और सब प्रकार के साहित्यों की विवेचन के लिए सक्षम मानकर भी आलोचना के क्षेत्र में उससे आगे वे शीलदशा को मानते हैं। तुलसी में शीलदशा, सूर में रसदशा और जायसी में भावदशा के प्राधान्य के कारण ही उन्होंने इनके तारतम्य का निर्णय किया है। रहस्यवाद को वे साहित्य की एक शाखा ही मानते हैं, साहित्य और जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति केवल रहस्यवाद में वे नहीं मानते। जायसी में यदि रहस्यवाद अंग न होकर अंगी होता तो वे उन्हें ऐसा उत्तम कवि न कह सकते। जायसी में इसी से उन्होंने अन्योक्ति या अन्यापदेश न मानकर समासोक्ति ही मानी है जिसमें प्रस्तुत प्रधान रहता है और अप्रस्तुत गौण अर्थात् जायसी की प्रेम कथा ही प्रधान है, उनका रहस्य-संकेत गौण है, अप्रस्तुत है। पूर्ण रहस्यदर्शी कबीर को वे कवि ही नहीं मानते, उनकी रचना को साहित्य ही नहीं सकारते। जीवन की स्वाभाविक सरणि से कबीर की स्वीकृतियाँ भिन्न हैं। शुक्लजी की उक्त तीनों कवियों की समालोचनाएँ प्रमुख हैं, पर उन्होंने अपनी मान्यता या घोषणा के अनुसार भारतीय रस-सिद्धान्त के प्रौढ़ आधार पर आधुनिक कवियों की भी सबसे मार्मिक और पुष्ट आलोचना की है, जिन आधुनिक कवियों की प्रेरणा, प्रवृत्ति और मान्यता अधिकतर पश्चिमी है उनको भी व्याख्या उन्होंने उसी मानदण्ड से की है। शुक्लजी ने कसौटी नहीं बदली है। मानदण्ड उन्होंने एक ही रखा है। नई कविता और नई मान्यता उनका सिद्धान्त नहीं था। नया साहित्य और नई कसौटी को वे दुर्बलता मानते थे, नए साहित्य की त्रुटि समझते थे।

यह भी यहीं विचार लेना चाहिए कि शुक्लजी ने हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र पर क्या प्रभाव डाला। शुक्लजी को अस्त हुए एक युग (बारह वर्ष) के लगभग हो चुके, कवियों के सम्बन्ध में नूतन अनुसन्धान, मनन-अध्ययन भी इधर बहुत हुआ। पर शुक्लजी की आलोचनाएँ जहाँ की तहाँ हैं। उन्हें अपदस्थ करने वाली या उनसे आगे निकल जाने वाली आलोचनाएँ अब तक नहीं आई। हिंदी में आलोचकों की संख्या बढ़ ही रही है। पर आलोचना के क्षेत्र में वैसा प्रौढ़ आलोचक एक भी नहीं हुआ। अन्य कवियों पर भी उन आलोचनाओं के समान पुष्ट आलोचनाएँ आज तक किसी ने नहीं लिखीं। आलोचना के क्षेत्र में अब तक शुक्लजी ही प्रधान रूप से छाए हुए हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि शुक्लजी स्वच्छंद चिंतक थे। पंडितराज जगन्नाथ के अनन्तर रस-मीमांसा से शास्त्रीय विद्वान एक प्रकार से विरत से हो गये थे। शुक्लजी ने अपनी स्वतन्त्र चेतना द्वारा उसे पुनः उज्जीवित किया। भारत की किसी भी भाषा में काव्य, रस आदि का स्वतन्त्र विवेचन आधुनिक युग में नहीं मिलता। जहाँ जो है वह या तो शास्त्रों का अनुवाद-अनुगमन है या पश्चिम की अनुकृति मात्र। हिंदी में भी आज तक संकलन संग्रह से ही उपबृंहण हो रहा है। ऐसी स्थिति में साहित्य-चिंतक शुक्लजी के महत्त्व की कल्पना सहज है। आरोचकी वृत्ति वाले पंडितों को उनकी बहुत सी बातें न रुचेंगी, वे स्वयं भी पंडितों के कोलाहल की चर्चा किया करते

थे। उन्होंने कदाचित् 'रस-मीमांसा' बहुत पहले संवर्द्धित और परिष्कृत रूप में प्रकाशित करा दी होती, यदि पंडित-मंडली ने विलायती मत कहकर उनकी चितना की चर्चा न चलाई होती। वे अपने मत को विलायती मानने के लिये प्रस्तुत न थे। लीक छोड़कर अपनी उद्भावित नई सरणि से चलना, उसी लक्ष्य की ओर, यदि 'विलायती' का लक्षण है तो वैसा काव्य-चिंतन जैसा भरत से पंडितराज तक हुआ कभी न हो सकेगा। पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मत का खंडन करने में जैसी पदावली का व्यवहार कहीं-कहीं परवर्त्ती आचार्यों ने किया है और उनके मत को भ्रामक, अशुद्ध आदि बतलाया है, वह भी तो आचार्य शुक्ल में नहीं है। बड़ी शिष्टता के साथ अपनी असहमति उन्होंने व्यक्त की है। यदि कोई हठधर्मिता को त्याग कर उन्हें देखे तो वे भरत, अभिनव, मम्मट आदि की ही परम्परा में उसे दिखाई देंगे।

: ७ :

आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन

[नन्ददुलारे वाजपेयी]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-आलोचना के लिए युग-प्रवर्त्तक कार्य कर गए हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक हिन्दी-आलोचना अपने नये रूप में अवतरित नहीं हुई थी। तब तक वह लक्षण-ग्रन्थों में रसों, अलंकारों, नायकों और विशेषकर नायिकाओं की सूची-मात्र बनी हुई थी। वैसे, मैं यह मानता हूँ कि रस और अलंकार, नायक और नायिका ही साहित्यिक आलोचना के आधारभूत तत्त्व हैं, पर जिन लक्षण-ग्रन्थों की बात मैं कह रहा हूँ उनमें इन तत्त्वों की मीमांसा बहुत ही स्थूल रूप से की गई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्यिक-शास्त्र अथवा साहित्यिक अनुशासन का कार्य इन लक्षण-ग्रन्थों से नहीं सध सका। अनुशासन तो दूर, साहित्य का साधारण मार्ग-निर्देश अथवा अच्छे-बुरे की पहचान तक ये नहीं करा सके। फिर इन्हें आलोचना-ग्रन्थ किस अर्थ में कहा जाय, यह भी एक समस्या ही है।

उदाहरण के लिए लक्षण-ग्रन्थों में उल्लेख किये गए किसी भी रस के एक प्रसंग को ले लीजिए। मान लें हम 'श्रृंगार-रस' का कोई प्रसंग लेते हैं। लक्षण-ग्रन्थ द्वारा हम यह तो जान गए कि उक्त उद्धरण श्रृंगार-रस का है, किन्तु वह रस कितने छिछले अथवा कितने सौम्य श्रृंगार का है इसकी तुलनात्मक और मनोवैज्ञानिक विवेचना हम साधारणतः लक्षण-ग्रन्थों में नही पाते। दूसरी बात यह कि उस 'रस' विशेष की अभिव्यंजना कितनी शक्ति-पूर्ण अथवा निःशक्त प्रणाली से हुई है यह कलात्मक विवेचना भी उनमें कम ही दिखाई देती है। तीसरी बात कि उस छिछले अथवा सौम्य-श्रृंगार की सामाजिक पृष्ठभूमि क्या है––किन परिस्थितियों की वह प्रतिक्रिया है और सामाजिक जीवन पर वह किस प्रकार का असर डालेगा, इसके जानने का भी कोई साधन नही रहता। चौथी और सब से महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि रचनाकार की अपनी मानसिक स्थिति का भी हमें पता नहीं लगता। आलोचना के ये ही प्रधान सूत्र हैं और लक्षण-ग्रन्थों में इन्हीं का अभाव था।

साहित्यिक ह्रास के युग में आलोचना का भी ह्रास हो जाता है। भारतेन्दु हरि-श्चन्द्र के पूर्व जो दशा साहित्य की थी वही इन लक्षण-ग्रन्थों की भी। दोनों ही संस्कार-हीन, परम्परा-बद्ध और अन्तर्दृष्टि-रहित हो रहे थे।

जिस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ हिन्दी में प्रस्तुत किये गए उन्हें देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन लक्षण-ग्रन्थों का प्रस्तुत किया जाना किसी समुन्नत साहित्य-युग में सम्भव न था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति में परिवर्त्तन हो चला। आँखें खुलीं और यह आभासित हुआ कि रस किसी छन्द में नहीं है, वह तो मानव-संवेदना के विस्तार में है। नायक-नायिका कविजी की कल्पना में निर्माण होने के लिए नहीं हैं। प्रगतिशील संसार की नानाविध परिस्थितियों और सुख-दुःख की तरंगों में डूबने-उतराने और घुलकर निखरने के लिए हैं और काव्य-कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्द-कोष के पन्ने उलटने में नहीं।

यह प्रकाश हमें इस बार पश्चिम से मिला। सुनने में यह बात आश्चर्यजनक मालूम देती है, पर यह सच है कि तुलसीदास का महत्त्व हमने डॉक्टर ग्रियर्सन से सीखा। उसके पहले गोसाईंजी के 'मानस' का एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में आदर अवश्य था, पर काव्य तो बिहारीलाल, पद्माकर और केशव का ही उत्कृष्ट समझा जाता था। उसके पहले क्या, उसके पीछे भी हमारे साहित्य में ऐसे 'अन्वेषकों' की कमी नहीं रही जिन्होंने बिहारी की होड़ में 'देव' को तो ला रखा, पर कबीर, मीरा, रसखान और जायसी के लिए मौन ही रहे। हमारे विश्वविद्यालयों ने इन अन्वेषकों को सम्मानपूर्ण डिग्रियाँ भी दी हैं। रीति-युग के ये 'अपटूडेट' हिन्दी के प्रतिनिधि हैं।

ठीक इसके विपरीत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य में रीतिकालीन परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। उन्होंने सामयिक आदर्शों को प्रधानता दी और पुराने कवियों के मुक़ाबले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्योत्थान की सराहना की। किसी विशेष 'वाद' अथवा विचार-धारा का काव्य में प्रवेश होना ही उसके उत्कर्ष का साधक है, कुछ ऐसी धारणा द्विवेदीजी की थी। आज के कुछ प्रगतिशील आलोचकों का भी ऐसा ही मत है। वह विचार-धारा या 'वाद' काव्य की अपनी सत्ता के साथ एकाकार हो गया है या नहीं, यह वे नहीं देखना चाहते। मेरे विचार से यह दूसरी हद है। जो कुछ हो, इस अग्रगामिता का प्रसाद द्विवेदीजी को यह मिला कि कई बार प्रस्ताव किये जाने पर भी विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानित डिग्री देना अस्वीकार कर दिया। यही आशा भी की जाती थी।

प्रतिभा किसी कठघरे में बन्द नहीं रहती। यद्यपि द्विवेदीजी साहित्य की अपेक्षा भाषा के अधिक बड़े आचार्य थे, पर साहित्य में भी उनकी पैनी निगाह पहुँचकर ही रही।

इसी समय के आस-पास पं० पद्मसिंह शर्मा भी आलोचना के क्षेत्र में आये। शर्मा जी 'बिहारी' की काव्य-कला के बड़े प्रशंसक थे। वे उर्दू-फ़ारसी के भी पण्डित थे और हिन्दी में यदि उन्हें उर्दू-फ़ारसी का मुकाबला कर सकने वाला काव्य-चमत्कार कहीं मिल सकता था तो बिहारी में ही। पर काव्य-चमत्कार ही काव्य नहीं है, शर्माजी इस बात से अपरिचित नहीं थे। उनमें इतनी भावुकता और रसज्ञता थी कि इन दोनों के अन्तर को समझ सकें। तो भी उनका झुकाव चमत्कार और काव्य-सज्जा की ओर अधिक था। उनकी शक्ति इस बात में थी कि उनकी निगाह अभिव्यक्ति के सौन्दर्य या अलंकार पर हठात्

जा टिकती थी। उनकी कमज़ोरी इस बात में थी कि उस सौन्दर्य का परिचय कराने के लिए उनके पास 'कलम तोड़ दी' वाली शैली का ही सहारा था। पर इसमें सन्देह नहीं कि वे अभिव्यंजना-सौन्दर्य के अद्भुत पारखी थे।

काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही सौंदर्य नहीं है। अभिव्यंजना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानव-वृत्तियों से है, जबकि अभिव्यंजना का सम्बन्ध केवल सौंदर्यपूर्ण प्रकाशन से है। किंतु शर्माजी प्रकाशन से ही नहीं प्रकाश से भी जानकारी रखते थे, यह बात उनके लेखों से यत्र-तत्र प्रकट होती है। विशेषकर आधुनिक कवियों के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने अपनी यह योग्यता प्रकट की है।

हमारे कितने ही नये समीक्षक ज्ञात या अज्ञात रूप से शर्माजी के ही रास्ते पर चल रहे हैं। नये कवियों के उद्धरण दे-देकर कुछ नपे-तुले वाक्यों में प्रशंसा कर देने तक ही उनकी समीक्षा सीमित है। शर्माजी से वे किसी भी अर्थ में आगे नहीं बढ़ सके हैं, पर उनका उपहास करने में वे बहुत आगे हैं।

इसी समय मेरे गुरुदेव अध्यापक श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जिसमें साहित्य-सम्बन्धी कुछ सैद्धांतिक व्याख्याएँ, मनोवैज्ञानिक निरूपण और व्यावहारिक (साहित्य-तंत्र-विषयक) निर्देश किये गए थे। इस ग्रन्थ का बड़ा ही मार्मिक प्रभाव हिंदी के आलोचना-क्षेत्र पर पड़ा।

हिंदी-आलोचना की इसी आरम्भिक किंतु नवचेतन अवस्था में पं० रामचंद्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलंकार-शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिंदी-समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बचे। दूसरे शब्दों में शुक्लजी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नहीं, उन्होंने इस साँचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य-समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।

यह दावा करते हुए शुक्लजी ने 'रस और अलंकार' आदिकों को लक्षण-ग्रन्थों वाले निःशक्त रूप में न रहने देकर उन्हें नवीन प्राणों से अनुप्राणित कर दिया। उन्होंने उच्चतर जीवन-सौंदर्य का पर्याय बनाकर 'रस और अलंकार'-पद्धति का व्यवहार किया।

जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक (व्यावहारिक) आलोचना है, उन्होंने तुलसी और जायसी-जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उनके ऊँचे काव्य-सौन्दर्य के साथ 'रस और अलंकार' का विन्यास करके 'रस-पद्धति' को अपूर्व गौरव प्रदान किया और साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक संवेदना के स्तर पर की कि लोग यह भूल ही गए कि रसों और अलंकारों का दुरुपयोग भी हो सकता है।

मेरे कहने का मतलब यह है कि शुक्लजी ने अपनी उच्च काव्य-भावना के बल पर समीक्षा की जो शैली निर्धारित की वह उनके लिए ठीक थी। वे स्वतः तुलसी, सूर और

जायसी-जैसे कवियों की ही प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप-ही-आप स्खलित होने से बचे रहे। उत्थानमूलक, आदर्शवादी विचारणा से उनका कभी सम्पर्क नहीं छूटा।

किन्तु शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है और यहाँ उन्हें सभी प्रकार के कवियों से संपृक्त होना पड़ा है। यहाँ शुक्ल जी ने अपने समीक्षा-सम्बन्धी पैमानों का प्रयोग अधिकतर इतनी सफलता के साथ किया है कि उनका साहित्यिक इतिहास कवियों और काव्य-धाराओं के मूल्य] निर्धारण में त्रुटिपूर्ण नहीं प्रतीत होता।

अवश्य जहाँ-जहाँ और जब-जब शुक्लजी ने अपनी काव्य-माप में कुछ व्यक्तिगत रुचियों को प्रवेश करने दिया है—उदाहरण के लिए उन्होंने कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध-रचना को मुक्तक काव्य पर तरजीह दी और निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में सगुण-पक्ष की वकालत की—वहाँ-वहाँ उन्हें अक्सर काव्य की परख करने में कठिनाई हुई है। डी० एल० राय में रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा उच्चतर भावसंवेदन का निरूपण करना इसी प्रकार के पक्षपात का परिणाम है। इसी के फलस्वरूप उन्हें हिन्दी के आधुनिक कवियों में भी कुछ अनधिकारियों अथवा अल्प अधिकारियों को उचित से अधिक महत्त्व देना पड़ा है।

संवेदना या रसानुभूति के आधार पर स्थिर होने वाली काव्य-समीक्षा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं—एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो—किसी मतवाद का आग्रह न हो।

शुक्लजी में उच्च कोटि की काव्य-रसज्ञता थी, इसमें सन्देह नहीं। साथ ही उनकी कुछ निजी रुचियाँ और आग्रह भी थे जिन्हें दबाया नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि उनमें आलोचना के साथ-साथ रचनात्मक प्रेरणाएँ भी बड़ी प्रमुख थीं। स्वतंत्र रचना के लिए स्वतंत्र अभिरुचि का होना आवश्यक है, किंतु काव्य-समीक्षक को अधिक-से-अधिक निष्पक्ष होना चाहिए। साहित्य के वैज्ञानिक अनुसंधान-कार्य के लिए यह निष्पक्षता बहुत आवश्यक है।

रचनात्मक और समीक्षक के लिए अलग-अलग रास्ते हैं। एक के लिए व्यक्तिगत अभिरुचि का अपार क्षेत्र खुला है, दूसरे के लिए उसकी गुंजाइश नहीं। उसे पूरी तटस्थता बरतनी होगी।

यहाँ पूरी तटस्थता से हमारा मतलब निर्विकल्प या absolute तटस्थता से नहीं है। वह तो सम्भव नहीं है। समीक्षक अपने बाहरी (सामाजिक) और भीतरी (व्यक्तिगत) संस्कारों से बरी नहीं हो सकता। वह एक समय और एक वर्ग का लगाव छोड़ नहीं सकता। यहाँ तटस्थता से मेरा मतलब यह नहीं कि वह अपनी समाजिक और संस्कार-

जन्य इयत्ता खो दे। यह सम्भव भी नहीं है। इससे तो समीक्षक के अपने व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। मेरा मतलब सिर्फ़ यह है कि इन व्यक्तिगत पहलुओं के होते हुए भी, जहाँ तक काव्य के कलात्मक स्वरूप और मनोभूमि के विश्लेषण का प्रश्न है, समीक्षक को तटस्थता कायम रखनी चाहिए।

समीक्षक की तटस्थता से यह आशय न निकालना चाहिए कि उस समीक्षा का सामाजिक सम्पर्क छूटा हुआ है। मैं इस सम्पर्क का लेख के आरम्भ में ही आग्रह कर चुका हूँ और यह सम्पर्क छूट जाने से लक्षण-ग्रन्थों के द्वारा समीक्षा-क्षेत्र की जो दुर्दशा हुई उसका भी उल्लेख कर आया हूँ। शुक्लजी की काव्य-समीक्षा में बड़े समारोह के साथ इस सामाजिक सम्पर्क का आवाहन है। यह हिन्दी-आलोचना के लिए बड़े महत्त्व की बात सिद्ध हुई। बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि नव्यन्तर सामाजिक प्रगति से (विशेषतः राजनीति से) घनिष्ठ सम्बन्ध न रहने के कारण शुक्लजी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों से उतना अधिक तादात्म्य स्थापित नहीं कर सके जितना उनके जैसे इस क्षेत्र के अधिनायक से आशा की जाती थी।

युग की संवेदनाओं से समीक्षक का घनिष्ठ परिचय होना चाहिए। तभी वह युग के साहित्य का आकलन सम्यक् रूप से कर सकेगा। जिन नूतन स्थितियों और प्रेरणाओं से नवीन काव्य का निर्माण हुआ है, जिन नवीन वादों की सृष्टि हुई है और जो नई शैलियाँ साहित्य में अपनाई गई हैं, उनका जब तक परिचय नहीं, तब तक साहित्य का मूल्यांकन क्या होगा? किन्तु घनिष्ठ-से-घनिष्ठ परिचय में भी तटस्थता समीक्षक के लिए अत्यावश्यक है। यह तटस्थता सफल विश्लेषण की पहली शर्त है।

जिस प्रकार शुक्लजी ने काव्य और कलाओं के सामाजिक सम्पर्क की आवाज़ उठाई उसी प्रकार उन्होंने रचनाकार की व्यक्तिगत मनःस्थिति का भी हवाला दिया है। रचयिता की मनःस्थिति का पता लगाना आधुनिक काव्य-विवेचक आवश्यक समझता है। इसके लिए काव्यालोचक आज मनोविश्लेषण-विज्ञान की भरपूर सहायता लेना चाहते हैं। शुक्लजी के समय यह विज्ञान हिन्दी में कम व्यवहृत हुआ। इसका व्यवहार बड़ी विशेषज्ञता की अपेक्षा रखता है। रचनाकार के काव्य-निर्माण में उसके व्यक्तिगत संस्कारों का हाथ रहता है। वे संस्कार किस हद तक उसके काव्य को ऊँचा उठाते या नीचा गिराते हैं, यह प्रत्येक समीक्षक जानना चाहेगा। किन्तु इसे जानने के साधन उतने आसान नहीं हैं जितना हम अक्सर समझा करते हैं। शुक्लजी ने इस दिशा में आरंभिक कार्य का सूत्रपात कर दिया था।

रचनाकार की मानसिक स्थिति का विश्लेषण उसके द्वारा निर्माण किये गए काव्यात्मक चरित्रों के आधार पर भी किया जाता है। कोई भी साहित्यिक रचना पढ़ने पर रचयिता के विचारों, उसकी मनोभावना और मूल प्रेरणा का सामान्य रूप से अन्दाज़ लग जाता है, पर मनोविश्लेषण-शास्त्र द्वारा उस विषय की विशेषज्ञता प्राप्त की जाती है।

किन्तु यदि रचनाकार के साथ अन्याय नहीं करना है तो बहुत अधिक सतर्कता के साथ हमें निर्णय करना होगा ।

शुक्लजी बहुत अधिक वादों के पक्षपाती नहीं थे । यूरोप के साहित्य-क्षेत्रों में जो शीघ्र-शीघ्र वाद-परिवर्त्तन होते रहे हैं उन पर शुक्लजी की आस्था नहीं थी । वे उन्हें बदलते हुए फ़ैशन-जैसी चीज़ समझते थे । उनका ऐसा समझना एक दृष्टि से ठीक भी है । पर इस विषय में एक दूसरी दृष्टि भी है; वह यह कि यूरोप का साहित्य अतिशय समृद्ध साहित्य है । वहाँ नई-नई कला-शैलियों का आविर्भाव और प्रचार होना स्वाभाविक है । प्रत्येक साहित्य अपनी समृद्धि की अवस्था में बहुविध वेश-विन्यास करेगा ही । यह उसका अनिवार्य गुण है । तब देखना यह होगा कि कहाँ वह केवल फ़ैशन बनकर रह गया है और कहाँ उसमें गहराई आई है ।

ठेठ कला अथवा रचना-प्रणाली की मीमांसा अभी हमारे साहित्य में बहुत कम हुई है । साहित्यिक विवेचन का यह एक प्रधान अंग करीब-करीब सूना पड़ा है । यहाँ रचना-प्रणाली से हमारा मतलब भाषा-शैली से नहीं है, बल्कि उस कारीगरी से है जो साहित्य को सौंदर्य या कला की वस्तु बनाती है ।

जिस प्रकार अनेक काव्य-वादों की उलझन में शुक्लजी नहीं पड़े, उसी प्रकार सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्र की विचार-धाराओं की उन्होंने उपेक्षा की । कुछ लोग इसी कारण उन्हें कोरा साहित्यिक घोषित करते हैं । वे इसे उनकी एक प्रधान त्रुटि भी ठहराते हैं और उनका कहना है कि इसी कारण शुक्लजी वास्तविक अर्थ में हमारे आधुनिक साहित्य का नेतृत्व नहीं कर सके । इस संबंध में हमें दो बातें कहनी हैं । एक यह कि शुक्लजी की एक विशेष समाज-नीति अथवा सामाजिक सिद्धांत (जिसमें राजनीति भी सम्मिलित है) अवश्य था । संभव है वह सिद्धांत अपनी पूरी रूपरेखा के साथ उपस्थित न किया गया हो, पर उसका एक सामान्य रेखा-चित्र हमें शुक्लजी की सभी मुख्य रचनाओं में मिलता है । बल्कि कहीं-कहीं तो उनका पिष्टपेषण खटकने भी लगता है । वह सिद्धांत क्या है, इसे शुक्लजी के सभी पाठक जानते हैं ? उसे उन्होंने लोक-धर्म का सिद्धांत कहा है और भारतीय वर्णाश्रम धर्म के साँचे के अन्तर्गत उसे ढालने की चेष्टा की है । वर्णाश्रम-धर्म से शुक्ल जी का आशय हिन्दू धर्म से नहीं है, बल्कि किसी भी ऐसे सामाजिक संगठन से है जिसमें कर्त्तव्यों और अधिकारों के समीकरण की चेष्टा की गई हो ।

शुक्लजी का लोक-धर्म का सिद्धांत मध्यवर्ग की उन आदर्शात्मक प्रेरणाओं से ओत-प्रोत है जो बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण की विशेषता थी । अपने स्वाभाविक गांभीर्य के कारण शुक्लजी 'रामचरितमानस' के महाकाव्योचित प्रसंगों में रम गए थे । इससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि आधुनिक समय के लिए उनकी कोई चिन्तना नहीं थी ।

दूसरी बात यह है कि आज की हमारी विचारणा वर्गों के आधार पर आ ठहरी है । इसके पहले वह राष्ट्रीयता के आधार पर स्थित थी और अब भी बहुत अंशों में स्थित है ।

शुक्लजी के विचारों में हिन्दू-समाज-पद्धति और आदर्शवाद का प्रधान स्थान है। उसे एक सार्वदेशिक व्यवस्था का रूप शुक्लजी ने दिया है। वह कहाँ तक व्यवहार्य है यह एक दूसरा प्रश्न है। वह कहाँ तक नई विचार-धारा और शब्दावली से मेल खाती है, यह और भी अलग प्रश्न है।

यदि शुक्लजी में अपने समय और समाज की सीमाएँ हैं तो सवाल यह है कि इन सीमाओं से बचा कौन है ? महत्त्व सीमाओं का नहीं है, महत्त्व है सीमाओं के भीतर किये गए काम का। शुक्लजी ने अपने समय की एक अर्द्ध-जागृत साहित्य-चेतना को दिशा-ज्ञान दिया। रास्ता सुझाया ही नहीं, स्वयं आगे-आगे चले और मंज़िल तय की। विपर्यस्त लक्षण-ग्रंथों की परम्परा को साहित्य-शास्त्र की पदवी पर पहुँचाया, उसे आदर्शात्मक स्वरूप दिया। अपने उच्च कोटि के व्यक्तित्व और अध्ययन की छाप वे साहित्य पर छोड़ गए हैं। प्रांजलता और महाकाव्योचित औदात्य के लिए यह युग शुक्लजी को स्मरण करेगा। साहित्य-समीक्षक की हैसियत से सबसे बड़ी बात शुक्लजी में यह नहीं है कि उन्होंने उच्चतर काव्य को निम्नतर काव्य से अलग किया, बल्कि उन्होंने वह ज्ञान दिया कि हम भी उस अन्तर को पहचान सकें। यह उनका पहला काम था। तुलसी, जायसी और सूर की समीक्षाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी-आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित किया। यह भित्ति इतनी मज़बूत है जितनी भारत की किसी भी प्रांतीय भाषा की भित्ति हो सकती है। शुक्लजी की सबसे बड़ी विशेषता है समीक्षा के सब अंगों का समान रूप से विन्यास। अन्य प्रांतीय भाषाओं में समीक्षा के किसी एक अंग को लेकर शुक्लजी की टक्कर लेने वाले अथवा उनसे विशेषता रखने वाले समीक्षक मिल सकते है,पर सब अंगों का समान विकास उनका-सा कोई कर सका है,मैं नहीं जानता ? जितना उत्कर्ष उन्हें साहित्य के सिद्धांतों का निरूपण करने में प्राप्त हुआ उतनी ही दक्षता उन्हें उन सिद्धांतों का व्यावहारिक प्रयोग करने में हासिल हुई। पांडित्य में उनकी अप्रतिहत गति थी, विवेचना की उनमें विलक्षण शक्ति थी। वे आलोचक या समीक्षक-मात्र नहीं थे, सच्चे अर्थ में साहित्य के आचार्य थे।

समीक्षक की हैसियत से शुक्लजी का आदर्श बहुत ऊँचा है, और उनका एक संदेश है जिसे आज के समीक्षकों को स्मरण रखना चाहिए। वह संदेश यह है कि साहित्य की समीक्षा किसी एक अंग या पहलू पर समाप्त न हो जानी चाहिए, बल्कि वह सब अंगों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। आज हिन्दी में जो कोई समीक्षा के जिस किसी कोने को पकड़ पाता है उसे ही खीच चलता है। यह समझने की जरूरत नहीं समझी जाती कि इस खींच-तान से साहित्य का कोई लाभ नहीं है, बल्कि इससे साधारण पाठकों में भ्रम ही फैला करता है। शुक्लजी ने इस प्रवृत्ति को साहित्यिक कनकौआ उड़ाना कहा है, और उन्होंने इसका ठीक ही नामकरण किया है। यह प्रवृत्ति हमें साहित्य की समीक्षा में बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती, साहित्य की अन्तरात्मा के दर्शन तो करा ही नहीं सकती।

शुक्लजी ने हिन्दी-समीक्षा में क्रांतिकारी परिवर्त्तन किया। वे नये युग के विधायक

थे। यद्यपि हम यह कहेंगे कि शुक्ल जी की व्यक्तिगत अभिरुचियों और धारणाओं ने विशुद्ध काव्यालोचन में सदैव सहायता ही नहीं पहुँचाई, अनेक बार अड़चनें भी डालीं। और शुक्लजी की समीक्षा में युग की सीमाएँ भी स्वभावतः मौजूद है।

*　　　　*　　　　*

पंडित रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हिन्दी में द्विवेदी-युग की पूर्ण प्रतिष्ठा का निमित्त हुआ। जिस नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद का द्विवेदी-युग प्रतीक है, उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा देने का श्रेय शुक्लजी को प्राप्त है। शक्लजी ने अपनी साहित्यिक आलोचनाओं में तो उन्हें अपनाया ही, उनके लिए एक दार्शनिक नींव भी तैयार की, जिससे हिन्दी में एक नये युग का प्रवेश हुआ। अपने युग की नैतिक, आदर्शात्मक और बौद्धिक प्रगतियों की पुष्टि के लिए शुक्लजी ने गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' और जायसी के 'पद्मावत' को चुना, जो दोनों ही महाकाव्य है, जिनमें स्वभावतः वाह्य जीवन की परिस्थितियों का बाहुल्य है, जिन्हें आवश्यकतानुसार शुक्लजी अपने उपयोग में लाए हैं। इसके अतिरिक्त शुक्लजी ने हिन्दी के दूसरे महाकवि सूरदास को भी अपनी काव्य-मीमांसा के लिए छाँटा और उनके काव्य को अपने नीतिमूलक आदर्शवादी विचारों के साँचे में ढालना चाहा, किन्तु इस कार्य में उन्हें आंशिक सफलता ही मिल सकी है। इसका कारण स्पष्ट ही यह है कि सूरदासजी न तो कोई कथाकार हैं, जिनमें वाह्य जीवन का वैविध्य देखने को मिले और न वे द्विवेदी-युग की नैतिक या बौद्धिक मर्यादा के क़ायल हैं। प्रेम के तराने अलापने वाला कवि वैसी किसी मर्यादा का क़ायल हो भी नहीं सकता—आत्म-समर्पण की मर्यादा तो पूर्ण समर्पण में ही है। इसीलिए शुक्लजी ने वहाँ ऐसी गौण बातों की जिज्ञासा से ही संतोष कर लिया है कि गोपी-कृष्ण-प्रेम के आविर्भाव की परिस्थितियाँ कैसी है, महलों वाला विलासी प्रेम तो उनका नहीं है, आदि-आदि। अवश्य ही यह द्विवेदी-युग की दार्शनिकता के अनुकूल है, किन्तु सूरदासजी के संगीत का माधुर्य इन जिज्ञासाओं से ही व्यक्त नहीं हो सकता। न वह इनका अपेक्षी ही है। उसका माप तो उसके स्वरों में ही छिपा है और छिपा है वह हमारे संवेदनशील हृदयों में। भावात्मक अथवा रहस्यात्मक काव्य बाहरी दुनिया की अपेक्षा हृदय की टोह पर ही अधिक अवलम्बित है। अवश्य ही यदि हृदय सच्चा है तो बाहरी दुनिया भी उसकी महत्ता स्वीकार करेगी, यद्यपि मूर्त्त व्यापारों, परिस्थितियों और व्यवहारों में व्यक्त रहने वाली बुद्धि हृदय की गहराई की थाह और उसके निगूढ़ स्रोतों से उत्सर्जित होने वाले स्वच्छ और विशुद्ध जीवन-रस का आस्वाद जरा देर से ही पा सकेगी। यही हाल शुक्लजी का भी है। वह एक उच्च कोटि के सहृदय और काव्य-मर्मज्ञ है इसमें तो संदेह नहीं, पर वे अपने युग की वाह्य, आदर्शवादी नीतिमत्ता के हामी होने के कारण व्यवहारों का जो व्यक्त सौन्दर्य देखना चाहते है वह उतनी प्रचुर मात्रा में न तो सूरदासजी में ही मिलता है और न आधुनिक छायावाद या रहस्यवाद के काव्य में ही। यही कारण है कि वे एक ओर गोस्वामी तुलसीदास और उनके 'मानस'

महाकाव्य के सामने सूरदासजी के भाव भरे पदों को स्थान नहीं देते और दूसरी ओर नवीन समुन्नत गीतकाव्य के ऊपर ऐसी साधारण प्रबंध-रचनाओं को रखना चाहते हैं जैसे काव्य में 'नूरजहाँ' या 'हल्दीघाटी' अथवा गद्य में 'शेष स्मृतियाँ'। जायसी बेचारे बीच में पड़ गए हैं। एक ओर तो वे प्रबंध-कथानक के रचयिता हैं और दूसरी ओर रहस्यवादी। मैं कह सकता हूँ कि शुक्लजी ने उनकी प्रबंध-पटुता की जितनी प्रशंसा की है और वाह्य जीवन-व्यापारों का जितना विवरण दिया है, उनके रहस्यवाद की ओर वे उतने आकृष्ट नहीं हैं। कहा नही जा सकता कि जायसी के बदले उन्हें कोई मुक्तककार रहस्यवादी सूफ़ी कवि दे दिया जाय तो वे उसकी कितनी कद्र करेंगे। मेरा अपना अनुमान तो यही है कि हाफ़िज़, रूमी या शेख़सादी-जैसे बड़े-से-बड़े कवि भी उन्हें नहीं जँचेंगे, क्योंकि वे शुक्लजी की बँधी हुई परिपाटी पर नहीं चले है। उनकी रुचि और परख में वे पूरे नहीं उतर सकते।

'रामचरित-मानस' के जिस व्यापक आदर्श की ओर शुक्लजी सबसे अधिक आकृष्ट है, वह है लोक-धर्म का आदर्श। समाज में सभी व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति किसी-न-किसी संबंध-सूत्र से बँधे हुए है। इन समस्त संबंधों का निर्वाह समाज के सुचारु संचालन के लिए अत्यावश्यक है, किन्तु सुचारु संचालन तभी संभव है जब सभी लोग अपने-अपने कर्त्तव्य को समझें। इन कर्त्तव्यों की बड़ी ही सुन्दर और आदर्श प्रतिष्ठा राम-चरित्र में पाई जाती है। दूसरे शब्दों में लोक-धर्म का बड़ा ही उत्कृष्ट निरूपण उक्त काव्य में किया गया है। अवश्य ही वह निरूपण आदर्शात्मक है, क्योंकि उसमें सर्वत्र कर्त्तव्य-पक्ष को ही प्रधानता है। किसी को अपने अधिकारों का ध्यान नही रखना, सबको कर्त्तव्य का ही पालन करना है। इसी आदर्शात्मक लोक-धर्म में शुक्लजी की वृत्ति रम गई है, इस त्यागमय धर्म को ही वे व्यवहार-धर्म मानने लगे है।

इस लोक-धर्म की दो विशाल बाहुएँ है--- सत् की रक्षा और असत् का दलन। साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश गीता में श्रीकृष्ण ने अपने अवतार का प्रयोजन बताया है। शुक्लजी इन दोनों पक्षों के पूरे हिमायती है। मानव-जीवन का सौंदर्य इन उभय पक्षों के पूर्ण परिपालन में ही है, किन्तु साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रामचरित-मानस के लोक-धर्म की नींव एक-मात्र कर्त्तव्य-निष्ठा पर ही अवलम्बित है। इसमें अधिकारों और कर्त्तव्यों का दोहरा पक्ष नहीं है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ व्यक्ति की दृष्टि से यह पूर्ण त्यागमय धर्म है। दार्शनिक शब्दावली में इसे ही अनासक्त कर्मयोग कहते है। स्मरण रखना चाहिए कि यह पाश्चात्य व्यावहारिक दर्शन नही है जिसमें से कुछ लेकर कुछ देना पड़ता है, यह है भारतीय कर्मयोग, जिसमें व्यक्ति के लिए पूर्ण स्वार्थ-त्याग **(सब-कुछ देना) और सर्वस्व समर्पण ही धर्म कहलाता है।**

'रामचरितमानस' के इस वैयक्तिक त्यागमय पक्ष का जब तक पूर्णतः उद्घाटन नहीं किया जाता तब तक कर्त्तव्य-पक्ष को उसकी उचित आभा नहीं मिल सकती। शुक्लजी ने वैराग्यमूलक निष्क्रिय (!) अध्यात्म के मुक़ाबले इस क्रियाशील लोक-धर्म की आवाज़

उठाई है जो सुनने में बड़ी सुहावनी मालूम देती है, किन्तु उन्होंने भारतीय लोक-धर्म की त्यागमूलक भित्ति का यथेष्ट विवरण हमारे सामने नहीं रखा। वे एक प्रकार से इनकी उपेक्षा भी कर गए हैं जिसके कारण भारतीय प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग की एक ही भूमि पर खड़ी हुई दार्शनिक शाखाएँ शुक्लजी द्वारा परस्पर-विरोधिनी बना दी गई हैं। स्वार्थ या आसक्ति का त्याग प्रवृत्ति के मूल में भी है और निवृत्ति के मूल में भी। दोनों का आधार एक ही है, किन्तु शुक्लजी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर निवृत्ति और प्रवृत्ति, ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोक-धर्म दोनों को एक-दूसरे का विरोधी बना दिया है। अवश्य ही शुक्लजी का यह दार्शनिक विपर्यय भारतीय अध्यात्म-शास्त्र के लिए अन्याय-पूर्ण हो गया है।

मैं यह नहीं कहता कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्गों में कोई अन्तर ही नहीं है और न यही विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि निवृत्ति-मूलक अध्यात्म का हमारी राष्ट्रीय अवनति से कोई संबंध नहीं (यह तो विषय ही उपस्थित नहीं)। मेरा कहना इतना ही है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के दोनों ही मार्ग पूर्ण व्यक्तिगत त्याग पर अवलम्बित हैं और दोनों का दार्शनिक समन्वय भारतीय धर्मग्रंथों में उपलब्ध है। रामचरितमानस भी भारतीय धार्मिक परम्परा का ग्रंथ है। इसलिए वह भी प्रवृत्ति और निवृत्ति में कोई तात्विक भेद नहीं मानता। यदि शुक्लजी ने इस परम्परा का यथोचित ध्यान रखा होता तो वे दोनों का वैषम्य इतनी कट्टरता के साथ न दिखा पाते। भारतीय धर्म और विशेषकर मध्यकालीन वैष्णव धर्म, ज्ञान, भक्ति और कर्म को एक ही दार्शनिक भूमि पर प्रतिष्ठित करता है, यद्यपि आचार्यगण रुचि-वैभिन्न्य के कारण एक या दूसरे को प्रमुखता अवश्य देते हैं। शुक्लजी ने उनकी दार्शनिक मान्यता को स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की।

इसी का परिणाम यह हुआ कि सारा मध्यकालीन भक्ति-काव्य शुक्लजी द्वारा दो कठघरों में बन्द कर दिया गया है। उन्हें हम संक्षेप में व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म के कठघरे कह सकते हैं (ये उन्हीं के शब्द हैं)। आश्चर्य है कि इस प्रकार का वर्गीकरण शुक्ल-जी ने किया है जब कि वास्तव में दोनों ही एक-दूसरे से बहुत अंशों तक अनुप्रेरित हैं और दार्शनिक विचारणा में भी एक-दूसरे के समकक्ष हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि शुक्लजी का वैष्णव-साहित्य का अध्ययन परम्परा-प्राप्त मान्यताओं के अनुकूल नहीं हुआ। उन्होंने कृत्रिम विभेदों का आग्रह किया है और काव्यालोचना में भी एक वर्ग को व्यर्थ नीचा देखना पड़ा है। मेरा यह विश्वास है कि द्विवेदी युग की नैतिकता और आदर्शवादिता का ही यह परिणाम है कि शुक्लजी सूर और तुलसी के बीच, जिनमें एक-सी ही महान प्रेरणाएँ उपलब्ध हैं, एक खाई खींच लेते हैं और यही कारण है कि वे आधुनिक काव्य के प्रति भी ऐसा ही वर्गीकरण कर डालते हैं।

अवश्य ही यह अधिकार सब को है कि वह अपनी नई दृष्टि से प्राचीन वस्तु की परीक्षा करे, किन्तु वह परीक्षा समीक्षा तभी कहायेगी जब वह निष्पक्ष हो और उस वस्तु

की चौहद्दी का ठीक-ठीक निरूपण करती हो। काव्य की समीक्षा में तो यह कार्य अपेक्षाकृत सरल है, क्योंकि देश-काल के स्थूल बंधन और आवरण यहाँ कम हैं; किन्तु अन्य पहलुओं का अध्ययन तो बहुत ही सतर्क दृष्टि से करना चाहिए। शुक्लजी ने काव्य-विवेचन में सम्यक् तटस्थता का परिचय नहीं दिया और न मध्यकालीन वैष्णव-धर्म की आधार-भूमि को समझने में सहायता पहुँचाई है। अवश्य ही उनके नवीन दर्शन का अपना विशेष महत्त्व हो सकता है, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि उन्होंने प्राचीन काव्य का दार्शनिक अथवा साहित्यिक मूल्य निर्धारण करने में पक्षपात-रहित मनोयोग दिखाया है।

तो शुक्लजी का वह नवीन दर्शन क्या है ? सबसे पहले ही हम देखते हैं कि वह नवीन दर्शन है प्रवृत्ति और निवृत्ति : व्यक्ति-धर्म और लोक-धर्म को परस्पर विपरीत दार्शनिक विचारणा का परिणाम बतलाना और प्रवृत्ति तथा लोक-धर्म के पक्ष में उत्साहपूर्ण आन्दोलन करना। सच पूछिए तो ऐसा करके शुक्लजी ने संपूर्ण आध्यात्मिक काव्य की मूल प्रेरक शक्तियों का विघटन कर दिया है। अवश्य ही रामचरितमानस भी उनमें से एक है। यह मानने के लिए हम सभी तैयार होंगे कि महाकाव्य की कर्मण्यता और गीतों की भावमयता में अन्तर होता है और यही अन्तर 'मानस' और 'सूर-सागर' में भी है, किन्तु 'मानस' की क्रिया और 'सूर-सागर' की भावना की प्रेरक शक्तियाँ एक-दूसरे के बहुत निकट हैं—इस पर शुक्लजी ने यथेष्ट विचार नहीं किया। वह प्रेरक शक्ति है आध्यात्मिक इष्ट के प्रति उच्चकोटि का आत्मोत्सर्ग। यह आत्मोत्सर्ग ही प्रवृत्ति और निवृत्ति की दोनों दिशाओं में साधक को ले जाता है। सूर को यह एक ओर ले गया है, तुलसी को दूसरी ओर।

किन्तु शुक्लजी जिस अर्थ में प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं वह है 'स्पिनोज़ा' की निरन्तर गतिशील प्रवृत्ति। आप जगत् को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता बतलाते है और इस सत्ता को निरन्तर परिणामशील ठहराते हैं। गति ही शाश्वत है, किन्तु यह गति क्या किसी नियम से परिचालित है ? शुक्लजी का लक्ष्य गति या प्रवृत्ति का ही आग्रह करना है, यद्यपि उन्हें मालूम पड़ रहा है कि वे कितनी कच्ची ज़मीन पर हैं। तभी तो उन्होंने शाश्वत प्रगति के दो भाग कर दिए—प्रवृत्ति और निवृत्ति, और इन दोनों के बीच में एक वृत्ति और स्थापित की— रागात्मिका वृत्ति। यह सारा प्रयास शुक्लजी का अपना निजी है और यह द्विवेदी-युग की स्थूल नैतिकता को असलियत का जामा पहनाने के लिए है।

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि जहाँ एक-मात्र प्रगति ही, प्रवृत्ति ही तत्त्व है, वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए स्थान कहाँ ? और यह तीसरा तत्त्व रागात्मिका वृत्ति क्या है ? इसका स्वरूप क्या है, क्या यह कोई शाश्वत पदार्थ है ? यहाँ हमारा ध्यान नवीन वैज्ञानिक युग के बुद्धिवादी दर्शनों की ओर आकृष्ट होता है जो भौतिक प्रगति और मानवी व्यावहारिक शक्तियों के बीच दार्शनिक अनुक्रम स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु उनकी योजनाओं और शुक्लजी की योजनाओं में सबसे अधिक उल्लेखनीय अन्तर यह है कि वैज्ञानिक योजनाएँ अपने को व्यावहारिक सत्य कहकर घोषित करती हैं और वे समय के

साथ-साथ नये सांस्कृतिक पहलुओं को ग्रहण करती रहती हैं, जबकि शुक्लजी एक युग-विशेष के आदर्श को शाश्वत कहकर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। यदि ऐसा न होता तो प्रवृत्ति और निवृत्ति ऐसे दो शाश्वत नैतिक आदर्शों की स्थापना वे न करते और न उन स्थूल विभागों के बीच एक नित्य रागात्मिका वृत्ति को अधिकार कर लेने देते।

और यदि हम यह मानें कि प्रवृत्ति और निवृत्ति शाश्वत नहीं है और रागात्मिका वृत्ति भी सार्वजनीन नहीं है अर्थात् वे तीनों ही देश, काल और व्यक्ति के अनुसार विभिन्न रूप और तथ्य धारण कर सकती हैं, तब यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति की धारा किन नियमों के अधीन होकर चलती है और रागात्मिका वृत्ति का उनसे किन अवस्थाओं में कैसा संबंध होता है। दूसरा प्रश्न यह है कि रागात्मिका वृत्ति का परिष्कार और नियमन भी सामाजिक प्रगति के साथ-साथ होता है या नहीं, होना चाहिए या नहीं? जहाँ तक मैं देखता हूँ शुक्लजी ने इन प्रश्नों की बारीकी में घुसने की चेष्टा नहीं की है जिस से मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि शुक्लजी ने एक युग-विशेष की प्रवृत्ति और निवृत्ति को ही शाश्वत पैमाने पर देखा है और उनकी अन्तःकरण वृत्ति भी किसी विशिष्ट आधार पर स्थित नहीं। जिस ओजस्विता के साथ उन्होंने काव्य-विवेचन में अपनी विशिष्ट रुचियों का परिचय दिया है—प्रवृत्ति और निवृत्ति की स्थूल रेखाएँ क़ायम की है, उनसे इस धारणा की पुष्टि होती है।

मैं उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति की रेखाओं को स्थूल इसलिए कहता हूं कि न तो वे भारतीय आध्यात्मिक दर्शन के अनुसार प्रवृत्ति को भी उसके वास्तविक निवृत्ति-मूलक (त्याग या अनासक्ति–मूलक) स्वरूप में उपस्थित करते है और न आधुनिक पाश्चात्य भौतिक विज्ञानियों की भाँति प्रवृत्ति का कोई सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक या व्यावहारिक आधार ही स्थिर करते हैं। अत्याचारी के प्रति रोष से आविष्ट और पीड़ित के प्रति दया से द्रवित होकर लोक-धर्म की जो प्रेरणा कर्त्तव्य रूप में विकसित होती है क्या उसका कोई सुव्यवस्थित आधार शुक्लजी ने निरूपित किया है? उदाहरण के लिए क्या उन्होंने मार्क्स की भाँति सामाजिक अत्याचार की कोई रूप-रेखा निर्धारित की है, अथवा क्या उन्होंने यह बताया है कि सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगतियों में अत्याचार की पहचान किस प्रकार की जाय? रावण अत्याचारी था, किन्तु उसके अत्याचार किस प्रकार थे, और उसका आशय क्या था? वह साधुओं और ऋषि-मुनियों की तपस्या में विघ्न डाला करता था, क्या इतना कह देना ही उसे अत्याचारी सिद्ध कर देता है? ये ऋषि-मुनि किन तपस्याओं में प्रवृत्त होते थे, उन तपस्याओं के विरुद्ध रावण का लक्ष्य क्या था? क्या रावण अनार्य सभ्यता का प्रतीक है, अथवा वह भौतिक ऐश्वर्य और भोग-विलास का प्रतीक है? अथवा एक निरुद्देश्य आततायी-मात्र है? शुक्लजी रावण को अधर्म का प्रतीक व्यक्ति-मात्र मानते हैं जो स्थूल आचारवादियों का तरीक़ा है। इतना कहकर वे आगे की समस्याओं से छुट्टी पा जाते हैं। अधर्म है क्या वस्तु? वह क्रियाओं

द्वारा पहचाना जाता है या उद्देश्यों द्वारा ? क्या किसी देश अथवा काल विशेष की बहुजन-मान्य प्रथा ही धर्म है अथवा धर्म का कोई शाश्वत स्वरूप भी है ? इन तफ़सीलों में जाने की शुक्लजी ने आवश्यकता नही समझी । काव्यालोचना के लिए यह सब आवश्यक न भी हो किंतु शुक्लजी कोरे काव्यालोचक नहीं है । उन्होंने लोक-धर्मवादी दार्शनिक का महत्त्वपूर्ण पद भी अधिकृत किया है। अतः उनसे इन विषयों के विवेचन की आशा की जा सकती थी ।

इसी प्रकार शुक्लजी ने यह भी बताया कि अत्याचारी अत्याचार के लिए क्यों सन्नद्ध होता है। क्या यह उसका सहज गुण है या यह समाज की ही देन है ? और अत्याचार की प्रतिक्रिया में क्रोध का क्या स्थान है । क्या वह आवश्यक है ? यदि आवश्यक है, तो अत्याचार के प्रति या अत्याचारी व्यक्ति के प्रति अथवा उस समाज या सिद्धांत के प्रति, व्यक्ति में जिसकी अभिव्यक्ति हुई है ? इन व्यावहारिक प्रश्नों की भी उन्होंने छान-बीन नहीं की। इस कारण हम उन्हें लोक धर्म के आदर्श का पुजारी उसके महाकाव्योचित उदात्त स्वरूप का भक्त भले ही मान लें, लोक-धर्म का दार्शनिक विवेचक उन्हें बहुत ही स्थूल अर्थ में कहा जा सकता है ।

'रामचरित-मानस' आदर्श-प्रधान काव्य है और उसकी रामराज्य की कल्पना तो एकदम ही स्वर्गीय है। उसमें समाज के व्यावहारिक स्वरूपों ओर अवश्यम्भावी परिवर्त्तनों को कहीं भी स्थान नहीं। राम-राज्य का वर्णन और कलियुग का वर्णन एक साथ पढ़ने पर मध्यकालीन समाज-व्यवस्था के सद्‌गुणों और दुर्गुणों का औसत लगाया जा सकता है। उससे हमें भी पता लगता है कि धर्म और अधर्म के अन्तर्गत समाज में किस प्रकार की रीतियाँ प्रचलित हो रही थीं। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए गोस्वामी जी ने अच्छी सामग्री एकत्र कर दी है। किन्तु शुक्लजी ने राम-राज्य को राम-राज्य (सत्) और कलियुग को कलियुग (असत्) कहकर उन्हें विरोधी शिविरों में स्थान दे दिया है। कोई भी आधुनिक समाजशास्त्री अथवा इतिहास का अध्येता इतनी आसानी से इस सारी सामग्री को किनारे नहीं लगा सकता जिस आसानी से शुक्लजी ने उसे चलता कर दिया है। इन सब निदर्शनों से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ वह यह है कि शुक्लजी का विवेचन न तो प्राचीन दार्शनिक पद्धति का अनुसरण करता है और न वे उस प्रकार के सांस्कृतिक और समाज-शास्त्रीय अध्ययन में प्रवृत्त ही हुए है जो आज की आलोचना का आवश्यक अंग है।

यह तो हुई दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक अध्ययन की बात, जहाँ तक काव्य-विवेचन का प्रश्न है शुक्लजी ने सर्वथा असंग होकर काव्य को नहीं देखा, व्यक्तिगत आदर्शों और विचारों की छाया से उसे ढक रखा है। मुक्तक काव्य, गीत आदि के प्रति उनके विरोधी संस्कारों का आभास हम ऊपर दिखा चुके हैं। काव्य के आकार-प्रकार, उसमें निहित मानव-व्यापार के वाह्य स्वरूपों, वर्गीकरणों आदि से पृथक् करके केवल काव्योत्कर्ष की परख उन्होंने नहीं की। ऐसा उनका मन्तव्य है, यह भी प्रकट नहीं होता। इसीलिए उनका दार्शनिक अनुसंधान, उनका काव्य-विवेचन और उनका सारा विचारात्मक साहित्य

उनकी व्यक्तिगत रुचियों और प्रेरणाओं से ऊपर उठकर वैज्ञानिक श्रेणी में नहीं पहुँच सका।

फिर भी अपने युग के लिए शुक्लजी की साहित्यिक देन कितनी ज़बर्दस्त है—इसका अनुमान इतने से ही किया जा सकता है कि यद्यपि वे प्राचीन दार्शनिक मान्यताओं के विपरीत निर्देश करते आए हैं, किन्तु आज भी वे उस काल के काव्य के प्रामाणिक विवेचक माने जाते हैं और उनकी देख-रेख में प्राचीन अनुसंधान का कार्य भी होता रहता है। (मेरा मतलब यहाँ प्राचीन काव्य के अनुसंधान से है)। और यह भी उन्हीं के व्यक्तित्व का परिणाम है कि नवीन समुन्नत काव्य को अपना पैर जमाने के लिए (शुक्लजी के विरोध के बावजूद) लगातार पन्द्रह वर्षो तक अथक उद्योग करना पड़ा है। आज भी स्थिति यह है कि साहित्य और उसके आनुषंगिक विषयों पर अध्ययन के अधिक प्रशस्त रास्ते खुल जाने पर भी अब तक शुक्लजी ही साहित्य में अन्तिम वाक्य माने जाते हैं। यह सब मैं उनकी प्रशंसा में ही कह रहा हूँ। उनकी लिखी हुई पुस्तकें और उनके तैयार किये हुए विद्यार्थी (जिनमें मैं भी एक होने का गर्व करता हूँ।) उनका संदेश स्कूलों और कालेजों, पत्रों और पत्रिकाओं तथा व्यापक रूप से हिन्दी के क्षेत्र में सुनाया करते हैं। इनमें से बहुत-से उनकी प्रतिध्वनि-मात्र है, शुक्लजी के द्वारा हिन्दी का बड़ा हित-साधन हुआ है। गम्भीर विवेचन का उन्होंने ही सूत्रपात किया। कुछ लोग उनकी बातों को दोहराने में ही उनका सच्चा शिष्यत्व समझते हैं। किन्तु प्रतिध्वनि कभी मूलध्वनि की बराबरी नहीं कर सकती। उनका सच्चा शिष्यत्व तो है उनके किये हुए काम को आगे बढ़ाने में, जिस प्रकार स्वयं उन्होंने पिछले किये हुए काम को आगे बढ़ाया। नई काव्य-प्रगति को 'ब्लेंक-चैक' न देकर शुक्लजी ने उसके परिष्कार के कार्य में और उसके बल-संचय में प्रकारान्तर से सहायता ही पहुँचाई। कोई भी व्यक्ति, जिस पर साहित्य का कुछ उत्तरदायित्व है, प्रत्येक नवागत काव्य-धारा में बह जाना पसन्द नहीं कर सकता। शुक्लजी ने भी इस संबंध में पूर्ण संयम का परिचय दिया। अब आवश्यक यह है कि नई काव्य-शैलियों और नवीन प्रतिभा के अध्ययन और विवेचन के लिए साहित्य का द्वार खोल दिया जाय, युग-विशेष के बंधनों और साहित्यिक मान्यताओं को सार्वजनीन माप से बदल दिया जाय, नई सामाजिक प्रगति, नवीन समस्याओं और प्रश्नों के अनुरूप नये साहित्यिक सृजन और नवीन अध्ययन-शैलियों का स्वागत किया जाय। इसमें तो संदेह ही क्या है कि इस स्वतन्त्रता के साथ-साथ अनीप्सित उच्छृंखलता भी साहित्य में आयगी और बहुमुखी अध्ययन के साथ बहुत-सा वितण्डावाद भी फैलेगा, किन्तु इसके लिए हमें तैयार रहना होगा। कड़ा पहरा देना होगा, किन्तु द्वार हम नहीं बन्द कर सकते। द्वार बन्द करने का अर्थ तो होगा साहित्य को पुराने वातावरण में घुट-घुटकर मरने देना। ऐसा हम कदापि नहीं कर सकते। साहित्य हमारे जीवन का, हमारे प्राणों का, प्रतिनिधि है। उसे नवीन जीवन से, नये वायुमंडल से पृथक् नहीं रखा जा सकता। जो मुसीबतें आयें उन्हें झेलना होगा, किन्तु

जीवन की गति अवरुद्ध नहीं की जा सकती। भिक्षुक आयेंगे इस भय से भोजन बनाना नहीं बन्द किया जा सकता। जानवर चर जायेंगे इस भय से खेती करना नहीं छोड़ा जाता। ये पुरानी कहावतें हैं और हमारे साहित्य में भी लागू होती हैं।

साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कला-कृति की समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किन्तु जिसे शुक्लजी ने बार-बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्व-निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धांत को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। सभी सिद्धांत सीमित हैं, किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है। कोई बंधन नहीं है जिसके अन्तर्गत आप उसे बाँधने की चेष्टा करें। (सिर्फ़ सौन्दर्य ही उसकी सीमा या बंधन है, किन्तु उस सौंदर्य की परख किन्हीं सुनिश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती।) इसका यह मतलब नहीं कि काव्यालोचक अपनी आलोचना में कुछ निष्कर्षों तक नहीं पहुँच सकता, मतलब यह है कि आलोचक अपनी आलोचना के पहले किसी निष्कर्ष विशेष का प्रयोग नहीं कर सकता। उसका पहला और प्रमुख कार्य है कला का अध्ययन और उसका सौंदर्यानुसंधान। इस कार्य में उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि और उसकी सिद्धांत-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है, सिद्धांत तो उसमें बाधक ही बन सकते हैं। अवश्य प्रत्येक कला-वस्तु में सौंदर्य-सज्जा के अलग-अलग भेद होंगे, उनकी भिन्न-भिन्न कोटियाँ होंगी और संभव है उन कृतियों के भिन्न-भिन्न दार्शनिक आधार भी हों, किन्तु हमारा काम यह नहीं है कि अपनी अलग रुचि और अलग मत बनाकर हम काव्य-समीक्षा में प्रवृत्त हों, क्योंकि तब तो हम उसका सौंदर्य न देखकर अपने मन की छाया उसमें देखने लगेंगे। यह कला-आलोचना की बहुत बड़ी बाधा है। हमें यह कभी नहीं भूलना होगा कि किसी भी सिद्धांत के संबंध में कभी मतैक्य नहीं हो सकता, किन्तु (कला-कृति के) सौंदर्य के संबंध में कभी दो रायें नहीं हो सकतीं।

शुक्लजी का पहला ही सिद्धांत-जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य उस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति-कला में स्थूल रूप-चित्रण का पृष्ठपोषक बन गया है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि सारा-का-सारा सूफ़ी काव्य क्या है? रास आदि अनुपम लीलाओं का वैष्णव कवि-कृत चित्रण क्या है? संसार की सुप्रसिद्ध 'मेडोना' की मूर्त्ति, जिसके प्रतीक, जिसकी मुद्राएँ, जिसके रंग सभी अलौकिक तत्त्व का निर्देश करते हैं, क्या है? क्या वह अलौकिक तत्त्व उसमें अभिव्यक्ति का विषय नहीं बन सका? संसार का समुन्नत काव्य अलौकिक तत्त्व को व्यंजित करता है। (यही हमारे यहाँ के इस सिद्धांत का निरूपण है) किन्तु शुक्लजी जिस सिद्धांत-विशेष से आबद्ध हैं, उसमें इन मार्मिक अनुभूतियों के लिए संभवतः स्थान ही नहीं है, वहाँ स्थान है महाकाव्य के व्यक्त घटना-क्रम, स्थूल चरित्र-सृष्टि और आदर्श निरूपण के लिए। शुक्लजी ने इस प्रकार काव्य के वृहद् अंश और अत्यन्त उत्कृष्ट अंश को अपने सिद्धांत की वेदी पर बलि कर दिया है। मैं यह नहीं कहता कि अव्यक्तवाद ने सदैव उत्कृष्ट कला की ही सृष्टि की है (किसी भी 'वाद' की सब सृष्टियाँ

एक-सी नहीं होतीं), किन्तु कुछ सर्वोच्च कोटि की सृष्टियाँ अव्यक्त तत्व से अनुप्रेरित अवश्य हुई हैं। काव्य और कलाओं के प्रेमी इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित हैं।

और उनका दूसरा सिद्धांत---जीवन की विस्तृत व्यवहार-दशाओं में कला का पूर्ण प्रस्फुटन---यह केवल घटना परिस्थिति-बहुल महाकाव्य के ही अनुकूल है। किन्तु कथानक-काव्य में कितना रस कथा का है और कितना वास्तविक काव्य का, इसकी भी हमें टोह लगानी होगी। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कथा से अथवा कथा-सूत्र से ही भावों को उच्छ्-वसित करने की प्रथा कवि-जन पकड़ लेते हैं,किन्तु वास्तविक कवि-कर्म इतना ही नहीं है। मनोवेगों का जो उत्थान और काव्य-चरित्रों का जो निर्माण केवल कथा या घटना के सहारे होता है, वह उतना समृद्ध नहीं बन सकता जितना उससे तटस्थ होने पर। चरित्रों का मनो-वैज्ञानिक विकास किसी पूर्व-निश्चित कथा के आश्रय से नहीं कराया जा सकता। मन एक स्वतन्त्र वस्तु है, उसकी सूक्ष्म गतियों का निरूपण करना भी कवि का काम है। किन्तु इस काम को वह कथा को प्रधानता देकर नहीं कर सकता। शुक्लजी ने महाकाव्य के साथ एक और पंख लगा दिया है---नायक में शक्ति, शील और सौंदर्य की पराकाष्ठा। अवश्य यह परम्परागत महाकाव्य का लक्षण हो सकता है (नायक का धीरोदात्त होना); किन्तु कोई भी काव्य किसी नियम से बाँधा नहीं जा सकता। फ्रांसीसी और रूसी क्रांति की प्रेरणाओं से बहुत सी साहित्य-सृष्टियों के नायक कुरूप और दुःशील हैं, फिर भी उनके प्रति पाठक की परिपूर्ण सहानुभूति प्राप्त होती है। और शक्ति के संबंध में यह कहना अधिक असंगत न होगा कि केवल सुखांत काव्यों के नायक शक्ति के पूर्ण स्रोत हुआ करते हैं। शेक्सपियर के दुःखांत महानाटकों की अबला नायिकाएं अपनी निःशक्तता, अपनी विवशता में ही शक्ति का उत्फुल्ल विकास दिखा देती हैं। उन्हें देखने के बाद कौन कह सकता है कि शक्ति, शील और सौंदर्य की पराकाष्ठा कला का कोई अनिवार्य अंग है। अवश्य रामचरितमानस के नायक में ये तीनों अवयव उपस्थित हैं, किन्तु इसी कारण हम सर्वत्र इन्हीं का अन्वेषण करें यह भ्रांति काव्यालोचना से दूर हो जानी चाहिए।

शुक्लजी का एक तीसरा सिद्धांत, जो इसी से सम्बद्ध है, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सिद्धांत है। उसकी दार्शनिक परीक्षा का प्रयास ऊपर किया जा चुका है। काव्य में इस प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्वरूप हमें रामचरितमानस के आदर्शों को लेकर देखने को मिलता है। राम का चरित्र जहाँ तक है वहाँ तक हमारी प्रवृत्ति है, रावण का चरित्र जहाँ तक है वहां तक निवृत्ति है। उसे हम छोड़ना चाहते हैं। जो वृत्ति हमें राम की ओर लगाती और रावण से अलग करती है वही रागात्मिका वृत्ति है। जहाँ ऐसे दो विरोधी चरित्रों का प्रश्न हो वहाँ तो इससे काम चल जाता है। किन्तु काव्य में ऐसे भेद सर्वत्र देखने को नहीं मिलते। ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब हम यह निर्णय भी नहीं कर पाते कि दो पात्रों में कौन हमारी सहानुभूति का अधिक अधिकारी है और रचयिता के लिए तो सभी पात्र एक-से महत्त्वपूर्ण हैं। सभी में उसका कौशल व्यक्त हुआ है। ऐसी अवस्था में प्रवृत्ति और

निवृत्ति का रूढ़िबद्ध विभाजन अशेष मानव-जीवन का सीमा-निर्धारण करना ही होगा; जिसका समर्थन आज की साहित्य-मीमांसा किसी प्रकार नहीं कर सकती।

काव्य में प्रकृति के चित्रण-संबंधी शुक्लजी की धारणा और ग्रियर्सन-अनुयायी उसके मानवादर्शवाद के प्रति दो शब्द कहकर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। मानव-जीवन के पुराने सहचर वृक्ष, लता, पगडंडी, पटपर, लम्बे मैदान, लहराती जल-राशि, वर्षा की झड़ी, कोई पालतू या जंगली पशु हमारी सोई हुई चेतना को जगाने में बहुत समर्थ हैं। अपेक्षाकृत नई चीज़ें जैसे आज की इमारतें, पार्क, मिल आदि इस कार्य में उतने ही सबल सिद्ध नहीं हो सकते। शुक्लजी का यह कथन एक स्वतन्त्र रचनाकार की हैसियत से समुचित हो सकता है, किन्तु कला की आलोचना में ऐसा कोई सिद्धांत लागू नहीं होता। किस रचनाकार ने किन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी रचना की है, वह कितनी गहरी सहानुभूति उत्पन्न करती है इसकी तो वह कृति ही प्रमाण है। इसके संबंध में न तो हम कोई सीमा पहले से बाँध सकते हैं और न कोई नियम ही बना सकते हैं। अवश्य शुक्लजी की रुचि के अनुकूल प्रकृतिवादियों की एक परम्परा साहित्य में पाई जाती है, किन्तु उसमें भी सभी कलाकार एक श्रेणी के नहीं हुए। प्राकृतिक चित्रणों में शुक्लजी वाल्मीकि को अपना आदर्श मानते हैं। अवश्य ही वाल्मीकि की प्राकृतिक वर्णना हृदयहारिणी है। अवश्य ही यह काव्य की एक उत्तम विभूति है। किन्तु आज का साहित्य-स्रष्टा जिन परिस्थितियों से होकर गुज़र रहा है, उससे यह आशा हमें नहीं दिखाई देती कि वह निकट भविष्य में वन्य प्रकृति की रमणीयता की ओर उसी सहज गति से आकर्षित होगा जिससे बाल्मीकि हुए हैं। आज की हमारी समस्याएँ और आज का हमारा जीवन हमें उस ओर जाने का अवकाश ही नहीं देता।

ग्रियर्सन साहब ने 'रामचरितमानस' की समीक्षा करते हुए यह कहा है कि मानस में राम—जैसे उदात्त पात्र की अपेक्षा लक्ष्मण और कैकेयी—जैसे मानवीय पात्रों का चित्रण आकर्षक हुआ है। शुक्लजी ने भी इस विषय में ग्रियर्सन का साथ दिया है। अवश्य, एक दृष्टि से इसे हम ठीक भी मान सकते हैं, किन्तु तब हमें रामचरितमानस के महाकाव्योचित गौरव की ओर से आँखें हटा लेनी पड़ेंगी और मानवीय चरित्र-चित्रण की दृष्टि से काव्य को देखना पड़ेगा। किन्तु क्या रामचरितमानस का प्रमुख तात्पर्य मानवीय चरित्र का प्रदर्शन करना है? इसे तो कोई भी मानस-समीक्षक स्वीकार न करेगा। गोस्वामी जी ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में, स्थान-स्थान पर स्वयं ही अपने काव्य का उद्देश्य राम के अलौकिक चरित्र का निर्माण और उनके गुणों का गान करना बताया है। तो क्या हम उनके इस उद्देश्य की उपेक्षा कर सकते हैं अथवा यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए। मेरे विचार से ऐसा कहना बहुत बड़ी धृष्टता होगी। वैसी अवस्था ग्रियर्सन की मानवादर्शवादिता को छोड़कर रामचरितमानस काव्य की मुख्य कला—अलौकिक रामचरित्र के निर्माण के प्रति आस्था नहीं खोनी होगी और उन समस्त कलात्मक सूत्रों को एकत्र करना होगा जिनसे तुलसी के मानस में अंकित राम का चरित्र

अलौकिक पद पर पहुँच सका है––चरित्र की दृष्टि से भी और कला की दृष्टि से भी परिपूर्ण और सर्वोत्तम बन पाया है।

इसके लिए हमें ग्रियर्सन की मानवादर्शवादिता के बदले गोस्वामीजी और वैष्णव काव्य की आध्यात्मिकता को अपनाना होगा जो शुक्लजी ने नहीं किया। अन्त में हम फिर कहेंगे कि शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाज-शास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तून्मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति-विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य-विवेचन भी प्रबध-कथानक और जीवन-सौदर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वागीण और तटस्थ नही कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्य धारा का आकलन हम शुक्लजी में नहीं मानते। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि शुक्लजी जिस युग के प्रतिनिधि है, उसे हम पार कर चुके है। उस युग के सारे संस्कार, शैशवकालीन आदर्शवादिता, व्यक्त रूपों का सौंदर्य, आचारों का दो हिस्सों में विभाजन आदि––हमें शुक्लजी में मिलते है। वे हमारी साहित्य-समीक्षा के बालारुण है। किन्तु दिन अब चढ़ चुका है और नये प्रकाश तथा नई ऊष्मा का अनुभव हिंदी-साहित्य समीक्षा कर रही है।

: ८ :

शुक्लजी का रस-सिद्धांत

[शिवनाथ]

रस-मीमांसा

भारतीय समीक्षकों ने काव्य वा साहित्य का चरम लक्ष्य रसानुभूति माना है और उस पर अनेक दृष्टियों से विचार किया है। अभारतीय समीक्षक भी प्रस्थानभेद से अन्ततः इसी लक्ष्य तक पहुँच रहे हैं। आचार्य शुक्ल ने भी रस पर अपने ढंग से विचार करके उसके विषय में कुछ मौलिक वा उपज्ञात (औरिजिनल) सिद्धांत-स्थापना की है। इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का यह अधिकारपूर्ण कार्य हिंदी को भारतीय साहित्य की चिन्तन-परम्परा से जोड़ता है। रस-मीमांसा के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की मौलिकता से तात्पर्य रसानुभूति के विषय में उनके विचार, उसके आलम्बन वा सीमा के विस्तार-प्रसार तथा तत्संबंधी अन्य बातों से है। रसानुभूति में सहायक उसके (रस के) अवयवों---आश्रय, आलम्बन, अनुभाव, उद्दीपन, आदि---को उन्होंने भी माना है। अभिप्राय यह कि रस के विषय में आचार्य शुक्ल का आधार तो प्राचीन ही है, पर उसकी प्रक्रिया, प्रसार आदि पर उनके विचार कुछ नवीन हैं।

काव्य और दर्शन

आचार्य शुक्ल उन समीक्षाकारों में से हैं जो साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं और उसे दर्शन, विज्ञान आदि बुद्धि से संबद्ध विषयों के या तो समकक्ष प्रतिष्ठित करते हैं या उनसे बढ़कर घोषित करते हैं। साहित्य वा काव्य का संबंध प्रधानतः हृदय से है और दर्शन का बुद्धि से। एक भाव-क्षेत्र की वस्तु है, जिसका आधार है हृदय; और दूसरी ज्ञान-क्षेत्र की, जिसका आधार है बुद्धि। काव्य और दर्शन के चरम लक्ष्य की एकता के कारण वे इन्हें एक ही श्रेणी में रखते हैं। वे कविता को एक साधना मानते हैं, जो हृदय को मुक्तावस्था तक पहुँचाती है और इस साधना को 'भाव योग' कहते हैं तथा इसे ज्ञान योग और कर्मयोग के समकक्ष रखते हैं, क्योंकि अन्तिम दोनों योगों का लक्ष्य भी कविता की भाँति अन्ततः मुक्ति ही निरूपित किया जाता है---(देखिए 'चिन्तामणि' पृष्ठ १९३) उनकी धारणा है कि जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता समझी जाती है उसी प्रकार काव्य की चरम सीमा भी आश्रय और आलम्बन की एकता ही है। अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान-क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है वही भाव-क्षेत्र में आश्रय और आलम्बन, दोनों अपनी अपनी परिमिति में रहकर अन्ततः एक ही लक्ष्य तक पहुँचते हैं, अतः लक्ष्य की दृष्टि से काव्य और दर्शन एक ही है।--- (देखिए गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ९८)

इस प्रकार काव्य वा साहित्य तथा दर्शन की एकता का प्रतिपादन करके आचार्य शुक्ल ने साहित्य का पक्ष स्पष्ट कर दिया है। कहना न होगा कि उन्होंने इनकी एकता की स्थापना उन दार्शनिकों वा ज्ञानियों की इस व्यवस्था के कारण ही की है जो काव्य को दर्शन वा ज्ञान-क्षेत्र के लक्ष्य में बाधक समझते हैं। काव्य पढ़ने का निषेध कई दार्शनिकों, ज्ञानियों वा धर्माचार्यों ने किया है, इसे सभी जानते हैं। वे इसे केवल विलास की वस्तु समझते हैं। पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, दोनों का लक्ष्य सात्विक है। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य यही है कि आचार्य शुक्ल लक्ष्य की दृष्टि से दर्शन और काव्य को एक मानते हैं। दर्शन पर तो हमें विचार करना नहीं है, विचार करना है केवल काव्य पर, जिसका चरम लक्ष्य है रसानुभव, जो आश्रय और आलम्बन की एकता का मुख्य विषय है।

रस का काव्य-क्षेत्र

भारत के प्राचीन साहित्याचार्यों ने काव्य -- विशेपतः दृश्य काव्य--को लेकर ही रस-मीमांसा की है। इसका एक कारण तो यह है कि वे काव्य के अन्तर्गत ही प्रायः साहित्य-मात्र का ग्रहण कर लेते थे। दूसरा कारण यह है कि वर्त्तमान गद्य-युग के पूर्व भारत में काव्य का ही निर्माण प्रधानतः होता रहा; अतः आचार्यों के सम्मुख लक्ष्य-रूप में काव्य ही था। रस-निरूपण करते हुए आचार्य शुक्ल ने भी काव्य को ही लक्ष्य में रखा है। वस्तुतः बात यह है कि काव्य की संक्षिप्त परिमिति में रसावयवों की योजना, उसकी परिपक्वता के स्पष्ट निर्देश तथा प्रभावात्मकता के कारण उसे ही इस कार्य की सिद्धि के लिए दृष्टि-पथ में रखा जाता है। अभिप्राय यह है कि रस का संबंध काव्य से ही माना जाता रहा है और इस विषय में साहित्यकारों की धारणा अब भी ऐसी ही है। काव्य ही वह भूमि है जहाँ पहुँचने पर रसानुभूति होती है। प्रश्न उठता है, उस काव्य-भूमि का स्वरूप क्या है, जो रसानुभूति का आधार है। काव्य के विषय में आचार्य शुक्ल की सदैव यही धारणा रही है कि वह ऐसी साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मानव के रागात्मक संबंध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। शेष सृष्टि से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य कवि--(जो काव्य-रचना-काल में उसका--शेष सृष्टि का--द्रष्टा-मात्र रहता है) के अतिरिक्त मानव तथा मानवेतर अन्य प्राणियों और पदार्थो से युक्त अनेक रूप एवं व्यापारमय जगत् से है, इन्हीं के साथ कर्त्ता या श्रोता के रागात्मक संबंध की रक्षा तथा उसके निर्वाह की स्थापना होती है। आचार्य शुक्ल कृत काव्य की परिभाषा के अन्तर्गत आए 'शेष सृष्टि' पद के भीतर मानव का ग्रहण कर लेना आवश्यक है। इस अनेक रूप-व्यापारमय 'शेष सृष्टि' के साथ रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह करने वाला मानव का हृदय भी अनेक कोमल और परुष भावों का आश्रय है। यदि सृष्टि में अनेकरूप व्यापार हैं तो हृदय में भी अनेक भाव, जो उससे संबंध-स्थापन के मूल कारण है। सृष्टि के अनेक रूप-व्यापारों के साथ मानव-हृदय के अनेक भावों के तादात्म्य वा संबंध का रहस्य क्या है? इस विषय में आचार्य शुक्ल का कथन है कि मानव आदिम युगों से अनेक रूप-व्यापारमय जगत् के संपर्क

में रहता चला आ रहा है, अतः उनके साथ उसके हृदय में तादात्म्य की भावना वासना के रूप में उसकी (मानव की) वंश-परम्परा से ही स्थित है। यही कारण है कि जब आदिम युगों से परिचित सृष्टि के रूप-व्यापार काव्य में आलंबन के रूप में चित्रित होते हैं तब अनेक भावों का आश्रय उसका हृदय उनके साथ वंश-परम्परागत साहचर्य भावना वा रागात्मक संबंध के जगने के कारण तादात्म्य का अनुभव करता है, उनमें रमता है, ऐसी स्थिति में कुछ क्षण तक वह अपनी सत्ता भूल जाता है, अनुभूति वा भाव-मात्र का ही अनुभव वा ज्ञान (परसेप्शन) उसे रह जाता है और किसी वस्तु-व्यापार का ज्ञान नहीं। इस विवेचना का अभिप्राय यह कि रसानुभूति का संबंध काव्य से है और इनकी सिद्धि के लिए उसमें मानव के सुपरिचित आलम्बन ही आने चाहिए, अन्यथा रस की परिपक्वता में पूर्णता का सन्निवेश न हो पायगा। आलम्बन जितने ही परिचित होंगे रस का अनुभव उतना ही पूर्ण होगा।

रस-प्रतीति और कवि-कर्म

रसानुभूति के लिए सामान्य (जनरल) उपादान--आश्रय और आलंबन-- क्या है, इनका परिचय उपर्युक्त विवेचन से प्राप्त हो गया होगा। कवि वा साहित्यकार इन्हीं की सहायता से रसानुभव करता है। अब देखना यह है कि कवि अपनी कला द्वारा इन अवयवों वा उपादानों को किस रूप में उपस्थित करता है, जिससे रसानुभूति होती है, अर्थात् रसात्मक प्रतीति और कवि-कर्म का क्या संबंध है, अब इसे विस्तार से देखना चाहिए।

कल्पना

काव्य-कला तथा कल्पना के घनिष्ठ संबंध का प्रतिपादन साहित्य-मीमांसक बहुत दिनों से करते चले आ रहे हैं। इनका सबंध उतनी ही दूर तक समझना चाहिए जहाँ तक कल्पना काव्य के साधन के रूप में ग्राह्य हो। काव्य-कला तथा कल्पना के घनिष्ठ संबंध से हमारा तात्पर्य कल्पनावादियों द्वारा प्रतिपादित मत से नही है, जो इसको ही लेकर एक अतिवाद (एक्स्ट्रीमिज़्म) की स्थापना करना चाहते हैं। यह हमें विदित है कि आचार्य शुक्ल भी कल्पना को काव्य के प्रमुख साधन के रूप में ही स्वीकार करते है। रसात्मक प्रतीति की भूमि कविता ही है, अतः इसके लिए भी कल्पना की अपेक्षा होती है, ऐसी कल्पना की जो भाव-प्रेरित और मार्मिक रूप-विधायिनी होती है, कोरी-ही-कोरी और निराली दुनिया खड़ी करने वाली नही। रसात्मक प्रतीति में और अन्यत्र भी कल्पना का जो स्वरूप आचार्य शुक्ल स्थिर करते हैं वह यही है। यही इसका भी निर्देश कर देना आवश्यक है कि रसानुभूति की सृष्टि करने के लिये काव्यकार कवि में और उसका ग्रहण वा आस्वादन करने के लिए पाठक व श्रोता में कल्पना की स्थिति वांछनीय है। पूर्ण वा सच्ची रसानुभूति के लिए कवि की विधायिनी कल्पना की समानधर्मिणी श्रोता वा पाठक की ग्राहिका कल्पना की भी आवश्यकता है। आचार्य शुक्ल की भी ऐसी ही धारणा है।

आश्रय तथा आलंबन ; अनुभाव तथा उद्दीपन[1]

मुनिवर भरत ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति की मान्यता स्वीकार की है। यहाँ इससे हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि रसानुभूति की सृष्टि में ये तीन अवयव जुडते हैं, जिनमें प्रथम दो प्रधान हैं। विभाव के अन्तर्गत आश्रय तथा आलम्बन और उनकी चेष्टाएँ अर्थात् उद्दीपन तथा आश्रय और अनुभाव के अन्तर्गत भाव के आश्रय की चेष्टाएँ आती हैं। अभिप्राय यह है कि रस-निष्पत्ति वा रसानुभूति के लिए कवि को आलंबन और उद्दीपन तथा आश्रय और अनुभाव का विधान करना पड़ता है। विभाव अर्थात् आश्रय और आलम्बन के अन्तर्गत 'शेष-सृष्टि' के अनेक रूप और व्यापार आते हैं। आश्रय की चेष्टाएँ, अनुभाव की व्यंजना वा उनका प्रकटीकरण दो रूपों में दिखाई पड़ता है, एक तो आश्रय में भावोत्पत्ति के फलस्वरूप उसकी चेष्टाओं के रूप में, जिसका क्षेत्र अति परिमित है, और दूसरे उसमें भावोत्पत्ति के फलस्वरूप वाचिक रूप में, जिसकी सीमा—वाणी की अनन्तता के कारण—अति विस्तृत है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि विभाव के इन सभी रूपों व अवयवों के विधान के लिए कवि में कल्पना की आवश्यकता होती है (देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ ३६०-३६९), क्योंकि काव्य-रचना-काल में विभाव कवि की आँखों के सम्मुख उपस्थित नहीं रहता, वह इनका विधान अन्तः साक्षात्कार की सहायता से,जिन्हें पहले देख और सुन चुका रहता है,कल्पना द्वारा ही करता है। रूप-व्यापार-विधान में भी उसे कल्पना का साहाय्य ग्रहण करना पड़ता है और वाणी-विधान में भी। आचार्य शुक्ल की धारणा है कि इस विधान में कल्पना की प्रधानता के कारण ही भारतीय प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति का प्रतिपादन किया है: "रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष बोध और उससे संबद्ध वास्तविक भावानुभूति की बात अलग ही रखी गई।" —(देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ ३३३)। आचार्य शुक्ल प्रत्यक्ष रूप-विधान और स्मृतरूप-विधान में भी रसानुभूति मानते हैं जिन पर यथास्थान विचार किया जायगा।

रस-बोध में भाव तथा ज्ञान का समन्वित कार्य

रसानुभूति और कल्पना के रहस्य के साथ ही एक बात और अवलोकनीय है। वह यह कि रसात्मक बोध की प्रक्रिया में भाव तथा ज्ञान दोनों के समन्वित कार्य की अपेक्षा होती है, केवल कल्पना की ही आवश्यकता नहीं पड़ती। बात यह है कि रसबोध के लिए प्रधान आवश्यक अवयव आलम्बन की योजना है, जिसको पहले ज्ञानेन्द्रियाँ ही उपस्थित करती है और तत्पश्चात इनके द्वारा उपस्थित आलम्बन-सामग्री को लेकर कल्पना वा भावना इनका रसात्मक विधान करती है। इस प्रकार आलम्बन के मार्मिक विधान में ज्ञान और भाव—बुद्धि और हृदय—दोनों का योग रहता है। आचार्य शुक्ल का मत है—'भावों के लिए आलम्बन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उप-

१ विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः

स्थित करती है, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ७७, और देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ २१३)। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि हमारे सभी कार्यों का प्रथम प्रयास ज्ञानात्मक ही होता है। जब हम किसी कार्य में—चाहे वह ज्ञानात्मक हो चाहे भावात्मक—बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होते है तभी उसमें सफलता प्राप्त होती है। अतः रसात्मक आलम्बन के विधान में प्रथमतः ज्ञानेन्द्रियाँ ही प्रवृत्त होती हैं। और तब हृदय का व्यापार आरम्भ होता है। रसानुभूति में ज्ञान की भी आवश्यकता के कारण ही इस क्षेत्र में दार्शनिकों ने भी अपनी धारणाओं के अनुसार कार्य किया है; और इसे वे पूर्णता की ओर ले गए है।

रसानुभूति में आलंबन-विधान का रूप

इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि रसानुभूति में विभाव-पक्ष की ही प्रधानता है और इसको प्रस्तुत करने के लिए ज्ञान और कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। आलम्बन के विषय की चर्चा भी हम कर चुके है। अब देखना है कि रसानुभूति के लिए कवि आलम्बन का विधान किसमें करे, वह कैसा आलम्बन खड़ा करे कि रसानुभूति हो। आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धांतों की विवेचना करते हुए हम देख चुके हैं कि वे काव्य का लक्ष्य बिंब-ग्रहण कराना मानते है, अर्थ-ग्रहण कराना-मात्र नहीं। और बिंब वा मूर्त्ति जब होगी तब विशेष व्यक्ति वा वस्तु की ही होगी, सामान्य वा जाति-मात्र की नहीं। बात यह है कि कवि को प्रभावात्मकता व मार्मिकता, जो रसानुभूति के स्तर तक पहुँचाने वाला तत्त्व है, उत्पन्न करने के लिए काव्य में चुने हुए रूप-व्यापार की योजना करनी पड़ती हैं। चुनाव करते समय उसके सम्मुख जाति वा सामान्य रहता तो है, पर वह उसमें से व्यक्ति वा विशेष का ही ग्रहण करता है। इसे यों कहें कि उसके काव्य के रूप-व्यापार व्यक्ति वा विशेष के रूप में आकर जाति वा सामान्य का प्रतिनिधित्व करते है। जाति-मात्र के चित्रण के लिए न उसके पास समय और स्थान ही रहता है और न इसकी आवश्यकता ही पड़ती है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि जाति वा सामान्य के सिद्धांत आदि की स्थापना तो तर्क और विधान का काम है, काव्य का नहीं। रसानुभूति के लिए आलम्बन प्रस्तुत करने में भी कवि काव्य की बिंब-ग्रहण प्रणाली से ही काम लेता है, वह आलम्बन-रूप में विशेष का ही चित्र उपस्थित करता है।

आलंबन का आरोप और उसका महत्त्व

आचार्य शुक्ल की दृष्टि से व्यक्ति-रूप में आलम्बन की प्रतिष्ठा के विषय में दो बातें और कहनी है। कुछ काव्य ऐसे होते हैं, जिनमें केवल भावों का ही प्रदर्शन या चित्रण होता है। आचार्य शुक्ल इन्हें 'भाव-प्रदर्शक' काव्य कहते हैं। आधुनिक युग के प्रगीत मुक्तक (लीरिक्स) इस प्रकार के काव्य के अच्छे उदाहरण हैं, जिनमें प्रायः भाव की

ही व्यंजना की जाती है, विभाव का चित्रण बहुत ही कम रहता है। ऐसे काव्य का अध्ययन करते समय, आचार्य शुक्ल कहते हैं, श्रोता वा पाठक अपनी ओर से आलम्बन का आरोप कर लेता है। कहना न होगा कि श्रोता वा पाठक द्वारा आलंम्बन का आरोप अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल व्यक्ति-रूप में ही होगा। कभी-कभी यह होता है कि "पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्त्ति विशेष आ जाती है।........कहने की आवश्यकता नहीं कि वह कल्पित मूर्त्ति भी विशेष ही होगी---व्यक्ति की ही होगी।" (चिन्तामणि पृष्ठ ३१२) इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य शुक्ल का काव्य को लेकर बिंब-ग्रहण वाला सिद्धांत रस-निरूपण में भी पूर्णतः घटित होता है। इस विवेचन से एक और बात लक्षित होती है, वह यह कि रस के अवयवों की नियोजना में आलम्बन का बड़ा महत्त्व है। आचार्य शुक्ल की भी इस विषय में यही धारणा है, वे केवल इसी के चित्रण द्वारा भी रसानुभूति मानने को तैयार हैं। उनका कहना है---"मै आलम्बन मात्र के विशुद्ध वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में संपूर्ण समर्थ मानता हूँ।" (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)।

रस-प्रक्रिया; भट्ट लोल्लट का मत

रस के सभी प्रधान अवयवों पर विचार करने के पश्चात् अब विचार इस पर करना है कि इनके द्वारा रसानुभूति का रहस्य क्या है। रसानुभूति के साधक के रूप में ये क्यों और कैसे उपस्थित होते हैं, अर्थात् रस की प्रक्रिया क्या है। रस-निष्पत्ति वा अनुभूति की प्रक्रिया के विषय में मुनिवर भरत ने केवल इतना ही कहा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से इसकी सृष्टि होती है। इतने से ही विषय का परिपूर्ण उद्घाटन न होने के कारण उनके पश्चात् कई आचार्यो ने, जिनकी संख्या ग्यारह है, अपनी-अपनी धारणाओं के अनुकूल इस पर विचार किया। इन ग्यारह आचार्यों में से चार--भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्तपादाचार्य---के मत विचारणीय है। भट्ट लोल्लट की दृष्टि से रस की स्थिति अनुकार्य वा पात्र में होती है, जिसके रूप-रंग, वेशभूषा, कार्यकलाप की वर्णिका (रोल) में अभिनेता रंगमंच पर उपस्थित होता है। दर्शक अनुकार्य का अनु करण कर्त्ता अभिनेता में उसके (अनुकार्य के) रूप-व्यापार की नियोजना देखकर उसे (अभिनेता को) ही अनुकार्य के रूप में ग्रहण करता है। इस पर अनुकार्य के भावों की 'उत्पत्ति' अभिनेता में हो जाती है। दर्शक इस अवस्था में चमत्कृत हो जाता है, यद्यपि रस की स्थिति अनुकार्य में होती है, जो अभिनेता के रूप में उपस्थित रहता है। भट्ट लोल्लट का यह मत 'उत्पत्तिवाद' के नाम से प्रचलित है। इस मत का यह पक्ष कि श्रोता, दर्शक वा पाठक में रस की स्थिति नहीं है, ठीक नहीं। भारतीय तथा अभारतीय सभी शिष्ट साहित्य-मीमांसकों की यह मान्यता है कि रसानुभव दर्शक को होता है। पर उत्पत्तिवाद द्वारा यह अवश्य अवगत होता है कि दर्शक को हृदय है और वह---चमत्कार रूप में ही सही---आलम्बन-रूप अभिनेता द्वारा कुछ-न-कुछ प्रभावित अवश्य होता है। 'रस की

स्थिति अनुकार्य में होती है, अभिनेता जिसका प्रतिनिधि है'—इसका अर्थ यदि यह लिया जाय कि अभिनय के समय अनुकार्य के रूप, गुण-शील, क्रिया-कलाप आदि की अवतारणा (उत्पत्ति) अभिनेता की पटुतावश उसमें (अभिनेता में) स्वतः हो जाती है, और वह अनुकार्य के रूप में—(दृश्य) काव्य में वर्णित आलम्बन के रूप में—उपस्थित होता है, जिसे देख दर्शक चमत्कृत होकर अपने हृदय का रंजन करता है, और 'रंजन' से 'रमना' का अर्थ गृहीत हो, तो इस मत में विशेष आपत्ति की संभावना नहीं प्रतीत होती। इस स्थिति में 'रस की स्थिति अनुकार्य में है,' का तात्पर्य यह होगा कि वह रस का कारण है।

आचार्य शुक्ल का मत

आचार्य शंकुक ने भी रस-निष्पत्ति के विषय में अपना मत स्थापित किया और वह 'अनुमितिवाद' कहलाया। उन्होंने भी यह प्रतिपादित किया कि रस की स्थिति अनुकार्य में ही होती है, पर अभिनेता द्वारा उसके अनुकरण से रस की 'उत्पत्ति' नट में नहीं होती प्रत्युत अनुमान से दर्शक उसे (अभिनेता को) ही नायक वा अनुकार्य मानकर चमत्कृत हो आनन्दित होता है। भट्ट लोल्लट और शंकुक के मत में अन्तर यही प्रतीत होता है कि एक रस की उत्पत्ति अभिनेता में मानते हैं और दूसरे 'अनुमिति' से अभिनेता को नायक के रूप में ग्रहण करते हैं। दोनों ही रस की स्थिति अनुकार्य में प्रतिपादित करते हैं। दर्शक में रस की स्थिति दोनों ही नहीं स्वीकार करते। दर्शक के पक्ष में दोनों की धारणाएँ समान हैं। अनुमितिवाद के विषय में विचार करने पर विदित होगा कि इसमें दर्शक का पक्ष कुछ अधिक आया, उसमें अनुमान करने की शक्ति मानी गई और तत्पश्चात् चमत्कृत और आनंदित होने की। पर बाधा यह उपस्थित होती है कि रस की स्थिति उनमें नहीं मानी गई, क्योंकि कुशल दर्शक अनुमान से भी रस-कोटि के कुछ निकट पहुँच सकता है। इस वाद के अनुकार्य-पक्ष पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उत्पत्तिवाद की भाँति रस का मूल वही (अनुकार्य ही) है। अन्तर केवल इतना ही है कि नट की कला द्वारा अनुकार्य के भाव आदि की अवतारणा (उत्पत्ति) उसमें (नट में) होती है और इस वाद में उसके (कला के) प्रदर्शन पर अनुकार्य का उसमें (नट में) अनुमान। उत्पत्ति की प्रक्रिया लघु और अनुमति की विस्तृत प्रतीत होती है। पर सूक्ष्मतः दोनों का लक्ष्य प्रस्थान-भेद होते हुए भी एक ही निर्धारित किया जा सकता है। दोनों का लक्ष्य आलम्बन-रूप अनुकार्य को अनुकर्त्ता में स्थापित करके दर्शक में चमत्कार द्वारा आनन्द की अनुभूति का प्रतिपादन करना है।

भट्ट नायक, अभिनव गुप्तपादाचार्य तथा आचार्य शुक्ल का मत

रसवाद के यथार्थ स्वरूप की स्थापना इनके पश्चात् के दोनों आचार्यों— भट्ट नायक और अभिनव गुप्तपादाचार्य—ने की। इन्होंने यह स्थापित किया कि रस की स्थिति अनुकार्य में नहीं, दर्शक, श्रोता वा पाठक में होती है, जो बुद्धिसंगत तथ्य है। यह तो स्पष्ट है कि सभी रस-मीमांसकों के सम्मुख लक्ष्य-रूप में दृश्य काव्य था। भट्ट नायक ने रस-निष्पत्ति वा रसानुभूति की प्रक्रिया की पूर्णता के लिए तीन वृत्तियाँ वा शक्तियाँ मानीं,

जिनके नाम है---अभिधा, भोजक और भोग। अभिनव गुप्तपादाचार्य ने भट्ट नायक की अन्तिम दो वृत्तियों की कल्पना का विरोध यह कहकर किया कि इनको मानने की आवश्यकता क्या है, जब इनका काम पहले से ही मानी हुई व्यंजना नामी वृत्ति से चल जाता है। अभिधा वृत्ति द्वारा काव्य के अर्थ का ज्ञान श्रोता, पाठक वा दर्शक को हो जाता है। इस वृत्ति की सहायता से आगे बढ़ने पर काव्य में ऐसी वृत्ति की स्थापना होती है जिसके द्वारा वह श्रोता, पाठक व दर्शक के भोगने वा ग्रहण करने योग्य हो जाता है, इसे उन्होंने 'भोजक-वृत्ति' नाम दिया। कहने की आवश्यकता नही कि इन दोनों वृत्तियों का संबंध काव्यगत कवि-कर्म से है, जिसके अन्तर्गत उसके हृदय तथा कला-पक्ष दोनों की संस्थिति समझनी चाहिए, और जिनका लक्ष्य काव्य की पूर्णता होता है। यहीं इसका भी निर्देश कर दें कि रस-सिद्धांत के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का कुछ-कुछ वैसा ही पक्ष है, जैसा कि आचार्य भट्ट नायक का। अतः यद्यपि आचार्य शुक्ल ने उपर्युक्त वृत्तियों की स्थापना नहीं की है, तथापि कवि-कर्म के विषय में उनके जो मत है, (जिनका निर्देश उनके काव्य-सिद्धांत की विवेचना करते हुए भी किया जाता है, और रस-सिद्धांत की प्रक्रिया की विवेचना करते हुए भी) वे भट्ट नायक की 'भोजक वृत्ति' के अन्तर्गत रखे जा सकते है, क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है। वस्तुतः भट्ट नायक द्वारा मान्य 'भोजक वृत्ति' का साधन सफल कवि कर्म ही है।

भट्ट नायक की 'भोग-वृत्ति' का संबंध श्रोता, पाठक वा दर्शक से है, यह काव्य के सुनने, पढ़ने या देखने पर उसके हृदय में जगती है, और वह काव्य के भोग करने योग्य बन जाता है। भोग वृत्ति को मानने के कारण भट्ट नायक का मत 'मुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। अभिनव गुप्तपादाचार्य का मत 'व्यक्तिवाद' वा 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है। इसका कारण यह है कि उनके मत के अनुसार अपनी शक्ति और वृत्ति के द्वारा काव्य श्रोता, पाठक वा दर्शक में वासना-रूप में स्थित भाव को जगाकर उनकी व्यक्ति वा अभिव्यक्ति कर देता है, और वह रस का अनुभव करता है। श्रोता, पाठक वा दर्शक को दृष्टि में रखकर विचार करने पर हमें भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्तपादाचार्य के सिद्धांतों में कोई विशेष अन्तर नहीं लक्षित होता। यह तो स्पष्ट है कि दोनों रस की स्थिति श्रोता, पाठक वा दर्शक में मानते है। भट्ट नायक कहते है कि भोग-वृत्ति के द्वारा रसानुभूति होती है, जो श्रोता, पाठक वा दर्शक में काव्य के सुनने, पढ़ने वा देखने पर जगती है; अर्थात् काव्य इस वृत्ति को जगाता है। कहना न होगा कि जो वृत्ति जगती है उसका अस्तित्व श्रोता, पाठक वा दर्शक में अवश्य है, तभी वह जगती है। अभिप्राय यह है कि इस वृत्ति का जगना वस्तुतः भाव के जगने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो रसानुभव की प्रथम श्रेणी मानी जा सकती है। आचार्य शुक्ल का भी यही पक्ष है। वे हृदय को अनेक भावात्मक मानते है, और काव्य द्वारा इनका उद्बुद्ध होना। तात्पर्य यह कि आचार्य शुक्ल यद्यपि इन दोनों आचार्यों की भाँति वृत्ति आदि की स्थापना नहीं करते पर श्रोता, पाठक वा दर्शक को भाव-संपन्न तथा काव्य को ग्रहण करने योग्य अवश्य मानते है। श्रोता, पाठक वा दर्शक से उनका

तात्पर्य ऐसे ही व्यक्ति से है जो भावुक है और रसानुभव के योग्य है। अभिनव गुप्तपादाचार्य का कथन है कि काव्य उन वासनाओं को जगाता वा अभिव्यक्त कर देता है जो हृदय में सोई हुई वा अव्यक्त रहती है।[1] ध्यानपूर्वक विचार करने पर विदित होगा कि मुक्तिवाद में दर्शक आदि की भोग-वृत्ति का जगना है और अभिव्यक्तिवाद में वासना का जगना वा अभिव्यक्त होना सूक्ष्मतः एक है, दोनों मतों में जगना भाव (वा उसका मूल रूप वासना) ही है और इसको जगाने वाला है काव्य। अतः इस दृष्टि से दोनों मत एक ही लक्ष्य पर पहुँचे हैं। यदि अभिव्यक्तिवाद में काव्य द्वारा वासना अभिव्यक्त होती है तो मुक्तिवाद में भी इसके द्वारा भोग वृत्ति (वा भाव) जगती है अर्थात् वह सब काल में जगी नहीं रहती, काव्य के प्रदर्शन, श्रवण वा पठन से ही जगती है। आचार्य शुक्ल की भी यही धारणा है, इसे हम ऊपर देख चुके हैं।

साधारणीकरण : भट्ट नायक और आचार्य शुक्ल का मत

इन आचार्यों के रस-सिद्धांत के विषय में एक और बात विचारणीय है। वह है 'साधारणीकरण' का सिद्धांत। साधारणीकरण का प्रश्न इस रूप में उठा कि काव्य—प्रायः दृश्यकाव्य—में ऐसे व्यक्तियों का भी वर्णन होता है जिनके प्रति दर्शक, श्रोता वा पाठक की पूज्य भावना होती है, इस स्थिति में इन व्यक्तियों के शृंगार आदि के व्यापार का ग्रहण रस-रूप में दर्शक आदि कैसे कर सकते हैं। इस उलझन को सुलझाते हुए भट्ट नायक ने यह प्रतिपादित किया है कि भोजकवृत्ति द्वारा पूज्य भावना के आलम्बन (वा अधिकारी व्यक्ति) अपने विशेषत्व (पूज्य भावना वा आलम्बनत्व) का त्याग करके 'साधारण' रूप में उपस्थित होते हैं। वे व्यक्ति-मात्र रह जाते हैं— किसी भी विशेषता के आवरण का त्याग करके। अभिप्राय यह है कि साधारणीकरण का मुख्य साधन भोजक-वृत्ति है। हम ऊपर उसकी विवेचना कर चुके हैं कि यह वृत्ति सफल कवि-कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसका निष्कर्ष यह है कि साधारणीकरण कवि-कर्म-सापेक्ष्य है, अर्थात् कवि अपनी कला द्वारा आलम्बन को इस रूप में उपस्थित करे कि वह सभी दर्शक, श्रोता वा पाठक को साधारण रूप में प्रतीत हो। आचार्य शुक्ल की साधारणीकरण के विषय में भट्ट नायक की-सी ही धारणा है। उसका कथन है—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है"—(चिन्तामणि, पृष्ठ ३०८)। उन्होंने यह भी स्पष्टतः कहा है कि

---

[1] अंग्रेज समीक्षक एवरक्रांबी का भी इस विषय में यही मत है—

"But an audience does not go into a theatre in a state of pity and fear. Everyone is liable to these emotions, but they are not present unless they are provoked—Lascelles Abercrombie M.A.'s *Principles of Literary Criticism*, p. 109.

"साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।"--(वही, पृष्ठ ३१३) इस रूप में साधारणीकरण होने के कारण ही एक काव्य अनेक जनों को एक साथ रसानुभूति कराता है। आचार्य शुक्ल की भी इस विषय में यही धारणा है।--(देखिए चिन्तामणि पृष्ठ ३०८) यहाँ इसका निर्देश कर देना अति प्रसंग न होगा कि साधारणीकरण उपस्थित करने में कवि-कर्म की वे सभी कलाएँ अपेक्षित हैं जिनकी विवेचना, आचार्य शुक्ल की दृष्टि से, ऊपर हो चुकी है।

अभिनव गुप्तपादाचार्य का मत

साधारणीकरण के विषय में अभिनव गुप्तपादाचार्य का मत इससे भिन्न है। उनका कथन है कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का नहीं होता, साधारणीकरण दर्शक, श्रोता वा पाठक का हृदय करता है। इसका अभिप्राय यह है कि आलम्बन चाहे जैसा भी हो दर्शक आदि के हृदय की एक ऐसी अवस्था आती है जिसमें वह उसको साधारण समझता है--किसी भी विशेषता से मुक्त। पर स्मरण यह रखना चाहिए कि अभिनव गुप्तपादाचार्य भी हृदय में वासना-रूप में स्थित भाव को जगाने की प्रथम क्रिया काव्य वा आलम्बन द्वारा ही मानते है, अतः यदि यह माना जाय कि साधारणीकरण हृदय करता है, तो भी आलम्बन इसका मूल कारण ठहरता है, क्योंकि उक्त अवस्था तक श्रोता, पाठक वा दर्शक काव्य को पढ़कर ही पहुंचता है। यहाँ इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि इस मत के अनुसार साधारणीकरण करने वाला हृदय सामान्य व्यक्ति का न होगा। ऐसे असामान्य व्यक्तियों का होगा जो गिने-चुने होते है, पर काव्य केवल गिने-चुने लोगों को ही रसानुभव नहीं कराता। इसलिए भट्ट नायक का यह प्रतिपादन कि भोजक-वृत्ति द्वारा दर्शक, श्रोता वा पाठक का हृदय सत्व, रज और तम गुणों में अन्तिम दोनों से मुक्त होकर केवल सत्व गुणमय रह जाता है, सर्वसुलभ तथा सर्व-बोधगम्य प्रतीत होता है।

रसानुभव के उपयुक्त साधारणीकरण की अवस्था

साधारणीकरण के सिद्धांत की विवेचना करते हुए यह भी विचारणीय है कि किन अवस्थाओं में रसानुभव के उपयुक्त साधारणीकरण हो सकता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसके लिए आलम्बन का अनेक श्रोता, पाठक वा दर्शक के लिए सामान्य (कॉमन) होना अत्यावश्यक है। इस सामान्यत्व (कॉमननेस) की स्थापना के कई हेतु हो सकते हैं। आलम्बन के प्रति श्रोता, पाठक वा दर्शक स्वाभाविक आकर्षण, उसकी लोकगत ख्याति, अथवा उसके विधान वा चित्रण में कवि-कौशल आलम्बन के सामान्य रूप में श्रोता, पाठक वा दर्शक के सम्मुख आने के प्रधान कारण हैं। तात्पर्य यह है कि साधारणीकरण के लिए आलम्बन का ऐसा आकर्षण भरा होना आवश्यक है कि वह मनुष्य-मात्र के किसी भाव का विषय (वा आलम्बन) हो सके। आचार्य शुक्ल की भी धारणा इस विषय में यही है।--(देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ६०-६१)। स्त्री तथा पुरुष के स्वभावतः पारस्परिक आकर्षण के कारण ही प्रेम वा शृंगार-काव्य का आधिक्य सर्वत्र प्राप्त होता हैं।

प्रेम वा शृंगार के अतिरिक्त अन्य भावों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आलम्बन मनुष्य-मात्र के भावों का पात्र हो सके। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि रौद्र रस की अनुभूति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आश्रय का आलम्बन सभी के क्रोध का आलम्बन स्वभावतः हो, प्रत्युत इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी (आलम्बन की) क्रूरता; अन्याय, उसका अत्याचार आदि इस रूप का हो कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का आलम्बन वा पात्र बन सके---(देखिए वही)। यहाँ आलम्बन में आकर्षण की नैसर्गिकता की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है उसमें ऐसे कर्म की स्थापना की, जो मनुष्य-मात्र के भाव का विषय हो सके; चाहे आलम्बन अपरिचित ही क्यों न हो। रसानुभूति के उपयुक्त साधारणीकरण के लिए एक और बात का होना आवश्यक है, वह है आलम्बन का औचित्य, अर्थात् आश्रय की भाव-व्यंजना से ऐसे पात्र के प्रति जो वस्तुतः सभी, पाठक वा दर्शक के भाव का पात्र बन जाय और किसी श्रोता आदि के भाव का न बन सके। आचार्य शुक्ल कहते हैं--- "यदि भाव-व्यंजना में भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है जैसे के प्रति न होना चाहिए, तो 'साधारणीकरण' न होगा, अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव में लीन न होगा।" ---(इंदौर वाला भाषण, पृष्ठ ३७ और देखिए, चिन्तामणि, पृष्ठ ३०९)। इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि रसानुभूति के उपयुक्त साधारणीकरण के लिए आलम्बन की उपयुक्तता भी आवश्यक है।

रसानुभूति का स्वरूप : प्राचीन आचार्यों तथा आचार्य शुक्ल में मतवैभिन्य

अब विचारणीय यह है कि रसानुभूति का स्वरूप क्या है? इस विषय में प्राचीन साहित्य-मीमांसकों और आचार्य शुक्ल में मत-वैभिन्य ज्ञात होता है। प्राचीन आचार्यों ने रसानुभूति को 'आनन्दमय', 'ब्रह्मानन्द सहोदर' 'लोकोत्तर' आदि रूपों में प्रतिपादित किया है। आचार्य शुक्ल की धारणा यह है कि रसानुभूति का इस रूप में ग्रहण केवल 'अर्थवाद के रूप में' है। काव्यानुभूति की प्रतिष्ठा वा गौरव की स्थापना के लिए इसे ये विशेषण दिये गए हैं। इस विषय में उनका अपना मत यह है कि काव्यानुभूति वा रसानुभूति वस्ततः "जीवन के भीतर की ही अनुभूति है" (देखिए, 'काव्य में रहस्यवाद,' पृष्ठ ८१-८२), उससे बाहर वा परे की नहीं। इसलिए यह धारणा कि शब्द रंग या पत्थर के द्वारा जो अनुभूति उत्पन्न की जाती है केवल वही काव्यानुभूति हो सकती है, ठीक नहीं।"---(वही, पृष्ठ ८)। इस विषय में आचार्य शुक्ल की धारणा सर्वत्र ऐसी ही रही है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि उन्होंने इसे लोकानुभूति वा जीवन की अनुभूति के समान ही ग्रहण किया है तथापि वे भी इसके साथ 'उदात्त और अवदात' विशेषण जोड़ते हैं। इस उद्धरण से रसानुभूति के विषय में आचार्य शुक्ल की सारी मान्यताएँ स्पष्ट हो जायेंगी---"रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।" (चिन्तामणि, पृष्ठ ३४४) अभिप्राय यह है कि रसानुभूति है तो जीवन की अनुभूति के सदृश ही, पर उसमें कुछ

वैशिष्ट्य अवश्य है। प्रतीत ऐसा होता है कि जिसे आचार्य शुक्ल उदात्त और अवदात कहते हैं प्राचीन मीमांसकों न उसी को महत्त्व देने के लिए लोकोत्तर आदि के रूप में ग्रहण किया। पर आचार्य शुक्ल के पक्ष की स्पष्टता के लिए यहाँ एक बात का निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। आरम्भ में ही हम कह चुके हैं कि काव्य तथा रस का घनिष्ठ संबंध है। एक स्थान पर काव्य के विषय में आचार्य शुक्ल ने कहा है—"मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है, यही हमारा पक्ष है।" (काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ३७) इस प्रकार रस का संबंध भी उनकी दृष्टि से, इसी कोश से है। यह मनोमय कोश क्या है। वेदांत-शास्त्रियों की धारणा है कि मनुष्य में पाँच कोशों की स्थिति है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल तृतीय और पंचम कोश से है। पंच ज्ञानेन्द्रिय (वाह्यकरण) और मन (अन्तःकरण) को मनोमय कोश कहते हे। यही कोश अविद्या-रूप है और इसी से सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है। सत्व-गुणविशिष्ट परमात्मा के आवरक (आच्छादक) का नाम आनन्दमय कोश है। जो रस-मीमांसक वस्तुतः रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर, आनन्दमय, लोकोत्तर आदि रूप में ग्रहण करते हैं, उनकी धारणा के अनुसार रस की पूर्ण अनुभूति इमी आनन्दमय कोश में होती है। पर आचार्य शक्ल की दृष्टि से रस की पूर्ण अनुभूति मनोमय कोश में ही हो जाती है, आनन्दमय कोश तक पहुँचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यह बात काव्य-संबंधी उनके ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है। मनोमय कोश में ही रस की सिद्धि हो जाने के कारण ही वे रसानुभूति को 'प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूति' से भिन्न अनुभूति नहीं स्वीकार करते।

रसानुभूति वा रसदशा का स्वरूप

मूलतः रसानुभूति वा रस-दशा क्या है, अब इसे देखें। कवि वाणी द्वारा काव्य को श्रोता, पाठक वा दर्शक तक पहुँचाता है—किसी-न-किसी उद्देश्य से ही। यदि विचार किया जाय तो विदित होगा कि उसके उद्देश्य के मूल में यही भावना निहित रहती है कि श्रोता, पाठक वा दर्शक का हृदय उसके काव्य से प्रभावित हो, कुछ-न-कुछ प्रभाव ग्रहण करे। रसानुभूति वा सौंदर्यानुभूति आदि इस प्रभाव के ही उच्च वा निम्न रूप वा उसकी मात्राएँ (डिग्रीज़) है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि से भी मन का किसी भाव में रमना और हृदय का उससे प्रभावित होना ही रसानुभूति है।—(देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ५७)। रस-दशा के विषय में आचार्य शुक्ल ने मुख्यतः तीन बातें कही हैं। एक तो यह कि वे इस दशा को हृदय की मुक्तावस्था मानते है, जिसमें व्यक्ति अपने-पराये के भेद-भाव से छूटकर अनुभूति मात्र रह जाता है वा काव्य द्वारा उपस्थित भाव का ही अनुभव करता है और किसी वस्तु का नहीं।—(देखिए चिन्तामणि पृष्ठ १९२ और इंदौर वाला भाषण, पृष्ठ ४१)। इस विषय में दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि रस-दशा वा रसानुभूति की अवस्था में व्यक्ति-हृदय लोक-हृदय में लीन हो जाता है। इस अवस्था को वे 'भाव की पवित्र भूमि' वा 'पुनीत रसभूमि' कहते हैं। व्यक्ति-हृदय का लोक-

हृदय में लीन होने से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय है मनुष्य-मात्र के लिए सामान्य आलम्बन में श्रोता, पाठक व दर्शक के हृदय का लीन होना। जिस सामान्य आलम्बन में मनुष्य-मात्र का हृदय लीन होता है उसी में एक श्रोता, पाठक वा दर्शक के हृदय का लीन होना वे लोक-हृदय में व्यक्ति-हृदय का लय होना मानते हैं, और इस अवस्था की अनुभूति को रस-दशा की अनुभूति स्वीकार करते हैं।—(देखिए, चिन्तामणि, पृष्ठ ३०८-३०९ और काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ २६०)। विचार करने पर ज्ञात होता है कि रस दशा को हृदय की मुक्तावस्था मानना तथा लोक-हृदय में व्यक्ति-हृदय का होना स्वीकृत करना सूक्ष्मत: एक ही बात है, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में लोक के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की भावना का परिहार या त्याग अपेक्षित है। अंग्रेज समीक्षक रिचर्ड्स भी सौंदर्य ग्रहण (एस्थेटिक रिस्पांस) की अवस्था को इसी रूप में स्वीकार करते हैं। उनका भी कथन है कि इस दशा में लोकगत वैयक्तिक संबंध का त्याग हो जाता है।[१]

रस दशा के संबंध में तीसरी बात कहने के पूर्व आधुनिक काल में प्रचलित एक

---

१ With the preliminary disavowal of undue certainty we may proceed. The equilibrium of opposed impulses, which we suspect to be the ground-plan of the most valuable aesthetic responses, brings into play far more of our personality than is possible in experiences of a more defined emotion. We cease to be orientated in one definite direction; more facts of the mind are exposed and, what is the same thing, more aspects of things are able to effect us. To respond, not through one narrow channel of interest, but simultaneously and coherently through many, is to be '*disinterested*' in the only sense of the word which concerns us here. A state of mind which is not disinterested is one which sees things only from one standpoint or under one aspect. At the same time since more of our personality is engaged the independence and individuality of other things becomes greater. We seem to see '*all round*' them, to see them as they really are; we see them apart from any one particular interest which they may have for us. Of course without some interest we should not see them at all, but the less any our particular interest is indispensable, the more '*detached*', our attitude becomes. And to say we are '*impersonal*', is merely a curious way of saying that one personality is more '*completely*' involved.

—I. A. Richards's *Principles of Literary Criticism*, P. P. 251-252.

साहित्यिक वाद के विषय में कुछ निर्देश कर देना आवश्यक है। इस युग में पाश्चात्य साहित्य के अन्तर्गत सौंदर्यवाद (एस्थेटिसिज़्म) की प्रचुर विवेचना हुई और इसका प्रचार भी खूब रहा। हिन्दी-साहित्य में भी इसके विषय में चर्चा प्रायः हुआ करती है। सौदर्यानुभूति (एस्थेटिक एक्स्पीरियन्स) के विषय में आचार्य शुक्ल ने जो विवेचना की है उससे विदित होता है कि वे इस अनुभूति को भी रसानुभूति के रूप में ही ग्रहण करते हैं। सौंदर्य, रूप-व्यापार, कर्म आदि को देखकर 'अन्तस्सत्ता' की उनमें 'तदाकारपरिणति' को वे सौदर्यानुभूति कहते हैं:--"कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकारपरिणति सौंदर्य की अनुभूति है।"--(चिन्तामणि, पृष्ठ २२४-२२५)। कहना न होगा कि हमारी सत्ता पर उन रूप-रंगमयी वस्तुओं का अधिकार कर लेना उनके द्वारा हमारा प्रभावित होना ही है और तदाकारपरिणति उनमें लीन होना वा रमना। अतः सौंदर्यानुभूति की अवस्था रस-दशा के समान ही होगी। इस प्रकार हम देखते है कि यद्यपि आचार्य शुक्ल ने रस-दशा के विषय में मुख्यतः तीन बातें कही है, पर मूलतः उनमें कोई भेद नहीं है, उनका लक्ष्य एक ही है।

दुःखात्मक भावों की रसानुभूति : दुःखमय इस दुःख की रसात्मकता

आचार्य शुक्ल की दृष्टि से हम इस पर विचार कर चुके है कि रसानुभूति वा काव्यानुभूति जीवनगत प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूति के अतिरिक्त और किसी प्रकार की अनुभूति नही होती। हाँ, उसका स्वरूप इस अनुभूति से उदात्त और अवदात अवश्य होता है। इस स्थिति में विचारणीय यह है कि काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति दुःखमय होगी अथवा आनन्दमय, क्योंकि जीवन में ये भाव प्रतिकूलवेदनीय ही होते है। इस विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता यह है कि काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति जीवन की अनुभूति के समान दुःखमय ही होती है, क्योंकि करुण रस के काव्य वा नाटक पढने वा देखने पर आँसू का आना मनोविज्ञान की दृष्टि से दुःखानुभूति का ही लक्षण (सिस्टम) है। उनका कथन है कि ऐसी अवस्था में "यह कहना कि 'आनन्द में भी तो आँसू आते है' केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते है।" (देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ ३४१--४२)। अभिप्राय यह है कि वे काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति दुःखमय ही मानते हैं। बेनिडीटो क्रोचे की भी यही धारणा है कि काव्यगत भावों की अनुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों होती हैं। (देखिए इंदौर वाला भाषण, पृष्ठ ४०--४१)। आचार्य शुक्ल का कथन यह है कि काव्यगत दुःख की अनुभूति दुःखात्मक तो अवश्य ही होती है, पर "हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।" (चिन्तामणि, पृष्ठ ३४२)। यहाँ रसात्मक से तात्पर्य 'भोग्य' से है। इस विषय में भी आचार्य

शुक्ल का पक्ष बड़ा सटीक प्रतीत होता है। बात यह है कि परिस्थितिवश दुःखात्मक तथा सुखात्मक दोनों प्रकार के भावों में लीन होने वाले व्यक्ति दिखाई पड़ते है। कुछ व्यक्तियों का यह कहना है कि 'मुझे रोने दो, रोने में ही सुख मिलता है' का तात्पर्य यही है कि दुःख भी उन्हें परिस्थिति विशेष में अनुकूलवेदनीय प्रतीत होता है, और इसका कारण है उनकी तन्मयता।

कवि की रसोन्मुख अवस्था

यह हमें विदित है कि रस की स्थिति श्रोता, पाठक वा दर्शक में होती है। उसमें रस की अनुभूति के लिए ग्राहक कल्पना की भी आवश्यकता है, इसे भी हम देख चुके हैं। कवि में विधायक कल्पना होती है और वह अपनी भावुकता (इसे हम इस स्थान पर काव्य-रचना की चाह के रूप में प्रयोग करना चाहते हैं) के कारण इस कल्पना को रूप-विधान की ओर प्रवृत्त करके काव्य प्रस्तुत करता है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि ".....कवि अपनी स्वभावगत भावुकता की जिस उमंग में रचना करने में प्रवृत्त होता है और उसके विधान में तत्पर रहता है, उसे यदि हम कुछ कहना चाहें तो रस-प्रवणता या रसोन्मुखता कह सकते है।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ७९)। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत हो जाने पर काव्य रसात्मक तो होता ही है, उसकी रचना के समय कवि भी रसोन्मुख अवस्था में रहता है। वस्तुतः काव्य-रचना की उमंग में उसमें तन्मयता ही रसोन्मुखता है, जिसे हम पूर्ण रस-दशा तो नहीं कह सकते, पर इस अवस्था में भी कुछ क्षण ऐसे आया करते हैं जिनमें रसात्मकता का आभास अवश्य मिला करता है।

व्यञ्जक वाक्य में रस

रसानुभूति की प्रक्रिया पर शास्त्रीय दृष्टि से भी विचार कर लेना चाहिए। 'रस' को भारतीय प्राचीन आचार्यों ने व्यंग्य कहा है। इन आचार्यों का पक्ष यह है कि काव्य में जिन भावों और वस्तुओं की व्यंजना होती है वे भाव वा वस्तु श्रोता, पाठक वा दर्शक को रस-भूमि पर पहुँचाते है। आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि "व्यंजना में अर्थात् व्यंजक वाक्य में रस होता है।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ६९) अर्थात् किसी काव्य द्वारा ध्वनित यह तथ्य कि 'अमुक करुणा, क्रोध वा प्रेम कर रहा है, रस नहीं है, प्रत्युत काव्यमयी वाणी ही सब-कुछ है, उक्ति ही सब-कुछ है, जो रसानुभूति कराती है।—(देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ६८-६९)। आचार्य शुक्ल व्यंजक वाक्य को ही काव्य भी मानते हैं, काव्य पर विचार करते हुए हम इसे भी देख चुके है। आचार्य शुक्ल की यह मान्यता यों भी व्यक्त की जा सकती है कि काव्य-शरीर ही काव्य की आत्मा का अनुभव कराता है, उसकी आत्मा तक पहुँचने का मार्ग उसका शरीर ही है। जहाँ तक उनकी इस धारणा का सम्बन्ध है कि 'उक्ति ही कविता है' वहाँ तक वे भारतीय समीक्षा के 'रीतिवाद' के निकट प्रतीत होते हैं, जिसका प्रतिपाद्य यह है कि 'रीति ही काव्य की आत्मा है'—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। पर हमे इसे भी नहीं भूल जाना चाहिए कि वे रीति को काव्य की आत्मा नहीं मानते, प्रत्युत

बड़ी ही तीव्र गति से अपना कार्य-सम्पादन करती है। श्रोता, पाठक वा दर्शक काव्य को सुनने, पढ़ने वा देखने के साथ ही तुरंत व्यंजना की कोटि पर पहुँच जाता है। उसके मन में अनुमान की प्रक्रिया होती है, पर इतनी तीव्र गति से कि उसका पता नहीं चलता। इसी से भाव-व्यंजना असंलक्ष्य-क्रम-व्यंजना के अन्तर्गत रखी गई है।[1] आचार्य शुक्ल की भी यही धारणा है कि वस्तु-व्यंजना में तो अनुमान की प्रक्रिया उचित प्रतीत होती है, पर भाव-व्यंजना में नहीं। --(देखिए इंदौर वाला भाषण, पृष्ठ १०)। वस्तुतः बात यह है कि वस्तु-व्यंजना में जैसे वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचा जाता है वही बात भाव-व्यंजना वा रस-व्यंजना में नहीं होती। भाव-व्यंजना में हृदय किसी तथ्य के बोध से चमकृत नहीं होता, प्रत्युत उस भाव वा रस में लीन होता है। अतः भाव-व्यंजना वस्तु-व्यंजना की भाँति अनुमानाश्रित नहीं।

रस की कोटियाँ

रस वा रसानुभूति का सत्स्वरूप सर्वतः पूर्ण (अब्सौल्यूट) मानना चाहिए। उसमें भेद करके उसकी श्रेणी (डिग्री) स्थापित करना उसकी पूर्णता और अखंडता से छेड़खानी करना ही होगा। ज्ञान के क्षेत्र में जैसे ब्रह्म अखंड और पूर्ण (इंडीविज़िवल एण्ड अब्सौल्यूट) है वैसे ही साहित्य वा काव्य के क्षेत्र में रस वा रसानुभूति को भी अखंड और पूर्ण स्वीकार किया जा सकता है। प्रतीत ऐसा होता है कि इसी अखंडता और पूर्णता की मान्यता के कारण ही प्राचीन भारतीय समीक्षकों ने इसकी श्रेणियाँ नहीं स्थापित कीं। इसकी अनुभूति की इस पूर्णता और अखंडता को ही हम इसका महत्त्व मानते है, क्योकि वह स्वतः अपने में पूर्ण है। यद्यपि वस्तुस्थिति (रीयलिटी) यह है तथापि काव्य वा साहित्य के पठन-पाठन द्वारा विदित होता है कि रस की पूर्ण अनुभूति के अतिरिक्त हमें कुछ अनुभूतियाँ ऐसी भी होती हैं जो इससे (रसानुभूति से) निम्न श्रेणी में रखी जा सकती है। आचार्य शुक्ल ने इसी अनुभव के आधार पर रस की श्रेणियाँ नियत की है। उनकी तो यह धारणा है कि "दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों की रस-पद्धति के भीतर ही, सूक्ष्मता से विचार करने से, मिलती है, (१) जिस भाव की व्यंजना हो उसी में लीन हो जाना, (२) जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन तो न होना; पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।"--(देखिए 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ५९-६०)--द्वितीय प्रकार की अनुभूति वा प्रभाव को वे मध्यम कोटि में रखते है। कहना न होगा कि भाव-व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से यह अनुमोदन काव्य-प्रशंसा (पोयटिक अप्रेसिए-शन) के अतिरिक्त और कुछ नही है, जो श्रोता, पाठक वा दर्शक की काव्य के प्रति मुग्धता का परिणाम होता है।

---

[1]इस विषय में विशेष अभिज्ञता के लिए देखिए--पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत 'वाङ्मय-विमर्श,' पृष्ठ १३५--१३७।

भाव की क्षणिक दशा

रस की कोटियाँ स्थापित करने के लिए आचार्य शुक्ल की दृष्टि में कई कारण उपस्थित थे। उनका कथन है कि यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो भाव की तीन दशाएँ निर्धारित होती हैं--क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील दशा। उनका मत है कि "किसी भाव की क्षणिक दशा एक अवसर पर एक आलंबन के प्रति होती है" और इसकी अनुभूति मुक्तक रचनाओं में की जाती है। आचार्य शुक्ल भाव की क्षणिक दशा का सम्बन्ध मुक्तक रचनाओं से ही जोड़ते हैं।

भाव की स्थायी और शील दशा

भाव की स्थायी दशा के विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता यह है कि वह "अनेक अवसरों पर एक ही आलंबन के प्रति होती है।" इसकी स्थिति वे प्रबन्ध-काव्यों में बतलाते हैं। शील दशा के विषय में उनका कथन है कि वह "अनेक अवसरों पर अनेक आलंबनों के प्रति होती है।" इसकी अनुभूति पात्रों के चरित्र-चित्रण में होती है। --(देखिए इंदौर वाला भाषण पृष्ठ ८४--८५)। भाव की शील-दशा की अनुभूति को आचार्य शुक्ल रसानुभूति की मध्यम कोटि मानते हैं, जिस पर प्राचीन भारतीय समीक्षकों ने विचार नहीं किया है। आचार्य शुक्ल की इस पर अपनी मौलिक विवेचना है।

रस की मध्यम कोटि

हमें यह विदित है कि रसानुभूति के लिए आचार्य शुक्ल और प्राचीन समीक्षक भी श्रोता, पाठक वा दर्शक का काव्य-वर्णित आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलंबन के साथ उसका साधारणीकरण आवश्यक बतलाते हैं। इस स्थिति में की गई रसानुभूति तो उत्तम कोटि की होगी। आचार्य शुक्ल का पक्ष यह है कि इसके अतिरिक्त एक मध्यम कोटि की भी रसानुभूति होती है, जिसमें "किसी भाव की व्यंजना करने वाला; कोई क्रिया वा व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का--जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कौतूहल या अनुराग का--आलंबन होता है।"--(चिंतामणि, पृष्ठ ३१४)। रस की इस स्थिति में श्रोता, पाठक वा दर्शक के हृदय में उस भाव का उद्बोधन नहीं होता जिस भाव की व्यंजना आलंबन-रूप में आया पात्र किसी अन्य पात्र के प्रति करता है; अर्थात् श्रोता, पाठक वा दर्शक का हृदय आलंबन के रूप में चित्रित पात्र के हृदय से भिन्न स्थिति में वर्त्तमान रहता है। इसे यों कहिए कि आलंबन के साथ साधारणीकरण और आश्रय के साथ तादात्म्य रस की इस कोटि में नहीं होता; श्रोता, पाठक वा दर्शक किसी दूसरे ही भाव का अनुभव करता है, और आलंबन व्यंजना करता है किसी दूसरे ही भाव की। "ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा।"--(चिंतामणि, पृष्ठ ३१४)।

यह हम देख चुके हैं कि रसानुभूति के लिए आश्रय के साथ श्रोता, पाठक वा दर्शक

का तादात्म्य तथा आलंबन के साथ उसका साधारणीकरण आवश्यक है। प्रत्यक्षतः तो नहीं पर परोक्षतः रस की मध्यम दशा में भी यह बात देखी जाती है। यह तो स्पष्ट है कि रस की इस कोटि में भी भाव-व्यंजना करने वाले पात्र के प्रति श्रोता, पाठक वा दर्शक का कोई भाव अवश्य उद्‌बुद्ध रहता है, अर्थात् काव्य में वर्णित भाव का आश्रय श्रोता, पाठक वा दर्शक का आश्रय नहीं होता, प्रत्युत वह उसका आलंबन हो जाता है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि ऐसी स्थिति में "तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ-न-कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलंबन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलंबन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलंबन प्रायः हो जाता है।"--(चिंतामणि; पृष्ठ ३१५)। आलंबन और आश्रय की इस प्रकार की स्थापना के पश्चात् साधारणीकरण और तादात्म्य की प्रक्रिया के पूर्ण हो जाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती दिखाई पड़ती। इतने विवेचन से यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि रस की मध्यम कोटि की अनुभूति का सम्बन्ध काव्यगत पात्रों के चरित्र-चित्रण वा शील-निरूपण से ही विशेष है। कुपात्र जब सुपात्र के प्रति ऐसे भाव की व्यंजना वा कार्य-व्यापार (हरक़त) करता है जैसे कि वह (सुपात्र) पात्र नही होता, तब कुपात्र के प्रति विरोधी भाव तथा सुपात्र के प्रति अनुकूल भाव का उद्‌बोधन श्रोता, पाठक वा दर्शक के हृदय में होता है। ऐसी स्थिति में जब काव्यगत तीसरा पात्र आकर कुपात्र के प्रति विरोधी भाव की व्यंजना कर के सुपात्र के प्रति अनुकूल भाव की व्यंजना करता है तब श्रोता, पाठक वा दर्शक को अपूर्व तुष्टि होती है। यह तुष्टि ही रस की मध्यम कोटि है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि से रस की इस कोटि के विषय में एक बात और कहनी है, वह यह कि इसमें "श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है"; और रस की उच्च कोटि की अनुभूति में वह "....अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर के आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।"-(चितामणि पृष्ठ ३१६)। आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित रस की मध्यम कोटि की अनुभूति पर सम्यक् रूप से विचार करने पर स्पष्टतः विदित हो जाता है कि उनका पक्ष सटीक है और इस अवस्था में भी रस की-सी ही अनुभूति होती है--पर अनुभूति की मात्रा कुछ कम रहती है। इस अवस्था में काव्य हृदय पर ऐसा प्रभाव डालता है जिसके द्वारा उसका (हृदय का) अपूर्व प्रसादन वा तुष्टि होती है। वस्तुतः रस की इस कोटि का सम्बन्ध हृदय की तुष्टि से ही समझना चाहिए।

रस की निकृष्ट कोटि

आचार्य शुक्ल रस की एक निकृष्ट दशा की भी मान्यता स्वीकार करते जान पड़ते हैं, जिसके अन्तर्गत वे चमत्कारवादियों के कुतूहल को रखना चाहते हैं। उनका कथन है-- "चमत्कारवादियों के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ले लेने पर रसानुभूति की

क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती है।"

--(इन्दौर वाला भाषण, पृष्ठ ८६)।

स्मृत और प्रत्यक्ष रूप-विधानों द्वारा भी रस-प्रतीति

रस-विषयक सभी सामान्य (कॉमन और जनरल) विषयों की विवेचना हम प्रस्तुत कर चुके है। इन्हें दृष्टि-पथ में रखकर अब 'रसात्मक बोध के विविध रूप' पर विचार करना है। रसानुभूति का क्षेत्र काव्य है, इसका निर्देश आरम्भ में हो चुका है, और यह भी हमें विदित है कि काव्य हमारे सम्मुख मूर्त्ति, चित्र वा रूप ही रखता है,--'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है'--'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'--का तात्पर्य यहाँ है। काव्यगत इस मूर्ति, चित्र वा रूप का आधार क्या है, इसका मूल क्या है। विचार करने पर विदित होता है कि काव्यगत चित्रों का रूपों के आधार 'देखी-सुनी बहु लोक की बातें' ही हैं। हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष किये हुए विषयों को ही काव्य में उपस्थित करते है। देखना यह है कि इन्हें किन रूपों में उपस्थित करते हैं। अब यह तो स्पष्ट है कि काव्यगत रूप-विधान का मूलाधार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष विषय ही है। प्रायः होता यह है कि जब कवि इन प्रत्यक्ष विषयों या रूपों का विधान करने बैठता है तब उसे इन्हें काव्य में उपस्थित करने के लिए काव्य के दो प्रधान साधनों का अवलम्बन लेना पड़ता है। वे साधन वा उपकरण है---स्मृति और कल्पना। कभी वह किसी देश-काल में प्रत्यक्ष किये हुए वा अनुभूत रूपों को स्मृति के सहारे काव्य में ज्यों-का-त्यों रख देता है ओर कभी इन्हें अपनी कल्पना द्वारा कुछ घटा-बढ़ाकर प्रत्यक्ष से कुछ भिन्न वा नवीन रूप में चित्रित करता है। इन उपकरणों के आधार पर प्रस्तुत रूपों की प्रक्रिया को हम 'स्मृति रूप-विधान' ओर 'कल्पित रूप विधान' कह सकते हैं और जिस प्रत्यक्ष के आधार पर ये दो रूप-विधान हुए हैं उसको 'प्रत्यक्ष रूप-विधान'। स्मरण यह रखना चाहिए कि स्मृति और कल्पित रूप-विधानों का सम्बन्ध अभ्यन्तर से है और प्रत्यक्ष रूप-विधान का बाह्य से। भारत के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों की धारणा यह है कि इनमें से केवल कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति उत्पन्न करने की शक्ति होती है। आचार्य शुक्ल की मान्यता वा सिद्धांत (थीयरी) यह है कि कल्पित रूप-विधान द्वारा रसानुभूति तो होती ही है स्मृति और प्रत्यक्ष रूप-विधानों में भी यह शक्ति होती है कि वे रस-प्रतीति करा सकें। प्राचीन आचार्यों ने केवल कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति क्यों मानी है, इस पर विचार हो चुका है।

प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूतियों द्वारा रसानुभूति

'प्रत्यक्ष' से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय चक्षु-विषयक रूप से ही नहीं है, प्रत्युत इसके (रूप के) अन्तर्गत अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, गंध, रस और स्पर्श भी है। कवि-गण इनकी भी योजना अपने काव्य में किया करते है। प्रत्यक्ष रूप-विधान में रसात्मक बोध कराने की शक्ति होती है वा उनके द्वारा रसानुभूति होती है; इस विषय में आचार्य शुक्ल

का प्रतिपाद्य यह है कि "जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलंबनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलंबनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलंबनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम-से-कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलंबनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का होता है।"--(देखिए चिन्तामणि, पृष्ठ ३३७-३३८)। हम पहले ही इस पर विचार कर चुके हैं कि आचार्य शुक्ल जीवन की प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूति तथा काव्यगत रसानुभूति में कोई अन्तर नहीं स्वीकार करते, ऐसी स्थिति में जगत् और जीवन के वास्तविक वा प्रत्यक्ष लोक-सामान्य आलंबनो के उपस्थित होने पर रस दशा की भाँति दर्शक के व्यक्तित्व का कुछ क्षणों के लिए उसमें (आलंबन में) लय हो जाना कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है। "अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं।"--(चिन्तामणि, पृष्ठ ३३७)।

स्मृति द्वारा रसानुभूति

जिस प्रकार जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति को आचार्य शुक्ल रसात्मक बोध के समकक्ष प्रतिष्ठित करते हैं उसी प्रकार उनका प्रतिपाद्य यह भी है कि जीवन में घटित वास्तविक स्मरण या स्मृति, जो किसी काव्य में वर्णित नहीं होती, भी रसात्मक अनुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होती है। उनकी धारणा है कि अतीत में प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं के वास्तविक स्मरण द्वारा भी कभी-कभी हम हृदय की उस स्थिति में पहुँचते हैं जहाँ केवल शुद्ध भाव का ही अनुभव होता है। जहाँ हम अपने-पराये के भेद-भाव से छूटे रहते हैं।

स्मृति के दो रूप हमारे संमुख आते हैं, एक विशुद्ध स्मृति और दूसरी प्रत्यक्षाश्रित स्मृति वा प्रत्यभिज्ञान। साहित्य-ग्रन्थों में 'स्मरण' संचारी भाव माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि स्थायी भाव के सम्बन्ध से आए स्मरण की अनुभूति रसकोटि की होगी, किसी भूली बात का स्मरण वा कहीं रखी हुई वस्तु का स्मरण रसात्मक न होगा। आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि प्रायः रति, हास और करुणा से संबद्ध स्मरण ही रसात्मक बोध उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। वे कहते हैं--"प्रिय का स्मरण बाल्य-काल या यौवन-काल के अतीत जीवन का स्मरण, प्रवास में स्वदेश के स्थलों का स्मरण ऐसा ही होता है।"--(चिन्तामणि, पृष्ठ ३४६)। रति, हास और करुणा के आलंबनों के अतिरिक्त अन्य भावो के आलंबनों के स्मरण में भी आचार्य शुक्ल रसात्मकता स्वीकार करते हैं। पर इस स्थिति में ऐसे आलंबन का होना आवश्यक है जो किसी व्यक्ति विशेष की भाव-सत्ता से नहीं प्रत्युत संपूर्ण नर-जीवन की भाव-सत्ता से संबद्ध हो।

अपनी प्रिय वस्तु और व्यक्ति की स्मृति तो 'मधु में लिपटी हुई' आती ही है, जिस वस्तु और व्यक्ति से हमारा संबंध अतीत में रुचिकर और घनिष्ठ नहीं होता, देश-काल के व्यवधान के कारण उनकी स्मृति भी माधुर्य लिये हुए आती है। 'इस माधुर्य का रहस्य

क्या है ?' आचार्य शुक्ल कहते हैं--"जो हो हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि हमारी यह काल-यात्रा, जिसे जीवन कहते है, जिन-जिन रूपों के बीच से होती चली आती है, हमारा हृदय उन सबको पास समेटकर अपनी रागात्मक सत्ता के अंतर्भूत करने का प्रयत्न करता है। यहाँ से वहाँ तक वह एक भाव-सत्ता की प्रतिष्ठा चाहता है।"--(चिंतामणि, पृष्ठ ३४७)

यह तो सत्य हैं कि प्रिय वस्तु और व्यक्ति का स्मरण वा उनकी स्मृति मधुमय होती है। कल्पनाशील व्यक्ति स्मृति की प्रवणता के कारण कभी-कभी अतीत से संबद्ध वस्तु-व्यवित को अंतःपट पर लाकर उनसे मिलन का-सा रसात्मक अनुभव करता हुआ उसमें लीन रहता है। प्रश्न यह है कि अरुचिकर वा अप्रिय वस्तु-व्यक्ति की स्मृति मधुमय होती है अथवा नहीं। अप्रिय, अरुचिकर वा ऐसी वस्तुएँ जिनसे हमारा संबंध अतीत काल में नहीं रहता, उनका स्मरण देश-काल के व्यवधान पड़ने पर रसात्मक अवश्य होता है और इसका कारण प्रतीत होता है उनसे देशकालगत विरह के कारण हल्का अवसाद, जो (अवसाद) परिस्थितिवश अवदात वा प्रिय लगता है। अतीत में जिन व्यक्तियों से हम 'चिढ़ते या लड़ते झगड़ते थे' उनमें से उन्हीं की स्मृति का अनुभव हम रससिक्त रूप में करते है जिनका संबंध हमसे इस रूप में होते हुए भी प्रिय का-सा अपरिहार्य और स्वाभाविक वा 'हेतुज्ञान-शून्य' होता है। शत्रु का स्मरण हमें मधुर नहीं लगता। यहाँ हम उन व्यक्तियों की चर्चा नही कर रहे है जो ऋषि-मुनिवत् होते हे, सांसारिकों की बात कह रहे है। देश-काल के व्यवधान के कारण शुद्ध हृदयवाला व्यक्ति शत्रु की स्मृति का अनुभव भी रसात्मक रूप में कर सकता है यदि वह (शत्रु) करुणा वा हास का आलंबन बने। यहाँ इसका ध्यान अवश्य रहना चाहिए कि स्मरणकर्ता विशुद्ध हृदय वाला व्यक्ति हो।

प्रत्यभिज्ञान द्वारा रस-बोध

स्मृति के दूसरे रूप प्रत्यभिज्ञान में भी--जो प्रत्यक्ष के आधार पर स्थित रहता है, जिसमें प्रत्यक्ष का अंश न्यून रहता है और स्मरण का अंश अत्यधिक---काव्य की भाँति ही रसात्मक बोध कराने की तीव्र शवित होती है। किसी वस्तु और व्यक्ति के प्रत्यक्ष होने पर उनसे संबद्ध अतीत के अनेक व्यवित, व्यापार, भाव, विचार आदि का स्मरण हो आता है, यही प्रत्यभिज्ञान वा पहचान है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि प्रत्यभिज्ञान की प्रक्रिया द्वारा रस-संचार का विधान ववता और कविगण भी किया करते है। ऐसी स्थिति में प्रायः सुख-समृद्धि के पश्चात् दुःख-दारिद्रय, दैन्य आदि की दशा के आधार पर प्रत्यभिज्ञान का विधान विशेष कारुणिक होता है।

स्मृत्याभास-कल्पना द्वारा रस-संचार

ऊपर रसात्मक विशुद्ध स्मृति और प्रत्यभिज्ञान की विवेचना हुई है, जिनमें रसात्मकता का प्रधान कारण अतीत में प्रत्यक्षीभूत वस्तु, व्यवित, व्यापार आदि होते है। आचार्य शुक्ल 'स्मृत्याभास-कल्पना' में भी रस-संचार करने की शक्ति स्वीकार करते है। यह स्मृत्याभास-कल्पना है क्या ? इससे आचार्य शुक्ल का अभिप्राय है उस प्रकार की कल्पना का "जो

स्मृति वा प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप धारण करके प्रवृत्त होती है।"--(चिंतामणि, पृष्ठ ३५०)। इस प्रकार से प्रयुक्त स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का संबंध अतीत में देखे वस्तु-व्यक्तियों से नहीं, प्रत्युत या तो भूतकाल में सुने वा पढ़े गए वस्तु-व्यक्तियों से अथवा अनुमान द्वारा पूर्णतः निश्चित वस्तु-व्यक्तियों से होता है। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के रसात्मक बोध में प्रत्यक्षीभूत बातों का आधार नहीं लिया जाता, इनमें ऐसी बातों का आधार होता है जो या तो कहीं सुनी गई है वा पढ़ी अथवा जो पूर्णतः अनुमित है। इस प्रकार के रसात्मक बोध की प्रक्रिया में कल्पना का प्रमुख हाथ होता है, यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए। स्मृति द्वारा रस-संचार होता है, यह तो हमें विदित है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार "अतीत की कल्पना भावुकों में स्मृति की-सी सजीवता प्राप्त करती है और कभी-कभी अतीत का कोई बचा हुआ चिह्न पाकर प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप ग्रहण करती है।" (चिंतामणि, पृष्ठ ३५०--३५१)। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि से स्मृति और अतीत की कल्पना में, भावुकों के लिए, कोई भेद नहीं है, दोनों का प्रभाव उन पर समान रूप से पड़ता है। स्मृतिस्वरूपा स्मृत्याभास कल्पना के मार्मिक प्रभाव का कारण वे यह बतलाते हैं कि वह सत्य के आधार पर स्थित है। यहाँ 'सत्य' से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य 'केवल वस्तुतः घटित वृत्त' से ही नही प्रत्युत 'निश्चयात्मकता से प्रतीत वृत्त' से भी है। कहना न होगा कि इस 'निश्चयात्मकता से प्रतीत वृत्त' का आधार वह 'विश्वास' होता है जिसके मूल में परंपरा से सुनी और पढ़ी बातें निहित रहती हैं। पर निश्चयात्मकता में सर्वथा विपरीत प्रमाणों द्वारा धक्का लगने पर सजीव कल्पना न जागरित होगी। स्मृतिस्वरूपा कल्पना जगाने के लिए यह आवश्यक है कि चाहे आप्त वचन वा इतिहास द्वारा अपुष्ट वृत्त ही हो, पर कल्पना के आश्रय को उस पर विश्वास होना चाहिए। ऊपर हम देख चुके हैं कि स्मृत्याभास कल्पना का आधार दो वस्तुएँ होती है, एक तो सुनी वा पढ़ी बातें, जिनका संबंध आप्त वचन वा इतिहास से होता है और दूसरा शुद्ध अनुमान।

इतिहासाधृत स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रसानुभूति

आचार्य शुक्ल के इस पक्ष का निर्देश हम कर चुके हैं कि स्मृत्याभास कल्पना द्वारा भी रसात्मक अनुभूति होती है। इतिहास (आप्त शब्द वा वचन) के आधार पर स्थित इस कल्पना में भी यह (रसात्मक अनुभूति) निहित है। इतिहास वस्तुतः अतीत मानव तथा उसके जीवन में घटित अनेक क्रिया-कलापों का संग्रह ही है। जैसे एक व्यक्ति का अतीत से संबंध होता है वैसे ही इतिहास का संबंध समष्टिगत मानव से है। इतिहास को पूर्णतः (एज़ ए होल) ग्रहण करने से विदित होता है कि वह अतीत के अनेक नर-जीवन का समष्टि रूप है, जैसा कि व्यक्तिगत अतीत नर-जीवन का संबंध व्यष्टि से होता है। हमें यह भी विदित है कि अतीत की स्मृति रसात्मक होती है, अतः अतीत से संबद्ध इतिहास के संकेत पर चलती स्मृत्याभास कल्पना में भी रस-संचार की शक्ति की मान्यता आचार्य शुक्ल द्वारा अनुपयुक्त नहीं प्रतीत होती। जैसे अतीत की स्मृति में मानव-हृदय को लीन

करने की शक्ति होती है वैसे ही इतिहास पर आधृत स्मृति की समानधर्मिणी कल्पना में भी समष्टि रूप में अतीत नर-जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता है।

प्रत्यभिज्ञानाधृत स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रस-संचार

कभी-कभी यह कल्पना प्रत्यभिज्ञान का रूप धारण करके भी मार्मिकता की सृष्टि करती है। जैसे इतिहास के व्यक्ति,वस्तु, व्यापार आदि को कल्पना में लाकर हम उनमें लीन होते हैं, वैसे ही किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल का दर्शन करके हम उस स्थल के व्यक्ति, वहाँ घटित घटनाओं आदि का कल्पना के साहाय्य से स्मरण करके उनमें लीन होते हैं और रस को अनुभव करते हैं। इस प्रत्यभिज्ञान द्वारा रसानुभूति के लिए सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन, गहरी भावुकता तथा तीव्र कल्पना-शक्ति अपेक्षित है, जिसके द्वारा अधिक ऐतिहासिक ब्यौरे का मूर्त विधान होगा, जिनमें तादात्म्य की क्षमता होती है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "आप्त वचन या इतिहास के संकेत पर चलने वाली कल्पना या मूर्त भावना अनुमान का भी सहारा लेती है।"––(चितामणि, पृष्ठ ३५३)।

शुद्ध अनुमानाश्रित स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रसानुभूति

इतिहास पर आधृत स्मृत्याभास कल्पना और प्रत्यभिज्ञानाधृत स्मृत्याभास कल्पना पर विचार हुआ। अब उस स्मृत्याभास कल्पना का विचार करना है जो शुद्ध अनुमान के आधार पर चलती है। यहाँ इसका संकेत कर देना आवश्यक है कि अनुमान बिना प्रत्यक्ष व्यक्ति, वस्तु आदि के नहीं हो सकता, अतः इस कल्पना में भी प्रत्यभिज्ञान की प्रक्रिया अपेक्षित है। किसी अपरिचित ध्वंसावशेष को देखकर भावुक व्यक्ति उसमें घटित अतीत क्रीड़ा-कलरव, हास-विलास, चहल-पहल आदि का अनुभव अनुमानाश्रित कल्पना के आधार पर करता है और उसमें लीन होता है। पहले किसी अपरिचित प्रत्यक्ष वस्तु का प्रदर्शन होता है, फिर इसी प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर अनुमान का सहारा लेकर कल्पना रूप-विधान करती है, जिसमें हृदय लीन होता है। इस प्रक्रिया से स्पष्ट है कि अनुमानाश्रित प्रत्यभिज्ञानरूपा कल्पना रस-संचार के उपयुक्त है। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि इस प्रकार खड़े "रूप और व्यापार हमारे जिस मार्मिक रागात्मक भाव के आलंबन होते हैं उसका हमारे व्यक्तिगत योग-क्षेम से कोई सम्बन्ध नहीं, अतः उसकी रसात्मकता स्पष्ट है।"––(चितामणि, पृष्ठ ३५३)।

ऊपर 'स्मृत रूप-विधान' की रसात्मकता का विवेचन हुआ है। इससे स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध प्रधानरूपेण अतीत से ही है। प्रश्न उठता है कि क्या अतीत वृत्त में रसात्मकता की स्थिति है? आचार्य शुक्ल कहते हैं––हाँ। उनके मतानुसार अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए जो स्वाभाविक आकर्षण है, वह मुक्ति-लोक है, जहाँ मानव अनेक बंधनों से छूटकर अपने विशुद्ध रूप में विचरता है। और हम यह देख चुके है कि आचार्य शुक्ल हृदय की मुक्तावस्था को ही रसानुभूति की अवस्था मानते हैं। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष स्मृत रूप-विधान में भी रसात्मक बोध की शक्ति है, जो आचार्य शुक्ल की मौलिक मान्यता है।

प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन द्वारा रस बोध

रसात्मक बोध के एक और रूप की विवेचना करनी है। आचार्य शुक्ल के प्रकृति-प्रेम की चर्चा हम कई स्थलों पर कर चुके हैं। वे काव्य में यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन के कितने बड़े समर्थक हैं, यह बात किसी पर अप्रकट नहीं है। उनकी धारणा है कि प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन तथा काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन दोनों में रसात्मक बोध की क्षमता विद्यमान है। यह तो सर्वमान्य है कि आज की नागरिक सभ्यता ग्राम, वन, पर्वत आदि प्रकृति की विभूति में बसकर इस रूप में दिखाई पड़ रही है। अभिप्राय यह कि आज के नगर-निवासियों के पूर्वज कभी ग्राम, वन, पर्वत पर निवास करते थे, जहाँ प्रकृति का साम्राज्य तब भी छाया रहता था और वह (साम्राज्य) अब भी किन्हीं रूपों में अक्षुण्ण है। निष्कर्ष यह कि प्रकृति से हमारा साहचर्य बहुत ही प्राचीन है। साहचर्य द्वारा हेतुज्ञानशून्य प्रेम की सृष्टि होती है। अतः प्रकृति से हमारे प्रेम की स्थापना स्वाभाविक है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि प्रकृति-प्रेम हमारे अन्तःकरण में वासना के रूप में वंश-परम्परा से विद्यमान है। ऐसी स्थिति में प्रकृति का, हमारे प्रेम-भाव का आलंबन होकर, रसानुभूति कराना स्वाभाविक ही है।

ऊपर हमने कहा है कि आचार्य शुक्ल प्रकृति को लेकर दो स्थितियों में रसानुभूति का प्रतिपादन करते है, एक प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन में और दूसरे काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन में। प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन में रसानुभूति प्रत्यक्ष रूप-विधान में रसानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसकी विवेचना हम पहले कर चुके हैं। यहाँ इस विषय में यह उद्धरण ही अलम् होगा––"मैंने पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय बहुत से ऐसे साधु देखे है, जो लहराते हुए हरे-भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों को देख कर मुग्ध हो गए हैं। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नील-वर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नीलकंठों (मोरों) को देखकर सभ्यता-भिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे दृश्यों को देखकर हर्ष होता है। हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उसके मूल में रति-भाव वर्त्तमान है, और वह रति-भाव उन दृश्यों के प्रति है।"––(काव्य में प्राकृतिक दृश्य)।

काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण द्वारा रस-बोध

अब काव्यगत प्रकृति-वर्णन में रसात्मक बोध उत्पन्न करने की क्षमता पर विचार करना है। ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन में रसानुभूति की प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रकृति-दर्शन के रति-भाव का आलंबन है। प्रकृति का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण जब काव्य में होगा तब भी प्रकृति कवि के रति-भाव का आलंबन रहेगी, क्योंकि वह (कवि) उसके प्रति प्रेम के कारण ही उसका वर्णन करता है; और जब पाठक वा श्रोता

इसको पढ़े वा सुनेगा तब उसके लिए भी यह आलंबन ही रहेगी, भाव का आश्रय वह, कवि की भाँति, स्वयं होगा। तात्पर्य यह है कि कवि, पाठक और श्रोता तीनों की दृष्टि से प्रकृति आलंबन ठहरती है। यहीं उन विषयों का भी समाधान हो जाना चाहिए जो प्रकृति को आलंबन के रूप में ग्रहण करने पर उठ सकते हैं। पहला प्रश्न तो यह उठता है कि जब रसानुभूति के लिए विभाव पक्ष--आश्रय और आलंबन--के पूरे चित्रण की आवश्यकता साहित्य-शास्त्र में उल्लिखित है तब केवल आलंबन के चित्रण द्वारा रसानुभूति कैसे होगी ? इस विषय में आचार्य शुक्ल का कथन यह है कि प्रकृति को लेकर विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यंजना भी हो सकती है, पर "मैं आलंबन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभाव (भावानुभाव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूं।"--(काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। उनका मत है कि यदि ऐसा न माना जायगा तो 'नायिका-भेद' और 'नख-शिख' के सैकड़ों ग्रन्थों की रचना व्यर्थ समझनी पड़ेगी, जिनमें आलंबन वा उसके किसी अंग मात्र का ही वर्णन होता है। विचार करने पर आचार्य शुक्ल का पक्ष बहुत सटीक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में कवि आश्रय के रूप में अपने को स्थित करके उनका वर्णन तो करता ही है, श्रोता और पाठक भी उनको पढ़ते समय या तो स्वयं आश्रय बन जाता है अथवा किसी आश्रय की कल्पना कर लेता है। साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में रस के सभी अवयवों की नियोजना के पश्चात् रस-निष्पत्ति की स्थापना का भी कारण है। वह यह कि रस-सिद्धांत की विवेचना करते समय आचार्यों के सन्मुख दृश्य काव्य ही थे, जिनमें रस के सभी अवयवों की नियोजना हो सकती है। पर पाठ्य काव्यों द्वारा भी रसानुभूति होती है, जिनमें कभी-कभी आलंबन के चित्रण-मात्र से रस-निष्पत्ति हो सकती है, क्योंकि इस अवस्था में पाठक वा श्रोता आश्रय का आक्षेप कर लेता है। अतः इस विषय में आचार्य शुक्ल की स्थापना (थीयरी) युक्ति-संगत है।

प्रकृति को आलबन-रूप में ग्रहण करने में दूसरे विवाद की आशंका यह है कि साहित्य-शास्त्रों में प्रकृति उद्दीपन के रूप में ही गृहीत है, आलंबन के रूप में नहीं; अतः यह सिद्धान्त उचित नहीं। ऐसे लोगों का पक्ष यह है कि आलंबन का चेतनायुक्त या सजीव होना आवश्यक है, जिससे वह आश्रय के भावों का ग्रहण (रिस्पांस) कर सके। और प्रकृति जड़ है, ऐसी स्थिति में रसानुभूति संभव नहीं। आचार्य शुक्ल के पक्ष से यह कहा जा सकता है कि वीभत्स रस में घृणा का आलंबन जड़ भी होता है और उसके द्वारा रस-प्रतीति होती है, अतः आलम्बन के जड़त्व को लेकर विवाद उपस्थित करना ठीक नहीं। कहना न होगा कि यह विवाद भी दृश्य-काव्य को ही लेकर है। फिर प्रकृति के यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में जड़ समझी जाने वाली प्रकृति ही, जिसमें पेड़, पौधे आदि आते हैं, उपयोग में नहीं आती, उसमें उसके सजीव प्राणियों का भी चित्रण मिश्रित रहता है। एक बात और। काव्य के क्षेत्र में वस्तुतः जड़ मानी जाने वाली प्रकृति भी प्रायः जड़ के रूप में नहीं गृहीत होती। प्रकृति पर भावनाओं का आरोप करके कविगण, जो उसे सजीव बना देते हैं, उसकी विवेचना

हम काव्य और प्रकृति पर विचार करते हुए कर चुके है। लक्षण-ग्रन्थों में उद्दीपन के रूप में गृहीत प्रकृति भी, सर्वत्र जड़ के रूप में ही चित्रित नहीं होती। वह हँसती, बोलती, सुनती, रूठती-सी भी वर्णित होती है। इस प्रकार हमें विदित होता है कि आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित यह मत कि प्रकृति-दर्शन और वर्णन में रसात्मक बोध की क्षमता है--विवेचना करने के पश्चात् ठीक उतरता है।

हाव और अनुभाव की भिन्नता

आचार्य शुक्ल ने रस के कुछ अवयवों पर अपने विचार प्रकट किए है, जो हिंदी की परम्परा के विरुद्ध जान पड़ते है। पर उनके तद्विषयक विचार संस्कृत के रस-ग्रन्थों से मेल खाते हैं। हिंदी के कुछ रस-चिंतकों ने भी ऐसी बातें कहीं है, जो आचार्य शुक्ल के विचारों के अनुकूल पड़ती हैं। आगे हम इन्हीं पर विचार करें। आचार्य शुक्ल 'हाव' और 'अनुभाव' की भिन्नता प्रतिपादित करते है--आलंबन और आश्रय की दृष्टि से। हिंदी के लक्षण-ग्रन्थों में इन्हें एक माना गया है--आश्रय की चेष्टा के रूप में। आचार्य शुक्ल का पक्ष यह है कि आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव हैं, और हाव नायिका को रमणीयता देने के लिए अलंकार मात्र है। नायिका आलंबन हुआ करती है, उसकी मनोमोहकता बढ़ाने के लिए जो अलंकार वा हाव उसके रूप-चित्रण में नियोजित किये जायँगे, वे आश्रय के भावों को उद्दीप्त करेंगे। इसलिए हाव का सीधा संबंध आलंबनगत उद्दीपन से है, आश्रयगत अनुभाव से नहीं। (देखिए, काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ५८-५९ और गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ १०१-१०२)। विचार करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य शुक्ल का पक्ष काव्य शास्त्रानुमोदित है। अनभाव और हाव की पृथक्-पृथक् विवेचना करने से बात स्पष्ट हो जायगी। इस विषय में विचार करने से पूर्व यह समझ रखना चाहिए कि लक्षण-ग्रन्थों में नायिका प्रायः आलंबन मानी गई है और नायक आश्रय। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि इनमें विपर्यय भी हो सकता है और होता है। भानुभट्ट ने इस विपर्यय को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि कटाक्ष आदि आश्रय के हृदयगत भावों को व्यक्त करने के कारण वा साधन हैं, इस दृष्टि से तो ये अनुभाव है। पर आश्रय की इन चेष्टाओं को देखकर आलंबन के हृदय के भाव उद्दीप्त होते है, ये चेष्टाएँ आलंबन के भावों का विषय बनती है, इस दृष्टि से कटाक्ष आदि चेष्टाएँ उद्दीपन है[1]। हिन्दी में गुलाम नबी ने अपने 'रस-प्रबोध' में इस विषय में ऐसी

---

[1] ननु कटाक्षादयः कथमुद्दीपनविभावा न भवन्ति दृष्टे कटाक्षादौ कामिनोर्मनोविकारः परिपूर्णो भवति। अनुभवसिद्धत्वेनापह्नोतुमशक्यत्वात्। किंच, प्राचीनसंमतिरपि.... इत्यादयः इति चेत्। सत्यम्, कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावकत्वम्, विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्, तथा चात्मनि रसानुभवकरणत्वेन नायकं प्रति कटाक्षादयोऽनुभावाः। ते च दृष्टिगोचरीभूतः कामिनोर्मनोविकार कारयन्तो विषयत्वेनोद्दीपनविभाव इति।

--रस-तरंगिणी, तृतीय-तरंग।

ही बातें कहीं है[1]। अभिप्राय यह है कि अनुभाव का संबंध सदैव भाव के आश्रय से होता है, इसमें किसी प्रकार का विपर्यय नहीं उपस्थित होता। अनुभाव विषय-भेद से उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया जाय, यह दूसरी बात है। आलंबन की चेष्टाएँ कभी अनुभाव के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकतीं। अनुभाव के विषय में आचार्य शुक्ल यही कहते हैं।

ऊपर हमने देखा कि हाव को आचार्य शुक्ल आलंबन से संबद्ध उद्दीपन के रूप में ग्रहण करते हैं, जो उसका आलंबन होता है। वे आश्रय से इसका संबंध नहीं स्वीकार करते। अतः वह अनुभाव के समकक्ष कहीं रखा जा सकता, जैसा कि हिंदी के लक्षण काँकर कवि मानते हैं। भानुभट्ट भाव के विषय में वैसी ही बातें कहते है, जैसी कि आचार्य शुक्ल। उनका कहना है कि स्त्रियों की शृंगारिक चेष्टाएँ हाव है। ये स्त्रियों में स्वभावज है। पुरुषों में हाव स्वाभाविक नहीं प्रत्युत औपाधिक है।[2] और इसका हम निर्देश कर चुके है कि काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में नायिका आलंबन के रूप में गृहीत होती है। अतः हाव आलंबनगत है, अनुभाव से इसका कोई संबंध नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुभाव और हाव की भिन्नता के विषय में आचार्य शुक्ल का विचार युक्तियुक्त और स्पष्ट है।

उत्साह का आलंबन दुष्कर कर्म

'उत्साह' आलंबन के विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता यह है कि वह (आलबन) "कोई विकट या दुष्कर 'कर्म' ही होता है।"—(गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ११३)। शास्त्रीय ग्रन्थों में युद्धवीर के आलंबन के रूप में विजेतव्य निर्धारित किया गया है, जो शत्रु हुआ करता है। 'उत्साह' के आलंबन के विषय में आचार्य शुक्ल ने धनुष-यज्ञ का प्रसंग लेकर विचार किया है, जह धनुष ही विजेतव्य है। उनका कहना है कि धनुष तो शत्रु की भाँति ललकार नहीं रहा है। अतः उत्साह का आलंबन दुष्कर कर्म होता है। जहाँ तक जड़ आलंबन का संबंध है, आचार्य शुक्ल का पक्ष बहुत ही ठीक है, पर चेतन आलंबन के उपस्थित होने पर साहित्य-ग्रन्थों के पक्ष की अवमानना भी नहीं की जा सकती। हाँ, उत्साह का भाव जागरित होने पर कुछ कठिन कार्य करने का लक्ष्य अवश्य होता है, यह बात दूसरी है कि कार्य को हाथ में ले लेने पर वह हमारी शक्ति द्वारा सरल प्रतीत हो।

---

[1]तन विभचारिन बिछिति है, ये सब सात्विक भाव।
भावै परगट करन हित गने जात अनुभाव॥
नारी औ नर करत है जो अनुभाव उदोत।
ते वै दूजे और को नित उद्दीपन होत॥५७५-७६॥

—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र-कृत 'वाङ्मय-विमर्श', पृष्ठ २९८ से उद्धृत।

[2]नारीणां शृंगारचेष्टा हावः। स च स्वभाव जो नारीगाम्। ननु विव्वोकविलास-विच्छतिविभ्रमाः पुरुषाणामपि संभवन्तीति चेत्। सत्यम्, तेषान्त्वौपाधिकाः स्वभावजाः स्त्रीणामेव। नन्वेवं यदि तासां सदैव ते कथं न भवन्तीति चेत्। सत्यम्, उद्दीपकान्वय-व्यतिरेकाभ्यां नायिकानां हावाविर्भावतिरोभावाविति। —रस-तरंगिणी, षष्ठ तरंग।

संचारी भाव का स्थायी भावत्व

संचारी भावों पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने यह कहा है कि एक संचारी भाव दूसरे संचारी भाव का स्थायी भाव बनकर आ सकता है। उनका मत है कि कोई संचारी भाव विभाव, अनुभाव और संचारी से युक्त होकर स्थायी भाव का सा अनुभव करा सकता है, पर यह ऐसा स्थायी भाव न होगा जो रसावस्था तक पहुँचा सके। उनके कहने का अभिप्राय यह कि संचारियों के इस प्रकार के विधान द्वारा उनके स्थायी भावों की अनुभूति दबकर उन्हीं की अनुभूति होती है। अतः ये स्वतंत्र रूप से अपना कार्य करके रसावस्था के आस-पास तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। रति के संचारी असूया और अमर्ष को वे इसी कोटि में रखते हैं।--(देखिए, जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ १३४-३५)। साहित्य-ग्रन्थों में भी संचारियों की ऐसी विवेचना हुई है, अतः यह न समझना चाहिए कि उन्होंने परंपरा-विरुद्ध कोई बात कही है।

बीज भाव

'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' पर मिटा करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है कि किसी प्रबन्ध-काव्य के प्रधान पात्र वा नायक में कोई मूल प्रेरक भाव वा बीज भाव की स्थिति रहती है जिसकी प्रेरणा से काव्य का कार्य-व्यापार चलता है। इस बीज की प्रेरणा से ही अन्य भावों का भी स्फुरण होता है। प्रधान पात्रगत इस बीज भाव का कार्य वैसा ही है जैसा कि आश्रयगत स्थायी भाव का, जिससे अनेक संसारी भाव संबद्ध हैं। आचार्य शुक्ल की धारणा है कि बीज भाव प्रायः करुणा और प्रेम होता है। बीज भाव वा मूल प्रेरक भाव की प्रेरणा से कोमल और परुष दोनों प्रकार के भावों की अवतारणा काव्य में हो सकती है, और बीज भावों का सम्बन्ध यदि लोक के मंगल-विधान से होता है तो परुष वा कठोर भाव भी सुन्दर प्रतीत होते हैं। जिस पात्र में इस प्रकार के बीज भाव की स्थापना रहती है उसके साथ श्रोता,पाठक या दर्शक का तादात्म्य होता है, वह उससे सहानुभूति रखना है। यहाँ ध्यान यह रखना चाहिए कि बीज भाव की 'व्यापकता' तथा 'निर्विशेपता'--अर्थात् अधिक-से-अधिक लोक-मंगल की भावना तथा अपनत्व के अधिक-से-अधिक त्याग--के कारण ही उस में तादात्म्य उत्पन्न करने की अधिक-से-अधिक शक्ति होगी। आचार्य शुक्ल ने इस बीज भाव को साहित्य-ग्रन्थों में विवेचित स्थायी भाव और अंगी भाव से भिन्न माना है। इसकी भिन्नता पर विचार कर लेना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बीज भाव द्वारा काव्य के उसी लक्ष्य की सिद्धि होती है, जिसका सम्बन्ध रस की मध्यम दशा से, अर्थात् बीज भाव काव्यगत शील-चित्रण (कैरेक्टराइज़ेशन) से है, जिसके द्वारा, आचार्य शुक्ल के मतानुसार, रस की मध्यम कोटि की अनुभूति होती है। और स्थायी भाव की सफल नियोजना द्वारा रस की पूर्ण दशा वा उत्तम दशा की अनुभूति होती है। इस प्रकार लक्ष्य-भेद से स्थायी भाव तथा बीज भाव में भेद प्रतिपादित किया गया है--ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें भेद की विवेचना स्वयं आचार्य शुक्ल ने नहीं की है। अब अंगी भाव और बीज भाव के भेद पर

विचार करना चाहिए। अंगी भाव से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय साहित्य-शास्त्र में कथित व्यंजित (वा प्रधान रूप में व्यंजित) व्यभिचारी वा संचारी भाव से प्रतीत होता है, जो स्वतन्त्र रूप में भी विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से युक्त होकर व्यंजित हो सकता है; और जिसकी अनुभूति श्रोता, पाठक वा दर्शक को रस की पूर्णावस्था तक नहीं पहुँचाती। इसकी विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं। बीज भाव की अनुभूति रस की मध्यम दशा की अनभूति है, इसे हम देख चुके हैं, और इस अंगी भाव की अनुभूति रसावस्था तक जा ही नहीं सकती, अतः अंगी तथा बीज भाव का भेद लक्ष्यदृष्ट्या स्पष्ट है।

आचार्य शुक्ल के रस-सिद्धांत पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि प्रायः ऐसे ही विषयों पर रही है जिन पर उनकी मौलिक उद्भावनाएँ हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उनकी उपज्ञात प्रतिभा (औरिजिनल जीनियस) का उद्घाटन हो जाय।

आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का स्थान

हिन्दी आलोचना क्षेत्र में आचार्य शुक्ल द्वारा किये गये कार्यों की विवेचना करते हुए हमारी दृष्टि यथास्थान इस क्षेत्र में उनके ऐतिहासिक महत्व, उनकी उपज्ञात साहित्य-चिन्तना शक्ति, उनकी विषय-विधान-विशिष्टता वा पटुता (एफिशिएन्सी) तथा ऐसी ही उनकी अन्य विशेषताओं पर रही है। आचार्य शुक्ल उन आलोचकों में थे जो अपना मौलिक प्रस्थान स्थापित करते हैं, स्थापित प्रस्थान से चलकर सुलझी बुद्धि और परिष्कृत हृदय द्वारा साहित्य-चिन्तना के शिष्ट लक्ष्य तक पहुँचते हैं, और निर्णीत लक्ष्य को दृष्टि-पथ में रखकर इतना प्रभूत और मान्य (कन्विंसिंग) कार्य कर जाते है कि साहित्य पर उनकी अमिट छाप पड़ जाती है, अनेक साहित्यकार उनके अनुगामी हो जाते हैं। आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं ने हिन्दी साहित्य को मौलिकता तथा आत्म-निर्भरता देकर उसे कितना ऊँचा उठाया, उसका कितना परिष्कार किया, वह (हिन्दी-साहित्य) उन (आलोचनाओं) से कितना प्रभावित हुआ, यह किसी पर अप्रकट नहीं है। वे इस पर अपनी अमिट छाप छोड़ गए हैं। हमें विदित है कि हिन्दी में आलोचना का शुक्ल-संप्रदाय (स्कूल) भी है, जिसका कार्य आचार्य शुक्ल के पथ पर चलकर उनकी मान्यताओं का प्रतिपादन, समर्थन और विकास करना है। इस संप्रदाय के प्रमुख और मान्य आलोचकों में पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और पं. कृष्णशंकर शुक्ल का नाम लिया जा सकता है। आचार्य शुक्ल की आलोचना से वे भी प्रभावित हुए जिनका लक्ष्य उनसे कुछ भिन्न है। मेरा अभिप्राय छायावाद-युग के कुछ शिष्ट आलोचकों से है, जिनके अग्रणी हैं पं. नंददुलारे वाजपेयी। ये लोग भी प्रत्यक्षतः वा परोक्षतः आचार्य शुक्ल के प्रभाव से नहीं बच सके, और कुछ तो उनका प्रभाव स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। हम कहना यह चाहते हैं कि आचार्य शुक्ल ने संपूर्ण हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया—अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा। यह तो हुआ हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में उनका कार्य। भारत के अन्य साहित्य के आलोचकों को दृष्टि में रखकर जब हम आचार्य शुक्ल पर विचार करते हैं तब विदित होता है कि उनके बीच भी वे एक रत्न की भाँति जगमगा रहे हैं।

: ९ :

रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड

(शचीरानी गुर्टू)

रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड में जो निर्विवाद रूप से समानताएँ मिलती हैं, वे निम्न हैं—

एक गहरी मौलिक दृष्टि
सशक्त चिंतन और आदर्शनिष्ठ नीतिवाद
निर्णय की क्षमता
ईषत् आक्रोश
आतंकजन्य साहसिकता
सैद्धान्तिक मतवादों और वैयक्तिक अभिरुचियों का अतिशय आग्रह

साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी क्या हो, आलोचक को किन-किन रचना-तत्त्वों एवं साहित्यिक उपकरणों से अवगत होना चाहिए, युग-विशेष की अप्रतिहत गति को हृदयंगम रखते हुए किस प्रकार साहित्य-समष्टि के व्यष्टि-रूप सौन्दर्य-तत्त्व में अपनी निरपेक्ष बुद्धि को केन्द्रित कर आलोच्य सामग्री को परिपुष्ट एवं गरिमान्वित किया जाय तथा वातावरण एवं विशेष परिस्थितियों से घिरा होकर भी कैसे ऊपर उठकर रचनाओं में उन तत्त्वों का संकलन किया जाय, जो साहित्य के सनातन तथ्यों का प्रतिपादन कर सकें—आदि प्रश्न सदा से साहित्य-चिंतकों को अपनी ओर आकृष्ट करते आए हैं। मिडल्टन मरे के शब्दों में, "जिस प्रकार कला जीवन की चेतना है, उसी प्रकार समालोचना भी कला को अनुप्राणित करती है।" कला संवेदन और सहज बोध से साध्य है, आलोचना गहरी विश्लेषण-बुद्धि और तर्क-क्षमता द्वारा, लेकिन निरा तर्क और बौद्धिकता ही प्रयोजनीय नहीं, उसमें आलोचक की संवेदना का संस्पर्श तो होना ही चाहिए, अन्यथा विचारों और अनुभूतियों को प्रेष्य रूप कैसे दिया जा सकेगा। आलोचक की रचनात्मक सक्रिय प्रतिभा जब तक सर्जक के अंतर में सृजन के समय उठे सर्जनात्मक शक्ति के उद्वेग का दिग्दर्शन नहीं करेगी तो विषय से तादात्म्य न होकर अलगाव बना रहेगा और ऐसी आलोचना कसौटी पर खरी न उतर सकेगी। एक आदर्श आलोचक को दूसरे के प्रति ईमानदार रहकर साहित्यिक समस्याओं के समाधान में अपना योग प्रदान करना चाहिए। संकीर्ण भावनाओं से सर्वथा मुक्त होकर उसे कलात्मक रचनाओं के विशेष गुणों को पहचानना और उनकी अन्विति करना अनिवार्य है। सत्साहित्य की वन्दना के लिए उसे अपने मन-मंदिर के द्वार पर ताला न लगा लेना चाहिए और विश्व-साहित्य की धड़कन सुनने के लिए

उसे अपने कान मूँद कर कही अन्यत्र न भाग जाना चाहिए। वस्तुतः सच्चे समालोचक के लिए युग-सत्य एवं युग-युग के सत्य में कोई विरोध नहीं। उसके सृजनात्मक व्यौरों में युग सबसे अधिक सचेत होकर उतरता है। उसकी बुद्धि में वह प्रखरता, उसकी रुचि में वह सौष्ठव और उसकी दृष्टि में वह पर्यवेक्षण-शक्ति तो हो, जो गहन से गहनतम स्तर को स्पर्श करती हुई वस्तु के मर्म में पैठ झाँके, किन्तु प्रतिपादन की प्रबलता के साथ-साथ आलोचक में समन्वयशील तत्त्व भी होने चाहिए।

चेखव ने एक बार चिढ़ कर लिखा था, "आलोचक तो घोड़े की वह डाँस है जो डंक मारकर उसे हल चलाने से रोकती है" और सिबेलियस का यह आक्षेप भी "याद रक्खो समालोचक के लिए कभी किसी ने कोई स्मारक खड़ा नहीं किया" अब बहुत कुछ अंशों में अपना महत्त्व खो चुका है। आज का साहित्य समालोचकों की कृतियों से बहुत कुछ उपकृत है और कौन जाने आने वाला युग उनकी कितनी बडी कीमत आँकेगा।

रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड के पूर्व तत्कालीन आलोचना मुख्यतः भावावेश-जन्य थी। वह जिन संकीर्ण नालियों से होकर गुज़र रही थी और अयोग्य हाथों में पड़ जिस लक्ष्यहीन मार्ग का अनुधावन कर रही थी——वह इन दोनों के द्वारा परिष्कृत और संवर्द्धित होकर एक दूसरी ही दिशा की ओर मुड़ बह चली। उन दिनों आलोचकों में पक्षपात की प्रवृत्ति विशेष थी। वे आलोच्य सामग्री की विशेषताओं पर ध्यान न देकर गुण ही गुण अथवा दोष ही दोष का दिग्दर्शन कराते थे जिससे साहित्यिक समालोचना के आधारभूत तथ्यों को समझना-समझाना और अच्छे-बुरे की पहचान करना अत्यन्त कठिन हो जाता था। जब हम आलोचकों की इस पूर्ववर्ती पीढ़ी की ओर दृष्टिपात करते है तो लगता है कि वे समीक्षा से अलग हैं, उच्छिन्न है, अनाधार है। कहने की आवश्यकता नही कि इन दोनों मनीषियों ने समीक्षा-साहित्य को एक नवीन दिशा की ओर उत्प्रेरित किया, उसमें एक नवीन चेतना भरी और अपनी सत्य-वृत्ति एवं उत्कट विवेचना-शक्ति के द्वारा उसकी परिधि को व्यापक बनाया। देशकाल की परिस्थिति एवं जातीय विभेद होते हुए भी दोनों के दृष्टिकोणों में कुछ ऐसा साम्य है, उनके स्वभाव, रुचि-वैचित्र्य और विचारों में कुछ ऐसी स्पष्टता है तथा उनकी सूझ, गाम्भीर्य और मौलिक उद्भावना में ऐसी अतल गहराई है, जो स्वस्थ आलोचना के सामूहिक तत्त्वों के समन्वय में अपनी क्रियाशीलता का परिचय देती है। मौज़ूदा स्थिति की कितनी ही बाधाएँ सामने थी, पर इनकी प्रतिभा के समक्ष टिक न पाई। इस अवरुद्ध ओर गतिहीन वातावरण में उन्होंने साहित्य की विधायक ऐसी गवेषणात्मक पद्धति खोज निकाली जो आलोचना का स्वतन्त्र निर्माण, विकास और संरक्षण कर सकी। चूँकि आलोचना अस्वस्थ मानस की उपज नहीं हो सकती थी, उन्होंने स्वच्छन्दतावाद अथवा निरे सत्तावाद की अवहेलना कर उत्तरदायी आलोचना प्रणाली को प्रश्रय दिया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है कि वे समय के प्रवाह में हवा के रुख की तरह न बहकर स्थितप्रज्ञ दिग्दर्शक की भाँति समीक्षा के कलात्मक

स्वरूप के विश्लेषण और मूल्य-निर्धारण में लगे रहे और अपनी संपूर्ण कृतियों में अपना कलामर्मज्ञ, एकनिष्ठ एवं सूक्ष्मदर्शी आलोचक का रूप कभी न भूले।

आलोचना की पट-भूमि

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं—आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह सत्य को निरंतर टटोलता रहे और अपनी निस्संशय दृष्टि एवं सदाशयता से उसे उत्तरोत्तर निकट लाने की चेष्टा करे। यदि उसमें पक्षपात अथवा हीन भावना है तो उसकी समीक्षा उसके तर्क का सत्य तो हो सकती है, किन्तु साहित्यिक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। सामयिकता को लाँघ कर जो विषय की गहराई को नाप लेता है—उसकी कृति उतनी ही सत्य के अनुरूप होती चलती है और देश-काल की परिधियों का अतिक्रमण करती हुई वह उतनी ही स्थायी और सर्वव्यापी हो जाती है।

रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड में उक्त प्रकार की निरपेक्ष बुद्धि एवं प्रौढ़ जागरूकता का प्रस्फुटन पूर्णरूपेण न भी हुआ सही, तो भी उनकी आत्मा के संस्कार और व्यक्तिगत रुचि एक विशेष संस्कृति के दायरे में मर्यादाबद्ध थी और उन्होंने जिसे सुन्दर एवं शिवरूप समझा उसी को—सत्य का पल्ला पकड़—वे लिखते रहे। उनकी अपनी कुछ निजी धारणाएँ ऐसी दृढ़ थीं कि अपने प्रति सच्चे रह कर उन्होंने निर्भीक और निश्चित बुद्धि से अपनी उच्च काव्य-भावना और समीक्षा-संबंधी पैमानों के अनुरूप दूसरे के प्रति अपने दायित्व को प्रकट किया। वे छोटी-मोटी बातों अथवा छिछली सहानुभूति के वशीभूत न होकर एक सजग तटस्थता के साथ अपने चारों ओर पारदर्शी अन्वीक्षक की नाई देखते और लिखते रहे। उनकी अंतर्भेदिनी दृष्टि जहाँ तक टटोल सकी, जिन दूरगामी निष्कर्षों तक पहुँच सकी तथा जिन गूढ और महत् तथ्यों तक ध्यान आकृष्ट कर सकी—वह अविस्मरणीय है—उसे भुलाया नहीं जा सकता। रामचन्द्र शुक्ल के कतिपय आलोचनात्मक निबंध और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' जिस प्रकार उनकी अपनी अनुभूतियों का दर्पण है उसी प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड की 'एस्सेज़ इन क्रिटिसिज़्म (Essays in Criticism), 'कल्चर एण्ड एनार्की' (Culture and Anarchy), थियरी ऑफ पोइट्री' (Theory of Poetry) और अन्य छुटपुट रचनाओं में उसके व्यक्तित्व का वह संचित समग्र रूप प्रकट हुआ है, जो उसके व्यावहारिक निरीक्षण के विविध जीवन-तत्त्वों को थामे हुए हैं। सन् १८६५ में जब सर्वप्रथम मैथ्यू आर्नल्ड की पुस्तक 'एस्सेज़ इन क्रिटिसिज़्म' प्रकाशित हुई तो साहित्यिक-क्षेत्र में अपनी विशिष्ट शैली, नवीन दृष्टिकोण, निरंकुश विचारधारा और दिलचस्प विषयों की व्यापकता के कारण उसने तहलका मचा दिया। आज तक कोई ऐसी ज़ोरदार समालोचनात्मक पुस्तक कम से कम इंग्लैंड में न निकली थी, जो एक साथ देशीय एवं वहिर्देशीय कवियों पर इतनी मर्मगत, व्यापक और वृहद् विचारधारा का दिग्दर्शन कराती। इसके प्रथम दो निबंधों में ऐसे समस्त समकालीन आलोचकों की भर्त्सना की गई थी, जो संकीर्ण एवं व्यक्तिवादी

विचारों, पक्षपातपूर्ण धारणाओं और राग-द्वेष में पड़ कर सच्चे साहित्य-शिल्पियों की अवज्ञा करते हैं और अहंकार, हीन-भावना व अपूर्ण ज्ञान के कारण दूसरों की विशेषताओं पर पानी फेर देते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए उसने व्यंग्य और आक्रोश में 'फिलिस्टाइन' (Philistine) शब्द का प्रयोग किया, जो हेन (Heine) से उधार लिया गया था। यद्यपि लेखक ने तत्कालीन साहित्यिकों पर गहरी चोट की थी और उसकी शब्द-संस्थिति भी पर्याप्त सचोट एवं अच्छे-बुरे की निषेधात्मक सीमा-रेखाएँ थीं, तथापि अपनी आलोचना में उसने जिन ज़ोरदार शब्दों, मुहावरों और वाक्यांशों का प्रयोग किया था, वह बहुत कुछ फ्रेंच गद्य की पद्धति पर था। मैथ्यू आर्नल्ड फ्रांस के समकालीन दो समालोचकों संत ब्यूवे (Sainte Beuve) और रेनान (Renan) से अत्यधिक प्रभावित था और उसने अपने गद्य-निर्माण में उन्हीं की प्रणाली को अपनाया था।

अंग्रेज़ी आलोचना की जिस प्रारम्भिक अवस्था में मैथ्यू आर्नल्ड का आगमन हुआ था--- वह साहित्य-समालोचकों के अनुरूप न होकर उन्हें दुर्दांत परिस्थितियों में जकड़े हुए था और अनेक बाधाओं, व्यवधानों के कारण उनकी प्रतिभा मुरझा कर रह जाती थी। मैथ्यू आर्नल्ड ने परिस्थितियों को लाँघ कर और सदा से आती हुई साहित्यिक-परम्पराओं से सर्वथा विमुख न होकर, किन्तु कुछ पृथक् हटकर, आलोचना की नूतन पद्धतियाँ निकालीं, जिससे तात्कालिक साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने जिस स्पष्टता एवं पैनी निगाह से दूर की वस्तु को पास रख कर जाँचा-परखा और उसके मूल्य को ठीक ठीक आँकने की चेष्टा की---वह कटु सत्य होते हुए भी निर्णीत रूप में सबके समक्ष आया। उसके द्वारा समीक्षा-साहित्य ने एक नवीन चेतना और सजीवता ग्रहण की। कुछ छुटपुट तीखे व्यंग्य, ज़ोरदार मुहावरों और सुजड़ित शब्दों द्वारा लेखक ने अपने चित्रों में निज प्राणों की इतनी श्रेष्ठ पूँजी, विविधता, रंग-वैषम्य, अपने अभिमत, विधि-निषेध ओर मत-विश्वास भर दिये हैं कि उनका अध्ययन करते समय पाठक का ध्यान उनके औचित्य एवं अनौचित्य पर न जाकर उनकी विलक्षण गरिमा में खो जाता है। लेखक के व्यक्तिगत दृष्टिकोण और तर्कों का विश्लेषण इतना सबल है कि तर्क स्वयं सशरीर नेत्रों के समक्ष खड़े हो जाते हैं और लेखक का व्यक्तित्व पीछे छूट जाता है। 'एस्सेज़ इन क्रिटिसिज़्म' में मैथ्यू आर्नल्ड के निजी सिद्धांतों का विवेचन अधिक है और उसके शब्दों का चुनाव, भाषा की चित्रोपमता, वर्णन की सजीवता, बारीकी और सूक्ष्मदर्शिता दर्शनीय है।

शुक्लजी ने भी इसी प्रकार साहित्यिक द्वन्द्वावस्था और संकुचित परिस्थितियों को परख कर युगानुरूप साहित्य-सर्जन किया था और अपनी अन्तर्भूत धारणाओं की दृढ़ नींव पर विचित्र साहस और विद्रोहात्मक शक्ति का परिचय देते हुए स्वस्थ समीक्षा से अपना सक्रिय संपर्क जोड़ा था। तत्कालीन लेखकों की पक्षपातपूर्ण प्रवृत्ति और समुचित पथ-प्रदर्शन के बिना उन दिनों हमारा आलोचना साहित्य सर्वथा एकांगी और उपेक्षित था। आलोचक अपने दायित्वों के प्रति जागरूक न था, वरन् यों कहें कि

वह अपने कर्त्तव्य-ज्ञान से बिल्कुल अनभिज्ञ था और एकपक्षीय एवं दलगत भावनाओं में पड़ कर उसकी दृष्टि इतनी एकांगी हो गई थी कि वह शाब्दिक कलाबाज़ियों के अतिरिक्त कोई मौलिक उद्भावना न कर सकता था। समालोचना के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए शुक्लजी लिखते हैं:--

"समालोचना के संबंध में हमें इतना ही कहना है कि इधर शुद्ध समालोचनाएँ कम और भावात्मक समालोचनाएँ बहुत अधिक देखने में आती हैं, जिनमें कवियों की विशेषताएँ हमारे सामने उतनी नहीं आतीं जितनी आलोचकों की अपनी भावनाओं की अलंकृत छटा। पर किसी कवि की आलोचना कोई इसीलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिए नहीं कि आलोचक की भावभंगी और पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।"

शुक्लजी ने इन शतरंजी चालों से पृथक् हटकर चतुर्दिक वातावरण पर व्यापक दृष्टिपात करने के पश्चात् समीक्षा के मूलभूत तत्त्वों को पृथक्-पृथक् स्पर्श किया और एक कुशल चित्रकार की भाँति हल्की-गहरी सभी प्रकार की रेखाओं को अंकित करके उनमें अपनी सच्ची अनुभूतियों का रंग भरा। वे ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने इस अनिश्चित् क्षेत्र को पहले पहल नापने का प्रयास किया। शुक्लजी के मैदान में आते ही समालोचना साहित्य बड़े वेग से आगे बढ़ने लगा। कारण स्पष्ट है--वे उत्तेजक, काल्पनिक एवं क्षणिक प्रवृत्तियों में न पड़ कर हिन्दी गद्य को परिपुष्ट करने में लगे रहे और तात्कालिक साहित्य की निर्जीव एवं भावशून्य आत्मा में अपनी जीवन्त शक्ति, आत्मिक-सौंदर्य और दिव्य सात्विक-दीप्ति का आलोक भरने की सतत चेष्टा में संलग्न रहे। उन्हीं के शब्दों में "हम योरप में हर एक उठी हुई बात की ओर लपकना छोड़ दें, समझ-बूझ कर उन्हीं बातों को ग्रहण करें, जिनका कुछ स्थायी मूल्य हो, जो हमारी परिस्थिति के अनुकूल हो।" साहित्य-समीक्षा के लिए शुक्लजी ने सांस्कृतिक आदर्शों को अपनाया, किन्तु उस संकुचित अर्थ में नहीं, जो केवल जराजीर्ण रूढ़ियों और पुराणपंथी मनोवृत्तियों को उकसाने वाला था। कहीं से भी और किसी की भी उपयोगी बातों को ग्रहण करने में वे अपनी हेठी न समझते थे--हाँ, ऊपरी सतह पर मँडराने की अपेक्षा वे गहराई में पैठकर कुछ पा लेने के सदैव पक्षपाती रहे। एक स्थल पर वे लिखते हैं, "भारतवर्ष का संपर्क संसार के और लोगों से बढ़ रहा है, यदि हममें विवेक-बल रहेगा तो हम चारों ओर से उपयोगी और पोषक सामग्री लेकर और पचाकर अपने साहित्य को पुष्ट एवं दृढ़ करेंगे, यदि यह विवेक-बल न रहेगा तो जैसे अनेक प्रकार के रोगों ने आकर यहाँ अड्डा जमा लिया है--वैसे ही अनेक प्रकार की व्याधियाँ आकर हमारे साहित्य को ग्रस लेंगी और उसका स्वतन्त्र विकास रुक जायगा।"

शुक्लजी ने भारतीय वातावरण के अनुरूप, किन्तु पाश्चात्य साहित्य-शैली को माध्यम बनाकर समीक्षा के ठोस उपादानों को एकत्र किया और निर्दिष्ट सीमा के भीतर उसकी बद्ध आत्मा को जीवन के व्यापक क्षेत्र में ला रखा। उनमें निजी मतवादों का आग्रह

भले ही हो, परन्तु जीवन की व्यापक चेतना के सूत्रों को उद्बुद्ध करने और आलोचना के मानों को नवीन व्यवस्थाओं से सम्बद्ध करने में उन्होंने भरपूर योग दिया। निःसन्देह रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड दोनों ने अपने लेखों से यह प्रमाणित कर दिया कि साहित्यकार परिस्थितियों की देन नहीं, अपितु उसका शक्तिशाली व्यक्तित्व साहित्य में नवीन चेतना उत्पन्न कर देने वाला और परिस्थितियों को अभीष्ट दिशा में उन्मुख कर देने वाला होता है, यद्यपि इसका ज्ञान उस समय बहुत कम लोगों को हो पाता है।

व्यक्तिगत रुचि

स्वतन्त्र चिन्तन, स्पष्टता एवं वैयक्तिक तथ्य-दर्शन में प्रायः ये दोनों ही महारथी सहज अविजेय हैं। उनका आत्म-विश्वास इतना गहरा है, उनकी राय एकदम निर्णीत और खुली होती है, उनकी बुद्धि इतनी सतर्क एवं उद्बुद्ध है और वे अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि को इतना प्राधान्य देते हैं कि उनके तर्कों की निर्मम मौलिकता हमारी सहज बुद्धि को आच्छन्न कर लेती है। उनकी रचनाओं के मर्म में पैठ कर यदि हम उनके हृदय की गहराई में झाँकने का प्रयास करते हैं तो हमारी दृष्टि उनके स्पष्ट और निर्भीक विश्लेषणों में इस क़दर जा भटकती है कि हम बहुत कुछ तर्कबद्ध समझते हुए भी उन्हें अवश्यम्भावी समझ लेते हैं तथा उनके समाधान से सहज ही सहमत हो जाते हैं। यदि हमारे हृदय में उनकी धारणाओं के प्रति कुछ संशय की गुंजायश होती भी है तो वह उनके सबल विश्वास में आकर खो जाती है और हम उनकी भावनाओं, विचारों एवं भाषा की सहज गति के साथ इस प्रकार आगे बढ़ते चलते हैं कि हमें पीछे मुड़कर देखने का अवकाश ही नहीं मिलता।

रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड की कृतियों में उनके दुर्दम्य व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। चूँकि उन्हें अनेक सामयिक समस्याओं का सामना करना पड़ा था, अतएव उन्होंने जो मार्ग एक बार चुन लिया——उसी पर वे अन्त तक चलते रहे। अपने आदर्शों एवं अनुभूत तथ्यों के अनुरूप उन्होंने जो रेखायें अंकित की हैं——वे अत्यन्त गहरी और अमिट हैं। तीव्र जिज्ञासा होते हुए भी उनके मन में ऐसी कट्टरता अन्तर्निहित है कि उनके हृदय की सत्यता की तस्वीर हमारे मस्तिष्क पर अंकित हो जाती है। वे निरन्तर कुछ टटोलते से रहते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि वे पूरी तरह से अपने को अभिव्यक्त कर पाकर भी संतुष्ट नहीं हो पाते। जिस किसी के प्रति उनके मन का झुकाव है——उसी से बुद्धि की लड़ाई ठन पड़ती है। अतीत के प्रति असंतोष, भविष्य के प्रति उत्कंठा और वर्त्तमान की असंगत बातों से उन्हें चिढ़ है। उनके मन में उत्साह है, सत्साहित्य के प्रति अटल श्रद्धा है, वे बहुत कुछ समझने और समझाने की चेष्टा करते हैं, किन्तु दक़ियानूसी और उच्छृंखल बातों से उन्हें अत्यन्त घृणा है, अतएव कहीं कहीं वे दर्शक से प्रदर्शक हो गए हैं और कहीं इस प्रकार अधिकारपूर्वक अपने विचारों को प्रकट करते हैं कि मानों जिसे वे उचित अथवा अनुचित समझते हैं——उसे दूसरे भी ठीक वैसा ही समझें।

किसी के प्रति तिरस्कार या बहिष्कार का भाव न रखते हुए भी उनके मन में बहुत-सी अनुत्तरदायी मर्यादाहीन बातों के लिए सदैव द्वन्द्व छिड़ा रहा। शुक्लजी ने शृंगारिक भावनाओं की अपेक्षा उन पुरातन कलादर्शों पर लिखी कविता को अधिक उत्तम माना "जो मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठा कर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जाति के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत संबंध का सौंदर्य दिखाई पड़ता है और इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है।" शुक्लजी मानों आदर्शों के उत्तुग हिमाचल पर खड़े होकर अपनी सहज गरिमा से नीचे दृष्टिपात तो करते रहे, किन्तु जीवन के वैभिन्न्य में श्रेय और हेय इन दो पक्षों की पृथक् सत्ता मानते हुए भी उनमें पूरी तरह समन्वय न कर पाए। उन्होंने कविता को शाश्वत सत्य तो माना, किन्तु सांस्कृतिक आदर्शों को वस्तुवादी दृष्टिकोण से न देख सकने के कारण उनके मन में उलझाव पैदा हो गया, जिससे आदर्श एवं यथार्थ विषयक भ्रांति को वे स्पष्ट न कर सके। इसके विपरीत मैथ्यू आर्नल्ड ने "कविता को मूल में जीवन की आलोचना" स्वीकार किया। शुक्लजी ने अपनी परिभाषा में भाव-पक्ष पर बल दिया, मैथ्यू आर्नल्ड ने बुद्धि-पक्ष पर। एक ने काव्य की रसात्मकता और व्यंजना का क्षेत्र संकुचित अर्थों में प्रकट किया, दूसरे ने जीवन-अनुकृति को ही श्रेय की प्रेयरूपा अभिव्यक्ति माना, किन्तु दोनों में ही वह अभि-प्रेत व्याख्या न हुई जो काव्य की अन्तरंग आत्मा को स्पर्श करती हुई रूप और विषय, व्याख्या और मूल्यांकन, वस्तुपरक और आत्मनिष्ठ—इन दो ध्रुवान्तों को एक कर पाती।

शुक्लजी के विचार लोक-भावना पर आधारित हैं। वे संकुचित व्यक्तिवाद से व्यापक लोकवाद को अधिक महत्त्व देते हैं और इसी पैमाने पर उन्होंने अपने काव्य-संबंधी सिद्धांत और धम का स्वरूप स्थिर किया है। कला अथवा साहित्य में वासनाजन्य अनिय-न्त्रित भावुकता, व्यक्तिनिष्ठ निःप्रयास चिन्तना और भोंडी प्रचारात्मक वृत्ति उन्हें पसन्द न थी, वरन् वे उन मानवीय संवेगात्मक अनुभूतियों का सम्मान करते थे, जो लोक-मंगल और जीवनोन्मुखी जागरूकता की संवाहक बन कर मरुभूमि में अपनी रसमयी धारा से सिंचन करती हुई जीवन की क्लान्ति को हर लेती हैं। सूर के कृष्ण की अपेक्षा तुलसी के लोक-संस्थापक राम पर वे अधिक मुग्ध थे। वे उस पुनीत कला की वन्दना करते थे, जो सद्विचारों की प्रेरक और मन-प्राण को स्पंदित करने वाली होती है। मैथ्यू आर्नल्ड ने कलापक्ष को निखारने वाले समस्त उपकरणों का संकलन करके जीवन के अखण्ड, अटूट पट पर उन तत्त्वों को भी सम्मिलित कर लिया, जो आचार की उपेक्षा करते हुए भी सुन्दर और चित्ताकर्षक होते हैं। यद्यपि उनमें अन्तःकरण को आह्लादित करने वाले नैसर्गिक गुणों का अभाव था, तो भी वे कुछ देर के लिए मन-बहलाव तो कर ही सकते थे।

हठधर्मी

शुक्लजी और मैथ्यू आर्नल्ड के मूलगत सिद्धांतों की एक और विशेषता यह है कि वे जिसे स्वीकृत सत्य मानकर चलते हैं उस पर इस प्रकार अड़ जाते हैं कि जरा भी टस से मस नहीं होते। वे हठीले साहित्यकार हैं और अपने प्राणवान व्यक्तित्व एवं उदग्र भावनाओं के कारण अनजान में कई बार अवज्ञाशील हो जाते हैं। २२ दिसम्बर, सन् १८६४ में मैथ्यू आर्नल्ड ने अपने एक मित्र मिस्टर डाइक्स केम्पवेल को पत्र लिखते हुए तत्कालीन कवि टेनीसन के संबंध में अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की थी, "मैं टेनीसन को किसी भी रूप में महान् और शक्तिशाली आत्मा नहीं समझता जैसे कि आधुनिक चिन्तन-क्षेत्र में गेटे को, गंभीर मनन में वर्ड्सवर्थ को और भावुकता में बायरन को समझता हूँ। जब तक कोई, विशेष रूप से इस युग का कवि उक्त ढंग का नहीं है, तब तक मैं उसमें कोई दिलचस्पी नहीं लेता और मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऐसा कवि कभी भी जीवन में चरम स्थिति पर नहीं पहुँच सकता।"

["I do not think Tennyson a great and powerful spirit in any line, as Goethe was in the line of modern thought, Wordsworth in that of contemplation, Byron even in that of passion; and unless a poet, especially a poet at this time of day, is that, my interest in him is only slight, and my conviction that he will not finally stand high is firm."]

'इन मेमोरियम' (In Memoriam) के अमर कवि टेनीसन के संबंध में मैथ्यू आर्नल्ड की यह उक्ति हमें आश्चर्य में डाल देती है और उसकी अपेक्षा बायरन को अधिक महत्व देना तो और भी बेतुका-सा लगता है। किन्तु किन्हीं अज्ञात कारणों से वह अपने समकालीन अंग्रेज़ कवियों की कभी प्रशंसा न करता था। इसका कारण कोई व्यक्तिगत द्वेष अथवा संकीर्ण वृत्ति न थी क्योंकि हीन-भावना अथवा मानापमान के छिछलेपन से वह ऊपर उठ चुका था, लेकिन जैसा कि उसके मित्र लॉर्ड कॉलरिज ने कहा है, "वे उसकी उपस्थिति में मुरझा जाते थे।" मैथ्यू आर्नल्ड का स्वभाव ही कुछ ऐसा था कि वह अपने वर्त्तमान से संतुष्ट न होता था और उसके स्वजातीय समकालीन लेखकों के व्यक्तित्व उसके अपने निजी व्यक्तित्व के ऊपर ठहर न पाते थे। इससे सहज ही उसमें प्रतिस्पर्द्धा की भावना जाग्रत हो जाती थी। व्यक्तिगत पक्ष में वह अपनी मन की प्रतीति पर इतना आ टिका था कि सूक्ष्म अनुभूति की उपेक्षा कर बैठा। शेली के संबंध में उसने लिखा है, "वह उस सुन्दर, विफल देवदूत की भाँति है, जो व्यर्थ ही शून्य में अपने चमकीले पंख फड़फड़ाता है।"

[" A beautiful and ineffectual angel beating in the void his luminous wings in vain."]

अपनी अत्यधिक तीव्र कल्पना के कारण अंग्रेजी का प्रसिद्ध रूमानी कवि शेली न

जाने कितने विलक्षण सपने अपनी पलकों में नित्य सँवारता रहा था और उसकी आकाशचारी प्रतिभा ने यथार्थ की कठोर भूमि को कभी स्पर्श न किया था, अतएव जहाँ तक उसमें कोरी कल्पना का प्राधान्य है, वहाँ तक मैथ्यू आर्नल्ड का यह कथन आंशिक रूप से सत्य कहा जा सकता है। लेकिन शेली की मूल आत्मा सच्चे कवि की थी, उसकी स्वप्नशील सौंदर्यलुब्ध दृष्टि ने निर्भर आनन्द एवं उल्लास को व्यंजित करने वाली विराट् रेखाएँ उभारी थी, अतः विफल देवदूत कहकर उसकी अवहेलना करना कहाँ तक समीचीन है—नहीं कहा जा सकता। शृंगारिक भावुकता और अधिक रस-मग्नता के कारण मैथ्यू आर्नल्ड कीट्स से भी मरते दम तक समझौता न कर सका था। अपनी टक्कर के प्रतिद्वन्द्वी आलोचक ड्राइडन (Dryden) के प्रति उसमें गहरी स्पर्द्धा थी और 'An Evening's Love' की भूमिका में वह अपना यह विरोध और द्वन्द्विता का भाव व्यक्त किए बगैर रह नहीं सका है। पोप (Pope) और बर्न्स (Burns) के लिए उसने लिखा है कि उनमें व्यंजक गांभीर्य की कमी है, अतएव उनके कृतित्व की उपादेयता को आँका नहीं जा सकता। वस्तुतः अपनी निजी धारणाओं पर वह इतना दृढ था कि दूसरे के विश्वास उसे आसानी से पकड़ न पाते थे।

आयरिश कवि बर्क (Burke) के संबंध में मैथ्यू आर्नल्ड लिखता है, "इतने महान् व्यक्ति के विरुद्ध, जो राजनीति में महान्, साहित्य में धुरन्धर, देश-प्रेम में अग्रगण्य और विचारशक्ति में अद्वितीय है—मैं कुछ कहूँ इसके लिए ईश्वरादेश नहीं है। किन्तु वह अंग्रेज़ी-गद्य का सब से बड़ा लेखक है—इस मत से मैं विनम्रतापूर्वक असहमत हूँ। अंग्रेज़ी का सब से महान् गद्य-लेखक शेक्सपीयर है। मेरे विचार से बर्क ने तो अपने हम-वतन गोल्डस्मिथ अथवा स्विफ्ट की भाँति भी कभी स्वच्छ अंग्रेजी न लिखी। वह अत्यन्त स्पष्ट और गज़ब का मुखर और वाक्पटु तो हो सकता था, पर मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार वह बेकन, मिल्टन, ड्राइडन अथवा सर टॉमस ब्राउन की ऊँचाई को नहीं छू सकता था।"

["Heaven forbid that I should say a word against that great man—great in politics, great in literature, passionate in patriotism, fertile in ideas. But to the proposition that he was the greatest writer of English prose I respectfully demur. The greatest writer of English prose is Shakespeare. I do not think that Burke wrote as pure English as his compatriot Goldsmith, or even as Swift. Eloquent, massively eloquent, as he can be, he does not in my judgement rise to the level of Bacon, or Milton, or Dryden, or Sir Thomas Brown."]

तात्कालिक कवि-कलाकारों की उन्मुक्त, उच्छृंखल दृष्टिभंगी से मैथ्यू आर्नल्ड कभी सामंजस्य स्थापित न कर सका। यद्यपि उसने एक स्थल पर लिखा है कि कवि को जीर्ण एवं शिथिल अतीत से लगाव छोड़ कर वर्त्तमान् पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए,

तथापि अन्य कई स्थलों पर उसने पुरातन कल्प-विधानों को ही साहित्य की श्रेष्ठ और सच्ची कसौटी माना है। ग्रीक साहित्य, उसकी दृष्टि में, सौंदर्य का उन्नायक और निर्णीत काव्य-सिद्धान्तों का मूर्त प्रतीक है। उसकी महनीयता की तह में कितने ही अनुभूत तथ्य समाहित हैं और काव्य में निर्दिष्ट भासमान तत्त्व तभी प्रकट होते हैं जबकि उर्वर मस्तिष्क, जिसमें कवित्व-शक्ति भी है, विषयानुरूप गंभीर प्रभाव और अंतर्तत्त्वों को उद्‌बुद्ध करता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा है—"यूनानी साहित्यकार उदात्त शैली (Grand Style) के प्रवर्त्तक थे। अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त और अन्य यूनानी लेखकों की अद्वितीय कृतियाँ हज़ार जिव्हाओं से पुकार कर अपनी महत्ता की कहानी कह रही हैं—सब कुछ विषय पर निर्भर है, अनुरूप वस्तु को चुन लो, तत्पश्चात् चतुर्दिक् परिस्थितियों को भाँप लो—ऐसा करने से मानों स्वयं ही सब कुछ सिद्ध हो जायगा।"

अतीत की छाया वस्तु को महान् बनाती है और वही उसके सौंदर्य का मूल और माप है। मैथ्यू आर्नल्ड को विद्यमान लेखकों की कृतियों में प्रभाव की वह गहराई और अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता नज़र न आई जो साहित्य के परीक्षण की कसौटी पर खरी उतर सकती। यहाँ तक कि गेटे के 'फॉस्ट' (Faust) को, हालाँकि उसने उसे आधुनिक महान् कवि की, वरन् तमाम युगों के महान् आलोचक की महान् कृति स्वीकार किया, तथापि मानव के मस्तिष्क की भ्रान्त कल्पना कह कर (भले ही वह कविता में कितना ही महत् प्रयास क्यों न हो) उसे अत्युक्तिपूर्ण भी बताया।

मैथ्यू आर्नल्ड ने नये लेखकों को पथ-प्रदर्शक चुन लेने की आवश्यकता पर बल दिया है, पर इसके लिए भी उसने प्राचीन क्लासिकल साहित्य के सर्जकों के कृतित्व को ही मूल भूमि स्वीकार किया है। अपनी आलोचना पुस्तक 'The Preface of 1853' में उसने अपने समसामयिक अंग्रेजी लेखकों की जगह-जगह भर्त्सना की है और 'The Study of Celtic Literature' में कीट्स और शेक्सपीयर को केल्टिक मतवादों से प्रभावित बताया है। उसे आधुनिकों मे लोक-जीवन के हितकर उपकरणो का सर्वथा अभाव लगा, इस युग की ह्रासोन्मुखी संकीर्ण वृत्तियों में अंतरतम ऐक्य की निष्ठा अथवा सर्वांगीण वृत्तियों में मानव-चेतना के प्राणप्रद पोषक तत्त्व यों भी खोजे नही मिलते, यहाँ तक कि शेक्सपीयर तक में, जिसका कि मैथ्यू आर्नल्ड अन्ध भक्त है, जिसकी कृतियों को वह साहित्यिक बाइबिल मानता है तथा जिसके सम्बन्ध में उसने यह दावा किया है कि 'सारा विश्व उससे बेहतर चीज़ नही दे सकता था'—उसकी कृतियों तक को उसने सदोष माना है और इसलिए नये लेखकों का आदर्श पथ-प्रदर्शक बनने के अनुपयुक्त।

शुक्लजी की भाँति मैथ्यू आर्नल्ड भी काव्य अथवा साहित्य के स्वेच्छाचारी प्रयोगों को हेय दृष्टि से देखता था। रूमानी झक और रूमानी अस्पष्टता में उसे किंचित् भी आस्था न थी, अपितु नव्यन्तर एवं असंयत अतिचार पर वह कठोर नियंत्रण का हामी था। समीक्षा

में गंभीरता एवं गरिमा लाने के लिए असामान्य और उदात्त शैली को, जिसमें सहज समानुपात, औचित्य, वस्तुनिरूपिणी परिष्कृति और तथ्यपूर्ण अर्थ-व्यक्ति होती है, उसने श्लाघ्य माना और इस कोटि में होमर, दांते, मिल्टन, लोंजाइनस और कुछ लैटिन, जर्मन एवं फ्रांसीसी साहित्यकारों को प्रस्तुत कर समकालीन अंग्रेजी लेखकों—टेनीसन से यंग तक—तथा शेक्सपीयर तक के बीच विभाजक रेखा खींच दी। उसकी पुस्तकों 'Preface of 1853' और 'On Translating Homer' में अंग्रेजी मध्ययुगीन साहित्य और Ballad (ग्राम्य) गीतों आदि के प्रति घोर असंतोष व्यक्त किया गया है। आलोचना को अच्छे-बुरे का मापदण्ड बताते हुए उसने महत्त्वपूर्ण विषय के अनुरूप यथातथ्य वस्तु-विधान को समीचीन बताया, साथ ही यह भी घोषित किया कि तात्कालिक अंग्रेजी साहित्य आलोचना में पिछड़ा है, कोई भी ऐसा नीर-क्षीर विवेकी नहीं है जो दिमाग़ के जौहर (Play of mind) दिखा सके—इस प्रकार अपने स्वजातीय लेखकों की अपेक्षा विदेशी साहित्यकारों को महत्त्व दिया। अंग्रेजी आलोचना की परिधि को विस्तीर्ण करता हुआ यह एक निर्भीक क़दम था जिसने पहली बार उसमें अंगीकार्य विश्वासों की स्पृहा को जगाया।

वस्तु को अपनी परिपार्श्विक परिस्थिति से तोड़ कर कभी कभी मैथ्यू आर्नल्ड विषय के प्रतिपादन में इतना विभोर हो जाता था कि उसे केवल तथ्य के उद्घाटन से ही संतोष न होता था, वरन् अत्युक्तिपूर्ण शब्दों में चित्र-विचित्र उपमान खड़ा करके वह उसके महत्त्व की व्यंजना करता था। ऑक्सफ़ोर्ड की प्रशंसा में लिखे हुए उसके निम्नलिखित वाक्य विशेष उल्लेखनीय है।

"सुन्दर नगर! इतना सम्मान्य, इतना भव्य और हमारे युग के भीषण बौद्धिक वातावरण से सर्वथा पृथक् रह कर इतना गंभीर। नासमझ, निर्मम युवकों की नित्य क्रीड़ास्थली होते हुए भी वह अपने सहज गांभीर्य में डूबा हुआ और अपने विस्तृत उद्यानों को चन्द्र-ज्योत्स्ना को समर्पित करता हुआ तथा अपने उच्च-शिखरों से मध्ययग की अतीत कथा सुनाता हुआ यह ऑक्सफ़ोर्ड नित्य ही अपने अवर्णनीय आकर्षण से हम सब को (इससे भला कौन इन्कार कर सकता है) सच्चे लक्ष्य की ओर उन्मुख करता है—उस आदर्श, उस पूर्णता, उस सौंदर्य—एक शब्द में—उस सत्य की ओर ले जाता है, जहाँ ट्यूबिंगेन का समस्त विज्ञान भी नहीं ले जाता।"

[" Beautiful City! So venerable, so lovely, so unravaged by fierce intellectual life of our century, so serene! There are our young barbarians, all at play! And yet, steeped in sentiment as she lies, spreading her gardens to the moonlight, and whispering her towers the last enchantment of the Middle Ages, who will deny that Oxford, by her ineffable charm, keeps ever calling us nearer to the true goal of all of us, to the ideal, to perfection—to beauty,

in a word, which is only truth seen from another side ? Nearer, perhaps, than all the science of Tubingen. "]

सामयिक गति-विधि का निरूपण करते हुए मैथ्यू आर्नल्ड अपने व्यौरों की दृढ़ नींव पर अडिग रूप से स्थित था। वह किसी की महानता से आतंकित न होकर स्वयं ही उन्हें आक्रांत कर लेता था। उसकी सबसे बड़ी खूबी थी कि वह बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से वस्तु का मूल्यांकन करता हुआ एक एक चित्र उठा कर इस प्रकार उनका विश्लेषण करता था कि रेखाओं की गहराई, रंगों की योजना एवं रूप-गठन का संतुलन सभी कुछ मानों दर्शक के नेत्रों के समक्ष सजीव रूप से समुपस्थित हो जाता था। वह अत्यन्त निर्भीक और निर्द्वन्द्व होकर प्रत्येक व्यक्ति की आलोचना करता था और उनके गुण-दोषों के प्रति वह इतना सजग, सचेष्ट था कि उनकी विश्रृंखलताओं अथवा सामर्थ्य के भ्रामक जाल में न फँस कर उनकी गहराई का पर्दाफ़ाश कर देता था। अनेक बार अपने अनुदार दृष्टिकोण एवं विशिष्ट रुचियों के कारण वह समकालीन साहित्यिकों की पूर्ण प्रतिष्ठा न कर पाया, किन्तु उसकी दलीलें इतनी सशक्त और ठोस होती थीं कि पाठक उसकी बात से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। इसमें संदेह नहीं कि उसकी अधिकांश समालोचना में समझौते के तत्त्व बहुत कम विद्यमान है, तथापि पढ़ते हुए पाठक को कहीं भी ऐसा भान नहीं होता कि जानबूझ कर ज़बर्दस्ती आलोच्य पर तीखे व्यंग्य कसे जा रहे है, हाँ, कहीं कहीं उत्तेजना में उसके प्रहार अत्यन्त प्रखर हो गए हैं।

लगभग मैथ्यू आर्नल्ड की भाँति शुक्लजी में भी गंभीर आत्माभिव्यक्ति और हल्के साहित्य एवं साहित्यकारों के प्रति असहिष्णुता का भाव विद्यमान था। पाश्चात्य साहित्य और सभ्यता के संपर्क में आने के कारण जब हिन्दी कविता अपने शैशव में ही सांस्कृतिक आदर्शों की अवहेलना कर उच्छृंखलता की ओर लपक रही थी—उस समय शक्लजी ने आगे बढ़ कर उस पर नियंत्रण करना आवश्यक समझा। योरोपीय रोमांटिसिज़्म के फल-स्वरूप कविता में बढ़ते हुए मानसिक व्यभिचार को देखकर वे चौंक पड़े और उन्होंने प्राचीन काव्य-सत्य को लक्ष्य में रखते हुए अपनी धारणाओं के अनुरूप सीमा-रेखाएँ निर्धारित कीं।

शुक्लजी साहित्य का जातीयता से अभिन्न संबंध मानते थे और व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि को अधिक महत्त्व देते थे। 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में वे लिखते हैं, "जैसा संपूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन है, वैसे ही उसका एक अंग काव्य भी। 'अर्थ' का स्थूल और संकुचित अर्थ द्रव्य-प्राप्ति ही नहीं लेना चाहिए, उसका व्यापक अर्थ लोक की सुख-समृद्धि लेना चाहिए। जीवन के और साधनों की अपेक्षा काव्यानुभाव में विशेषता यह होती है कि वह एक ऐसी रमणीयता के रूप में होता है, जिसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता है। वाह्य जीवन और अन्तर्जीवन की कितनी उच्च भूमियों पर इस रमणीयता का उद्घाटन हुआ है, किसी काव्य की उच्चता और उत्तमता के निर्णय में

इसका विचार अवश्य होता आया है और होगा।"

शुक्लजी के अनुसार साहित्य जीवन और जगत् के नाना रूपों और व्यापारों से असंभिन्नत्व के आदर्श को मूर्त्त करने का प्रयास है। तुलसी, जायसी और सूर आदि अमर कलाकारों की कृतियों में एक यही सबसे बड़ा सत्य निहित है, जो सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। किन्तु इसके विपरीत हिन्दी के आधुनिक छायावादी कवि स्थूल सौंदर्य के अन्वेषक और इस सत्य को भावों की दुरूहता एवं शब्दों की भूल-भुलैय्या में लपेट देने का प्रयत्न करते है, अतः शुक्लजी ने ऐसे व्यक्तियों का खुल कर विरोध किया है।

"किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाश-गंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय सा ताण्डव करने या मुँदे नयन-पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—'भी' तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना, कहाँ तक ठीक है? चारों ओर से बेदख़ल होकर छोटे-छोटे कनकौवों पर भला कविता कब तक टिक सकती है। असीम और अनंत की भावना के लिए अज्ञात या अव्यक्त की ओर झूठे इशारे करने की कोई जरूरत नही।"

शुक्लजी ने अभिव्यक्ति की प्रकृत प्रतीति के भीतर और प्रकृति के नाना वस्तु-व्यापारों में लोक-रंजन की साधना-विधि और काव्य के भावात्मक स्वरूप की संस्थिति की घोषणा की है। उन्होंने दार्शनिक जिज्ञासा अथवा सच्ची रहस्य-भावना की कभी खिल्ली नही उड़ाई, पर बिना हृदय को स्पर्श किए तथ्य की व्यंजना उन्हें कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण लगती थी। "जिस तथ्य का हमें ज्ञान नही, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय में स्पन्दन नहीं हुआ, उसकी व्यंजना का आडम्बर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नही।"

छायालोक की रंगीनियों में भ्रान्त छलकती हुई, फेनिल यौवन की सुरा का पान कर जो मतवाले हो रहे थे, उन नौसिखुए कवियों को शुक्लजी ने कसकर डाँट बताई। चूँकि नव्य कलादर्शों के लिए वे पश्चिम का मुँह जोह रहे थे, उनका थोथा कलावाद सच्ची अभिव्यक्ति से विमुख करने वाले कितने ही प्रवादों का क्रीड़ा-स्थल बन गया था।

'हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे 'नई धारा' के प्रकरण में शुक्लजी लिखते है कि "कलावाद के प्रसंग में बार-बार आने वाले 'सौंदर्य' शब्द के कारण बहुत से कवि बेचारी स्वर्ग की अप्सराओं को पर लगा कर कोहकाफ़ की परियों या बिहिश्त के फ़रिश्तों की तरह उड़ाते है; सौंदर्य-चयन के लिए इंद्रधनुषी बादल, उषा, विकच कलिका, पराग, सौरभ, स्मित आनन, अधर-पल्लव इत्यादि बहुत सी सुन्दर और मधुर सामग्री प्रत्येक कविता में जुटाना आवश्यक समझते है। स्त्री के नाना अंगों के आरोप के बिना वे प्रकृति के किसी दृश्य के सौंदर्य की भावना ही नहीं कर सकते। 'कला-कला' की पुकार के कारण योरप में प्रगीत-मुक्तकों (Lyrics) का ही अधिक चलन देख कर यहाँ भी उसी का जमाना यह बताकर कहा जाने लगा कि अब ऐसी लम्बी कवितायें पढ़ने की किसी को फरसत कहाँ,

जिनमें कुछ इतिवृत्त भी मिला हुआ हो। अब तो विशुद्ध काव्य की सामग्री जुटाकर सामने रख देनी चाहिये, जो छोटे-छोटे प्रगीत-मुक्तकों में ही संभव है। इस प्रकार काव्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों की ओर ले जाने वाले प्रसंगों या आख्यानों की उद्भावना बन्द-सी हो गई।"

प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी और अन्य कतिपय समकालीन कवियों की कविताओं में भाषा-वैचित्र्य, कोमल-पद विन्यास, भावावेश की कृत्रिम व्यंजना और मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण से शुक्लजी सदैव असंतुष्ट रहे–– हाँ, जब कभी उनकी काव्यानुभूतियाँ विस्तृत अर्थभूमि और जीवन के नित्य स्वरूप पर आ टिकीं, तब तब उन्होंने उन्हें खूब सराहा और पीठ ठोकी। 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में उन्होंने पन्त के संबंध में लिखा, "श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'गुंजन' में सौंदर्य-चयन से आगे बढ़ कर जीवन के नित्य स्वरूप पर दृष्टि डाली है, सुख-दुःख दोनों के साथ अपने हृदय का सामंजस्य किया है और 'जीवन की गति में भी लय' का अनुभव किया है। बहुत अच्छा होता यदि पंतजी उसी प्रकार जीवन की अनेक परिस्थितियों को नित्य रूप में लेकर अपनी सुन्दर चित्रमयी प्रतिभा को अग्रसर करते, जिस प्रकार उन्होंने 'गुंजन और 'युगांत' में किया है।"

मंगलमय आदर्शों को लक्ष्य में रखते हुए शुक्लजी ने अपनी धारणाओं के अनुरूप प्रसाद की विशेषताओं पर भी दृष्टिपात किया है, यद्यपि उन्हें उनसे कई शिकायतें भी हैं "स्व. जयशंकर प्रसाद जी अधिकतर तो विरह-वेदना के नाना सजीले शब्द-पथ निकालते तथा लौकिक और अलौकिक प्रणय का मधुगान ही करते रहे, पर इधर 'लहर' में कुछ ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद की चित्रमयी शैली को विस्तृत अर्थ-भूमि पर ले जाने का प्रयास भी उन्होंने किया और जगत् के वर्त्तमान दुःख-द्वेषपूर्ण मानव-जीवन का अनुभव करके इस 'जले जगत् के वृन्दावन बन जाने' की आशा भी प्रकट की तथा 'जीवन के प्रभात' को भी जगाया।"

इसी प्रकार निराला के संबंध में भी अपने उद्गार व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं, "निराला जी की रचना का क्षेत्र तो पहले से ही कुछ विस्तृत रहा। उन्होंने जिस प्रकार 'तुम' और 'मैं' में उस रहस्यमय 'नाद-वेद आकार सार' का गान किया, 'जूही की कली' और 'शेफ़ालिका' में उन्मद प्रणय-चेष्टाओं के पुष्पचित्र खड़े किये––उसी प्रकार 'जागरण-वीणा' बजाई; इस जगत् के बीच विधवा की विधुर और करुण-मूर्त्ति खड़ी की और इधर-आकर 'इलाहाबाद के पथ पर' एक दीन स्त्री के माथे पर के श्रम-सीकर दिखाए।" महा-देवी की काव्यानुभूतियों को लोकोत्तर स्वीकार करते हुए भी शुक्लजी ने इस बात पर अपना संशय प्रकट किया है कि "कहाँ तक वे वास्तविक अनुभूतियाँ है और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना, यह नहीं कहा जा सकता।"

शुक्लजी और मैथ्यू आर्नल्ड के विभिन्न कवियों पर दिये गये उपर्युक्त उद्धरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उनकी तमाम बातों में नितांत असंगति न होकर बहुत

कुछ सत्यांश है। ये दोनों ही बौद्धिक हेतुवादी हैं। इन्हीं की यह मौलिक सूझ थी कि अपने पूर्ववर्त्ती विचारकों के साहित्य-सिद्धान्तों को न दुहरा कर अपनी विशिष्ट विश्लेषणात्मक एवं सैद्धान्तिक आलोचना-पद्धति को अभिनव रूप दिया। भले ही कुछ लोग इनकी कतिपय स्थापित मान्यताओं से सहमत न हों, तथापि इनकी आलोचना में एक दुर्निवार वेग था जिसके प्राणोन्माद में डूब कर युग की महिमान्वित वाणी मुखर हो उठी। हल्के साहित्य-कारों की भाँति इनमें महज़ बहानेबाज़ी न थी। उनके आरोप जितने प्रखर थे उतनी ही उनमें समंजन-शक्ति भी प्रबल थी। उनकी ईमानदारी ने विश्वास की स्पष्टता के साथ चिंतन की क्षमता दी थी। अब तक की बद्धमूल धारणाओं से पृथक् साहित्यिक पैमानों को नये रूप से जाँचने-परखने की उनमें दुर्दमनीय आकांक्षा जगी, जिस से उनके कृतित्व में गरिमा का समावेश तो हुआ ही, सिद्धान्त-प्रतिपादन में भी ऊर्जस्विता आ गई। वे किसी को पदाहत नहीं, बल्कि यथेष्ट नाप-जोख़ और उपादेयता की कसौटी पर कस कर सत्य की ओर उन्मुख करना चाहते थे। हाँ—उनकी शक्तिशाली चिन्तना किसी भी नवागत विचारधारा से सहसा अभिभूत न होती थी।

यों भी प्रचलित मान्यताओं को चुनौती देने के लिए गंभीर निष्ठा भरी जागरूक वोध-वृत्ति की अपेक्षा थी, इन दोनों मनीषियों में यह विचित्र साम्य है कि सचेष्ट बुद्धि से इन्होंने आलोचना को नये साँचे में ढाला। नये दृष्टिकोणों और सर्वथा नये दर्शन को आलोचना के अंतरंग के साथ अनुस्यूत किया। साहित्य के बहुत कुछ ऊलजलूल और भदेस में से प्रसारगामी ऊर्ध्व प्रवृत्तियों को चुनकर आलोचना का विन्यास करना था—इसके लिए बाहर-भीतर सभी पक्षों में संतुलन ला कर उसे व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का इन्होंने भगीरथ प्रयास किया। इनके द्वारा साहित्य के स्थायी मूल्यों की व्याख्या तो हुई ही, इनका तर्क-बुद्धि-सम्मत विवेचन सुरुचिहीन अतिचारों का निर्वाध विरोध करता हुआ अभीष्ट प्रभाव छोड़ गया, जो परवर्त्ती समीक्षकों को आज भी अपनी शक्ति, ओज और सहज गरिमा से चमत्कृत किए बिना नहीं रहता। सच्चा साहित्य-स्रष्टा अपने पूरे प्राणों से जीता है और अपने प्रति सगर्व एवं जागरूक रहकर साहित्यिक विशेषताओं को प्रकट करता हुआ उसके असंयम और दोषों को भी चीन्हता है, जिसमें उसकी दृढ़ता एवं अनगढ़ शक्ति नियोजित रहती है।

कवि-रूप में

सर्वश्रेष्ठ आलोचक और निबंधकार होते हुए भी मैथ्यू ऑर्नल्ड और शुक्लजी कविरूप में भी प्रकट हुए हैं। संसार के कोलाहल से दूर और एकांत साधना में रत उनकी विश्लेषक बुद्धि जब कभी अपने आप में डूब कर सरस हो उठी है तो स्वयमेव उनके अतल से भावमय उद्गार बरबस फूट पड़े हैं। अपनी साहित्य-साधना के आरम्भ में ही शुक्लजी ने 'गोस्वामीजी और हिन्दू जाति', 'भारतेन्दु जयन्ती', 'हमारी हिन्दी', 'आशा और उद्योग' आदि अनेक कविताएँ लिखीं, जो सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं।

तत्पश्चात् 'लाइट ऑफ एशिया' (Light of Asia) का ब्रजभाषा में 'बुद्ध चरित' नाम से उन्होंने पद्यमय अनुवाद किया, जो अत्यन्त उत्कृष्ट सिद्ध हुआ ।

अपनी सभी कविताओं में शुक्लजी ने प्राकृतिक सौन्दर्य के करुणतम कोमल चित्र प्रस्तुत किये हैं और सृष्टि के खुले प्रसार एवं मनोरम दृश्यों का यथातथ्य चित्रण किया है। 'मनोहर छटा', 'आमंत्रण', 'मधुस्रोत', 'प्रकृति-प्रबोध' और 'हृदय का मधुर भार' आदि कविताओं में प्रकृति के यथार्थ और संश्लिष्ट चित्र बिखरे पड़े हैं, जिनमें यत्र-तत्र रहस्य-भावना के भी दर्शन होते हैं ।

"धुंधले दिगंत में बिलीन हरिदाभ रेखा
किसी दूर देश की सी झलक दिखाती है ।
जहाँ स्वर्ग भूतल का अन्तर मिटा है, चिर
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है ।
भूत औ भविष्यत् की भव्यता भी सारी छिपी
दिव्य भावना सी वही भासती भुलाती है ।
दूरता के गर्भ में जो रूपता भरी है वही
माधुरी ही जीवन की कटुता मिटाती है ।

* * *

"उछल उमड़ और झूम सी रही है सृष्टि
गुंफित हमारे साथ किसी गुप्त तार से
तोड़ा था न जिसे अभी खींच अपने को दूर ।"

मैथ्यू आर्नल्ड की हृदय-वीणा के मूक स्वर भी सर्वप्रथम कविता में ही झंकृत हुए थे, किन्तु उसकी भावनाएँ शृंगारिक कवियों की भाँति प्रेम के पागल उन्माद से विशृंखल अथवा दुरूह अस्पष्टता में डूबी हुई नहीं हैं । यौवनोचित प्रणयावेगों की हड़बड़ाहट और अनुराग की अरुणिमा से ओत-प्रोत न होकर वे एक बुद्धिवादी विश्लेषक के हृदय की संबल, सशक्त अभिव्यक्ति हैं, जो जीवन के अन्तर्हित सत्य को ढूँढ़ने का प्रयास करती हैं। कवि की दृष्टि सुषमासिक्त भूमि पर न टिक कर चिन्तनलोक में भ्रमण करती है और वह मूक सौंदर्य-स्रष्टा न होकर मानव-द्रष्टा है, जो चिरन्तन भाव-जगत् में पैठ कर परितृप्ति की याचना करता है ।

"एक पाठ, ओ प्रकृति ! मुझे सीख लेने दे ।
केवल एक पाठ, जो तेरी प्रत्येक हवा से ध्वनित होता है ।
एकता के सूत्र में लिपटा हुआ दो कर्त्तव्यों का पाठ,
चाहे सारा विश्व ही शान्ति से अनविच्छिन्न इस परेशानी के प्रति
अपना आक्रोश क्यों न व्यक्त करे ।"

["One lesson, Nature, let me learn of thee,
One lesson that in every wind is blown,
One lesson of two duties served in one,
Though the loud world proclaim their enmity—
Of toil unsevered from tranquillity !"]

जीवन की यथार्थता से टकरा कर उसे अपनी आत्मा की सत्ता पर पूर्ण आस्था हो गई है और संसार की रसज्ञता से ऊब कर वह अन्तर के क्रन्दन में विलीन होना चाहता है।

**"शान्ति अच्छी होते हुए भी जीवन की चरमोन्नति नहीं है।
मनुष्य कदाचित् उसकी आकांक्षा करता है, किन्तु हमारा यौवन उसमें परितोष नहीं पाता।"**

["Calm is not life's crown, though calm is well.
'Tis all perhaps that man requires,
But 'tis not what our youth desires."]

शुक्लजी की भाँति प्रकृति-चित्रण भी मैथ्यू आर्नल्ड की कृतियों की सर्वोपरि विशेषता है। उसने जीवन की प्रतिदिन की चिरपरिचित वस्तुओं का यथातथ्य चित्रण करके उन्हें इस प्रकार सजीव एवं सप्राण बना दिया है कि जिनसे उसकी सूक्ष्म दृष्टि एवं आत्मा की एकांत प्रक्रिया का बोध होता है। 'थाइर्सिस' (Thyrsis) में लैंडस्केप का निम्न चित्रण सुन्दर और भव्य है।

"जून के आरम्भ में जब कि वर्ष भर का बासंतिक उन्माद समाप्त हो गया था और गुलाब के पुष्प विकसित न हुए थे तथा लंबे-लंबे दिन भी अभी शुरू न हुए थे, जबकि उद्यान की पगडंडियाँ और तमाम घास से बिछी पृथ्वी मई के लाल-सफ़ेद झड़े पुष्पों और अखरोट के फूलों से आच्छन्न हो गई थी—तब एक आँधीग्रस्त प्रातःकाल को मैंने कोयल की विरहाकुल कूक सुनी, जो उद्यान के वृक्ष-समूह को चीरती हुई लड़खड़ाती हवा और मूसलाधार वर्षा के साथ साथ गीले खेत को पार करके आ रही थी और जिससे ध्वनित होता था—बासंतिक सौंदर्य-श्री तो खत्म हो गई, अब मैं भी जाती हूँ।"

["So, some tempestuous morn in early June,
When the year's primal burst of bloom is over,
Before the roses and the longest day—
When garden-walks, and all the grassy floor,
With blossoms, red and white, of fallen May,
And chestnut-flowers are strewn—
So have I heard the cuckoo's parting cry,
From the wet field, through the vext garden trees

Come with the volleying rain and tossing breeze;
The bloom is gone, and with the bloom go I!]

"ओ शीघ्र निराश हो जानेवाली! तू किसलिये जा रही है। अब तो शीघ्र ही मध्य ग्रीष्म की बहार शुरू हुआ चाहती है। शीघ्र ही लोहित वर्ण कस्तूरी फूटेगी और बढ़ी होगी। स्वर्ण की पंखड़ियाँ-सी उसकी लाल पत्तियाँ बिखर-बिखर कर हमें मिलेंगी। मधुर विलियम पुष्प अपनी प्रिय परिचित सुगन्ध के साथ कोमल वृन्तों की महक को हवा के साथ प्रसारित करेगा। उद्यान-पथ से दूर, जो गुलाब के पुष्प चमक रहे हैं और जालियों पर टँगी माधवी लताएँ स्वप्न-विभोर बाग के वृक्षों के नीचे जमा हो जाएँगी। पूर्ण विकसित चन्द्र और श्वेत सान्ध्य-तारा भी अपना प्रकाश इतस्ततः विकीर्ण करेगा।"

["Too quick despairer, wherefore wilt thou go!
Soon will the high Midsummer pomps come on.
Soon will the musk carnations break and swell,
Soon shall we have gold-dusted snapdragon,
Sweet William with its homely cottage-smell
And stocks in fragrant blow;
Roses that down the alleys shine afar
And open, jasmine—muffled lattices
And groups under the dreaming garden-trees,
And the full moon, and the white evening-star."]

स्थूल दृष्टि से शुक्लजी और मैथ्यू आर्नल्ड के प्रकृति-चित्रण में साम्य होते हुए भी अन्तर यह है कि शुक्लजी की सहज चेतना केवल ऊपरी सतह को ही छूकर रह जाती है, मैथ्यू आर्नल्ड उसकी तह तक पहुँच जाता है। शुक्लजी प्राकृतिक उपादानों के आतुर प्रेक्षक हैं, मैथ्यू आर्नल्ड उसके अन्तर्भूत सौंदर्य का सर्जक भी है। एक केवल प्रकृति से स्थूल संबंध जोड़कर उसके मनोरम दृश्यों का अवलोकन कर संतुष्ट हो जाता है, दूसरा उसकी आत्मा की असीमता में अपने अस्तित्व को लय कर देना चाहता है। शुक्लजी का प्रकृति और उसकी प्रत्येक वस्तु से सहज साहचर्य्य-भाव है, वे सहज गरिमा से उनका सौंदर्योद्घाटन मात्र करते हैं, किन्तु मैथ्यू आर्नल्ड अपने विषय की गहराई तक पहुँच कर भी प्रकृति की उन सुलभ, अकृत्रिम चेष्टाओं पर दृष्टिपात नहीं कर पाता, जो शुक्लजी के प्रकृति-चित्रण की विशेषता है।

मैथ्यू आर्नल्ड का काव्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह जीवन पर्यन्त कविता लिखता रहा और अनेक समीक्षात्मक पुस्तकों के साथ साथ 'दि स्ट्रेड रिवलर' (The Strayed Reveller), "इम्पीडोक्लीज ऑन् एट्ना' (Empedocles on Etna), 'सोहराब एण्ड रुस्तम' (Sohrab and Rustam), 'दि स्कॉलर जिप्सी' (The Scholar Gipsy) और 'मेरोप' (Merope) आदि उसके प्रमुख काव्य-ग्रंथ भी प्रकाशित होते

रहे । क्या कविता क्या गद्य सभी में उसकी अन्तरंग साधना का भव्य समारोह है और वह सदैव टटोलता हुआ-सा कुछ पाना चाहता है । वह दुनिया का प्रार्थी होकर अथवा दूसरों की मान्यताओं और मत-विश्वासों पर टिक कर जीना नहीं चाहता, वरन् अपने पैरों पर खड़ा होकर कुछ करने का इच्छक है । कविता में जब उसके अन्तर का औत्सुक्य प्रस्फुटित होकर बहा था,—तब भी वह एक सूक्ष्मदर्शी आलोचक था और स्थूल जीवन से ऊपर उठ कर जब उसके विचार चिन्तन के भार से आक्रांत हो ठोस होकर गद्य में व्यक्त हुए—तब भी वह विश्लेषक बन कर कुछ समझने-समझाने की चेष्टा करता रहा । कभी-कभी संसार से खिंच कर मैथ्यू आर्नल्ड अपने अन्तरतम विराग को अपनी कृतियों में प्रकट करता हुआ गहरी चोट कर बैठता है, किन्तु कभी भी अपने अहं को अखंडित रख कर वह दूसरों की अश्रद्धा का पात्र नहीं बनता ।

शुक्लजी और मैथ्यु आर्नल्ड की विलक्षण प्रतिभा जीवन के बुझते सत्य की प्रखर ज्योति को उद्भासित करने की चेष्टा में सतत संलग्न रही । कला की आत्मा की भावच्छटा में रमते हुए ये दोनों ही साहित्य के तत्पर और जाग्रत प्रहरी हैं और उनकी निर्भीक कर्मनिष्ठता एवं जिज्ञासु जागृति की छाप उनकी अमर कृतियों में इस प्रकार अंकित है कि परवर्त्ती समालोचकों को वे सदैव ही नवीन दिशा की ओर उत्प्रेरित करती रहेंगी ।

: १० :

बाबू गुलाबराय

(पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश')

हिन्दी साहित्य में स्वर्गीय पं. रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम सुन्दर दास और मिश्र-बन्धुओं के पश्चात् यदि किसी साहित्यकार का नाम आलोचकों में सबसे प्रथम आता है तो वे हैं बाबू गुलाबराय। इस पीढ़ी के आलोचकों में बाबूजी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो निरन्तर समय की गति के साथ क़दम मिलाते हुए आज तक चले जा रहे हैं। विद्यार्थी वर्ग और विद्वत्वर्ग में समानरूप से वे सम्मान और श्रद्धा के पात्र समझे जाते हैं।

इनकी आलोचना के दो रूप हैं—१. सैद्धान्तिक और २. व्यावहारिक। जिसमें साहित्य के अंगोपांगों के विवेचन के साथ कुछ सिद्धान्त निश्चित किए जाते हैं, वह सैद्धान्तिक आलोचना होती है और जिसमें उन सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है वह व्यावहारिक आलोचना होती है। बाबूजी ने दोनों ही प्रकार की आलोचनाएँ लिखी हैं। हम यहाँ पहले उनकी सैद्धान्तिक आलोचना पर विचार करेंगे और उसके पश्चात् व्यावहारिक आलोचना पर।

इनकी सैद्धान्तिक आलोचना—बाबू गुलाबरायजी का सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी सब से प्रथम ग्रंथ है 'नवरस'। इसका छोटा संस्करण सन् १९२७-२८ में प्रकाशित हुआ था और संशोधित-परिवर्द्धित बड़ा संस्करण सन् १९३२ में। हिन्दी साहित्य में 'नवरस' से पहले इस विषय का एक ही ग्रंथ था ओर वह था महाराज अयोध्या का 'रस-रत्नाकर'। लेकिन उसमें वह विवेचन न था, जो बाबूजी के 'नवरस' में है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम' तो तब तक निकला ही न था। इस प्रकार 'रस मीमांसा' के हिन्दी साहित्य में बाबूजी ही अग्रदूत हैं। बाबूजी के 'नवरस' की तुलना यदि 'काव्य कल्पद्रुम' से की जाय तो पता चलेगा कि 'काव्य कल्पद्रुम' में लेखक के व्यक्तित्व की छाप नहीं है। वह संस्कृत के आधार पर विवेचन की दृष्टि से अधिक पूर्ण है ओर उसमें शास्त्रीय मत को पूरा-पूरा उतार दिया गया है। यही उसकी विशेषता है। बाबूजी ने शास्त्र का आधार तो लिया है पर उन्होंने पश्चिमी मनोविज्ञान से रस और उसके अंगों की तुलना करे यह सिद्ध करने में अधिक श्रम किया है कि भारतीयों ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण देन दी है। देन का उत्साह सम्पूर्ण ग्रंथ में परिलक्षित होता है। उसी में उनके व्यक्तित्व की छाप है। स्थायी भावों को प्रारंभिक सहज वृत्तियों (Primary Instincts) से सम्बन्धित करने का काम बाबूजी का है। इसी कार्य को पीछे चलकर सर्वश्री नगेन्द्र और रामदहिन मिश्र ने किया है। प्राचीन ऋतु-वर्णन को ज्योतिष ज्ञान के आधार पर मिलाना, जिससे

कि अभिव्यक्ति की सार्थकता सिद्ध हो जाय, बाबूजी की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है। **'काम विधि बाम की कला में मीन मेख कहा, ऊधो नित बसंत बसंत बरसाने में'** में मीन और मेख राशि में बसंत ऋतु के होने तथा ऐसी ही अन्य बातों की साहित्यिक सार्थकता की ओर सबसे पहले बाबूजी का ध्यान गया है। तीसरी बात उनके 'नवरस' में यह है कि उन्होंने ही सबसे पहले गद्य में वैष्णव रसों का समावेश किया है। भक्ति के रस के अन्तर्गत, सख्य, वात्सल्य, दाम्पत्य आदि रसों का विवेचन पहले-पहल 'नवरस' में ही हुआ है। चौथी बात बाबूजी के 'नवरस' में यह है कि जहाँ पोद्दारजी ने संस्कृत से अनुवाद करके उदाहरण रखे है वहाँ बाबूजी ने तोषनिधि, रसलीन, कुलपति मिश्र, रावणेश्वर, कल्पतरु, बेनी प्रवीन की 'नवरस तरंग' आदि से उदाहरण दिए हैं। बाबूजी के 'नवरस' में अनेक उदाहरण अप्राप्य ग्रंथों के मिलेंगे।

'सिद्धान्त और अध्ययन' बाबूजी का दूसरा सैद्धान्तिक आलोचना का ग्रंथ है। बाबूजी का कथन है कि इस ग्रंथ को लिखने की प्रेरणा के मूल में यह विचार था कि साहित्यालोचन के स्थान में एक ऐसी नई पुस्तक लिखी जाय जिसमें अन्य शास्त्रीय ग्रंथों से अच्छे उदाहरण दिए गए हों। यही कारण है कि पाश्चात्य और पौर्वात्य आचार्यों के मतों का दिग्दर्शन कराते हुए बाबूजी ने अपने इस ग्रंथ में साहित्यिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में बाबूजी का दृष्टिकोण समन्वयात्मक रहा है। काल की परिभाषा[1] और कला के प्रयोजन[2] बताते समय वे सभी दृष्टिकोणों को उपस्थित कर अपना समन्वयात्मक मत देते दिखाई देते हैं। वे ऐसा करते समय हिन्दी के आधुनिकतम कलाकारों की परिभाषाओं की भी उपेक्षा नहीं करते। साधारणीकरण के विवेचन में उन्होंने पुरानी भारतीय परम्परा के साथ आचार्य शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास और डॉ० नगेन्द्र तक की धारणाओं को लेकर विवेचन किया है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में यद्यपि उन्होंने बाबू श्यामसुन्दरदास के मुकाबले शुक्लजी का पक्ष लिया है तथापि कुछ बातों में उनसे भी मतभेद है। शुक्लजी साधारणीकरण के विषय में कहते हैं—" साधारणीकरण " का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन होती ही है। . . . तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आलम्बन हो जाता है।" बाबूजी इसका विरोध करते हुए लिखते हैं—"इस सम्बन्ध में मेरा विनम्र निवेदन है कि व्यक्ति कुछ समान धर्मों की ही प्रतिष्ठा के कारण नहीं वरन् अपने पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में सहृदयों का आलम्बन बनता है। साधारण (पतिव्रत) की प्रतिष्ठा तो सीता और डेसडीमोना (Desdimona) में

१—सिद्धान्त और अध्ययन (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ २२-२३
२—वही पृष्ठ ५०

कुछ-कुछ एक-सी है, किन्तु उनका व्यक्तित्व भिन्न है। कृष्ण की अनन्यता के साधारण धर्म में सूर और नन्ददास की गोपियाँ एक-सी हैं, किन्तु ऊधौ के साथ बातचीत में तथा व्यवहार में वे भिन्न हैं। अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ वे हमारी रसानुभूति का विषय बनती हैं। हमारी समस्या इस बात की है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व बनाए रखते हुए हम उसे किस प्रकार रसानुभूति का विषय बना सकते हैं। साहित्य में, चाहे वह पाश्चात्य हो और चाहे भारतीय, व्यक्तित्व का विशेष मान है। दमयन्ती नल को ही वरण करना चाहती है, देवताओं को नहीं। व्यक्तित्व को खोकर साधारण गुणों मात्र से काम नहीं चल सकता किन्तु हाँ, भोजकत्व के लिए अपने-पराए के सम्बन्ध से मुक्त होना आवश्यक है।"[1]

साधारणीकरण में शुक्लजी ने आलम्बन की वस्तुगत वास्तविकता पर अधिक बल दिया है और डॉ० नगेन्द्र ने कवि की कल्पना पर परन्तु बाबूजी ने इन दोनों का समन्वय कर दिया है।[2] शुक्लजी ने हावों को अनुभावों के अन्तर्गत माना है। बाबूजी ने दृष्टिकोण भेद से उनको अनुभाव और उद्दीपन दोनों माना है।[3] शुक्लजी काव्य को भारतीय दृष्टि से कला के अन्तर्गत नहीं मानते, बाबूजी कला और काव्य का घनिष्ट सम्बन्ध मानते हैं। रहस्यवाद और छायावाद के सम्बन्ध में भी शुक्लजी से मतभेद रखते हुए

१—'सिद्धान्त और अध्ययन' (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ १६३-१६४

२—लौकिक सामग्री को आस्वाद योग्य बनाने में कवि को बहुत कुछ काट-छाँट करनी पड़ती है और गाँठ का भी नमक-मिर्च-मसाला मिलाने की आवश्यकता होती है। (यह भी एक प्रकार का साधारणीकरण है) किन्तु इसकी मात्रा में आचार्यों का मतभेद है। राजशेखर कवि को महत्ता देते हैं। उनका कथन है कि चित्रकार के अनुकूल ही चित्र बनता है।....किन्तु एक दूसरे आचार्य (भोज) पात्र को ही प्रधानता देते हैं। उनका कथन है कि कवि की वाणी का थोड़ा-सा चमत्कार यदि वह लोकोत्तर नायक का वर्णन करता है तो वह विद्वानों के कानों का आभूषण बन जाता है।....यह मात्रा का प्रश्न है। इसमें अन्तर होना स्वाभाविक है। कवि की कृति चाहे कितनी ही काल्पनिक क्यों न हो उसके लौकिक आधार की विषयगत सत्ता को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसके साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कवि अपने ही चश्मे से संसार को देखता है। वह कच्चा सामान संसार से लेता है और उसे पकाकर आस्वाद योग्य बना कर पाठक को देता है।

'सिद्धान्त और अध्ययन' पृष्ठ १७२-१७३

३—भाव मन में रहते हैं। हाव वे भाव हैं, जिनका भृकुटि, नेत्रादि द्वारा बाह्य व्यंजन होता है। नायिका आलम्बन भी हो सकती है और आश्रय भी। नायिका को यदि आश्रय माना जाय तब तो यह अनुभाव ही है, किन्तु वह आश्रय रहती हुई भी नायक के लिए आलम्बन बन सकती है। इस दृष्टि से आलम्बन के चेष्टा होने के कारण ये उदाहरण के अन्तर्गत गिने जाने चाहिए। वही पृष्ठ १०१-१०२

बाबूजी ने छायावाद का पक्ष लिया है। इस प्रकार उन्होंने शुक्लजी का स्थान-स्थान पर विरोध किया है। पर वह विरोध अत्यन्त शिष्टतापूर्ण है।

बाबूजी ने शैली के विवेचन में भी मौलिकता रखी है। उन्होंने शैली में काव्य के दोषों को भावात्मक रूप देकर शैली के कुछ गुणों का निर्धारण किया है। उन्होंने शैली के आवश्यक उपकरणों के रूप में दोषों के अभाव को रखा है।[1]

आलोचना के मानों का उचित मूल्यांकन कर उनमें सम्बन्ध स्थापित करना भी बाबूजी का ही कार्य है। सैद्धान्तिक आलोचना काव्य की परीक्षा के लिए हमको सिद्धांत देती है और निर्णयात्मक आलोचना उन सिद्धान्तों की व्यावहारिक उपयोगिता सिखाती और हमें व्यक्तिवाद के दोषों से बचाए रखती है। उसमें "जिसे पिया चाहे वही सुहागिन" वाली बात नहीं होती फिर भी वे प्रभावात्मक आलोचना को स्थान देते हैं। जहाँ पर शास्त्रीय सिद्धान्त किसी कलाकृति को बाँध नहीं सकते हैं वहाँ प्रभावात्मक आलोचना ही काम देती है। बहुत-सी ऐसी बातें जो शास्त्रीय आलोचना की पकड़ में नहीं आतीं सहृदय की व्याख्या पर ही निर्भर करती हैं। लेकिन सहृदय वे सुसंस्कृत मनुष्य को ही मानते हैं क्योंकि मनुष्य जितना ही अधिक सुसंस्कृत होता है, जितना उसका ज्ञान विस्तृत होता है उतना ही उसकी वैयक्तिक रुचि जनसमूह की रुचि से मेल खाती है और शास्त्रीय मर्यादाओं के निकट आ जाती है।

व्याख्यात्मक आलोचना को आपने विशेष महत्त्व दिया है, किन्तु शुक्लजी तथा आई० ए० रिचर्ड्स के साथ आपने मूल्य सम्बन्धी आलोचना को भी जोड़ दिया है। वे अपनी व्यावहारिक आलोचना में व्याख्यात्मक आलोचना का अनुसरण करते हुए उसके भाव पक्ष के साथ नैतिक पक्ष को भी महत्त्व देते हैं। वे कला केवल कला के लिये नहीं मानते। वे उसे लोक हिताय भी मानते हैं किन्तु तुलसी का स्वान्तः सुखाय आवश्यक मानते हैं। लोकहित की भावना बौद्धिक स्तर पर वे नहीं रखते। उनका कथन है कि जब तक लोक-हित के साथ अन्तः का रस नहीं मिलेगा तब तक वह काव्य नहीं बनेगा, नीति ग्रंथ ही रहेगा। शुक्लजी ने रस-सिद्धान्त को महत्ता दी है, किन्तु उसकी अपेक्षा नैतिकता तथा समाज-व्यवस्था को अधिक महत्त्व दिया है। बाबूजी सौन्दर्य के उपासक हैं। शुक्लजी ने भाव सौंदर्य की अपेक्षा कर्म सौंदर्य को, जैसा कि तुलसी के राम में है, अधिक महत्ता दी है परन्तु बाबूजी कर्म सौंदर्य को आवश्यक मानते हुए भी भाव सौंदर्य को महत्त्व देते हैं। मूल्य के सम्बन्ध में वे प्रगतिवादियों के साथी हैं पर वे हित को केवल किसान-मजदूरों तक ही संकुचित नहीं करना चाहते। वे सर्वोदय के सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। संघर्ष को न्यूनातिन्यून चाहते हैं। और काव्य का यही उद्देश्य समझते हैं कि वह जीवन के संघर्ष को कम करके जीवन में अधिकाधिक साम्य ला सके। वे आई. ए. रिचर्ड्स की भाँति भीतर की वृत्तियों (Impulses) का ही साम्य नहीं चाहते, वरन् वाह्य समाज में भी साम्य की स्थापना चाहते

१—वही पृष्ठ १९७–१९८

गद्य-लेखकों की आलोचना के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि वे सब से पहले लेखक के हृदय की कुंजी खोजना चाहते हैं जिससे कि उसके दृष्टिकोण का पता लग जाय। उनकी जो अच्छी आलोचनाएँ निकली हैं शुक्लजी के निबन्धों आदि पर, उनमें लेखक का पूरा-पूरा तथ्य आ जाता है। आलोचना में हास्य-व्यंग्य तो रहता है (वह सैद्धान्तिक आलोचना तक में रहता है) परन्तु कटुता का लेश नहीं आने पाता। वे इसे साहित्य की शालीनता के विरुद्ध समझते हैं। व्यावहारिक आलोचना को भी वे मौलिक कृति की भाँति साज-सँभाल कर एक कला-कृति बनाना चाहते हैं। वे अपनी आलोचनाएँ स्वान्तःसुखाय ही लिखते हैं। फिर भले ही वे 'साहित्य सन्देश' के लिए लिखी गई हों या किसी पुस्तक के लिए।

भाषा-शैली

बाबू गुलाबरायजी की भाषा-शैली उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही स्पष्ट, सरल और सरस है। वे उन बातों को बहुत कम लिखते हैं, जिन्हें खुद नहीं समझ पाते। दूसरों की बातों को अपना बनाकर अपने शब्दों में कहना उन्हें अच्छा लगता है। वे 'आब्जैक्टिव' बातों को 'सब्जैक्टिव' बनाने की कोशिश करते हैं। कितनी ही शुष्क बात हो, वे उसे साहित्यिक रंग से रँग कर प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए वे प्राचीन साहित्य से उद्धरण देते हैं और हास्य उत्पन्न करने के लिए उनकी अपने प्रसंग तथा विषय के अनुकूल व्याख्या कर देते हैं। यह कहीं-कहीं दोष की हद तक पहुँच जाता है और सामान्य स्तर के पाठक को जटिलता का अनुभव होने लगता है।

भिन्न-भिन्न पुस्तकों की शैली भिन्न-भिन्न है। 'फिर निराशा क्यों ?' में 'कर्तव्य शास्त्र' की शैली नहीं है और 'मेरी असफलताएँ' की शैली 'सिद्धान्त और अध्ययन' या 'काव्य के रूप' में नहीं है। वह विषय के अनुकूल बदलती रहती है।

संस्कृत के तत्सम शब्दों का मोह बाबूजी को है, पर हास्य-व्यंग्य उपस्थित करने के लिए उर्दू के शब्दों का प्रचुर मात्रा में व्यवहार करते हैं। आरंभ में अंग्रेजी के लेखकों से अधिक प्रभावित थे, इसीलिए हिन्दी के साँचे में ढालने पर आरंभ के लेखों में अंग्रेजी की शैली झलक जाती है। बाद में चलकर उनकी शैली का रूप स्थिर हो गया और वह विदेशी प्रभाव से मुक्त होकर शुद्ध भारतीय हो गई।

बाबूजी की शैली में एक विशेष व्यक्तित्व है। कोई भी चीज़ उनकी वैयक्तिकता की रंगीनी के बिना नहीं रहती। यही उनकी विशेषता है। 'विज्ञान विनोद' के वैज्ञानिक निबन्धों तक में उनकी वैयक्तिकता की रंगीनी आ गई है। जैसे सूर्य के धब्बों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं — "चन्द्र के कलंक को सब कोई बतलाते हैं, सूर्य के कलंक के बारे में किसी कवि ने नहीं लिखा। बड़े आदमियों के कलंक उनके तेज में छिपे रहते हैं।"

बाबूजी की शैली का प्राण हास्य-व्यंग्य है। साहित्यिक निबन्धों में ही नहीं सैद्धान्तिक आलोचना के निबन्धों तक में उसके दर्शन होते हैं। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने साधारणी-

करण के विवेचन में लिखा है—"मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करते ही साधक की शुद्ध सात्विकता देखकर देवता अपने-अपने स्थान से उसे बुलाने लगते हैं— 'इधर आइए, यहाँ रहिए, इस भोग के लिए लोग तरसा करते हैं। देखिए कैसी सुन्दर कथा है।' योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रातिभज्ञान सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वतः हुआ करती है।" इस पर बाबू गुलाबरायजी कहते हैं।— "इस सम्बन्ध में एक विनोद की बात लिख देना चाहता हूँ (यद्यपि मुझे इसके लिखने में संकोच अवश्य होता है, क्योंकि अपनों से बड़े और स्वर्गीय लोगों की बात के सम्बन्ध में विनोद करना हास्य रसाभास है) कि कवियों और सहृदयों के लिए यह निमंत्रण देवताओं की ओर से अब नहीं आता, नहीं तो वे देह का भी मोह छोड़ दें। यह विनोद की बात है किन्तु वास्तव में बात यह है कि कवि का सृजनानन्द और सहृदय का काव्य रसास्वाद स्वर्ग भोग से कम नहीं है। इसके लिए स्वर्ग जाने का भी कष्ट नहीं करना पड़ता।"[१] इसी प्रकार 'काव्य के हेतु' नामक अध्याय में 'मौलिकता का प्रश्न' शीर्षक से काव्यगत मौलिकता पर विचार करते हुए वे लिखते हैं—"लेकिन प्रश्न यह है कि मौलिकता हो सकती है या नहीं ? एक पुराने आचार्य ने तो वैश्यों के साथ कवियों को चोर ठहराया है। (यदि वे आचार्य जीवित होते तो वैश्य लोग उन पर मान-हानि का दावा अवश्य करते और मैं भी दावे में शामिल हो जाता)"[२] इसी प्रकार "बाबू श्यामसुन्दरदासजी विषयी (यहाँ विषयी का अर्थ कामी नहीं है) के हृदय को साधारणीकरण का श्रेय देते हैं"[३] में भी उन्होंने हास्य के लिए स्थान निकाल लिया है।

बाबूजी लिखते समय क्रम और संगति का विशेष ध्यान रखते हैं। यह तर्कशास्त्र के अध्ययन का प्रभाव है। संगति के लिए एक-एक लेख में दो-दो तीन-तीन बार संशोधन करते हैं। वे ब्यौरे की भूल-भुलैयों में से सीधा मार्ग निकालने का प्रयत्न करते हैं। ब्यौरे को महत्त्व देते हुए व्यापक सिद्धान्त की खोज को विशेष महत्त्व देते हैं। इस कारण उनके ग्रंथों में सुबोधता आ जाती है।

मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा शैली में सजीवता आ जाती है। आलोचना के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए भी वे मुहावरे ले आते हैं। जैसे कहानी के लिए वे कहते हैं—"कहानी अपने छोटे मुँह से बड़ी बात कहती है।'[४]

शैली की स्पष्टता के लिए बाबूजी विचारों की स्पष्टता आवश्यक मानते हैं, इसीलिए शैली का विवेचन करते हुए उन्होंने शैली के विचारगत और भाषागत गुणों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। शैली के व्यापक गुण में वे दार्शनिक आधार पर एकता में अनेकता और अनेकता में एकता आवश्य समझते हैं।

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ १६८
२. वही पृष्ठ ६८
३. वही पृष्ठ १७०
४. काव्य के रूप, पृष्ठ २१४

: ११ :

पं० कृष्णबिहारी मिश्र

(प्रो० गिरिजानाथ)

अपने को प्रतिष्ठित आलोचक समझने वाले एक सज्जन से एक बार पूछने का मौका मिला कि "महाशय, 'आलोचना' कहते है किसे" तो रटी हुई स्पीच की तरह उनका उत्तर हुआ---"संसार के सर्वोच्च ज्ञान एवं विचार के जानने और प्रचार करने का निर्लिप्त प्रयत्न ही समालोचना है।"[1] इतना ही नहीं, एक दूसरी परिभाषा भी वे इसी जोश में बोल गए---"सौंदर्य का निरीक्षण, उसका पृथक्करण तथा उसका अभिव्यंजन ही सच्ची समालोचना है।"[2] "अतः विशेष रूप में आलोचना का उद्देश्य हुआ गुण-दोष निरूपण, मूल्य निर्धारण, तुलनात्मक अध्ययन, विशेषताओं का विवेचन एवं मर्मोद्घाटन आदि आदि।" मैंने सोचा कि जब आलोचना की परिभाषा ही इतनी भड़कीली है तब आलोचक-प्रवर को कैसा होना चाहिए, यह भी इन्हीं से जान लें। पूछने की देर थी कि उनके मुँह से शब्द ठुमरियाँ बन कर अंग्रेजी लिबास में निकलने लगे---

"Insight, sympathy, imaginative response, commonsense, or mere power to express, discriminating gusto—of these abilities, and other such, may excellent criticism be made"*उनकी वाक्शक्ति पर मुग्ध होते हुए पुनः मैंने पूछा कि क्या व्यावहारिक रूप में 'आलोचना' की इन मान्यताओं को सिद्ध करने वाले आलोचक आप को मिले है, तो उन्होंने अपनी बत्तीसी दिखला दी।

सिद्धान्तों का नारा बुलन्द करने वाले सज्जन अक्सर व्यावहारिक रूप में सिद्धान्तों की हत्या करते देखे जाते हैं अतएव सिद्धान्तों का निरूपण करना और बात है और उनके अनुरूप चलना और बात। मनीषियों ने आलोचना को सूत्रों में बाँधने का प्रयत्न किया है, फलतः 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" के आधार पर आलोचना के सूत्र भी इन्द्रधनुषी रंग के हो गए है। समय बदलता है, सूत्र बदलते हैं। बौद्धिक विकास के साथ-साथ अगर नवीन-नवीन सूत्रों का सूत्रपात होता है, तो यह मान्य समझा जाना चाहिए किंतु मात्र 'दल' की ऐंठ कायम रखने के लिए जब भोंपू पर तीव्र स्वर कसे जाते हैं तो वे स्वर

1. "Criticism is a disinterested endeavour to learn and propagate the best that is known and thought in the world."—Mathew Arnold.

2. "To keep beauty, to detach beauty and to express beauty is true criticism-"—Walter Pater.

"*अंतर्दृष्टि, सहानुभूति, कल्पना, ग्राहकता, सामान्य बुद्धि या केवल नीर-क्षीर विवेक की क्षमता---ये तथा अन्य ऐसे ही गुण द्वारा सत्समालोचना का निर्माण संभव है।"---Lascelles Abercrombie, Principles of Literary Criticism, Page 2.

बेसुरे-से प्रतीत होते हैं; साहित्य का राग भैरवी का होता है, तो आलोचना के स्वर विहाग के होते हैं और तारीफ़ तो यह कि आलोचक प्रवर विहाग के अन्दर भैरवी का अनहद नाद करने में सकुचाते भी नहीं। जब कुश्ती का 'गेम' छिड़ जाता है, तो लोग यह सर्वथा भूल जाते हैं कि कहाँ-कहाँ 'फाऊल प्ले' हो रहा है। यही हालत है आजकल की आलोचना की।

साहित्य-संबंधी विभिन्न शास्त्रों में आलोचना शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रचनात्मक साहित्य से आलोचनात्मक साहित्य की महत्ता कम नहीं। साहित्य जीवन की आलोचना करता है, तो आलोचना साहित्य की आलोचना करती है अतः आलोचनात्मक साहित्य में जीवन की आलोचना की आलोचना होती है। इसलिए जहाँ साहित्य मात्र कला है, वहाँ आलोचना कला भी है और विज्ञान भी। अतएव कला और विज्ञान दोनों की परख करने वाले सत्समालोचक को सामान्य स्तर से ऊँचा उठा रहना आवश्यक है; उसे सरस और सहृदय होने के साथ-साथ सत्य-प्रिय होना इसलिए जरूरी है कि किसी रचना के अन्तःसौंदर्य का साक्षात्कार कराने के अतिरिक्त वह पाठकों का उचित दिशा-निर्देश भी कर सके। अगर उसमें राग, द्वेष, ममता, ईर्ष्या आदि दुर्बलताएँ आ जायँगी तो यह निश्चित है कि वह किसी रचना के साथ न्याय नहीं कर पा सकेगा और इसी स्थल पर आलोचक की मौत हो जाती है। किसी राजनीतिक 'वाद' का प्रचार करने पर जिस प्रकार किसी कलाकार की मौत होती है उसी प्रकार आलोच्य वस्तु के साथ उचित न्याय न कर पाने पर आलोचक की भी, यह ध्रुव सत्य है। साहित्य पर परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है अतः उसके मापदंड में भी परिवर्त्तन होना अवश्यम्भावी है और इस-लिए आलोचकों में भी परस्पर विरोध की भावना का होना अंशतः सत्य ही कहा जायगा। किंतु वह विरोध संयत रूप में होना चाहिये। अगर आलोचना में कटुता आ गई तो आलोचक उसी स्थल में अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है। संयत हास्य-व्यंग्य का प्रयोग हो, इसे मैं मानता हूँ, लेकिन इसके सहारे शैली ही रोचक बनाई जा सकती है, आलोचक के व्यक्तित्व पर कीचड़ उछालने का प्रयत्न नहीं। आज के युग में आलोचना शैली को हास्य-व्यंग से दूर रखना असंभव है। इसका कारण यह है कि इस युग में पुराने माप-दंड, पुराने सिद्धान्त, पुरानी समीक्षा-पद्धतियाँ, पुराने राजनीतिक विचार खत्म हो रहे हैं; इसलिए नवीनता के प्रतिपादन में इसकी भी थोड़ी-बहुत आवश्यकता हो ही जाती है और यही कारण है कि भारतेन्दु से लेकर निराला तक (यानी आज तक) व्यंग पूर्ण आलोचना की एक परंपरा बनी रही। लेकिन जहाँ यह हास्य-व्यंग मात्र छिद्रों के अन्वेषक हो जाते हैं वहाँ 'छिद्रेषु अनर्था बहुली भवन्ति' फल भी मिल जाता है। अतएव ज्ञान की दृष्टि से सत्य, शैली की दृष्टि से आकर्षक और प्रभाव की दृष्टि से पूर्ण होने के साथ-साथ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का समुचित अन्वेषण, पृथक्करण तथा अभिव्यंजन ही सच्ची समालोचना है।

आलोचना साहित्य के आज तक के इतिहास को देखने पर उसके तीन विशिष्ट

रूप सामने आते हैं। एक अखबारी आलोचना का रूप, दूसरा पुस्तकों की भूमिका का रूप, तीसरा यूनिवर्सिटी के थीसिस या स्वतंत्र पुस्तक का रूप। अखबारी आलोचना में आलोचक के अध्ययन की कमी तो स्पष्ट होती ही है, साथ-साथ ग्रंथ के वाह्य रूप और आकार-प्रकार को देखकर कुछ लिख देने की प्रवृत्ति ही मूल रूप में दीख पड़ती है। पुस्तकों की भूमिका के रूप में जितनी आलोचनाएँ लिखी गई या लिखी जा रही हैं उनमें पहले की अपेक्षा अधिक अध्ययन और मनन का पता चलता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी आलोचना-साहित्य क्रमशः प्रगति पथ पर बढ़ रहा है। यूनिवर्सिटी के थीसिस या स्वतंत्र पुस्तक के रूप में जो-जो आलोचनायें हुई या हो रही हैं उनमें आलोचना-प्रणाली को अधिक विस्तृत करने का प्रयास दीख पड़ता है और फलस्वरूप गंभीर एवं वैज्ञानिक ढंग की आलोचना के उत्तरोत्तर विकास की एक परिपाटी भी सामने आती है। मिश्रजी ने भूमिका के रूप में भी आलोचना लिखी है और पुस्तक रूप में भी जिनके उदाहरण क्रमशः 'मतिराम ग्रंथावली' एवं 'देव और बिहारी' पुस्तक हैं। इन दोनों पुस्तकों के देखने पर मिश्रजी के तीन प्रकार के आलोचक के रूप सामने आते हैं--पहला, शास्त्रीय आलोचक का; दूसरा, विवेचनात्मक आलोचक का और तीसरा, तुलनात्मक आलोचक का। मिश्रजी को इन तीनों रूपों में देखने के पूर्व या इनके संबंध में कोई निश्चित धारणा बनाने के पहले यह आवश्यक हो जाता है कि पहले इनके युग का निर्देश, उस युग के आलोचकों की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण एवं तत्कालीन आलोचकों में इनका स्थान निरूपित कर दिया जाय और तब यह सिद्ध किया जाय कि आलोचना के इतिहास में इनका कौन सा योग रहा। बहुधा आलोचक की आलोच्य वस्तुओं की परीक्षा करते समय लोग उनके युग की परिस्थिति और प्रवृत्ति को भुला कर अपने जमाने की मान्यताओं पर उनको कसना चाहते हैं, जो कि किसी भी आलोचक के या आलोच्य वस्तु के उचित मूल्यांकन के ग़लत तरीके ही कहे जायँगे। अतएव मिश्रजी को अपने युग में रख कर देखने की अपेक्षा उनके ही युग में रख कर देखना ज्यादा युक्तिसंगत एवं वैज्ञानिक होगा।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र जी का जमाना शर्माजी, शुक्लजी, दीनजी एवं मिश्रबंधुओं का जमाना था। इन लोगों की अलग-अलग विशेषताएँ थीं। मिश्रजी भी अपनी एक अलग विशेषता के साथ उस युग में आलोचना के क्षेत्र में आए जिस जमाने में लेखों के रूप में पुस्तकों की विस्तृत समालोचना का प्रसार तो जोरों पर था ही, पुस्तकों के रूप में भी ग्रंथकार के गुण और दोष दिखाने के अध्याय शुरू हो गए थे। इतना ही नहीं, 'देव' को फ्रंट पर लाते हुए मिश्रवन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रंथ भी निकल चुका था और पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा 'देव बड़े कि बिहारी बड़े' इस झगड़े को सामने लाते हुए तुलनात्मक आलोचना के मार्ग भी प्रशस्त हो चुके थे। इन लोगों की आलोचना-पद्धति की सामान्य विशेषता यह थी कि ये लोग अकारण ही किसी का पक्ष समर्थन और किसी को हीनता सिद्ध कर देते थे। फलस्वरूप 'तू-तू मैं-मैं' का बाजार गर्म हो जाया करता था।

समीक्षा-प्रणाली साधारणतः रूढ़िगत ही थी; किसी कवि की विशेषताओं के अन्वेषण और अन्तःप्रवृत्तियों के उद्‌घाटन का प्रयत्न कम ही देखा जाता था। विरोध के सिलसिले में कटु व्यंग और शाबासी का महफली तर्ज भी जोरों पर था। थोड़े में कह सकते हैं कि उच्च-कोटि की आलोचना का उस युग में अभाव ही था। तो आलोचना साहित्य की यही दशा थी कि मिश्र जी ने अपनी लेखनी उठाई और इनकी 'देव और बिहारी' पुस्तक देव का जयनाद करती हुई मैदान में आई।

ऊपर कहा गया है कि आलोचना के क्षेत्र में मिश्रजी के तीन रूप सामने आते हैं; शास्त्रीय, तुलनात्मक एवं विवेचनात्मक। शास्त्रीय आलोचना पद्धति में खास-खास सिद्धान्तों को पहले से आधार मान लिया जाता है और साहित्य-शास्त्र के उन्हीं नियमों-सिद्धान्तों को कसौटी मान कर किसी रचना की परीक्षा की जाती है। किन्तु ऐसी आलोचना में न तो आलोचक की कोई खास अंतर्दृष्टि या रचनात्मक प्रतिभा के उदाहरण मिल सकते हैं और न उसके हृदय की विशिष्टता ही परिलक्षित होती है। सिद्धान्त-समूहों की सही जानकारी रखने पर साधारण आदमी भी इस प्रकार की आलोचना कर सकता है। अन्य प्रकार की आलोचना की अपेक्षा इस आलोचना में आलोचक को मानसिक श्रम भी कम ही करना पड़ता है फलतः ऐसी आलोचना में बुद्धि-पक्ष का योग भी कम ही समझना चाहिये। जिस शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति में हृदय और बुद्धि-पक्ष का अभाव होगा उस पद्धति के माध्यम से कलाकार के साथ पूर्ण न्याय हो सकेगा या नहीं, यह विचारणीय है।

तुलनात्मक आलोचना में भी यद्यपि पूर्व निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर ही चलना पड़ता है, लेकिन इसमें एक नवीन विशेषता यह आ जाती है कि इसमें दो समान कृतियों या कलाकारों की परस्पर तुलना की जाती है और तब यह निर्णय किया जाता है कि इनमें से कौन श्रेष्ठ है। इन दोनों प्रकार की आलोचना के अतिरिक्त आलोचना का एक और प्रकार है जिसे विवेचनात्मक समीक्षा कहते हैं। इस प्रकार के विवेचन में किसी रचना की आलोचना रचना में वर्णित बातों को दृष्टि में रख कर ही की जाती है न कि पूर्व निर्मित किसी सिद्धान्त के आरोपण द्वारा। फलतः इसमें आलोचक विवेचन और विश्लेषण द्वारा रचना की उत्कृष्टता का उद्‌घाटन करता है। इस प्रकार की समीक्षा के दो अंग होते हैं—एक व्याख्या का अंश, जिसमें आलोचक किसी रचना का मर्मोद्‌घाटन कर उसे अधिक स्पष्ट और बोधगम्य बनाने का प्रयास करता है और दूसरा, विश्लेषण का अंश, जिसमें आलोचक आलोच्य के विविध अंगों को अलग-अलग परख कर उनके सौंदर्य के कारणों का स्पष्टीकरण करता है। मिश्रजी चूंकि रीति-शास्त्र के पण्डित थे, काव्य-शास्त्र का उन्हें काफ़ी अध्ययन था अतएव ये रीतियुगीन साहित्य के विवेचन में काफी सफल रहे। क्योंकि रीतिकालीन साहित्य की समीक्षा में उन शास्त्रीय मापदंडों का खप्पा ठीक से बैठ जाता है। तुलनात्मक आलोचना के उदाहरण उनकी 'देव और बिहारी' पुस्तक है एवं विवेचनात्मक समीक्षा के प्रमाण 'मतिराम ग्रंथावली' की भूमिका एवं 'देव और

बिहारी' दोनों हैं।

सर्वप्रथम मिश्रजी ने शर्माजी को जवाब दिया और इस जवाब में उस युग की प्रवृत्तियों के विरुद्ध अपनी खास विशेषताएँ भी क़ायम रखीं। यद्यपि तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात 'सतसई संजीवन भाष्य' के सहारे शर्माजी ने ही किया था और उससे हिन्दी आलोचना साहित्य की आंशिक वृद्धि भी हुई थी, किन्तु शर्माजी की आलोचना के जो दोष थे उसका मार्जन मिश्रजी ने ही किया। पद्मसिंह शर्मा अच्छे व्याख्याता थे इसमें सन्देह नहीं। वस्तुतः वही आलोचक श्रेष्ठ है जो काव्यगत सौंदर्य की विवृत्ति करे, उसके सारे सौंदर्य को निखार कर रख दे। शर्माजी को इस क्षेत्र में अधिकार था, किन्तु उनमें चुहलबाज़ी थी और था शाबासी का महफ़िली तर्ज़। लेकिन मिश्रजी की पुस्तक में बड़ी शिष्टता, सभ्यता एवं मार्मिकता के साथ बड़े बड़े कवियों की भिन्न-भिन्न रचनाओं का मार्मिक मिलान देखने को मिला। अतः यह कहा जा सकता है कि अपनी कला में मिश्रजी शर्माजी की अपेक्षा अधिक शिष्ट और संयत रहे हैं। शर्माजी की अपेक्षा मिश्रजी में एक और विशेषता भी परिलक्षित होती है। और वह है उनकी वैज्ञानिकता। 'देव और बिहारी' के ढांचे बहुत वैज्ञानिक हैं। पहले भूमिका में तुलनात्मक आलोचना के संबंध में काफ़ी विचार किया गया है; पुनः देव और बिहारी को भिन्न भिन्न प्रसंगों जैसे--काव्यकला-कुशलता, बहुदर्शिता, प्रतिभा-परीक्षा, विरह-वर्णन, भाषा शैली आदि--में रखकर बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से खतिया कर उस पर शिष्ट और संयत राय दी गई है। इस तरह से तुलनात्मक आलोचना प्रणाली को उत्कर्ष प्रदान करने का ज़्यादा श्रेय इनको ही दिया जा सकता है। 'मतिराम ग्रंथावली' की भूमिका में भी तुलनात्मक विवेचन में ज़्यादे पन्ने खर्च किए गए हैं जिस को ध्यान में रख कर ही तो शुक्लजी ने लिखा था कि "मिश्रजी ने मतिराम ग्रंथावली की भूमिका का आवश्यकता से अधिक अंश इस तुलनात्मक आलोचना को ही अर्पित कर दिया; और बातों के लिए कम जगह रखी।"

इन सारी विशेषताओं के बावजूद भी मिश्रजी से जो एक जबर्दस्त भूल हुई वह यह कि देव के पक्ष-समर्थन के सिलसिले में बिहारी की कला के साथ उन्होंने समुचित न्याय नहीं किया। बिहारी के साथ यह अन्याय सामान्यतया तीन कारणों से हुआ। पहला यह कि इन्हें देव को बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध करना था, अन्यथा सतसई संजीवन-भाष्य का जवाब ये कैसे देते! अतः देव की श्रेष्ठता दिखलाने के सिलसिले में बिहारी के बारीक स्थलों को भी इन्होंने उपेक्षा की दृष्टि से देखा और देव के निम्न स्थलों को भी बारीक करार दिया जो कि इनके ऐसे सत्समालोचक के उपयुक्त नहीं था। दूसरा कारण यह था कि बिहारी के कतिपय दोहों के अर्थ भी ये सही रूप में नहीं समझ सके, फलतः बिहारी का उचित मूल्यांकन न हो सका। और तीसरा कारण यह था कि मिश्रजी की सौंदर्य-चेतना भी उतनी विकसित नहीं थी कि वे बिहारी के सौंदर्य की अनुभूति कर सकते या पाठकों को करा सकते। अतएव इनके द्वारा बिहारी के प्रति अन्याय होना अवश्यम्भावी सा हो गया।

यों तो देव और बिहारी की तुलना करने के सिलसिले में बहुत से स्थलों में बिहारी के साथ अन्याय हुआ है ; फिर भी एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जाता है। बिहारी का दोहा है--

"विहँसति-सकुचति-सी दिए कुच-आँचर-बिच बाँह;
भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माँह।" और देव का कवित्त है--

"पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक-सी;
छूटी अलकनि झलकनि जल बूंदनि की,
बिना बेंदी-बंदन बदन-सोभा विकसी।
तजि-तजिकुंज-पुंज ऊपर मधुप-पुंज
गुंजरत, मंजुबर बोलै बाल पिक-सी ;
नींवी उकसाय, नेक नैनन हँसाय, हँसि,
ससि-मुखी सकुचि सरोवर ते निकसी।"

'देव और बिहारी' के रचयिता ने देव के कवित्त को बिहारी के दोहे से श्रेष्ठ माना है, किन्तु वस्तुत: बात ऐसी नहीं। बिहारी के उस छोटे से दोहे में नायिका की जिस स्वाभाविक परिस्थिति का चित्रण हुआ है, वह देव में कहाँ ? बिहारी ने कम ही शब्दों के सहारे सद्य:स्नाता का मूर्त्तरूप खड़ा कर दिया है। बिहारी में आप से आप कला की बारीकी मानो आ गई तो, किन्तु देव में परम्परा-पालन की प्रवृत्ति के चलते कृत्रिम कला की गंध आ गई है। यहाँ पिक की बोली लाई गई है, मधुप का गुंजन लाया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि देव रीति-काव्य के उपकरण जुटाने ही में व्यस्त रहे हैं। अनुप्रास की बहार देखकर देव की चमत्कार-प्रियता स्पष्ट हो जाती है। बिहारी में चमत्कार लाने का प्रयत्न नहीं किया गया है, अपितु सच्ची और प्रभावोत्पादक बातें कला के आवरण में रखी गई हैं। इसके अतिरिक्त देव की नायिका परकीया मालूम पड़ती है और बिहारी की नायिका भारतीय सलज्जा नारी की विशेषता से सुसज्जित। बिहारी में नीवी को उकसा कर यौवन के इजहार कराने का प्रयत्न नहीं है। अतएव दोनों के क्षेत्र-विस्तार को ध्यान में रखते हुए प्रभाव की दृष्टि से बिहारी का दोहा ही श्रेष्ठ मालूम पड़ता है।

बिहारी रीति-परम्परा के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप में भी एक उच्च कोटि के कलाकार थे जिसका समुचित विश्लेषण औरों ने तो किया ही नहीं, मिश्रजी भी 'वाद-विवाद' के सिलसिले में इसको दुर्लक्ष्य कर गए। अतएव बिहारी के संबंध में मिश्रजी की निम्नलिखित सम्मति से सहृदय साहित्यिकों को एतराज़ होगा ही "देवजी शृंगारी कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। अनेक स्थलों पर, भाव समानता में, बिहारीलाल देव तथा अन्य कवियों से दब गए हैं। देव की भाषा बिहारी लाल की भाषा से कहीं अच्छी है। सूर, हित हरिवंश, मतिराम तथा

अन्य कई कवियों की भाषा भी बिहारी की भाषा से मधुर है। × × × भाषा का समुचित नियंत्रण करते हुए गंभीरतापूर्वक भाव का निर्वाह करने में देवजी अद्वितीय हैं। × × × एकमात्र सतसई के रचयिता के कुछ दोहे कोई भले ही शिथिल कह ले, पर दर्जनों ग्रंथ बनाने वाले देवजी के शिथिल छंद कहीं ढूँढ़ने पर मिलेंगे × × × सारांश यह कि हमारी राय में शृंगारी कवियों में देवजी का स्थान पहले है और बिहारीलाल का बाद को।" **'देव और बिहारी' पृष्ठ १४६, २५५-२५६।**

'देव और बिहारी' में एक नवीन बात और भी देखने में आई। देव और बिहारी में कौन श्रेष्ठ है यह सिद्ध करने के फेर में पड़कर मिश्रजी बिहारी को 'दास' से भी निम्न कोटि के कवि मानने को तैयार हो गए। उन्होंने स्पष्ट रूप में बिहारी और दास के संबंध में अपनी यह सम्मति दी कि "पाठक स्वयं पढ़कर निर्णय करें कि दासजी ने बिहारी के भावों की चोरी की है या उनको (यानी बिहारी लाल को!) यह सिखाया है कि आइए, देखिए, भाव इस प्रकार से प्रकट किए जाते है!" बिहारी को 'दास' भाव प्रकट करने की कला सिखावें, आश्चर्य! अगर बात यहीं तक रहती तो मिश्रजी की विचारधारा के अनुकूल उपरोक्त बातें मान्य भी होती, किन्तु जिस देव का वे पक्ष-समर्थन कर रहे थे उसका भी ख्याल मिश्रजी को नहीं रहा और स्पष्ट शब्दों में उन्होंने घोषित कर ही दिया कि —"इन छंदों में किस प्रकार दासजी ने देवजी का मज़मून छीन लिया है।" इस प्रकार 'दास' के सामने बिहारी और देव को हीन बतलाते हुए एक नई बात यह भी हो गई कि आगे के झगड़े के लिए मिश्रजी ने मसाला तैयार कर दिया। अब लोग लड़ें कि 'दास बड़े कि बिहारी बड़े'! 'दास बड़े कि देव बड़े।'

शास्त्रीय आलोचना-प्रणाली का विकसित रूप हम मिश्रजी में पाते हैं। यों तो इसका सूत्रपात मिश्र-बंधुओं ने ही किया था जिसके उदाहरणस्वरूप हम 'हिन्दी नवरत्न' को ले सकते है, फिर भी इस प्रणाली का समुचित विकास मिश्रजी में ही हुआ, यह एकदम सत्य है। यद्यपि, 'हिन्दी नवरत्न' में मिश्र-बंधुओं को बहुत कुछ सफलता मिली है फिर भी वे आलोचनाएँ चलते ढंग पर ही लिखी गई जान पड़ती हैं और शुक्लजी के शब्दों में 'यों ही लिखी हुई।' अतएव शास्त्रीय आलोचना को दृष्टि में रखकर शुक्लजी का यह कथन मान्य हो जाता है कि "मिश्र-बंधुओं की अपेक्षा पंडित कृष्णविहारी मिश्रजी साहित्यिक आलोचना के कहीं अधिक अधिकारी कहे जा सकते है। मिश्रजी ने जो कुछ भी कहा है, शास्त्रीय विवेचन के साथ कहा है।"

मिश्रजी एक ऐसे आलोचक थे कि अगर उनकी दृष्टि साहित्य के सीमित क्षेत्र में ही न रहकर विस्तृत क्षेत्र में जाती और सीमित दृष्टिकोण में बधे न रहकर वे युग-चेतना का साथ देते तो हिन्दी आलोचना साहित्य का बहुत बड़ा उपकार हुआ होता। यही कारण है कि समकालीन होते हुए भी शुक्लजी ने आलोचना के क्षेत्र में इनसे बाज़ी मार ली। जिस समय ये लोग आलोचना क्षेत्र में काम कर रहे थे उस समय अंग्रेजी आलोचकों की बहुत-

सी नवीन-नवीन मान्यताएँ यहाँ प्रश्रय पा रही थीं और यहाँ के सुशिष्ट आलोचक उन मान्यताओं की कसौटी पर आलोचना साहित्य की अभिवृद्धि कर रहे थे। उदाहरण में शुक्लजी रखे जा सकते हैं। यद्यपि मिश्रजी ने भी अंग्रेजी आलोचकों की बहुत-सी मान्यताओं को 'देव और बिहारी' एवं 'मतिराम ग्रंथावली' की भूमिका में स्पष्ट करने का प्रयास किया, फिर भी उस प्रयास से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें अंग्रेज़ी आलोचना शास्त्र का गहरा अध्ययन नहीं था। इनकी आलोचना के पूर्व ही क्रोचे का 'Asthetics,' आई. ए. रिचर्ड्स का 'Principles of Literary Criticism' प्रकाशित हो चुके थे; फिर भी मिश्रजी जैसे सहृदय आलोचक इन पुस्तकों के द्वारा लाभ उठाने से सर्वथा वंचित रह गए। अगर उन पुस्तकों का किसी ने लाभ उठाया, उन पुस्तकों की सारी मान्यताओं का ठीक-ठीक से विवेचन किया तो वे हैं पं० रामचन्द्र शुक्ल। मिश्रजी से यह नहीं हो सका, इसका एकमात्र कारण यही था कि इनकी और इनके साथ-साथ पद्मसिंह शर्मा एवं मिश्र बंधुओं की युग-चेतना उतनी विकसित नहीं हो सकी थी; फलतः शुक्लजी इन सभी आलोचकों से एक कदम आगे रहे।

शुक्लजी के साथ मिश्रजी को रखकर देखने से और भी बहुत-सी बातों का पता लगता है। एक तो यह कि रस की ओर शुक्लजी की जैसी गहन दृष्टि थी वैसी न तो मिश्रजी की ही थी और न पद्मसिंह शर्मा की ही। ये लोग मुख्यतः चमत्कारप्रिय आलोचक थे और चमत्कारिता के प्रस्फुटन में ही इन्हें विशेष मज़ा आता था। हाँ, इतना अवश्य कहा जायगा कि शर्माजी की अपेक्षा मिश्रजी कम चमत्कारप्रिय थे और उनसे अधिक संयत एवं शिष्ट भी। दूसरा अन्तर जो शुक्लजी और इन लोगों में था वह यह कि शुक्लजी की आलोचना की परिधि विस्तृत थी और इन लोगों का दायरा सीमित। इन लोगों के सामने भक्तिकाल का संपन्न साहित्य था फिर भी ये लोग उस क्षेत्र की ओर न बढ़कर मात्र रीतियुगीन साहित्य में ही लिपटे रहे। किन्तु रामचन्द्र शुक्ल के साथ ऐसी बात नहीं थी; उन्होंने भक्ति साहित्य का भी उचित विवेचन और मूल्यांकन किया।

मिश्रजी के रीतिकालीन कवियों में घूमते रहने के कारण आलोचना साहित्य की हानि भी हुई। इन के दलबंदी में पड़ जाने के कारण, किसी ख़ास के प्रति आसक्त हो जाने के फलस्वरूप स्वतन्त्र समालोचना का मार्ग प्रशस्त न हो सका। इस अभाव का उत्तरदायित्व मिश्रजी पर हमेशा रहेगा।

मिश्रजी में एक और भी त्रुटि रही। इनके समय में खड़ी बोली का काफ़ी प्रचार-प्रसार हो गया था; खड़ी बोली काफ़ी सशक्त होकर काव्य के लिए भी उपयुक्त हो गई थी; फिर भी मिश्रजी का झुकाव ब्रजभाषा काव्य की ओर ही रहा। यद्यपि ये वैसे कहने वाले लोगों में से नहीं थे कि खड़ी बोली में कविता हो ही नहीं सकती तथापि खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा के माधुर्य पर रीझ कर इन्होंने काव्य के लिए ब्रजभाषा को ही उपयुक्त

समझा जिसका प्रमाण उनकी इन पंक्तियों में सुरक्षित है—"हमें सब प्रकार से हिन्दी की उन्नति करनी है..................कविता में अभी उन्नति की जरूरत है। हिन्दी कविता आज कल खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में ही होती है। कविता का मुख्य गुण भाव है और सहायक गुण शब्द-सौंदर्य। × × × ब्रजभाषा में यह गुण सहज सुलभ है। × × × खड़ीबोली में सचमुच ही शब्दमाधुर्य की कमी है।" और अन्त में ब्रजभाषा को जीवित रखने की कामना करते हुए उन्होंने कहा कि—"ईश्वर करे, हमारे पूर्व कवियों की यह थाती आजकल के सुयोग्य भाषाभिमानी कवियों द्वारा सुरक्षित रहे।" तो इस प्रकार किसी नवीन भाषा को सजाने-सँवारने के बदले प्राचीनता में लिपटे रहकर उसका जयगान करना, भाषा और साहित्य की उन्नति को ध्यान में रखकर, कहाँ तक युक्तिसंगत माना जायगा, विचारणीय है।

जब हम 'देव और बिहारी' की तुलना 'मतिराम ग्रंथावली' की भूमिका से करते हैं तो पहले की अपेक्षा दूसरे की भूमिका ही अधिक श्रेष्ठ मालूम पड़ती है। इस भूमिका में मिश्रजी का प्रखर पांडित्य उनके विशिष्ट सम्पादक का रूप सामने आता है। इस भूमिका में जहाँ एक ओर उन्होंने परम्परागत आलोचना-प्रणाली अपनायी है वहाँ दूसरी ओर इसमें नवीन अध्याय भी जोड़े हैं। कवि को बहुत-सी वस्तुओं का ज्ञान है, इसका स्पष्टीकरण करना; शास्त्रीय-सिद्धांतों का विवेचन करना; रस, कविता और अलंकारों के सौंदर्य का साक्षात्कार कराना; पूर्ववर्त्ती आलोचना की प्रणाली है जिसको मिश्रजी ने अपनाया है और इसके साथ-साथ उन्होंने मतिराम को सूर, तुलसी, केशव आदि हिन्दी के महान् कवियों, शेक्सपीयर आदि अंग्रेजी कलाकारों तथा रवींद्र जैसे बंगला के कवि की पंक्ति में बैठा कर तुलनात्मक आलोचना प्रणाली को उत्कर्ष प्रदान किया। इतना ही नहीं, इस भूमिका में उनके व्यक्तित्व की छाप भी पायी जाती है। उनके निर्णयात्मक आलोचक का रूप और उनके विचारक का रूप तो मिलता ही है, साफ़-साफ़ सच्ची बातें कहने की उनकी दृढ़ता भी दीख पड़ती है। वे बहुज्ञ थे, उनका पांडित्य प्रखर था इसके भी प्रमाण मिलते हैं। इस भूमिका में भिन्न-भिन्न प्रतियों से पाठ मिलाकर उनकी परीक्षा करने की जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है उससे उनके सत्य आलोचना के निकट पहुँचने की क्षमता का भी पता लग जाता है। काव्य के अनुशीलन में उनकी गहरी पैठ है, इसके लिए उदाहरण तो यत्र-तत्र मिलते ही हैं।

जहाँ तक भाषा शैली का प्रश्न है इस संबंध में यह निश्चित रूप में कहा जा सकता है, उनकी शैली अपने जमाने के अन्य आलोचकों की अपेक्षा अधिक संयत है। भाषा में संयत व्यंग है। अंग्रेजी शब्दों का व्यवहार भी यत्रतत्र हुआ है जैसे—"मतिराम की कविता का **पेटेंट** गुण प्रसाद है।" इसके अतिरिक्त 'जो है सो' वाली प्रवृत्ति भी इनकी शैशी में दीख पड़ती है। बहुत से वाक्य 'सो' से प्रारम्भ किए हुए मिलते हैं। उर्दू शब्दों जैसे 'फलाँ' का प्रयोग भी मिलता है और कुछ प्रांतीय प्रयोग भी जैसे 'बिठाला' आदि।

अन्त में इतना अवश्य ही कहा जायगा कि हिन्दी साहित्य की आलोचना के इतिहास में संयत और शिष्ट आलोचक के रूप में मिश्रजी का नाम सदैव श्रद्धा के साथ लिया जायगा।

: १२ :

डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

(प्रभाकर माचवे)

मैं हिन्दी में तीन आलोचकों के सम्मुख नतमस्तक हूँ। यानी उनकी लिखी हुई पंक्ति-पंक्ति मैंने पढ़ी है और उनसे मैं प्रभावित हुआ हूँ। वे हैं सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। इन तीनों से ही मैं सर्वाधिक क्यों प्रभावित हुआ, इसका कारण शायद दर्शन के अध्ययन से और विश्लेषणात्मक, तर्कयुक्त, बुद्धिग्राह्य, वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति से मेरे मन में जो प्रेम है, वही मुख्य हो। परन्तु अन्य समीक्षकों के प्रति किंचित् भी अविनय न प्रदर्शित करते हुए मैं कहना चाहता हूँ कि हिन्दी की आलोचना-धारा को इन तीन विद्वानों ने अपने अकथनीय परिश्रम और मौलिक संशोधन से सच्ची गति दी है। सच्चा आलोचक न निरा व्याख्याकार या संकलक है और न निरा भावुक मताग्रही प्रचारक। वह इन दोनों से ऊपर उठकर मर्मज्ञ, रसज्ञ, भावक है। वह स्रष्टा का सह-प्रवासी है।

इस दृष्टि से स्वर्गीय डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के पं. रामचन्द्र शुक्ल और श्याम सुन्दरदास पर निबन्ध बहुत पठनीय हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में बड़थ्वाल जी ने प्रारंभ में निबंधकार, कोशकार, साहित्य के इतिहासकार शुक्ल के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आलोचक शुक्लजी पर लिखा है :—

"हिन्दी में नवीन आलोचना का सूत्रपात तो एक प्रकार से शुक्लजी ने ही किया है। आलोचना के क्षेत्र में निर्णय दे देने भर की प्रवृत्ति को उन्होंने उतना प्रश्रय नहीं दिया; उन्होंने प्रधानता दी आलोचना के व्याख्यात्मक स्वरूप को। जिन परिस्थितियों में कवि या लेखक का उदय हुआ, उसके मस्तिष्क का निर्माण हुआ, उसकी प्रवृत्तियों को रूपाकार मिला, पृष्ठभूमि के रूप में उनका वर्णन कर के उन्होने रचना के अंतरतम में प्रवेश किया और उसकी बहुविध विशेषताएँ दिखलाईं। इस प्रकार उन्होंने काव्य के अध्ययन के सम्बन्ध में वह परिस्थिति उपस्थित की जिससे पाठक अपने आपको उस स्थिति में अनुभव करे, जिस स्थिति में अनुभव कर के रचयिता ने अपनी रचना का निर्माण किया। यह समानुभूति शुक्ल जी की विशेषता है, जिसने उनकी तीव्र अंतर्दृष्टि को वस्तुतः तथ्य-निरूपण में समर्थ बनाया।

" 'हिन्दी काव्य में रहस्यवाद' में उनकी आलोचनात्मक दृष्टिपूर्ण प्रखरता के साथ प्रकट हुई। प्रखरता ने उसमें समानुभूति को थोड़ी देर के लिए एक ओर ढकेल दिया था, परन्तु बहुत समय तक वह बात न रही और आधुनिक काव्य के सम्बन्ध में भी वह समानुभूति

उनके 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' के नवीन संस्करण में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित दिखाई दे रही है।"

आगे चलकर इसी निबन्ध में शुक्लजी के कवि-रूप पर विचार करके बड़थ्वाल जी ने लिखा—"पर शुक्लजी साहित्य के समर्थ विश्लेषक और साहित्य सिद्धांत के शुष्क विवेचक ही नहीं थे, वे स्वयं भी एक भावुक कवि थे।. . . .स्वयं शुक्लजी का विचार था कि उनका स्वाभाविक क्षेत्र रचनात्मक साहित्य है। उन्हें बड़ा भावुक हृदय मिला था। रचनात्मक साहित्य को छोड़कर आलोचना और अध्यापन के क्षेत्र में आने में उन्हें बड़ा त्याग करना पड़ा। साहित्य के अपने गहरे ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के उद्देश्य से उन्होंने स्रष्टा होने के अमिट आनंद का परित्याग कर दिया। . . . किन्तु इस त्याग से जहाँ हम एक क्षेत्र के दान से वंचित रहे, वहाँ दूसरे क्षेत्र में उसने इस कमी को कहीं अधिक मात्रा में पूरा कर दिया। . . .इतना ही नहीं, उनके स्रष्टा स्वरूप ने उनकी आलोचनाओं को भी केवल आलोचना से ऊपर उठाकर वह रूप दिया है जिससे वे स्वयं रचनात्मक स्थायी साहित्य की कोटि में आ गईं।"

बाबू श्यामसुन्दर दास पर लिखते हुए भी उन्होंने सिलवाँ लेवी के बाबू साहब को लिखे एक पत्र का उल्लेख किया है—"नवम्बर या दिसम्बर १८९७ में जब आपसे मेरी जान-पहचान हुई थी उस सुखद समय को मैं कभी नहीं भूलता। उस समय आप नेपाली खपड़े में न रहते थे ? नागरी और रोमन में हम कितनी शीघ्रता से लिख सकते हैं, यह जाँचने के लिए हमारे बीच में प्रतियोगिता भी हुई थी। आपने उतनी ही शीघ्रता से नागरी लिखी, जितनी शीघ्रता से मैंने रोमन।"

पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का जन्म मार्गशीर्ष १७ सं. १९५७ विक्रमी को गढ़वाल के पास पाली ग्राम में हुआ था। इनके पिता गौरीदत्त ज्योतिष तथा पुराणों के विद्वान थे। बचपन से अमरकोश आदि संस्कृत ग्रंथ पढ़े। बाद में आपकी शिक्षा लखनऊ और काशी में हुई। प्राकृतिक चिकित्सा की ओर वे झुके, क्योंकि आपका स्वास्थ्य खराब बहुत रहने लगा था। 'गढ़वाल नवयुवक सम्मेलन' की भी स्थापना की। तब लिखे अपने लेखों में नाम 'अम्बर' या 'व्योमचन्द्र' देते थे। सं. १९८५ में आपने काशी से एम. ए. किया और सं. १९८६ में एल. एल. बी.। एम. ए. की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में आये और उन्होंने एक विस्तृत निबन्ध 'छायावाद' पर लिखा, जिससे बा. श्यामसुन्दरदास इतने प्रभावित हुए कि काशी विश्वविद्यालय में ही उन्हें शोध कार्य पर नियुक्त किया। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के भी खोज-विभाग में आप संचालक नियुक्त हुए। सं. १९९० में 'दि निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोइट्री' नाम से प्रबन्ध आपने डी. लिट. उपाधि के लिए दिया और यह उपाधि पाई। साहित्य-सम्मेलन ने सदा की भाँति इस विद्वान् की भी उपेक्षा ही की, यद्यपि तिरुपति (मद्रास) वाले प्राच्य विद्या सम्मेलन के सं. १९९७ के अधिवेशन में इन्हें हिन्दी विभाग के सभापति का आसन दिया। इस भाषण की चर्चा आगे है। १९९५

से आप काशी छोड़कर लखनऊ चले गये। परन्तु स्वास्थ्य आपका गिरता गया और सं. २००१ में ही आपका निधन हो गया।

उनके प्रकाशित ग्रंथ थोड़े हैं और वे सब उनके मरणोपरान्त हैं। नाथों की सबदियों एवं सन्तों की बानियों के आधार पर लिखे उनके निबन्धों का संग्रह बा. सम्पूर्णानन्द द्वारा सम्पादित होकर 'ज्ञानमंडल' कार्यालय काशी से सं. २००३ में निकला जिसका नाम 'योगप्रवाह' है। उनका ग्रंथ 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' प्रथम बार हिन्दी में अनूदित होकर सं. २००७ में प्रकाशित हुआ। उनका सब से प्रसिद्ध निबन्ध जो ग्यारह वर्षों के परिश्रम का फल है वह 'सुरति-निरति' केवल ग्यारह पृष्ठ का है। आपके स्फुट निबन्धों का संग्रह 'मकरन्द' डॉक्टर भगीरथ मिश्र द्वारा संपादित होकर अवध पब्लिशिंग हाउस से छप गया है। बस, यही उनका प्रकाशित उपलब्ध साहित्य है। परिमाण में कम, परन्तु गुणों में बहुत, ऐसा उनका गवेषणा-साहित्य है।

इन पंक्तियों के लेखक ने बहुत वर्षों पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'निर्गुण काव्य-धारा' के बड़थ्वालजी द्वारा अनूदित कुछ अंश पढ़े थे, मूल अंग्रेजी थीसिस भी। परन्तु सर्वाधिक प्रभावित मै हुआ था शायद सन् १९३७ में, जब 'सरस्वती' में आपका लेख 'गांधी और कबीर' पढ़ा था। बहुत दिनों तक वह मन में अटका रहा था। जब सहसा, शायद १९४६ में, 'मौज' के दीपावली विशेषांक में मराठी-साहित्य-सम्मेलन के वर्त्तमान सभापति और प्राचीन काव्य के खोजी श्री. अ. का. प्रियोलकर का लेख 'चक्रधर और गांधी जी' पढ़ा, तब तुलना की इच्छा जागी। चक्रधर मराठी के आदि कवि सम्प्रदाय मानभावों में से एक सन्त थे। अब बड़थ्वालजी का समूचा साहित्य दुबारा पढ़ गया हूँ और उनकी विलक्षण परिश्रमशीलता और अध्ययनपूर्णता से प्रभावित हूँ। रहस्यवाद के विषय में जिन अंग्रेजी अधिकारी विद्वानों के ग्रंथों का बड़थ्वालजी ने अपने थीसिस के परिशिष्ट २ में उल्लेख किया है, वह इस विषय में आगे जो भी कार्य करें उनके लिए बहुत ही उपादेय सूची है। मै इनमें से प्रायः बहुत से ग्रंथ तेरह वर्ष पूर्व, जब मैं दर्शन का विद्यार्थी था, पढ़ चुका था और उसके बाद इन विषयों पर लिखने वालों के कार्य का अनुशीलन करता आ रहा हूँ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' और 'नाथ-सम्प्रदाय' तथा डॉ. रांगेय राघव के 'गोरखनाथ' पर प्रबन्ध को छोड़ बड़थ्वालजी के स्तर का कार्य हिन्दी में बहुत कम हुआ है। वैसे रहस्यवाद के नाम पर छोटे-मोटे ग्रंथ तो बहुत निकल चुके हैं। हिन्दीतर भाषाओं में क्षितिमोहन सेन के 'दादू', डॉ. कोलते के 'महानुभावांचे तत्वज्ञान', उमाशंकर जोशी के 'आँखें' और डॉ. मोहनसिंह के 'नामदेव' के अलावा बहुत कम ग्रन्थ इस कोटि के मिलेंगे। हाल में मराठी में न. र. फाटक ने एकनाथ और ज्ञानेश्वर पर सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं। दर्शनाचार्य रा. द. रानडे ने कर्नाटक के मर्मी कवियों पर मार्मिक व्याख्यान दिये है।

डॉक्टर बड़थ्वाल की विवेचन-पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह मूलग्राही है। 'हिन्दी काव्य में निर्गुण धारा' का एक अंश उदाहरणार्थ लीजिये। पृष्ठ १४५ पर वे

लिखते हैं—"इस प्रकार निर्गुण सन्त-सम्प्रदाय में तीन प्रकार का दार्शनिक मत दिखाई देता है जिन्हें मैंने वेदांत की शब्दावली का व्यवहार कर अद्वैत, भेदाभेद और शिष्टाद्वैत के नाम से पुकारा है। . . . अद्वैती लोग जो जीवात्मा और परमात्मा में पूर्णाद्वैत भाव मानते हैं, वे इन सब बातों को केवल व्यावहारिक रूप में सत्य मानते है, परमार्थतः नहीं, किन्तु विशिष्टाद्वैतियों और भेदाभेदियों के अनुसार ये वस्तुएँ सत्य हैं। इन दोनों मतों वाले मानते हैं कि परमात्मा का अंश-स्वरूप होने के कारण आत्मा भी एक प्रकार से परमात्मा ही है। भेदाभेदियों के अनुसार तो यह अंश अन्त में अपनी भेदसत्ता को प्रभेदरूप से परमात्मा में लय कर देता है, किन्तु विशिप्टाद्वैतियों के अनुसार पूर्ण और अंश में यह भेद शाश्वत है। सृष्टि-सम्बन्धी इन दार्शनिक सिद्धान्तों और अंग्रेजी दार्शनिक शब्दावली में हम अद्वैतियों, भेदाभेदियों और विशिष्टाद्वैतियों को क्रमशः एकास्मिट्स (विवर्तवादी), पैनैन्थीस्ट्स (सर्वात्मविकासवादी) और एक्स्टर्नेल लार्ड थियरिस्ट्स (वाह्य विभुवादी) कह सकते हैं।"

और पृष्ठ १६४ पर निरंजन के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"निरंजन को काल-पुरुष कहना पहले पहल गीता के अनुकूल जान पड़ेगा। कृष्ण अपने आपको 'कालोऽस्मि' कहते है। परन्तु उनका अपने आपको 'काल' कहने का अभिप्राय निरतिशय परब्रह्म पद से नीचे गिराना नहीं है। क्यों कि जहाँ उन्होंने अपने आपको 'काल' कहा है, वहीं क्षर और अक्षर दोनों से परे भी बतलाया है। कृष्ण, काल और अक्षरातीत दोनों एक साथ हैं।"

उनकी आलोचना का दूसरा गुण यह है कि वह वैज्ञानिक संपूर्णता (थौरोनेस) को अपनाते हैं। किसी भी चीज़ को लिखते समय उसकी सम्भव सब मूल प्रतियों को पूरा आलोड़न करते थे। उदाहरणार्थ, 'गोरखबानी' ग्रन्थ की भूमिका ही ले लीजिये। जो हस्तलिखित दस प्रतियाँ मिलीं और उनके आधार पर जो छोटी-मोटी चालीस कहानियाँ उन्हें मिली ,उनकी पूरी प्रामाणिकता की जाँच उन्होंने की। इस भूमिका में पृष्ठ १९ पर वे लिखते है—"इस ग्रंथ के संपादन का कार्य मैंने बहुत पहले आरम्भ कर लिया था। कुछ प्रतियों का पता मुझे बहुत पीछे लगा। उदाहरणतः (च) और (छ) प्रतियों का पता तब लगा जब समस्त ग्रन्थ का सम्पादन हो चुका था। उनके पाठ का मिलान करने से भी पता चला कि उनमें पाठ ऐसे नहीं हैं जो इन प्रतियों में से किसी में न आयें हों। उदाहरण के लिये इस भाग के परिशिष्ट में आरम्भ की १६ शबदियों के पाठांतर दे दिये गये हैं, जिससे यह बात पुष्ट होती है।"

डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के हिन्दी-प्रेम के उदाहरण के रूप में, २२ मार्च १९४० को तिरुपति में हुए अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या-सम्मेलन के हिन्दी विभाग के अध्यक्षीय-पद से उनके दिये गये भाषण के कुछ अंश उद्धृत करना उत्तम होगा। उस समय हिन्दी के अभाव के नाते उनकी बतलाई हुई बातें आज भी सवा सोलह आने सही हैं। बल्कि हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने से, उस पर बढ़े हुए नये उत्तरदायित्व को ध्यान में लेते हुए,

यह सब खोज-कार्य और भी संगठित तथा संश्लिष्ट रूप से आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। डॉक्टर बड़थ्वाल ने तब कहा था :—

"आजकल तो हम हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने के सम्बन्ध में केवल ज़ुबानी जमा-खर्च कर रहे हैं। किन्तु प्राचीन काल में वह सचमुच किसी सीमा तक अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय की भाषा हो गई थी। श्रीयुत दिनेशचन्द्र सेन[1] के अनुसार, पूर्व मुग़लों के शासन-काल तक 'हिन्दी पहले ही समस्त भारत की सामान्य भाषा (लिंगुआ फ्रैंका) हो चली थी।' के एम. झावेरी[2] के शब्दों में मध्ययुगीन गुजरात में हिन्दी 'सु-संस्कृतों और विद्वानों की मान्य भाषा थी।' उन दिनों वहाँ के कवियों में हिन्दी में कविता लिखने की प्रथा सी चल पड़ी थी। यहाँ तक कि १६ वीं शताब्दी के कवि परमानंद ने भी, जिन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से गुजराती में उत्तम श्रेणी के साहित्य-निर्माण का प्रयत्न किया, अपना साहित्यिक जीवन हिन्दी-पद्य-रचना से ही आरम्भ किया था और अपने पुत्र वल्लभ को भी गुजराती में लिखते समय हिन्दी की आत्मा का अनुगमन करने का आदेश दिया था।[3] महाराष्ट्र में चक्रधर (जिनका आविर्भाव काल १३ वीं शती बतलाया जाता है), ज्ञानदेव और नामदेव, जो १४ वीं शती में हुए थे, तथा इनके बाद एकनाथ और तुकाराम सरीखे ऊँची पहुँच के सन्त अपने उपास्य देव के प्रति अपने हृदय के सच्चे भावों को यदा-कदा हिन्दी में भी व्यक्त करना उचित समझते थे।[4] १६३७ में विद्यमान बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह तक ने संगीत पर आपने 'नव-रस' नामक रचना हिन्दी में लिखी। गोलकुंडा के मुहम्मद कुली कुतुबशाह (राज्यकाल १५१९ ई.—१५५० ई.) ने, जो दक्कनी हिन्दुस्तानी का प्रथम कवि माना जाता है, अपनी कुछ कविताओं में हिन्दी के शुद्ध रूप की रक्षा की है। किन्तु, व्रजबूली जो श्रीयुत दिनेशचन्द्र सेन के मत में बंगला का पूर्ण हिन्दी 'रूप' है और जिनमें अनेक कवियों ने बहुत सुन्दर, सरस पद-रचना की है, हिन्दी की आत्मा का सर्वोत्तम अभिनन्दन है। इस मिश्री तुल्य मिश्रित भाषा में लिखी हुई कवि गोविन्ददास की कविताएँ किसी भी साहित्य का गौरव बढ़ा सकती है।

किन्तु यदि हिन्दी का स्वयं अपना उन्नत साहित्य न होता और उसके पास महत्त्वपूर्ण संदेश देने को न होता तो अहिन्दी प्रदेशों में उसके प्रति इतना अनुराग न होता। हिन्दी के प्राचीन साहित्य का महत्त्व प्रायः सब स्वीकार करते है। सूर और तुलसी पर केवल हिन्दी को ही नहीं सारे भारत को गर्व है। किन्तु खेद है कि हमारा प्राचीन साहित्य अभी पूर्ण रूप से प्रकाश में आया नहीं है। हम वर्त्तमान में इतने व्यस्त रहते हैं कि अतीत के साथ केवल

---

१. सेन-हिस्टरी आव दि बेंगाली लैंग्वेज एंड लिटरेचर, पृ० ६०० ।

२. के. एम. झावेरी—माइल स्टोन्स आव गुजराती लिटरेचर, पृ० ६६ ।

३. के. एम. झावेरी—माइल स्टोन्स आव् गुजराती, पृ० १२५ ।

४. मालेराव—कोशोत्सव स्मारक संग्रह, ना. प्र. सभा, पृ० ९२-९८ ।

मौखिक सहानुभूति दिखाकर ही रह जाते हैं। अवश्य ही नए उठते हुए साहित्य को प्रोत्साहन देने की बड़ी आवश्यकता है। किन्तु इस बात की ओर हमारा बहुत कम ध्यान जाता है कि हिन्दी के प्राचीन साहित्यकारों को, जिन्होंने बहुमूल्य निज-स्व का दान कर अतीत में वर्त्तमान की गहरी नींव डाली, जगत् के सन्मुख ला रखना भी उतना ही आवश्यक है। इसके बिना हिन्दी के प्राचीन गौरव की तथ्यानुगत अनुभूति हो नहीं सकती। नागरी प्रचारिणी खोजों से स्पष्ट है कि सामग्री का अभाव नहीं है। हमारे साहित्य का अभी बहुत थोड़ा अंश प्रकाश में आ पाया है, अधिकांश अभी तक हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में ही पड़ा हुआ है, और यदि उसकी रक्षा शीघ्र न की गई तो बहुत सी अमूल्य सामग्री नष्ट हो जायगी। कुछ तो नष्ट हो भी चुकी है। उदाहरण-स्वरूप यहाँ मैं केवल ऐसे दो ग्रंथों का उल्लेख करूँगा—एक तो कालिदास त्रिवेदी का 'हजारा' नामक हिन्दी कवियों की कृतियों का संग्रह, और दूसरा बेनीमाधवदास का 'गुसाईं चरित' नामक तुलसीदास जी का जीवनचरित। स्वयं शिवसिंह सेंगर के 'सरोज' से पता चलता है कि उक्त दोनों ग्रंथ उनके समय में विद्यमान थे। पर अब वे हमारे लिये 'सरोज' में लिखे नाम भर रह गये हैं। स्वयं 'सरोज' इस बात का साक्षी है कि शिवसिंह सेंगर का पुस्तकालय बहुत बड़ा रहा होगा। यह पुस्तकालय कांथा, जिला उन्नाव, संयुक्त प्रांत में है। आज उसकी बुरी दशा सुनने में आती है। वह नष्ट होता जा रहा है। और डर है कि यही दशा एक दिन असंगठित संस्थाओं तथा विभिन्न व्यक्तियों के पास पड़ी हुई हस्तलिखित पुस्तकों की भी हो जायगी।

इस समय की दुहरी आवश्यकता है। एक तो हस्तलिखित पुस्तकों का ऐसे केन्द्रों में संग्रह करना जहाँ नाश के दूतों से उनकी रक्षा हो सके और खोजियों को वे आसानी से सुलभ हो जायें, और दूसरे इस प्रकार प्राप्त सम्पूर्ण सामग्री का यथाशीघ्र प्रकाशन।

कुछ पुस्तकालय विद्यमान हैं जिनमें हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह है। इन संस्थाओं के संग्रहालय भविष्य के बड़े-बड़े पुस्तकालयों के लिए आधार बनाए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ पुस्तकालयों का उल्लेख किया जा सकता है; जैसे रायल एशियाटिक सोसायटी का पुस्तकालय, नागरी प्रचारिणी सभा का आर्य-भाषा पुस्तकालय और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का संग्रहालय।

राजस्थान, मध्य भारत तथा अन्य प्रदेशों के अधिकांश रजवाड़ों तथा जैन उपाश्रयों और भंडारों के पास अच्छे-अच्छे हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह हैं। ऐसे सब पुस्तकालयों के अधिष्ठाता यदि अपने-अपने पुस्तकालयों की सूची प्रकाशित करें तथा आधुनिक ढंग से अपने पुस्तकालयों का संचालन करें तो खोज के काम में बड़ी सहायता हो।

दूसरा इससे कम नहीं, शायद इससे अधिक महत्त्वपूर्ण काम है—जैसे-जैसे पुरातन ग्रंथ मिलते जायँ, वैसे-वैसे उनको छपवाना। इस दिशा में पूरी शक्ति लगा कर काम करने की आवश्यकता है। अन्य साधनों के साथ साथ इसके लिए एक बहुत उत्तम साधन होगा

'बिब्लियोथिका इंडिका' के ढंग पर एक स्थूलकाय, सुसंपादित पत्रिका को नियमित रूप से चलाना, जिसके द्वारा केवल प्राचीन हिन्दी साहित्य का प्रकाशन हो। नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला कुछ दिनों इसी ढंग पर चली ।

ये कार्य बहुत बड़े हैं। इनके लिए विविध-साधन-सम्पन्नता की आवश्यकता है। किन्तु जहाँ चाह होती है वहाँ राह भी निकल ही आती है। इसलिये यदि हिन्दी की सार्वजनिक संस्थाएँ पूर्ण मनोयोग से इन कामों को हाथ में ले लें, तो उन्हें पता चलेगा कि मानव-हृदय सदैव उत्साह से सत् प्रयत्नों का साथ देता है, और सदुद्देश्य की सफलता के लिए पूरी सहायता देने में कभी पिछड़ता नहीं।

भाषा तथा साहित्य दोनों के अध्ययन को अग्रगति देने के लिए ये कार्य आवश्यक हैं।"

अन्त में डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की महान् आलोचक आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करते समय मुझे फ्रांस के आलोचना-साहित्य के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार अनातोल फ्रांस की एक बात याद आ गई, कह देना चाहता हूँ। इससे हिन्दी के आजकल के रीडरबाज आलोचक और बिना मेहनत किये हुए 'हर्रा लगे न फिटकरी, रंग आए चोखा' वाले (या हमारी भाषा में कहावत है, डेढ़ हल्दी में पीले होने वाले) समीक्षकों के लिए सीख लेने की बहुत सी सामग्री प्राप्त होगी। १६ अप्रैल १९४४ को अनातोल फ्रांस का शतसांवत्सरिक जन्मोत्सव मनाया गया। फ्रांस उपन्यासकार के साथ-साथ आलोचक के नाते भी बड़े प्रसिद्ध थे। 'ऑन लाइफ एण्ड लेटर्स' नामक उनके निबन्धों का अंग्रेजी अनुवाद मस्यू आंद्रियाँ हेब्रार, सेनाटार,संपादक 'Temps' को अर्पित करते हुए भूमिका के रूप में आलोचनात्मक साहित्य के बारे में फ्रांस ने लिखा है :—

"दर्शन और इतिहास की भाँति आलोचना भी एक अद्भुत साहित्य-प्रकार (रोमान्स) है। और वह समझदार जिज्ञासु पाठकों के लिए ही लिखी जाती है। अद्भुत वाङ्मय वस्तुतः आत्मचरित्र जैसा होता है। सर्वोत्कृष्ट साहित्य-कृतियों के प्रदेश में जो अपना साहसी प्रवास वर्णित करता है, वही उत्तम आलोचक है।......

"मस्यू क्यूविलिए-फ्लरी नामक सुविख्यात, परिपक्व विचारों के आलोचक से भेंट होने का मौका मुझे मिला। जब मैं उन्हें आवन्यू राफाऐल नाम के उनके बंगले में मिलने गया तब बड़े अभिमानपूर्वक उन्होंने अपना छोटा पुस्तकसंग्रह दिखाया, और कहा—'यह देखो, वक्तृत्व, साहित्य, दर्शन, इतिहास—और इन सबको समाविष्ट कर लेने वाला आलोचना-साहित्य—सब यहाँ है। सचमुच, आलोचक पारी-पारी से वक्ता, दार्शनिक, इतिहासकार के रूप ग्रहण करता है।

"मस्यू क्यूविलिए-फ्लरी का कहना सच था। यह सब मिलकर आलोचक बनता है—कम से कम होना चाहिए। अत्यन्त दुर्मिल, अत्यन्त विविध स्वरूप की और अत्यन्त सर्वंकष बुद्धि की देन की खोज करने का अवसर उसे मिलता है। और अगर वह कहीं कोई

सांत-बव, तेन, जे. जे. वाइस, ज्यूल लमैत्र, फरदीनाँ ब्यून्तिएर हो तो इस सन्धि का पूरा उपयोग किये बिना वह नहीं रहता। स्वतः के व्यक्तित्व के पार न जाकर भी वह मनुष्य-प्राणियों का बौद्धिक इतिहास गढ़ता है। सारे साहित्य-प्रकारों में आलोचना सबसे अन्तिम साहित्य-प्रकार है। सम्भव है, आगे चल कर वह साहित्य के सभी प्रकारों को अपने-आप में समा ले।....

"आजकल आलोचना ने धर्मशास्त्र का स्थान ग्रहण कर लिया है। और उन्नीसवीं सदी का महापंडित संत टामस अॅक्किनस देखना हो तो हमारे सांत-बव की ओर ही उंगली उठानी होगी। सांत-बव आलोचना-क्षेत्र की महान् विभूति हो गई; उसकी स्मृति को मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करता हूँ। परन्तु सच कहूँ मित्र, किताबें लिखने से मुझे ज़्यादह अच्छा गोभी के खेत लगाना जान पड़ता है।"

अनातोल की यह विरक्ति नई नहीं है। वोल्तेयर के कांजीद के अन्त में भी यही होता है--'चलो हम अपनी आलू की खेती करें!' और कुछ वर्षों पूर्व हिन्दी-साहित्य में भी कृष्णानन्द गुप्त तथा बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'आलू के पेड़' (?) उ ाने का नारा लगाया था। पर आलोचना जब साहित्य में वंध्या हो, वह सृष्टि के प्रति अन्ध हो, वह अच्छे और बुरे के बीच मूल्य निर्धारण न कर सके, तभी यह अगतिकत्व ठीक है। परन्तु पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल जैसे आलोचक जिस भाषा में हो जाते हैं उसकी परम्परा का दाम इतना हेय नहीं होता। वहाँ विद्वत्ता और रसिकता के बीच में पार्थक्य नहीं होता, वहाँ साहित्य के सस्ते जल्दी-जल्दी डॉक्टर उपाधि प्राप्त करने वाले नौसिखुए, पाठ्य-पुस्तकों के व्यवसाय अपनी टुटपूँजी बुद्धि को नहीं लगाते फिरते, वहाँ के अध्यापक अर्थकरी विद्या के लिए साहित्य के नाम पर संकीर्णता नहीं पढ़ाते। ऐसी सत्समालोचना के विकास के लिए हमें बड़थ्वालजी जैसे सुधी, गंभीर, अध्ययनशील विद्वानों के पद-चिह्नों का अनुसरण करना चाहिए।

अन्त में, पीतम्बरदत्त बड़थ्वालजी के २७ सितम्बर १९३८ को लखनऊ-रेडियो से दिये गये एक भाषण के अन्तिम दो परिच्छेदों को दुहराता हूँ, ताकि हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में उनकी शुभकामना सार्थक हो--

"खड़ी बोली में बड़ी तेजी से साहित्य बना। अवधी और व्रज दोनों ने उसकी अंग पुष्टि की, क्योंकि थोड़े से रूपभेद से तीनों की शब्द-सम्पत्ति एक ही है। संस्कृत से भी उसे दाय में वहुत कुछ मिला जो स्वाभाविक भी था। अरबी-फ़ारसी से भी उसने परहेज़ नहीं किया। आज हिन्दी प्रत्येक भाषा से शब्द लेने के लिए तैयार है, परन्तु उन्हें अपने व्याकरण और उच्चारण के ढंग पर ढाल कर।

"आज हिन्दी का साहित्य बहुत कुछ उन्नत हो चला है। उसमें एक से एक रत्न भरे हैं। इसके कई अंग भर आये हैं। साहित्य की कोई बारीकियाँ ऐसी नहीं जिन्हें हिन्दी अपने ढंग से व्यक्त न कर सके। फिर भी वह अपनी कमियों को जानती है। प्रगतिशील असन्तोष उसे कर्मण्य बनाये हुए है, उज्ज्वल भविष्य उसके सामने है। उसमें वह जीवनशक्ति है जिससे आवश्यकता के अनुरूप स्वयं ढलती-विकसती वह अपने आदर्श लक्ष्य की ओर बिना रुकावट चली जा रही है।"

: १३ :

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

(प्रो० विनयमोहन शर्मा)

साहित्य के यथार्थ दर्शन का नाम समालोचना है। वह स्वयं साहित्य है जो आलोचक की संस्कारितापूर्ण बुद्धि और ग्राहक हृदयवृत्ति से निर्मित होता है। साहित्य का ठीक मूल्यांकन करने के लिए समाज, धर्म और राजनीति की तत्कालीन अवस्था तथा परम्पराओं से परिचित होना आवश्यक है। यद्यपि मानव भावनाओं में युग का हस्तक्षेप नहीं होता तो भी विचारों और परम्पराओं में परिवर्त्तन का नूतन रूप प्रकटित होता रहता है। जब तक उन परिवर्त्तनशील तत्त्वों का अध्ययन और विश्लेषण नहीं होता तब तक यह निर्णय देना कठिन होता है कि आलोच्य साहित्य अनुगामी है अथवा पुरोगामी है। अनुगामी से मेरा आशय उस साहित्य से है जो समय के साथ तो है पर भूतकालीन साहित्य का ऋणी है। पुरोगामी से मेरा आशय भावी युग का संकेत करने वाले सजग प्रेरणामय साहित्य से है। साहित्यालोचन के दो भाग होते है जिसे हम शास्त्र और परीक्षण कह सकते हैं। शास्त्र में आलोचना के सिद्धान्तों का निर्धारण और परीक्षण में निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार आलोच्य साहित्य का मूल्यांकन होता है।

हिन्दी साहित्य में आलोचना के दोनों रूपों की प्रतिष्ठा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा निश्चय रूप से हुई है। उनकी आलोचना उनकी साहित्यिक मान्यताओं और विश्वासों से अंकित है और आलोचना के सिद्धान्तों को स्थिर करते समय उन्होंने जहाँ अपने देश के प्राचीन संस्कृत आचार्यो के सिद्धांतों का सम्मान किया है वहाँ पाश्चात्य विचारों को भी काट-छाँटकर ग्रहण करने में कोई झिझक प्रदर्शित नहीं की है। उन्होंने एक वैज्ञानिक की भाँति पहले आलोचना के सिद्धान्त स्थिर किये और फिर उन्हीं के अनुरूप साहित्य की समीक्षा की। ऐसा करते समय न तो उन्होंने अत्यधिक अन्तर्मुखी वृत्ति प्रदर्शित की और न भावुकता के आवेग का ही विस्फोट होने दिया। डॉ. जानसन की भाँति उन्हें प्रभाववादी आलोचना से बेहद चिढ़ थी। इसलिए उनकी भाषा और विचारों में अद्भुत संयम पाया जाता है।

जिस समय बख्शी जी का प्रादुर्भाव हुआ हिन्दी समीक्षा-जगत् पर शुक्ल जी का आतंक छाया हुआ था। द्विवेदी जी थककर विश्राम ले रहे थे, कभी-कभी छायावादी काव्य-प्रवृत्तियों पर झुँझला अवश्य उठते थे। पं. पद्मसिंह शर्मा बिहारी के काव्य-वैभव को बड़ी बुद्धिमानी से अन्य कवियों की तुलना में उत्कृष्ट सिद्ध कर चुके थे। उनका अगाध पाण्डित्य किसी की चुनौती की अपेक्षा नहीं रखता था। संस्कृत, फारसी और अरबी साहित्य के अध्ययन का परिणाम उनकी भाषा और शैली पर स्पष्ट झलकता था। उसने उनकी शैली में प्रवाह

और जीवट भर दिया था। भारतीय लक्षण-ग्रन्थों का आधार उनकी समीक्षा का प्राण था। तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में लोग उनकी ओर अंगुली-निर्देश कर मौन हो जाते थे। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने अधिकांश में पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर आने वाले समीक्षकों के लिए (जो हिन्दी के द्वारा पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्तों को समझना चाहते थे,) एक मार्ग खोल दिया था। आचार्य द्विवेदी जी के काल में और उससे भी पूर्व सामयिक साहित्य की पत्र-पत्रिकाओं में संक्षिप्त समीक्षाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। उनमें या तो पुस्तकों का परिचय मात्र होता था या दोष-दर्शन। तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में स्व. लाला भगवान 'दीन' और पं. कृष्णबिहारी मिश्र का द्वन्द्व भी प्रकट हो रहा था।

बख्शी जी ने कविता के क्षेत्र से समालोचना-जगत् में प्रवेश किया था और ऐसे कविता के क्षेत्र में जिसमें जगत् और जीवन के रहस्य को खोजने की आकांक्षा थी। अतएव उनकी लेखनी ने जिस विषय का स्पर्श किया उसे बाहर ही बाहर देखकर वह सन्तुष्ट नहीं हुई। उसने उसके अभ्यन्तर को भी परखने की उल्लास के साथ चेष्टा की। इसीलिए उनमें दार्शनिक का चिन्तन और कवि की भावुकता दोनों पाये जाते हैं। जहाँ उनकी आलोचना-प्रणाली में गम्भीर अध्ययन के साथ पाश्चात्य और प्राच्य समीक्षा-सिद्धान्तों का समीकरण पाया जाता है वहाँ किस तथ्य विशेष को दार्शनिक दृष्टि से विचार के साथ जाँचने और भावुकता के साथ अपनी रुचि को पुरस्सर करने का उत्साह भी पाया जाता है। इस तरह हम उनमें शुक्ल जी की समन्वय प्रणाली के साथ द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाव-प्रवणता भी पाते हैं।[१] इससे आलोचना की निरपेक्ष रुक्षता बहुत कुछ निःशेष हो गई है। बहुत से समीक्षक कलाकार को उसकी कला में नहीं, उसके जीवन में खोजते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि साहित्यिक समालोचना मानस-विश्लेषण हो गई है। बख्शीजी इस सिद्धान्त को नही मानते। वे कहते हैं—"कवि का जीवन काव्य नहीं है, किन्तु काव्य ही उसका जीवन है। इसलिए हम कवि को काव्य से पृथक् नहीं देख सकते।[२] साहित्य के समीक्षा क्षेत्र में व्यक्तित्व को महत्त्व देने का आग्रह Sainte Beuve नामक फ्रेंच समीक्षक ने प्रदर्शित किया है। इसका समर्थन मोरियो गेस्टन बेचलर्ड और एन्द्र गाइड ने भी

---

१. कई बार तो वे इन दोनों के विचारों के साथ अनजाने बहते जाते हैं। (देखिए 'विश्व-साहित्य')

२. परन्तु बाद में यह मत बख्शी जी ने दृढ़ता से मान्य नहीं किया। 'विश्व-साहित्य' के ही पृष्ठ १२० पर वे लिखते हैं—'काव्य के अन्तर्गत जो सत्य है वह भी तब उपलब्ध होता है जब हम उस कवि के जीवन तथा तत्कालीन इतिहास के साथ तुलना करके देखेंगे।'

किया है। प्रसन्नता की बात है कि फ्रावद की यह समीक्षा-प्रवृत्ति अपने जन्म-स्थान में विलुप्त हो चुकी।

आधुनिक समीक्षा-प्रणाली की एक प्रवृत्ति यह भी रही है, जिसमें समीक्षक लेखक की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर उसके साहित्यिक स्पन्दन का अनुभव करता है।

पर लेखक के साथ तादात्म्य-भाव रखना ही पर्याप्त नहीं, समीक्षक को उससे भी तनिक ऊपर उठना पड़ता है। बख्शीजी की आलोचना में कलाकारों के प्रति तन्मय होने की प्रवृत्ति तो है परन्तु साथ ही उनकी सफलता और असफलताओं को निर्दिष्ट करने की तटस्थता भी है। वे अपने साहित्यिक आदर्शों के अनुरूप कलाकार को देखना चाहते हैं। कलाकार के अनुरूप अपने आदर्शों को ढालना उन्हें अभीप्ट नहीं है। "यथार्थ कवि का दर्शन" वे तभी करते हैं जब वह अपनी अन्तर्वेदना से पीड़ित हो पुकार उठता है। 'बिहारी-सतसई' को वे इसलिए महत्त्व नहीं देते कि उसमें कवि के यथार्थ दर्शन नहीं मिलते। कबीर, सूरदास, तुलसीदास, कालिदास और शेक्सपियर इसलिए उन्हें प्रिय हैं कि उनमें संसार को अपने से ऊँचा उठा ले जाने की क्षमता है--हृदय की विकलता है।

बख्शी जी ने पं. रामचन्द्र शुक्ल की भाँति किसी कवि विशेष पर विस्तृत समालोचना नहीं लिखी। उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में और उसके बाद भी अपने देश के साहित्य का विदेशी साहित्य के साथ समय समय पर जो तुलनात्मक अध्ययन किया, उसे ही नातिदीर्घ निबन्धों के रूप में प्रस्तुत किया है।[1] कुछ निबन्ध-साहित्य के स्वरूप, उसकी जाति, भाषा और उसके मूल तथा विकास की चर्चा करते हैं और कुछ काव्य, विज्ञान, कला, नाटक की चर्चा के साथ हिन्दी कविता की गतिविधि पर तुलनात्मक प्रकाश डालते हैं।

यद्यपि अपने समय के छायावादी काव्य के प्रति उनकी आस्था नहीं रही, तो भी रससिद्ध कवियों के काव्य का आस्वादन उन्होंने निस्संकोच किया है, फिर चाहे वे किसी भी 'वाद' के हों। साहित्य को जनसाधारण के निकट लाने की चिन्ता बख्शी जी में बहुत पूर्व से रही है। सन् १९२८ की अप्रैल मास की 'सरस्वती' मे उन्होंने एक सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा था, "हमारा आधुनिक साहित्य जनसाधारण से दूर होता जा रहा है, जन-साधारण भाव और विचारधारा से हमारे आधुनिक साहित्य-सेवियों के भाव और चित्रण का व्यवधान क्रमशः बढ़ता जा रहा है, इसलिए आधुनिक साहित्य जातीयभाव, आदर्श और आकांक्षा को प्रकाशित करने पर भी वास्तव में जातीय नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि जाति कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखों में ही तो सीमित नहीं है, हिन्दू जाति की वास्तविक दशा जानने के लिए पर्णकुटीर में वास करने वाले अशिक्षित किसानों, जुलाहों, मज़दूरों आदि लोगों के अभावों, आशाओं और आकांक्षाओं को

---

[1] देखिये उनके प्रसिद्ध ग्रंथ विश्वसाहित्य, हिन्दी साहित्य विमर्श, प्रदीप आदि। --लेखक

जानना होगा।" फिर भी कला और साहित्य को वहिर्मुखी बनाना भी उनका लक्ष्य नहीं है। 'विश्व साहित्य' पृष्ठ १७५ पर वे कहते हैं—"कला मनुष्य के अन्तःसौन्दर्य का वाह्य रूप है।" वे काव्य या कला की महत्ता उसकी उपयोगिता पर अवलम्बित नहीं मानते। "कालिदास का मेघदूत या शाहजहाँ का ताज़महल भारतीयों की कोई भी आवश्यकता पूर्ण नहीं करता, उनसे केवल आनन्द की ही प्राप्ति होती है।"[1]

कला की उन्नति देश या जाति की समृद्धि-अवस्था में होती है या संघर्ष (युद्धावस्था) में ? इस प्रश्न पर बख्शी जी की पुस्तकों में दोनों प्रकार के विचार मिलते हैं; जिससे पाठक थोड़ी देर के लिये उलझन में फँस जाता है।

अतएव उनके विचारों को समझने के लिए पाठकों को किसी लेख विशेष का विचार-खण्ड ही ग्रहण नहीं कर लेना चाहिए। उनके समस्त साहित्य का अध्ययन करने पर ही उन्हें समझा जा सकता है। भारतीय साहित्य, संस्कृति साहित्य अथवा भारतीय जाति के लिये कई स्थानों पर हिन्दी साहित्य, नाटक, हिन्दू जाति शब्दों का प्रयोग मिलता है। प्रतीत होता है कि उनका भारतीय संस्कृति का अभिमानी मन अतीत की कल्पना से अपने को मुक्त करना नहीं चाहता, क्योंकि वह गौरवपूर्ण है, समृद्धिशाली है। बख्शी जी का अध्ययन अधिक विविध और विस्तृत होने के कारण वे किसी एक बात को प्रस्तुत करते ही उसी तक अपने को सीमित न रखकर उसी से सम्बन्ध रखने वाली अन्य विचारधाराओं में अवगाहन करने लगते हैं। जिससे ऐसा जान पड़ता है मानों प्रतिपाद्य विषय गूढ़ होता जा रहा है या छूटता जा रहा है। पर जब हम विषय की समाप्ति की ओर बढ़ते हैं तो विचार-शृंखला का सूत्र पा लेते हैं। उनकी यह दार्शनिक वृत्ति उनके लेखन के हर क्षेत्र में प्रदर्शित होती है जिससे उन्हें आसानी से समझा नहीं जा सकता। हाल की पुस्तकों ('और कुछ' 'त्रिवेणी' आदि) में साहित्य के सिद्धान्तों को कथा-रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी उनकी बढ़ रही है जिसे हम हिन्दी में आलोचना की अभिनव प्रणाली कह सकते हैं। पाश्चात्य साहित्य से हिन्दी की तुलना करने की प्रवृत्ति उन्हीं के 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में जोशी-बन्धु, स्वर्गीय अवध उपाध्याय, शिलीमुख आदि ने ग्रहण की थी और आज भी नलिन विलोचन शर्मा, देवराज, श्रीमती शचीरानी गुर्टु आदि उसको अधिक प्रशस्त और प्रभावित कर रहे हैं। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के साहित्य मान्य हैं, पारखी दोनों की समीक्षा कर उसे ग्रहण करते हैं :—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
संतः परीक्ष्यान्तरद भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ।"

बख्शी जी अपने आदर्श-द्विवेदी जी—के समान ध्येयवादी है। संसार के किसी भी साहित्य पर जहाँ साहित्यकार का हृदय बोलता है अपने हृद्रय का कोष निश्छल रिक्त कर देते हैं। बिना किसी बनाव-सिंगार के अपने को व्यक्त कर देने की कला उनकी अपनी है।

---

१. (सरस्वती, भाग २९ पृष्ठ ३६८)

: १४ :

रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'

[विजयेन्द्र स्नातक]

द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में जो आलोचक अवतीर्ण हुए उनमें श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' का नाम अपनी मौलिकता और नूतन उद्भावना-शक्ति के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आपकी आलोचनाओं का सूत्रपात समसामयिक कृतियों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से हुआ, अतः शीघ्र ही उनकी चर्चा हिन्दी जगत् में होना प्रारम्भ हो गई। लेखक ने अपनी प्रवृत्ति को व्यक्त और स्पष्ट करने के लिए कदाचित् अपना उपनाम 'शिलीमुख' इसीलिए रखा था कि वह कृतियों के अन्तराल में सन्निविष्ट रस को ग्रहण करने के लिए पुष्प स्वरूप कलाकृति पर मँडराया करता है। फूलों पर मँडराने का स्वभाव मधुप का है, उसे शिलीमुख भी कहते हैं। जब मधुप को पुष्प में पराग-रस नहीं मिलता तब वह 'भिनभिनाने' लगता है। शिलीमुखजी का यह रूप भी उनकी वाणी का दंश बनकर उनकी कृतियों में दृष्टिगत होता है। शिलीमुखजी के नाम पर कुछ लोगों ने आक्षेप भी किये थे। उनका कहना था कि इनकी रचनाओं में डंक मारने की प्रवृत्ति अधिक रहती है अथवा आप वाण का काम करते है या स्वयं वाण है। शिलीमुखजी ने उन्हें उत्तर देते हुए लिखा था कि—"शिलीमुख शब्द का एक और अर्थ भी है। मैं रस के लिए भटकता हूँ, और अनेक जगह व्यर्थ, जहाँ सिवाय चटक के कुछ नहीं पाता। उस समय यदि आप चाहो तो अपनी शब्दावली में कह सकते हो कि मै भिनभिनाने लगता हूँ।" कुछ भी हो, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शिलीमुखजी एक बेलाग आलोचक है, जो प्रारम्भ से ही अपनी स्पष्टवादिता और खरी अभिव्यक्ति के कारण अपना स्वतंत्र स्थान रखते हैं। किसी रटी-पिटी लीक को अपना कर आप नहीं चले और न किसी की प्रतिभा से प्रभावित होकर आपने अपनी लेखनी में अनुसरण या अनुकृति के बीज पनपने दिये।

शिलीमुखजी के समालोचक रूप का उदय और द्विवेदी युग के बाद हिन्दी समालोचना का सुव्यवस्थित रूप से विकास लगभग एक ही समय में हुआ। सन् १९२३-२४ में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में हिन्दी एम.ए. कक्षाओंको समालोचना-शास्त्रका विधिवत् अध्ययन-अध्यापन करने की आवश्यकता अनुभव हुई और तभी समालोचनाको सैद्धान्तिक पक्ष में, एक शास्त्र के रूप में और दूसरे प्रयोग पक्ष में कला के रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता हुई। हिन्दू विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी अध्यापक बाबू श्यामसुन्दरदास और पं० रामचन्द्र शुक्ल क्रमशः इन दोनों पक्षों की ओर रचनात्मक रूप में प्रवृत्त हुए। इनसे पहले हिन्दी समालोचना में साहित्य के सिद्धान्त-पक्ष के नाम पर कोई उल्लेख्य स्वतंत्र प्रयास हुआ ही

न था। प्रयोग पक्ष में मिश्रबंधुओं का 'हिन्दी नवरत्न', कृष्णबिहारी मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और दीनजी का 'देव और बिहारी', 'बिहारी और देव' सम्बन्धी विवाद तथा दो चार प्राचीन कवियों की अलंकाराश्रयी अथवा गुणदोष दर्शनमयी स्तुति निन्दापरक प्रशस्तियाँ ही उपलब्ध थीं। नवीन लेखकों में मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों पर प्रचारोद्दिष्ट भावना से कतिपय लेख लिखे गये थे जो आलोचना-तत्त्व की दृष्टि से प्रायः शून्य ही थे। मिश्रबन्धुओं की आलोचना-पद्धति सामान्य गुण-दोष दर्शन से ऊपर कभी नहीं उठी। रस, अलंकार, पिंगल और भाषा के दायरे में काव्य-कृतियों को परखने वाले पारखी और भी पैदा हुए थे, किन्तु काव्यकृतियों का सर्वांगीण रूप से मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति या शक्ति आचार्य शुक्ल से पहले किसी में देखने में नहीं आई। पंडित पद्मसिंह शर्मा, भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना में सूझबूझ और ऊहापोह के तत्त्व अवश्य मिलते हैं। इन आलोचनाओं के बारे में कहा जा सकता है कि वह अधिकतर दरबारी ढंग की ही थी। उसमें गांभीर्य, विवेचन और यथार्थ मूल्यांकन का अभाव खटकता था।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में आलोचना के क्षेत्र में दो विद्वानों द्वारा सैद्धान्तिक और प्रायोगिक सक्रियता का प्राथमिक रूप आलोचना-शास्त्र के प्राच्य तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का अध्ययन था। फलतः तुलसी, सूर और जायसी पर पंडित रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनाओं में हमें पांडित्यपूर्ण अध्ययन और शास्त्र के प्रयोग का अति विशुद्ध रूप दृष्टिगोचर होता है। पांडित्यपूर्ण शास्त्र-प्रयोग का यह रूप आलोचक की संवेदनशीलता और सहानुभूतिमय दृष्टिकोण से निखरकर इतना उज्ज्वल और उत्कृष्ट हो गया है कि अपने ढंग में अभी तक अद्वितीय है, लगता दीखता है कि भविष्य में भी वह अद्वितीय ही रहेगा। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के उपरान्त हमें उन चार-पाँच वर्षों में किसी दूसरे ऐसे समर्थ समालोचक के दर्शन नहीं होते जो शास्त्रीय या प्रायोगिक शैली की पांडित्यपूर्ण समीक्षा लिखने की क्षमता जुटा सका हो। इस प्रसंग में हमें यह लिखते हुए हर्ष होता है कि शिलीमुखजी ही एक ऐसे आलोचक थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा से समीक्षा-क्षेत्र में नवीनता का आभास दिया। यदि एक क़दम और आगे बढ़कर यह भी कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी कि शुक्लजीके समसामयिक लेखकों में शिलीमुखजी की लेखन-शैली अपेक्षा-कृत सबसे अधिक मौलिक और आकर्षक थी। उस युग में शिलीमुखजी एक स्वतंत्र, निर्भीक, साहसी और स्पष्टवादी आलोचक के रूप में हमारे कौतूहल और विस्मय को उकसा कर हमें सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं; क्योंकि आलोचना क्षेत्र में वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने किसी भी समसामयिक और जीवित लेखक पर लिखते समय मिथ्या औपचारिक शिष्टाचार के फेर में न पड़कर, अपने अनुकूल-प्रतिकूल विचारों को निर्भयतापूर्वक प्रकट किया। निस्सन्देह उन दिनों यह बड़े साहस का काम था। अपनी स्वतंत्र शैली का अवलम्बन कर, मौलिक दृष्टिकोण से लिखना रूढ़िबद्ध आलोचना को संकीर्णता के पाश से मुक्त कर उसके क्षेत्र और आचरण में नये विकास का पथ प्रशस्त करना था। कहना न

होगा कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना को यदि शास्त्रीय अध्ययन का पांडित्य और गाम्भीर्य प्रदान किया तो शिलीमुखजी ने उसे विचार और अभिव्यंजना का एक स्वतंत्र रूप, नया मार्ग, और नया क्षेत्र प्रदान किया। शिलीमुखजी की समीक्षा में लिखने की प्रवृत्ति में किसी प्रकार की वाह्य परिस्थिति या दबाव कारण न था, केवल अन्तःप्रेरणा से ही वे आलोचन-क्षेत्र में आये थे, अतः निसर्गतः वे अधिक मौलिक रहे। प्रेरणा का मूल यदि परिस्थिति का दबाव या आवश्यकता होता तो निश्चय ही अभिव्यक्ति पर उसका घातक प्रभाव पड़ता, किन्तु शिलीमुखजी के सामने किसी प्रकार की ऐसी भावना कभी नहीं रही।

आलोचक का कार्य-भार त्रिगुण है। काव्यकृति को पढ़ना, पढ़कर समझना और समझ कर यथार्थ रूप में मूल्यांकन करना आलोचक का पहला प्रमुख कर्त्तव्य है। यदि कोई आलोचक इस कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करता तो वह कृति के विषय में कुछ भी कहने का अधिकारी नहीं। पढ़ने, समझने और यथार्थ रूप में देखने के बाद आलोचक का दूसरा दायित्व यह है कि वह अपने उपार्जित ज्ञान और प्रभाव को अन्य पाठकों के लिए हस्तान्तरित करे। जिस प्रकार प्रचारक अपनी मान्यताओं को दूसरे श्रोताओं तक पहुँचाता है ठीक उसी प्रकार आलोचक भी अपनी उपार्जित मान्यताओं को हस्तान्तरित करता है। रचनात्मक शक्ति की क्रियाशीलता के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना आलोचक का तीसरा कर्त्तव्य है जो अपेक्षाकृत अधिक दुरूह और दायित्वपूर्ण है। आलोचना पढ़कर यदि रचनात्मक शक्ति का विकास न हो तो आलोचना की उपादेयता ही क्या! आलोचना तो रचना की पूरक कृति है जो कलाकार, काव्यकृति और सहृदय पाठक तीनों के त्रिकोण को जोड़ती है—एक त्रिभुज बनाने की क्षमता रखती है। शिलीमुखजी की आलोचनाओं में हमें इस कर्त्तव्य का निर्वाह बड़ी ही समीचीन शैली से होता हुआ दीख पड़ता है। वे पाठक को, कलाकार और काव्यकृति के साथ इतने सुदृढ़ बंधनों में बाँध सकते हैं कि उनकी समीक्षा को पढ़कर सहृदय पाठक आलोच्य कृति और उसके कृतित्व को स्वतंत्र रूप से भी आँकने की क्षमता पा सकता है।

यथार्थ में समालोचक का कर्त्तव्य है कि वह कलाकार के कृतित्व अथवा कृति के यथार्थ रूप को समझने और परखने में पाठक की सहायता करे जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की व्याख्यात्मक समालोचनाओं ने किया है। आलोचक का दूसरा बड़ा कार्य उसकी निर्माण-शक्ति में है जिससे वह वर्त्तमान और भविष्य के साहित्य को किसी विशेष प्रकार की प्रेरणा देता है। शिलीमुखजीकी प्रारम्भिक रचनाओंने दोनों कार्य किये हैं। निस्सन्देह, उनकी प्रारम्भिक आलोचनाएँ कृतित्व के विश्लेषण में तीक्ष्ण दंश से पूर्ण हैं, किन्तु वह दंश स्वस्थ-साहित्य के निर्माण के पथ को प्रशस्त करता है, कंटकित नहीं। शिलीमुखजी की उस काल की आलोचनाओं का यदि भलीभाँति अध्ययन किया जाय तो हम यह स्पष्ट देखते हैं कि साहित्य का मूल्यांकन करने के साथ उसमें निर्माण का सन्देश है, अतः उनका साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है।

शिलीमुखजी ने प्रारम्भ में प्रेमचन्द और प्रसाद की कृतियों पर समीक्षाएँ लिखीं। प्रेमचन्द की कहानी-कला और प्रसाद की नाट्य-कला को उन्होंने केवल शास्त्रीय मानदंडों से नहीं नापा अपितु व्यक्तिगत प्रतिभा के द्वारा इनके कृतित्व की परख की। शास्त्रीय मानदंडों से हटकर वैयक्तिक प्रतिभा का प्रयोग उस समय रामचन्द्र शुक्ल के सिवा कोई और आलोचक न कर सका था—और शुक्लजी भी शास्त्र की पृष्ठभूमि पर ही अपनी प्रतिभा का प्रयोग करते थे। शिलीमुखजी ने ही सर्वप्रथम शास्त्रालोचन की अपेक्षा प्रतिभा को प्रमुखता दी। प्रसिद्ध जर्मन आलोचक लैसिंग के मतानुसार तो "प्रतिभा ही सब शास्त्रों के ऊपर है। जो कुछ प्रतिभा कर डालती है वही बाद में नियम बन जाता है। प्रतिभाशाली लेखक सदा कला का आलोचक होता है, उसके अन्तस्तल में सब नियमों का साक्ष्य होता है जो कि उन नियमों में से उन्हीं को पकड़ता, याद रखता और मानता है जो उसके अपने भाव व्यक्त करने में उपयोगी होते हैं।" दरअसल, सचाई तो यही है कि नियमों के अत्याचारों से जिस प्रकार काव्य-रचना मुक्त होने के लिए छटपटाती रहती है उसी प्रकार आलोचना भी शास्त्र के रूढ़ि-बंधनों में क्यों बँधी रहे ?

शिलीमुखजी की आलोचनाओं के प्रयोग-पक्ष पर विचार करते समय हमें आलोचक की वाणी के मूलस्वर को भूलना नहीं चाहिए। प्राचीन कवि, सूर, मीरा, तुलसी तथा प्रेमचन्द, प्रसाद और कतिपय वर्त्तमानकालिक कवियों पर प्रायोगिक पद्धति से समीक्षा लिखते समय शिलीमुखजी का रस-संचय करने का स्वभाव यदि कहीं 'भिनभिनाने' के रूप में गूँजने लगता है तो पाठक को खिन्न होने की आवश्यकता नहीं। रसलोलुप मधुप यदि पुष्प में पराग या रस नहीं पाता तो वह बेचारा करे भी क्या, अपने प्रयत्न पर खीज और झुँझ-लाहट होना तो उनके लिए किसी हद तक स्वाभाविक भी है। इन प्रायोगिक आलोचनाओं में कटुता या व्यंग्य की मार्मिक चुटकी देखकर पाठक को मिथ्या धारणा बनाने का अवकाश न हो, इसलिए हम शिलीमुखजी की आलोचना का आधार स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं।

आलोचक का कर्म कठोर होता है। आलोच्य कृति की परख, नाप-जोख या मूल्यांकन के लिए वह सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा कृति के उन स्तरों में प्रवेश करता है जहाँ कलाकार की साहित्य-साधना का मूल-वीज निहित होता है। सच्चा आलोचक न तो अर्थवादों द्वारा शासित होता है और न प्रशंसात्मक प्रचार से प्रभावित ही। कृति के मूल्यांकन के लिए आलोचक अपने स्वतंत्र, मौलिक दृष्टिकोण के प्रयोग द्वारा काव्य-शास्त्र से पथ-प्रदर्शन मात्र ग्रहण करता है। शास्त्र की ध्वनि ही उसके लिए पर्याप्त है अक्षरशः शास्त्रानुसरण अनिवार्य नहीं। यथार्थ समीक्षा के लिए आलोचक को कृति के उन गुह्य स्तरों में झाँकना होता है जहाँ सत्य के आवरण में असत्य, शिव के बाने में अशिव और सुन्दर की भूमिका में असुन्दर छिपा बैठा है। छिद्रान्वेषण या प्रशस्तिपाठ से ऊपर उठकर यथार्थ का उद्घाटन ही उसका विशिष्ट धर्म है। व्याघ्र चर्मावृत्त रासभ को यदि वह न पहचान पाया तो सत्यान्वेषण की

कसौटी पर खरा कैसे उतरेगा। आलोचक में मेधा की प्रखरता के साथ सन्तुलित विवेक, निष्पक्ष दृष्टि-निक्षेप, कलाकृति के प्रति रसग्राहिता तथा अभिव्यक्ति में वाणी संयम की अनिवार्य आवश्यकता मानी जाती है। स्वस्थ और सफल समालोचक सहानुभूति तत्त्व कीउपेक्षा करके समीक्षा में प्रवृत्त नहीं होते और कदापि वे निर्मम भाव से कलम को छूट नहीं देते। फलतः समालोचक कलाकृति के वाह्य एवं आभ्यन्तर रूप की विवृति के लिए जिस मानदंड का उपयोग करता है उसका मूलाधार शास्त्र-सिद्धान्त भले ही हो, किन्तु व्यक्तिगत प्रतिभा, और व्यक्तिगत प्रभाव एवं रसग्राहिता का पुट उसमें प्रधान रहता है। साहित्य का रस लेने की क्षमता सहृदय रसिक भावुक में भी होती है। किन्तु उसकी यथार्थ आलोचना की योग्यता तो रसज्ञ या भावक में ही पाई जाती है। साहित्य का रसास्वादन अपेक्षाकृत एक सीमित, निष्क्रिय मूक मानस-व्यापार है जब कि आलोचना इसके ठीक विपरीत सक्रिय, मुखर और व्यापक प्रभाव उत्पन्न करने का साधन भी है। स्मरण रहे कि इसी कारग प्रभावशाली आलोचक जहाँ पाठकों को नूतन दृष्टि प्रदान करते हैं वहाँ साथ ही साथ लेखकों में भी परिवर्त्तन ला देते हैं। आलोचक की भावयित्री प्रतिभा के मूल उपादानों में भावुकता, रसग्राहिता और बौद्धिकता की आवश्यकता का यह भी एक विशिष्ट कारण है।

आलोचक के कर्म की उपर्युक्त पंक्तियों में जो मीमांसा हुई है उसके आधार पर यदि हम शिलीमुखजी की समालोचनाओं पर दृष्टिपात करें तो हमें उनमें अनेक सराहनीय तत्त्वों का समावेश मिलता है। हिन्दी समीक्षा साहित्य की अर्द्ध-शती के जीवन का सिंहावलोकन करने पर स्थायी प्रभाव और पथ-निर्देश करने की क्षमता रखनेवाले आलोचक इने-गिने हैं। आचार्य शुक्ल की परम्परा में चलने वाले आलोचकों में भी वह तेज़ और उत्कर्ष दृष्टिगत नहीं होता जो शुक्लजी की कलम में था। हाँ, शिलीमुखजी अपनी मौलिकता और निर्भीकता के कारण पाठक का ध्यान आकृष्ट करने वाले इस कोटि के सफल आलोचक हैं। प्राचीन और नवीन शैली का समन्वय करके शिलीमुखजी ने अपनी आलोचनाओं को सुग्राह्य बनाया है।

शिलीमुखजी की प्रारम्भिक समीक्षा पुस्तकों में 'प्रसाद की नाट्यकला', 'आलोचना समुच्चय' (प्राचीन और नवीन कवियों की संक्षिप्त आलोचना) 'शिलीमुखी', 'आधुनिक हिन्दी कहानियाँ' (भूमिका भाग आलोचनात्मक है) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त 'कला और सौन्दर्य' तथा 'निबन्ध-प्रबन्ध' भी आपकी निबन्ध शैली के सुथरे रूप को प्रस्तुत करने वाले दो निबंध-संग्रह हैं। पत्र-पत्रिकाओं में फुटकर लेखों द्वारा आपने समीक्षा साहित्य को जो भेंट प्रदान की है उसका भी अपना विशिष्ट स्थान है।

शिलीमुखजी की प्रेमचन्द सम्बन्धी आलोचनाएँ जिस समय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं उस समय कुछ लोगों को वे अरोचक प्रतीत हुईं। प्रेमचन्दजी को भी स्वयं वे अच्छी नहीं लगीं। किन्तु हम इतना स्पष्ट देखते हैं कि प्रेमचन्दजी की लेखन-प्रणाली और

विचारों में इन आलोचनाओं द्वारा स्पष्ट रूप से संस्कार हुआ। कहानी और उपन्यास के सिवा प्रेमचन्दजी ने जो दूसरे लेख बाद में लिखे हैं वे अधिक गंभीर, विवेचनात्मक और परिष्कृत होते गये। पहले प्रेमचन्दजी अपने उपन्यासों में आदर्शवाद का आग्रह विशेष रूप से दिखाते थे, बाद में वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के पक्षपाती हो गये। इसी प्रकार अपने बाद के लेखों में उन्होंने 'अभिन्नत्व से भिन्नत्व और भिन्नत्व से अभिन्नत्व' की बात स्वीकार कर इन लेखों में उठाई गई वर्गवाद के विरुद्ध आवाज़ को ही रूपांतर में स्वीकार कर लिया है और जीवन की विराट् विविधता में समन्वय के मर्म को ग्रहण करने की उदात्त चेष्टा की है। हम यह भी देखते हैं कि इन समालोचनाओं के बाद में प्रकाशित प्रेमचन्द के उपन्यास—'ग़बन' और 'गोदान'—में वर्गीय कट्टरपन का वह रूप नहीं है जो पहले के 'सेवासदन', 'कायाकल्प' और 'प्रेमाश्रम' में था। लगभग इसी तीन चार वर्ष के समय में शिलीमुखजी की 'हिन्दी कहानी की भूमिका' पाठकों के सामने आई थी। निश्चय ही इस भूमिका में प्रतिपादित कथातत्त्वों के आधार पर संवेदनातत्त्व को प्रेमचन्दजी ने कहानी के लिए आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया। उपन्यास और कहानी की संवेदना का पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए शिलीमुखजी ने अपनी इस विस्तृत भूमिका में बड़ा ही सूक्ष्म और पांडित्यपूर्ण वर्णन किया है। शिलीमुख जी ने लिखा है कि—"उपन्यास की संवेदनाओं का उद्देश्य पृथक्-पृथक् प्रभावित करना नहीं है, बल्कि वह परिस्थिति या पात्रों के एक वातावरण की संवेदना उपस्थित करता है और समस्त उपन्यास की संवेदना इन तमाम संवेदनाओं की समष्टि होती है। कहानी की संवेदना सब से पृथक् रहती है इसलिए उसे तीव्रतम होने की आवश्यकता है।" कहानी के विषय में प्रेमचन्दजी ने इस तत्त्व को बाद में स्वीकार किया था और अपनी कहानी-कला में भी इसे अपनाया। शिलीमुखजी की आलोचना का प्रभाव प्रसाद जैसी शक्तिशाली विभूति पर भी पड़ा। प्रसाद के नाटकों की आलोचना करते समय कतिपय सुझाव शिलीमुखजी ने रखे थे और कुछ खटकने वाली त्रुटियों की ओर भी प्रसादजी का ध्यान आकृष्ट किया था। प्रसादजी के बाद के नाटकों में उन त्रुटियों का परिहार हुआ और शिलीमुखजी के समीक्षात्मक सुझावों को भी प्रसादजी ने स्वीकार कर अगले नाटकों में उनका प्रयोग किया।

शिलीमुखजी की उस समय की रचनाओं से तत्कालीन साहित्य को मिलने वाली प्रेरणा का अन्यतम रूप यह भी है कि जहाँ एक ओर 'प्रसाद की नाट्यकला' के बाद उसके ढंग की अन्य पुस्तकें हिन्दी में लिखी जाने लगीं वहाँ दूसरी ओर समसामयिक लेखकों और कवियों पर आलोचनाएँ लिखने का भी लोगों में साहस उत्पन्न हुआ। कहानी-कला पर कई अन्य आलोचकों के लेख पक्ष-विपक्ष में छपे और कहानी कला के अन्तरंग--वहिरंग का मर्म स्पष्ट रूप से पाठक के समक्ष उपस्थित हो सका। साहित्य-निर्माण के इस कार्य के अतिरिक्त इन प्रारम्भिक लेखों ने लोक-रुचि को विवेचनात्मक बनाने में पथ-प्रदर्शन का जो कार्य किया वह भी सराहनीय है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिलीमुखजी के आलोचना क्षेत्र में आने से पहले समसामयिक कलाकारों पर कलम उठाने का द्वार उन्मुक्त नहीं हुआ था। आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल को छोड़कर और कोई आलोचक प्राचीन कवियों पर भी सर्वांगीण समालोचना प्रस्तुत न कर सका था। प्रेमचन्दजी के विषय में दो-चार समालोचनापरक लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपे थे, किन्तु वे अतिरंजित प्रशंसापरक ही थे। शिलीमुख जी के पदार्पण करते ही आलोचना का नवीन रूप पाकर लोक-चेतना में कुतूहल जागृत हुआ और पाठक को निश्चय हुआ कि कोरी प्रशंसा का ही नाम आलोचना नहीं है। कोरे चमत्कार के जाल में उलझा रखनेवाली आलोचना सही समालोचना नहीं होती। जीवन से असम्पृक्त शास्त्रीय पद्धति पर गुणदोष कथन मात्र से भी समालोचक का कर्त्तव्य पूरा नहीं होता। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना में विचार और चिन्तन की प्रौढ़ता तथा अभिव्यंजना में नूतनता लाने का श्रेय शिलीमुखजी ही को प्राप्त है।

शिलीमुखजी की लेखन-कला या अभिव्यंजना शैली एकदम अपनी है। आलोच्य वस्तु की मीमांसा उसका लक्ष्य रहता है। लक्ष्य से इधर-उधर हटकर भाषा के वाग्जाल में उलझना उनका स्वभाव नहीं है। वैसे वे प्रकृत भाषा में विश्वास रखते हैं। तत्सम प्रधान संस्कृत-गर्भित पदावली के साथ बोलचाल के प्रचलित उर्दू-फ़ारसी शब्दों से भी आपकी भाषा लदी रहती है। एक ही लेख में पचासों शब्द उर्दू शैली के मिल सकते हैं। हुज्जत, फुर्सत, फ़क़त, हिमायती आदि अनेक शब्द आपकी भाषा के अंग बने हुए हैं। संस्कृत शब्दों में भी आप विकल्प से बने हुए रूप को ही ग्रहण करते हैं जैसे उद्देश्य के स्थान पर उद्देश। अभिव्यक्ति को कृत्रिम रूप से प्रौढ़ बनाने के आप पक्ष में नहीं हैं। वैसे क्लिष्ट विषयों के प्रतिपादन में आपकी भाषा बहुत ही प्रौढ़ और प्रांजल दीख पड़ती है। 'कला और सौन्दर्य' नामक पुस्तक में संकलित आपके निबंध इसी कोटि के हैं। "साहित्य और जीवन शीर्षक" निबंध की भाषा हमारे कथन का साक्षी है। एक अनुच्छेद उदाहरण रूप में उद्धृत किया जाता है —

"पुनः सामाजिकता की वर्त्तमान जटिलता और समस्यात्मकता समयावकाश और स्थानावकाश में अत्यन्त प्रसार्यमान हमारी विशाल भविष्य-कल्पना को जितना ही अधिक धूमिल बनाती है उतना ही अधिक खंड जीवन का व्यवसाय बढ़ता और महत्त्व को प्राप्त होता जाता है।" "जीवन रूप अभिव्यंजन में विशालता के समन्वय की एक प्रक्रिया और है, जो उसके साहित्य रूप में अधिक स्पष्ट, सप्रभाव और व्याप्तिमय बन जाती है।"

शैली और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में शिलीमुखजी के अपने स्पष्ट विचार है जो उनकी पुस्तक 'निबन्ध प्रबंध' के प्रथम लेख 'निबंध की रूप रेखा' में व्यक्त हुए हैं। 'कला और सौन्दर्य' के विषय में लेखक के विचार उनकी इसी नाम की पुस्तक में है। कला की सामाजिकता का अर्थ, उन्हीं के शब्दों में, "जहाँ एक ओर व्यवहार को संस्कृति प्रदान करना है वहाँ दूसरी ओर उस संस्कृति की विधि का निर्माण करना भी है। आनन्दस्फुरण-रूपिणी सौंदर्यवृत्ति अध्यात्म है और कला उसकी अभ्यास-पद्धति है।"

हिन्दी समालोचना में शिलीमुखजी का 'समालोचकनामा' शीर्षक लेख अपना विशेष स्थान रखता है। वह केवल शिलीमुखजी की ही आलोचना-पद्धति का उद्घाटन नहीं

नहीं करता वरन् समालोचक-सामान्य के गुण, वृत्ति, आचरण और सीमा का संकेत देने वाला अपूर्व निबंध है। इस निबंध को आलोचना के मौलिक-सिद्धान्तों का प्रदर्शक 'कोड' कहा जा सकता है। यह ठीक है कि समालोचना का ऐसा सुनिश्चित कोई 'कोड' अभी तक नहीं बना है, फिर भी समीक्षा के मूल तत्वों का संकेत इस निबंध में है। इस निबंध में शिलीमुखजी लिखते है कि—

"स्वयं आलोचक शब्द से बढ़कर आलोचक शब्द की और क्या व्याख्या होगी। आलोचक तो वही है जो आलोचक है। 'आसमन्तात् लोचने पश्यते इति आलोचकः।' जो समन्तात्, सब तरफ़ देखता है वह आलोचक है। इस दृष्टि से कवि सबसे पहला आलोचक है। आर्नल्ड के समय से हमें कवि जीवन का आलोचक मानते रहने का अभ्यास होगया है। कवि के बाद हमारे तथाकथित समालोचक को इस नाम से पुकारे जाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। पर कवि पर हम आलोचना का भार नहीं रखते; क्या कारण है ? कारण यह है कि आलोचना का अर्थ हम शास्त्रीय अभियोग के वाक्य-समूह को ही समझते है, और उस अवस्था में यह आवश्यक नहीं माना जाता कि कवि शास्त्रीय रुचि या ज्ञान को अपनाये ही। ××× । समालोचक को कम-से-कम समालोचना के समय तो पूर्ण मनुष्य हृदयवाला हो ही जाना चाहिए। ××। उसका पहला दृष्टिकोण विशाल मानवता का है। ××। यदि समालोचक में यह है तो उसका शास्त्र या शास्त्रों का ज्ञान सार्थक क्यों सोने में सुगन्ध है। शास्त्र भी मनुष्य को लेकर ही बना है, स्याही के अक्षरों को लेकर नही और मानव-समालोचक के लिए शास्त्र की सारी पंक्तियाँ विशाल मानवता की व्याख्या के रूप ही प्रोद्भासित होती है, पर यदि समालोचक का दृष्टिकोण ऊपर के दोनों-तीनों तत्वों से शून्य है तो शास्त्र-ज्ञान उसके लिए निरर्थक ही नहीं, कभी कभी अनर्थकारी कलंक स्वरूप है। रही तीसरे दर्जे के पक्षपात की बात, सो वह तो शायद मानव-द्रष्टा समालोचक के विषय में उठती ही नहीं।"

कहना न होगा कि ऊपर की पंक्तियों में सच्चे समालोचक और खरी समालोचना की जो परिभाषा प्रस्तुत की गई है वह इतनी परिपुष्ट और परिपूर्ण है कि हमें अपनी ओर से कुछ कहना व्यर्थ होगा।

संक्षेप में, हिन्दी समालोचना के इतिहास में शिलीमुखजी अपनी कतिपय मौलिक विशेषताओं के कारण उल्लेखनीय बने रहेंगे। समसामयिक कलाकारों की कृतियों की निर्भीकतापूर्वक सब से पहले आलोचना प्रस्तुत करना, आलोचना में मौलिकता का पुट तथा शास्त्र-ज्ञान का समन्वय; तत्कालीन साहित्य को नवीन दिशा का संकेत देकर समीक्षात्मक पुस्तकें लिखने की प्रेरणा देना; भावाभिव्यक्ति के लिए हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और भाषाओं को यथोचित और यथेष्ट प्रयोग में लाना; साहित्य, कला, सौन्दर्य और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए विविध विषयों पर लेख लिखना—ये पाँच विशेषताएँ है जो हिन्दी समालोचना साहित्य को शिलीमुखजी की देन के रूप में ग्रहण की जा सकती है।

: १५ :

हजारीप्रसाद द्विवेदी

(शिवनाथ)

'न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म न शास्त्रमपि कर्मवित् ।
यो वेत्ति द्वयमप्यतत् स हि चित्रकारो वरः ॥'
--भोजदेव कृत 'समरांगण सूत्रधारः' ।

चित्र-शास्त्र का ज्ञाता चित्र-कर्म वा रचना नहीं जानता और चित्र-कर्म का ज्ञाता चित्र-शास्त्र नहीं जानता । मगर इन दोनों को जो जानता है वही श्रेष्ठ चित्रकार होता है । श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के संबंध में लिखते समय हम उक्त सूक्ति में आए 'चित्रकार' के स्थान पर 'साहित्यकार' रखकर विचार आरंभ करना चाहते है । ऐसी स्थिति में उक्त सूक्ति का रूप यों होगा । साहित्य-शास्त्र का ज्ञाता साहित्य-स्रष्टा नहीं होता और साहित्य-स्रष्टा वा रचयिता साहित्य-शास्त्रज्ञ नहीं होता । मगर जो इन दोनों को जानता है वही श्रेष्ठ साहित्यकार होता है । यह सब पर विदित है कि श्री द्विवेदी साहित्य-शास्त्र के निपुण पंडित भी हैं--इतना ही नहीं वे अन्य शास्त्रों के भी काफ़ी अच्छे जानकार हैं तथा भारतीय धर्म उनके ज्ञान द्वारा व्यापक भाव से परीक्षित विषय है--और साहित्य-स्रष्टा भी है । 'काव्य-मीमांसा' कार राजशेखर की पदावली का प्रयोग करें, तो कहेंगे कि वे भावयित्री प्रतिभा और कारयित्री प्रतिभा दोनों से संपन्न हैं, वे कुशल साहित्य-शास्त्रज्ञ, सहृदय वा समीक्षक भी है और प्रभावुकता भरे श्रेष्ठ रचयिता भी । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर, कार्यालय, बंबई, सन् '४६) तथा 'चारु चंद्रलेख' (अधूरा) और वैयक्तिक निबंध उनके रचनाकार होने के पुष्ट प्रमाण हैं। एक ही साहित्यिक में भावयित्री और कार-यित्री प्रतिभाओं का समाहार विरल ही देखा जाता है । आधुनिक हिंदी-साहित्य में इस दृष्टि से और एक ही नाम स्मरण आता है, वह नाम है श्री रामचंद्र शुक्ल का; परन्तु कार-यित्री प्रतिभा के क्षेत्र में, श्री द्विवेदी विषय-क्षेत्र और परिमाण के ख़याल से अपेक्षाकृत आगे है । हम तो कहना चाहते है कि श्री द्विवेदी की कारयित्री प्रतिभा अधिक जागरूक है, मगर अनेक कारणों से वे इस क्षेत्र में कार्य नहीं कर पाए अथवा अब भी नहीं कर पा रहे हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने जो और जितना भी कार्य किया है वह उनके और भी श्रेष्ठ रचनाकार होने की आशा बँधाता है । कहते हैं साहित्य-शास्त्रज्ञता से कारयित्री प्रतिभा भोथरी हो जाती है, किंतु श्री द्विवेदी इसके अपवाद हैं ।

रचनाकार के शास्त्रज्ञ होने के औचित्य-अनौचित्य पर चाहे वाद-विवाद चले, परंतु समीक्षक वा, सहृदय का, चाहे कम ही हद तक, रचनाकार होना उसके सहृदय-कर्म में

सहायक ही होगा, इसमें किसी को भी संदेह नहीं। रचनाकार के शास्त्रज्ञ होने के औचित्य-अनौचित्य के संबंध में वाद-विवाद चलने का उल्लेख इसलिए करना पड़ा कि सभी देशों के साहित्य के क्षेत्रों में आधुनिक युग में चले स्वच्छंदवादी आंदोलन शास्त्र वा शास्त्रज्ञता के विरोधी रहे हैं--यद्यपि अंत में इन्होंने ही अपने शास्त्रों की रचना की है। इन आंदोलनों में शास्त्र तथा शास्त्रज्ञता का विरोध इसलिए रहा कि ये प्रधानतः रचनाकार की अनुभूति और भाव को ही लेकर चले थे और उसकी स्वानुभूति तथा उसके स्वभाव को ही विशेष महत्त्व देते थे। अस्तु, हमने ऊपर कहा है, कि समीक्षक का रचनाका होना उसके कार्य का सहायक है। समीक्षा के क्षेत्र में समीक्ष्य की मानसिक अथवा सामाजिक परिस्थिति, जिसे सांस्कृतिक परिस्थिति कहना हम अधिक उचित समझते हैं, की व्यापक विवेचना की बात जो की जाती है, जिसके बिना आलोच्य की यथार्थ आलोचना संभव नहीं, उसमें विशेषतः आलोच्य रचनाकार की रचना करते समय की मानसिक परिस्थिति में समीक्षक द्वारा अपने को डालने और रचनाकार के समान हृदयवाला (सहृदय) बनने की बात बहुत प्रधान है। रचना करते समय की रचनाकार के समान अनुभूति की प्राप्ति कर उसकी विवेचना करना समीक्षक की अधिक ईमानदारी है। सच तो यह है कि यह 'समानुभूति' ही रचनाकार के प्रति समीक्षक की 'सहानुभूति' है। इसके अभाव में वह उसके प्रति अन्याय भी कर सकता है। आलोच्य के समान वा सदृश अनुभूति में आलोचक का अपने को डालने की प्रक्रिया आलोचक के रचनाकार होने पर अधिक सुविधाजनक है। अतः समीक्षक का रचनाकार होना उसके कार्य में सहायक है। इस प्रकार श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी का समीक्षक के साथ ही रचनाकार होना उनके समीक्षा-कार्य का सहायक है।

इस प्रसंग में एक और बात कह कर ही हम आगे बढ़ें। समीक्षा के क्षेत्र में साहित्यकार की 'समानुभूति' की उपलब्धि अथवा उसके प्रति 'सहानुभूति' की चर्चा का वेग स्वच्छंदवादी युग में अधिक था और कुछ समीक्षकों ने तो कवियों की दिनचर्या तक की छानबीन के परिप्रेक्षित (Perspective) में उनके काव्य को रखकर उसकी समीक्षा की। ऐसा इसलिए भी हुआ कि उक्त युग व्यक्तिवादी था। आज सांस्कृतिक पीठिका की विवेचना कर किसी साहित्य अथवा साहित्यकार की समीक्षा की जाती है। फिर भी 'समानुभूति' तथा 'सहानुभूति' की बात अधिक दबी नहीं है। आज सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर समीक्षा आधृत है, और इस भूमिका को तैयार कर 'समानुभूति' वा 'सहानुभूति-पूर्वक' समीक्षा की जाती है। परंतु यह करने के बाद भी आज समीक्षक ने अपने जिम्मे यह कहने का अधिकार रखा है कि आलोच्य समाज के लिए मंगलकारी है अथवा अमंगलकारी। इस निर्णय-निर्देश में वह समीक्षा के प्रति किसी प्रकार की भी 'सहानुभूति' नहीं बरतना चाहता, क्योंकि दूध को दूध और पानी को पानी कहना वह अपना परम कर्त्तव्य समझता है। इसका कारण यह है कि आज का युग समष्टिवादी है--सच्चे अर्थ में।

हिंदी-समीक्षा के क्षेत्र में श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी का कार्य सन् १९३० के आस-

पास आरंभ आ और सन् '३४ में उनका पहला ग्रंथ 'सूर-साहित्य' (मध्य भारत हिंदी साहित्य समिति, इंदौर) प्रकाशित हुआ। यहीं यह कहें कि सन् '४४ में 'सूर और उनका काव्य' (बंगाल हिंदी-मंडल, कलकत्ता) नाम का लेख भी पुस्तिका के रूप में छपा था। सन् '४० और '४१ में क्रमशः 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' (दोनों के प्रकाशक 'हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई) निकला। सन '४१ में ही विद्यार्थियों के काम की 'नख-दर्पण में हिंदी-कविता' (विश्व-साहित्य ग्रंथमाला, लाहौर) नाम की छोटी-सी किताब भी प्रकाशित हुई थी। 'सूर-साहित्य', 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' द्वारा श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी की ओर सभी की दृष्टि आकृष्ट हुई। जिस समय 'सूर-साहित्य' प्रकाशित हुआ था उस समय श्री रामचंद्र शुक्ल की 'भ्रमर गीत-सार' की भूमिका के अतिरिक्त पुस्तकाकार रूप में सूर के संबंध में कोई अच्छी सामग्री न थी, अतः यह ग्रंथ सभी को किसी न किसी रूप में अच्छा लगा। 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' तथा 'कबीर' द्वारा एक स्थान पर पुस्तकों के रूप में संकुचित दृष्टि साहित्यिकों तथा साहित्य के विद्यार्थियों को यह आभास मिला कि हिंदी-साहित्य तथा उसके साहित्य-कारों को बहुत ही व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्षित में रखकर देखा जा सकता है; साथ ही उन्हें यह भी आभास मिला कि इस प्रकार से देखने के लिए प्रभूत सामग्री भी प्राप्त है। 'कबीर' के प्रकाशन के पूर्व डॉ० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल के संत-साहित्य संबंधी हिंदी में कुछ लेख प्रकाशित हो चुके थे और उनका 'निर्गुन स्कूल ऑव हिंदी पोयट्री' नामक ग्रंथ भी छप चुका था, मगर किताब के अंगरेजी में होने के कारण वह सर्वजन उपभोग्य न थी। ऐसी हालत में 'कबीर' पर सभी की दृष्टि गई। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त तीन रचनाओं द्वारा श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्थिति पुष्ट हुई और भविष्य में वे इस क्षेत्र में विकास करते गए। इस प्रकार उन्हें समीक्षक के रूप में हिंदी के सम्मुख लाने में इन ग्रंथों का ऐतिहासिक महत्त्व है।

इन्हीं ग्रंथों में श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा-पद्धति तथा उसके मान के मूल सूत्र और आधार भी दृष्टिगत हुए जो उनकी आगामी रचनाओं में प्रस्फुटित होते गए। जो सामग्री हमारे सम्मुख उपस्थित है, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, उसके आधार पर यह स्पष्ट है कि श्री द्विवेदी ने समीक्षण-कार्य उस समय आरंभ किया जिस समय छाया-वाद-रहस्यवाद युग अपनी पूरी उठान के बाद उतर रहा था। इसके नेता इसकी स्थापना के बाद या अपनी श्रेष्ठ रचनाएँ लिख चुके थे या लिखकर शेष करने को नए युग की हवा के झोंके लगने आरंभ हो गए थे। देश की सांस्कृतिक स्थिति--विशेषतः उभरी हुई राज-नीतिक स्थिति--व्यक्तिवादिता में बाधक हो रही थी, जो उस युग का मूल अवलंब थी; समष्टि पर सभी की दृष्टि जम रही थी। ऐसी हालत में जागरूक साहित्यिक नेता अब अपने को व्यक्तिवादी घेरे के फ्रेम में फिट नहीं कर पा रहे थे; या किंकर्तव्यविमूढ़ थे; या नई दिशा ढूंढ़ रहे थे। सन् '३५ के करीब रूस तथा समाजवाद की चर्चा काफ़ी तेज़ी से

आरंभ हो गई थी। श्री द्विवेदी ने जब समीक्षा-कार्य आरंभ किया तब की परिस्थिति की स्थूल रेखाएँ इसी प्रकार की थीं।

ध्यान में रखने की बात यह है कि श्री द्विवेदी ने छायावाद-रहस्यवाद-युग की पुष्ट और वैभवशाली साहित्य-रचना के आसपास ही कार्य आरंभ किया था, परंतु उक्त युग अथवा उक्त युग के साहित्यकारों के संबंध में लिखने की ओर अभिरुचि नहीं दिखलाई। यदि वे चाहते तो इस युग के संबंध में अपनी शास्त्रज्ञता तथा शक्ति के आधार पर बहुत ही अच्छा कार्य कर पाते; परंतु ऐसा किया नहीं। ऐसा करने के लिए उनके पास प्रभूत साधन मौजूद थे। वे ऐसे महाकवि––रवींद्रनाथ––के संपर्क में थे, जिन्होंने भारत में छायावाद-रहस्यवाद का असली अर्थों में नवीन ढंग से पुनरावर्त्तन किया था। ऐसी हालत में रवींद्रनाथ से उन्हें काफ़ी सहारा मिल सकता था। शायद उन्होंने सोचा हो कि–– 'जीवित कवेराशयो न वक्तव्यः'। हमारे ख़याल से ऐसा न कर उन्होंने अच्छा ही किया, क्योंकि जहाँ उन्होंने ऐसा किया है वहाँ अपनी अजातशत्रुता तथा मधुर संबंध के कारण सब मधुर-मधुर ही कर––कह दिया है।

जान पड़ता है कि 'विश्व-भारती', शांतिनिकेतन के जिस सांस्कृतिक वातावरण में वे थे उसमें अति नवीन की ओर उनकी दृष्टि टिकी नहीं। व्यापक तथा उदार भारतीय विद्या के अध्ययन-अनुशीलन द्वारा उसके पुनरुद्धार के वातावरण में वास्तविक भारतीय संस्कृति के विवेचन तथा उसके माध्यम द्वारा प्राचीन भारतीय साहित्य को ही यथार्थ रूप में देखने की ओर वे प्रवृत्त हुए। सांस्कृतिक दृष्टि से हमारा साहित्य किस रूप में विवेचित होना चाहिए और इस दृष्टि के न होने से इसे कितने ग़लत रूप में विवेचित किया जा रहा है, यही मूल प्रेरणा थी जिसके द्वारा वे अति नवीन की ओर न झुक कर दूसरी ओर झुके। प्राक्तन के अध्ययन-मनन के आधार पर भविष्य के निर्माण की प्रेरणा के कारण भी वे नवीन की ओर न जाकर प्राचीन संस्कृति की मीमांसा में ही पहले लगे। अपने भूतकाल की संस्कृति के अध्ययन के आधार पर उसके दोष को त्याग और गुण को ग्रहण कर इस त्याग-ग्रहण द्वारा भविष्य निर्मित किया जाय, यह श्री द्विवेदी की मान्यता है। इस संबंध में उन्होंने कहा भी है कि 'यदि हमारे समूचे प्राक्तन तत्त्वों का ज्ञान हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक नहीं होता तो वह बेकार है।' ('विचार और वितर्क' पृ० १४७)। अपनी संस्कृति को पूरी तौर से जाँच-पड़ताल कर उन्होंने वर्त्तमान वा अति नवीन के संबंध में अपनी राय देने का कार्य बाद में आरंभ किया। 'विचार और वितर्क' (सुषमा साहित्य-मंदिर प्रकाशन, जबलपुर, सन् '४५), 'अशोक के फूल' (सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली, सन् '४८), 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' (अभिनव प्रकाशन, लिमिटेड, पटना, सन् '४९), 'कल्पलता' (ज्ञान मंडल लिमिटेड, बनारस, सन् '५०) के समीक्षात्मक निबंधों में यह तथ्य देखा जा सकता है।

यहाँ इस पर भी ध्यान रखना जरूरी है कि सांस्कृतिक क्षेत्र में श्री द्विवेदी की दृष्टि

भारतीय-अभारतीय, आध्यात्मिक-भौतिक के अर्थ-भेद को मान कर नहीं चलती है। उनकी दृष्टि मंगल पर ही सर्वत्र है। कहते हैं '. . . . हम व्यर्थ के इस झगड़े में न पड़ जायें कि कोई चीज़ . . . . . कहाँ तक भारतीय या अभारतीय, आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। चीज़ अगर अच्छी है तो वह भारतीय हो या न हो, स्वीकार्य है, आध्यात्मिक हो या न हो, ग्राह्य है।' ('विचार और वितर्क', पृ० १९२-९३)

तो, 'विश्व-भारती' जैसे संस्कृति-पीठ का ही प्रभाव है कि वे साहित्य को सांस्कृतिक भूमिका में रखकर देखने को प्रवृत्त हुए। यहाँ हम 'सामाजिक भूमिका' का प्रयोग न कर 'सांस्कृतिक भूमिका' का प्रयोग कर रहे हैं। 'सामाजिक भूमिका' से राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि का ही हमें आभास मिलता जान पड़ता है, मगर 'सांस्कृतिक भूमिका' द्वारा इनके अतिरिक्त धर्म, दर्शन, मनुष्य-मनुष्य के बीच की पारस्परिक सहृदयता, साहित्य, मतलब कि हृदयोद्भूत तथा हृत्तलस्पर्शी तत्त्वों का भी आभास मिलता जान पड़ता है, इसीलिए हमने 'सांस्कृतिक भूमिका' का प्रयोग किया है, जिसके परिप्रेक्षित में उन्होंने साहित्य को रख कर देखा।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के पूर्व साहित्य को विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से ही देखने की चाल थी। साहित्य अपने जिन सहवर्त्ती सांस्कृतिक तत्त्वों के बीच फूलता-फलता अथवा सूखता-झड़ता है उन्हें दृष्टि में रख कर उसकी विवेचना की चाल न थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य को एकांत साहित्यिक दृष्टि से ही देखने का कारण था भारतीय साहित्य-शास्त्र के अध्ययन-मनन की एकमात्र परिपाटी पर चलना। इसका भी ध्यान रखना है कि उक्त साहित्य-शास्त्र में से सभी अथवा अधिकांश सामान्य जन-समाज से टूट कर राजाओं अथवा दरबारों के आश्रय में लिखे गए थे। इस शास्त्र को लिखने वाले आचार्यों ने भी साहित्य को साहित्य की ही दृष्टि से देखा था––विशेषतः बाद के आचार्यों ने भारतीय साहित्य-शास्त्र के आरंभ तथा बाद के भी थोड़े से आचार्यों ने इसे विभिन्न भारतीय दर्शनों की पीठिका पर विवेचित किया था, फिर भी विवेचना में मुख्य था साहित्य ही। तात्पर्य यह कि भारतीय साहित्य-शास्त्र के एक मात्र अनुकरण के कारण हिंदी में भी साहित्य को मात्र साहित्य की दृष्टि से देखने की चाल चल पड़ी थी। श्री द्विवेदी के पूर्व साहित्य को देखने की यही दृष्टि थी। उन्होंने इसे व्यापक सांस्कृतिक पीठिका पर देखने का कार्य आरंभ किया। सांस्कृतिक तो नहीं, सामाजिक पृष्ठभूमि के नाम पर केवल साहित्य-रचना की ऐतिहासिक परिस्थितियों का सामान्य उल्लेख श्री द्विवेदी के पूर्व के समीक्षक कर दिया करते थे।

'सूर-साहित्य', 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' के देखने से ज्ञात होता है कि आरंभ से ही श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा-पद्धति गवेषणा के सहारे चलती है। बहुमुखी शास्त्रज्ञता के कारण वे आलोच्य में जो तत्त्व देखते हैं उसके मूल की ढूँढ़-खोज करने में बराबर प्रवृत्त रहते हैं, इस प्रकार उनकी समीक्षा और गवेषणा साथ-साथ चलती

ह । वे समीक्षक ही नहीं गवेषक भी हैं । वे साहित्य का मूल्यांकन गवेषणा के आधार पर करते हैं । प्रायः स्थानों पर तो ऐसा हुआ है कि साहित्य का मूल्यांकन दब गया है और गवेषणा ही उभर गई है । गवेषणा का संबंध व्यापक अध्ययन-मनन अथवा पांडित्य से है और साहित्य के मूल्यांकन का संबंध मर्मस्पर्शिनी पैनी दृष्टि से । मूल्यांकन का संबंध विवेचन, प्रतिपादन (Interpretation), सच्ची पकड़, और इन सब के साथ ही वैयक्तिक तटस्थता से है । गवेषक मूल तक जा, सामग्री ला हमारे सामने रख देता है, प्राप्त सामग्री की तुलना आलोच्य से कर देता है, वर्गीकरण तथा सजाव प्रस्तुत कर देता है । गवेषक का काम लेखा-जोखा लेना है । इसके पश्चात् समीक्षक उसका मूल्यांकन करता है; और इस मूल्यांकन की विधि की ओर हमने ऊपर निर्देश किया है । तात्पर्य यह कि श्री द्विवेदी गवेषक और समीक्षक दोनों हैं । हम पुनः यह कहना चाहते हैं कि उनका गवेषक का रूप समीक्षक के रूप से अधिक भास्वर है । उनके इस रूप के दर्शन हमें उनकी उक्त आरंभिक रचनाओं में ही हुए थे । 'नाथ-संप्रदाय' (हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, सन् '५०), 'हिंदी-साहित्य का आदिकाल' (बिहार राष्ट्र भाषा, पटना, सन् '५२) तथा 'मध्यकालीन धर्म-साधना' (साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् '५२) के प्रकाशन के पश्चात् हमारी यह धारणा और भी पुष्ट हो गई है, जिनमें उनकी गवेषणा का सुफल हिंदी-साहित्य के लिए अनेक रूपों में फला दिखाई पड़ रहा है—विशेषतः 'हिंदी-साहित्य का आदिकाल' में ।

हमने श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी की कारयित्री प्रतिभा का उल्लेख किया है । हमने इसका भी उल्लेख किया है कि उनकी अभिरुचि संस्कृति की ओर अधिक है । अभी हमने यह देखा है कि वे गवेषक भी है और समीक्षक भी । हमें कुछ ऐसा लगता है कि श्री द्विवेदी में भावयित्री की अपेक्षा कारयित्री प्रतिभा के तत्त्व कुछ अधिक हैं; समीक्षक की अपेक्षा वे गवेषक बड़े हैं । और, हम यह भी कहना चाहते हैं कि उनमें साहित्यिक की अपेक्षा सांस्कृतिक पुरुष के तत्त्व अधिक हैं ।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के समीक्षण का मूलमान 'मनुष्य' है । अनेक स्थलों पर उन्होंने कहा है कि 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है ।' अनेक जगहों पर उन्होंने इसकी उद्धरणी दी है कि 'गुह्य ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' । (महा-भारत, शांति पर्व, १८०, १२) अन्य चितकों तथा कवियों ने भी 'महाभारत' की मनुष्य संबंधी इस दिशा में चिंतना की है । चंडीदास भी कहते हैं—

'सुन रे मानुष भाइ ।
सबार उपरे मानुष सत्य ताहार उपरे नाइ ॥'

श्री द्विवेदी ने कहा है—'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ । जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनाशील

संग्रहीत हैं। कुछ के नाम ऊपर लिखे गए हैं। कुछ ये हैं— 'साहित्य का साथी' (राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, वर्धा, सन् '४९), 'हिंदी साहित्य (उसका उद्भव और विकास)' (अत्तर चंद कपूर एंड संस, दिल्ली, सन् '५२), 'आधुनिक साहित्य पर विचार' (वही, सन् '५२)। उनके ग्रंथों को देखने से विदित होगा कि उन्होंने सैद्धांतिक समीक्षा के स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखे हैं। इस कोटि का एक ग्रंथ—'साहित्य का साथी'—उन्होंने अवश्य लिखा है, जिसका महत्त्व सैद्धांतिक समीक्षा की दृष्टि से उतना अधिक नहीं है जितना कि विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से अधिक है। हाँ, सिद्धांत संबंधी समीक्षात्मक उनके कई ग्रंथ हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्री द्विवेदी ने व्यावहारिक समीक्षा के ही ग्रंथ प्रधानतः लिखे हैं। ऐसे ही ग्रंथों में उन्होंने साहित्य और भाषा संबंधी अपने उपज्ञात सिद्धांत और विचार यथाप्रसंग प्रकट किए हैं। ऐसे प्रसंगों में हमें श्री द्विवेदी की साहित्य अथवा साहित्यकार संबंधी यथार्थ पकड़ की अभिज्ञता होती है। अपने गवेपणात्मक ग्रंथों अथवा निबंधों में वे अनेक स्थलों पर ढूँढ़-खोज के आधार पर यथार्थ निर्णय पर पहुँचे हैं और जहाँ गवेपणात्मक सामग्री का अभाव है, जिसके कारण किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता, वही उन्होंने आनुमानिक ढंग से अपना मत प्रकट कर दिया है। साहित्य तथा भापा-संबंधी आधुनिक अथवा वर्तमानकालीन समस्याओं के विपय में भी उन्होंने व्यापक विवेचना के पश्चात् अपनी सम्मति दी है। इससे यह भी साफ़ है कि साहित्य-संबंधी सिद्धान्त-निर्धारण तथा साहित्य और भापा-संबंधी समस्याओं के हल दोनों पर उनकी दृष्टि गई है।

यह भी ज्ञात होता है कि साहित्य पर विचार करते समय उन्होंने साहित्येतर विभिन्न विषयों के बारे में भी अपनी मौलिक गवेषणा और धारणा व्यक्त की है। उनके सांस्कृतिक पुरुप होने की चर्चा हम कर चुके हैं। अतः प्रायः सभी सांस्कृतिक विपयों से वे अछूते नहीं हैं। भारतीय संस्कृति के प्राण में अभारतीय तत्त्वों का नीर-क्षीर की भाँति मेल का प्रतिपादन श्री द्विवेदी का बहुत ही प्रिय विषय है। अतः स्वतंत्र रूप से तो इस पर कई निबंध प्रस्तुत किये ही हैं, साहित्य पर विचार करते वक़्त भी वे प्रायः इसका उल्लेख करते है। इसी प्रकार साहित्यिक विवेचना के लिए पीठिका प्रस्तुत करने के निमित्त वे अनेक स्थलों पर ज्योतिष, गणित, नृतत्त्व, जीवतत्त्व आदि अनेक विज्ञानों की चर्चा करते हैं। यह उनकी शास्त्रज्ञता का प्रमाण है।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी अनेक रचनाओं में यथाप्रसंग साहित्य तथा भाषा-संबंधी विभिन्न विषयों पर विचार प्रकट किए हैं—व्यावहारिक विपयों पर भी और सैद्धान्तिक विषयों पर भी। इन पर विचार करते समय हमें उनकी समीक्षा के मूल-मान तथा आधार और साथ ही उनके सांस्कृतिक व्यक्तित्व पर बराबर ध्यान रखना होगा, क्योंकि इन्हीं द्वारा परिप्रेक्षित तैयार कर उन्होंने अपने विचार प्रकट किए हैं।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी उसी ग्रंथ वा ग्रंथकार को संसार का श्रेष्ठ सेवक मानते हैं

जो किसी जाति के गुण-दोषों के यथार्थ चित्र सामने रखता है। कहते हैं—'जो ग्रंथ या ग्रंथकार किसी जाति को सच्चे रूप में उपस्थित करता है, उसके गुण-दोषों को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त कर सकता है, वह संसार की सब से बड़ी सेवा करता है। यही वह तीसरी वस्तु है, जिससे मैं किसी ग्रंथकार के औचित्य का निर्णय करता हूँ।' ('विचार और वितर्क', पृ० ४५) दो अन्य वस्तुओं में से एक है ग्रंथ वा ग्रंथकार द्वारा दुनिया को दान और दूसरी हैं इस दान में नवीनता वा ताज़गी। यथार्थ चित्र, चाहे वे गुणों के हों चाहे दोषों के, सचेतन व्यक्ति अथवा जाति के उत्कर्ष में ही सहायक होते है। हमारे समाज के गुण हमें आगे बढ़ने की शक्ति तो देते ही हैं, हमारे वास्तविक दोप भी यदि हमें ज्ञात हो जायँ तो उनका निवारण कर हम आगे बढ़ने में तत्पर होते है। इसीलिए श्री द्विवेदी गुण-दोषों दोनों के चित्रों को प्रस्तुत करने वाले साहित्य वा साहित्यकार को संसार का सबसे बड़ा सेवक मानने को तैयार हैं, क्योंकि वह हमारे उत्थान का सहायक है, हमारा वास्तविक नेता है। संसार वा समाज का इस गुण-दोष को जान कर आगे बढ़ते जाने की बात ऊपर की गई है। वे कहते हैं कि इस जानने की चेतना भी समाज में होनी चाहिये और इसके जगाने का काम भी साहित्यकार को करना ज़रूरी है, जिससे समाज श्रेष्ठ को जान कर इस (श्रेष्ठ) को जीवन में उतार सके—'इसीलिए साहित्यकार आज केवल कल्प-लोक का प्राणी बन कर नहीं रह सकता। दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम सृष्टि करना ही सब से प्रधान कर्त्तव्य नहीं है। संपूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी आवश्यक है जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके।' ('हमारी साहित्यिक समस्याएँ', पृ० ९८-९९) साहित्यकार के इन कर्त्तव्यों की चर्चा करते समय उन्होंने यह भी कहा है कि . . . . 'आज साहित्यकार के सामने प्रश्न केवल अच्छी बातें सुनाने का ही नहीं है, उस सड़ी हुई समाज-व्यवस्था को बदल देने का भी है जो अच्छी बातों के सुनाने में बाधक हैं।' (वही, पृ० ९८; और देखिए 'अशोक के फूल', पृ० १६७) परंतु यह अवस्था कैसे बदली जाय। और ऐसा करने में किस साधन का उपयोग किया जाय, किस साधन के वे पक्षपाती हैं, आदि बातों का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।

हमने देखा है कि श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए 'मनुष्य' ही सब से बड़ा तत्त्व है—साहित्य के क्षेत्र में भी और संपूर्ण संस्कृति के क्षेत्र में भी। ऊपर उनके साहित्य-संबंधी जो विचार विवेचित हैं उनका आधार भी एकांततः मनुष्य ही है। साहित्य के इतिहास के संबंध में अपने विचार प्रकट करते वक़्त भी इसी मानव पर दृष्टि रख कर उन्होंने बहुत ही मार्के की बात कही है। उनका कथन है—'साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि काल-प्रवाह में निरंतर प्रवहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रंथ और ग्रंथकार, कवि और काव्य, संप्रदाय और उनके आचार्य, उस पर शक्तिशाली प्राण-धारा की ओर सिर्फ़ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है मनुष्य। जो प्राण-धारा नाना अनु-

कूल-प्रतिकूल अवस्थाओं से बहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है उसको समझने के लिए ही हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं।' ('अशोक के फूल', पृ० ९३, ३३) साहित्य के इतिहास संबंधी इसी विचार के कारण श्री द्विवेदी ने सर्वत्र साहित्य को संपूर्ण सांस्कृतिक पीठिका में रख कर देखा है। इसे यों कहें कि श्री द्विवेदी की दृष्टि से साहित्य का इतिहास लोक (Folk) धारा का प्राण है, जो धारा अंतःसलिला रूप में अजस्र प्रवाहित हो रही है। साहित्यकार इसी में अवगाहन कर इसे रूप-रंग देता है। वह यदि इसे रूप-रंग न दे तो भी वह बह तो रही है। यहाँ यह तथ्य भी कहा जा सकता है कि जो इस धारा को जितने ही सच्चे रूप में पकड़-समझ पाता है वह उतना ही श्रेष्ठ साहित्यकार होता है। इसके द्वारा ही यह तथ्य भी प्रकट है कि सुदीर्घ काल तक उपेक्षित लोक-साहित्य और उसका रचयिता, जो निन्यानवे प्रतिशत रूप से आज भी अशांत है, हमारा असली साहित्य और साहित्यकार है, साहित्य के इतिहास में चाहे इन दोनों को कुछ भी अथवा समुचित स्थान न दिया जाता हो।

भारतीय अलंकार-शास्त्र की व्यापक विवेचना के पश्चात् इसके संबंध में श्री द्विवेदी ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं—'मेरा निश्चित मत है कि हमारे अलंकार-शास्त्र रस-बोध में सहायक है, बाधक नहीं। हमें आज उन्हें प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ना चाहिये।. . . . वे काव्यार्थ में प्रवेश करने का मार्ग दिखाते हैं। उन्हें इसी रूप में ग्रहण करना चाहिये। भारतीय मनीषा के सर्वोत्तम अंगों में से एक का प्रतिनिधित्व करने वाले इन ग्रंथों को यों ही नहीं छोड़ देना चाहिये'। ('साहित्य का मर्म', पृ० २७) आधुनिक काल में अलंकार-शास्त्र और अलंकारों का विरोध बहुत दिनों से चल रहा है—विशेष रूप से एकांत चमत्कारवादी अलंकारों के कारण; वैसे, रस-बोध में सहायक अलंकारों के ग्रहण की बात सभी सुधी समीक्षकों ने की है और अब भी करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि रीतिकाल में अलंकार द्वारा काव्यगत कोरा चमत्कार दिखाने के एकांत लक्ष्य के कारण आधुनिक काल में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। यह विरुद्ध प्रतिक्रिया अलंकारों तक ही नही सीमित रही, वरन्, अलंकार-शास्त्र तक गई। इस शास्त्र तक इसलिए गई कि इसमें वे अलंकार भी हैं जिनके उपयोग द्वारा कवियों ने काव्य को खिलवाड़ बना दिया। परंतु शास्त्र की दृष्टि से सुधी समीक्षकों तथा कवियों के लिए, और पाठकों के लिए भी अलंकार-शास्त्र निश्चय ही उपयोगी शास्त्र है, जो काव्य वा साहित्य संबंधी अनेक समस्याओं का हल प्रस्तुत करता है। इस संबंध में श्री द्विवेदी ने जो विचार प्रकट किए हैं वे उचित ही हैं।

रस-शास्त्र में वर्णित भगवद्विषयक रति की मीमांसा करते हुए उनका कथन है कि 'यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें जगत के प्रति उदासीन रहने की वृत्ति ही प्रबल रहती है, केवल जड़ जगत् से मानसिक संबंध को ही प्रधान मान लेना है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड़ जगत् के

संबंध की ही स्थायिता पर से रस का निरूपण होगा। क्योंकि अगर ऐसा न माना जाता तो शांत रस में जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक संबंध है उसे प्रधानता न देकर भगवद्विषयक प्रेम को प्रधानता दी जाती। जो लोग शांत रस का स्थायी भाव निर्वेद को न कह कर शम को कहना चाहते हैं वे वस्तुतः इसी रास्ते सोचते हैं। ('विचार और वितर्क,' पृ० ८७-८) भक्ति के विभिन्न क्षेत्रों में जो साहित्य प्रस्तुत है उसे दृष्टि-पथ में रख कर विचार करने पर इतना और कहा जा सकता है कि सभी दशाओं में निर्वेद ही इसका स्थायी भाव है। सच्चा प्रेम एकनिष्ठ होता है और भगवद्विषयक प्रेम के लिए तो परम एकनिष्ठता की अपेक्षा है। इसके अतिरिक्त जगत् के प्रति निर्वेद का पक्ष इसलिए भी लिया जाता है कि प्रायः सभी दर्शनों में इसे क्षणिक और मायामय कहा गया है, सत्य तथा परमसत्ता, ब्रह्म, ईश्वर, वा परम प्रिय ही माना गया है। ऐसी स्थिति में जीवन के परम लक्ष्य ब्रह्म, ईश्वर, वा परम-प्रिय की प्राप्ति के लिए क्षणिक तथा मायामय जगत् से हट कर, उदासीन होकर उसी के प्रति अपने एकनिष्ठ प्रेम को लगाना अपेक्षित है। जब तक जगत् के प्रति उदासीनता न होगी तब तक ईश्वर के प्रति एकनिष्ठता न होगी, क्योंकि सच्चा प्रेम एक ही ओर ताकता है। इसके साथ ही यह तथ्य भी प्रकट है कि जो लोग जगत् में ही भगवान् को ढूँढ़ने का उपदेश देते हैं वे भी जागतिक माया से उदासीन रहने का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार सभी दृष्टियों से भगवद्विषयक रति का स्थायी भाव निर्वेद ही ठहरता है।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के कुछ ही साहित्य-सिद्धांतों का अवलोकन हमने किया है। मगर इतना अवश्य कह सकते है कि कुछ और सिद्धान्त, जिनका प्रतिपादन उन्होंने किया है, वे भी उक्त सिद्धान्तों की रीढ़ पर ही खड़े है। अलंकार ओर रस संबंधी जो सिद्धान्त हमने ऊपर देखे है उनके द्वारा उनकी मीमांसात्मक पकड़ का परिचय मिलता है। श्री द्विवेदी की व्यावहारिक समीक्षाओं में भी यह पकड़ दृष्टिगत होती है।

श्री द्विवेदी की आलोचना-शैली के संबंध में कुछ और बातें करने के पूर्व हमारा यह कथन स्मरण करना अपेक्षित है कि वे रचयिता भी हैं, और शास्त्रज्ञ तथा गवेषक भी; अर्थात् उनका ज्ञान-क्षेत्र बहुत व्यापक है। ऐसी हालत में आलोचना के क्षेत्र में उनके ज्ञान का भी काफी प्रभाव पड़ा है। वे अपने विषय के प्रतिपादन के लिए शास्त्रीय और साहित्यिक भी उद्धरण-उदाहरण खूब देते हैं। उनका अध्ययन-मनन इतना व्यापक है कि अपने पक्ष के समर्थन के लिए उन्हें अन्यत्र से प्रभूत सामग्री मिल जाती है। इससे उन्हें आत्मश्रमात्मक विवेचन कम करना पड़ता है, प्राप्त सामग्री के संबंध में अपनी सम्मति प्रकट करने से ही प्रायः काम चल जाता है। रचयिता होने के कारण उनमें प्रभावुकता भी है, जो समीक्षण के क्षेत्र में भी प्रकट होती रहती है, अतः उनकी समीक्षा की एक भावात्मक और व्याख्यानात्मक शैली भी है। विवेचनापूर्ण व्याख्यानात्मक शैली के लिए 'विचार और वितर्क' का 'प्रेम-चंद का महत्त्व' नामक निबन्ध देखना चाहिए। उनकी भावात्मक समीक्षा शैली का एक रूप वह है जिसमें वे किसी कवि की रचना उद्धृत कर उसमें आई विशेषताओं की प्रशंसा

करते हैं। आलोचना की यह शैली छायावाद-रहस्यवाद-युग में खूब प्रचलित थी। साहित्य तथा भाषा संबंधी समस्याओं के हल में भी उन्होंने भावुक आलोचना शैली का यत्र-तत्र संमिश्रण किया है। इसके लिए 'हमारी साहित्यिक समस्याए' के 'सहज भाषा का प्रश्न' तथा 'नई समस्याएँ' नामक निबंध देखे जा सकते हैं। इस प्रकार श्री द्विवेदी की भावुक आलोचना शैली खूब मनोरम है। उनकी विवेचनात्मक आलोचना शैली के अनेक उदाहरण उनके साहित्य-सिद्धान्तों पर विचार करते हुए देखे गए हैं। इससे साफ़ है कि श्री द्विवेदी की यह आलोचना-शैली विवेचना के आधार पर आश्रित और तलस्पर्शिनी है। उनकी विवेचनात्मक आलोचना शैली का एक तत्त्व यह भी है कि वे सूत्र-रूप में विषय को न कह उसे फैला कर हमारे सामने रखते हैं, इससे उसके बोध में सहायता मिलती है।

हिंदी-समीक्षा के क्षेत्र में श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी का दान बहुत ही व्यापक और महत्त्वपूर्ण है। हिंदी-साहित्य के आदि काल से लेकर वर्त्तमान युग तक उनका कार्य फैला हुआ है। उन्होंने नवीन सामग्री भी ढूंढ़ निकाली और इन सभी सामग्रियों के मूल उत्स और इनकी सांस्कृतिक पीठिका भी हमारे सामने रखी। किस काल के संबंध में उनक दान और उनकी अभिरुचि अधिक और महत्त्वपूर्ण है, यह कहना मुश्किल है, क्योंकि सर्वत्र ही तो वे समान भाव से कार्य-दान करते दिखाई पड़ते हैं। फिर भी यह कहा जा सकत है कि मध्ययुगीय साहित्य और संस्कृति उनका प्रिय विषय है। आरंभ में वे दूसरे क्षेत्र कार्य कर लोगों में प्रसिद्ध हुए, और सभी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। आज अपने कार्य-दान तथा पद द्वारा समीक्षक के ही रूप में नहीं, वरन् साहित्यिक आचार्य औ नेता के रूप में भी विद्यमान हैं, और उनके प्रभाव का क्षेत्र बहुत व्यापक है। सभी को अपने प्रभाव-क्षेत्र में समेटे हैं। ऐसी हालत में उनका दायित्व भी बहुत व्यापक हो गया जो यथार्थ तटस्थता तथा विवेक द्वारा ही वास्तविक सुफल लाएगा।

: १६ :

नन्ददुलारे वाजपेयी

[गोपाल गुप्त]

साहित्य के गुण-दोषों के विवेचन एवं उद्घाटन के साथ-साथ स्वमत-प्रदर्शन के रूप में सम्यक् दर्शन-क्रिया को समालोचन कहते हैं।)भारत में साहित्य-शास्त्र का अर्थात् उसके विभिन्न अंगों के रचना-तंत्रों के नियमों, शब्दार्थ संबंधों, अलंकारों एवं रस-ग्रहण की प्रक्रिया के सिद्धांतों का जैसा सूक्ष्म विवेचन किया गया वैसा काव्यालोचन का अर्थात् उसके परीक्षणात्मक अंग का नहीं। यहाँ तो उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथों पर आधारित रचनातंत्र, रस और अलंकार संबंधी समृद्ध नियमों तथा सिद्धांतों का ही अनुशासन काव्य-रचना के लिए अनिवार्य-सा रहा और उन्हीं की कसौटी पर काव्य-रचनाओं की परख होती रही। फलतः समीक्षण का सैद्धांतिक पक्ष ही विकसित हो गया--शास्त्रीय या सैद्धांतिक समालोचना ही काव्य-परीक्षा का एकमात्र अंग बन गया। परन्तु योरप में आलोच्य कृति के सर्वांग परीक्षण के लिये--उसकी आत्मा तक पैठने के लिए--पूर्वनिर्धारित शास्त्रीय मानदंड सर्वांशतः ग्रहण किये जायँ या अंशतः शिथिल कर दिये जायँ या सर्वथा उनकी उपेक्षा करके आलोच्य कृति के ही आधार पर उसकी आलोचना की जाय या पूर्वनिश्चित सिद्धांतों के स्थान पर व्यक्तिगत रुचि और इतिहास को ही साहित्यालोचन का मानदंड माना जाय आदि अनेक प्रश्नों के विवेचन के फलस्वरूप सैद्धांतिक, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, आत्मप्रधान, प्रभावाभिव्यंजक, सौंदर्यात्मक, प्रशंसात्मक आदि अनेकविध आलोचन-प्रणालियों का आविर्भाव हुआ।

भारत का पाश्चात्य साहित्य से संपर्क होने के पूर्व हिन्दी आलोचना अपने शैशवकाल में उक्ति या सूत्र रूप में--गद्याभाववश छंदोबद्ध ही थी। परन्तु भारतेंदु के समय से शिक्षा-प्रसार एवं वैधानिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण गद्य-प्रचलन के साथ-साथ आलोचना का भी वास्तविक रूप में सूत्रपात हुआ और काव्यालोचन की पुरानी कसौटियों पर शास्त्रीय ढंग से काव्य के गुणदोष-विवेचन का प्रवर्त्तन हुआ। प्रारम्भ में आलोचक की दृष्टि दोषोद्घाटन की ओर ही विशेष रही। परन्तु इस स्थिति में क्रमशः परिवर्त्तन हो चला। रसालंकार पर आधारित आलोचना महत्त्वहीन होने लगी। आगे चलकर 'देव-बिहारी' की तुलना को लेकर उत्पन्न तुलनात्मक आलोचना में शास्त्रीय मानदंडों का अंशतः परित्याग और व्यक्तिगत रुचि का प्राधान्य दृष्टिगत हुआ। फिर भी आलो

कृति की आत्मा को झाँकने की प्रवृत्ति के इस समय भी दर्शन नहीं हुए—कवि की अन्तर्वृत्तियों की विश्लेषणात्मक विवेचना का अभाव-सा ही रहा। परन्तु ज्यों-ज्यों आंग्ल साहित्य का अध्ययन-परिशीलन बढ़ता गया त्यों-त्यों उस साहित्य के प्रभावस्वरूप तथा देश की परिवर्त्तित राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्थाओं के अनुरूप ऐसा साहित्य-निर्माण होने लगा जिसके अन्तर्वाह्य परीक्षण के लिए पश्चिम से नया प्रकाश और नई ऊष्मा लेकर साहित्य-प्रांगण में उतरे हुए उदीयमान आलोचकों को प्राचीन शास्त्र-विधान बाधक एवं अपर्याप्त प्रतीत हुए। नवीनता के उस युग में वे एक स्वतन्त्र वैधानिक दृष्टिकोण के अभाव का अनुभव करने लगे। फलतः पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों तथा विभिन्न आलोचन-प्रणालियों को अपनाने की प्रवृत्ति उनमें अधिकाधिक बढ़ने लगी और प्राचीन परम्परा-प्राप्त शास्त्रीय आलोचना के स्थान पर विभिन्न पश्चिमीय आलोचन-शैलियों से नवनिर्मित साहित्य की आत्मा को अनावृत्त करने—उसके अन्तःपक्ष का उद्घाटन करने तथा उसकी विशेषताओं का अन्वेषण करने की चेष्टा प्रवर्धित हुई।

इस अवसर पर हिन्दी साहित्य के उन्नायक एवं उसकी गतिविधियों के पथप्रदर्शक शुक्लजी का अर्द्धजाग्रत साहित्य-चेतना को समयोचित दिशा-ज्ञान हिन्दी साहित्य-संसार के लिए अतीव शुभंकर हुआ। उन्होंने पूर्व-पश्चिम के समीक्षा-सिद्धांतों को अपनी अनुभूति का अंग बना कर काव्यालोचना के निजी मनोवैज्ञानिक एवं तर्कसंगत काव्य-सिद्धांत स्थापित किये, समीक्षा-क्षेत्र में तत्काल प्रचलित एकांगदर्शी आलोचनाएँ एवं व्यक्तिगत रुचियाँ वहिष्कृत कीं, समीक्षा के सब अंगों का समान रूप से विन्यास किया और अंग्रेजी आलोचना-पद्धति पर ऐतिहासिक दृष्टि से सूर, तुलसी, जायसी आदि की सर्वांगपूर्ण एवं अभूतपूर्व शास्त्रीय आलोचना द्वारा हिन्दी आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित किया। परन्तु अपने पूर्व निर्धारित काव्य-सिद्धांतों की कसौटी पर नव साहित्य को कसने में शुक्लजी सम्यक् न्याय न कर सके। क्योंकि उनकी दृष्टि में जीवन-काव्य के संमुख स्फुट काव्य हीनतर था और नैतिकता ही काव्याधार होने के कारण रोमांचकारी स्वच्छंद स्फुट रचनाएँ नैतिक जीवन वाह्य एवं आदर्श विमुख थीं; उन्हें कवि की अनुभूति की सचाई में भी संदेह हुआ। इसके अतिरिक्त उन रचनाओं में प्राचीन विधान-बंधनों को तोड़ने की भी उन्मुक्त चेष्टा थी। इतनी प्रतिकूल सामग्री की विद्यमानता में शुक्लजी उन रचनाओं के प्रति कैसे सहानुभूति धारण करते? ऐसी स्थिति में अपनी व्यक्तिगत रुचि और धारणा के अनुसार उन्हीं प्राचीन मानदंडों का उन रचनाओं पर आरोप सांग परीक्षण में बाधक बन बैठा। कहते हैं, "नई शराब पुरानी बोतल में न भरनी चाहिये, वह फूट जाती है।" तद्वत् नवीन काव्य के आलोचन के लिए पुरानी कसौटी भी निरुपयुक्त सिद्ध होती है। अतः नवीनता के उस अग्रगामी युग में नव्यतर साहित्यिक कृतियों को नये ही नाप और बाटों से तौलने का कार्य, उन कृतियों के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले कतिपय तरुण पारखियों द्वारा ही सम्पन्न हुआ। उन

तरुण पारखियों में पं. नन्द दुलारे वाजपेयी का अपना एक स्वतन्त्र स्थान है।

वाजपेयीजी हिन्दी के अध्ययनशील और मननशील विद्वान हैं। उन्होंने काशी विश्वविद्यालय से एम. ए. की उपाधि प्राप्त कर कुछ वर्षों तक 'भारत' 'कल्याण' आदि में अपनी सम्पादन-कला का परिचय दिया। तत्पश्चात् काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापन कार्य करते हुए यथावकाश 'साहित्य सुषमा', 'सूरसागर', 'हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ' आदि पुस्तकों का सम्पादन किया, कई ग्रंथों की पांडित्य-प्रचुर भूमिकाएँ लिखीं और सूर, तुलसी आदि पर अनेकों गवेषणापूर्ण निबंध प्रकाशित किये। "प्रसुमन"[1] काल के विकास दिशादर्शक साहित्यकारों एवं उनकी कृतियों की खोजपूर्ण समीक्षा के रूप में नवीन साहित्य के अध्ययन की परिचायिका "हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी" उनकी प्रमुख रचना है। स्वतन्त्र रूप में 'जयशंकर प्रसाद' पर लिखी हुई एक विश्लेषणात्मक आलोचना पुस्तक भी है तथा हिन्दी साहित्य की कतिपय मुख्य कृतियों एवं प्रवृत्तियों का विवेचन करने वाली 'आधुनिक साहित्य' नामक एक नूतनतम रचना है। वाजपेयीजी हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत होनेवाले साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष भी रह चुके हैं। आज वे सागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। वे कुछ काल तक Faculty of Arts के 'डीन' पद को भी सुशोभित करते रहे। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य साहित्यों की प्रवृत्तियों के अध्ययन एवं संतुलन द्वारा उन्होंने अपना साहित्यिक व्यक्तित्व निर्माण किया है। पूर्वीय सिद्धांतों की अपेक्षा पाश्चात्य सिद्धांतों का सविशेष प्रभाव होने के कारण अपने आचार्य बाबू श्यामसुन्दरदासजी के समान उन्होंने भी काव्य को कला मान लिया है, जब कि भारतीय शास्त्र काव्य को कला से पृथक् मानता आया है। तथापि भारतीय समीक्षा-सिद्धांतों के वे उपेक्षक नहीं हैं। रस, अलंकार तथा नायक-नायिकाओं को ही वे साहित्यिक आलोचना के आधारभूत तत्त्व मानते हैं तथा अभिव्यंजना को काव्य न मानने में भारतीय दृष्टिकोण का ही परिचय देते हैं। तात्पर्य यह कि 'भारत' पत्र के सम्पादकत्व में वाजपेयीजी ने जो समय-समय पर सामयिक साहित्य का विद्वत्तापूर्ण आलोचन किया, छायावाद, रहस्यवाद आदि युग-प्रवृत्तियों पर जो नित नये-नये प्रसून साहित्य-देवता के चरणों में चढ़ाये, कवि विशेष के अध्ययन प्रस्तुत करने की जो आधुनिक परम्परा स्थापित की तथा वर्त्तमान युग की बृहत्त्रयी—प्रसाद, पंत, निराला—की आलोचनाओं में —उनकी मानसिक भूमियों के विश्लेषण में जो स्वतन्त्र आलोचना का परिचय देकर अपना गंभीर एवं निर्भीक आलोचक-रूप प्रस्तुत किया, उससे समीक्षा-जगत् में उनका शीघ्र ही आतंक जम गया।

वाजपेयीजी की आलोचना-पद्धति को व्याख्यात्मक कहा जा सकता है। तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप उनकी आलोचना में पौर्वात्य एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है। रचना विशेष के मानसिक एवं कलात्मक विश्लेषण

[1] प्र—प्रसाद, सु—सुमित्रानन्दन पन्त, म—महादेवी वर्मा, न—निराला।

के संबंध में—बाजपेयीजी का कथन है—" उसका (आलोचक का) पहिला और प्रमुख कार्य है, कला का अध्ययन और उसका सौन्दर्यानुसंधान। इस कार्य में उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि और उसकी सिद्धांत-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है, सिद्धांत तो उसमें बाधक ही बन सकते हैं।" उक्त धारणा के अनुसार बाजपेयी जी ने साहित्यालोचन संबंधी अपनी प्रयास-दिशा का निम्न प्रकार उल्लेख किया है।

१—रचना में कवि की अंतर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन (Analysis of the poetic spirit)

२—रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (Aesthetic appreciation)

३— रीतियों, शैलियों और रचना के वाह्यांगों का अध्ययन (Study of technique)

४—समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

५—कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस विश्लेपण)।

६——कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।

७—काव्य के जीवन-संबंधी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन।"

तात्पर्य यह कि वाजपेयीजी की आलोचना-पद्धति में किसी पूर्वकल्पित सिद्धांत का आधार नहीं है। प्रत्युत् आलोच्य कृति को ही वे आलोचना का प्रतिमान मानते हैं और उसके अन्यान्य अंगों के विश्लेपण और व्याख्या से तद्‌गत विशेषताओं के उद्‌घाटन एवं महत्त्व-निर्णय करने के पक्ष में है। परन्तु इस प्रकार पूर्व-निश्चित सिद्धांत के अभाव में ऐसी समीक्षा प्रणाली खतरे से खाली नहीं है, उसमें कुछ भटक जाने की संभावना रहती है। प्रतिभा-संपन्न समीक्षक ही उक्त प्रणाली का अवलम्बन कर आलोच्य कृति के साथ सर्वाधिक न्याय करने में समर्थ होते हैं। वाजपेयीजी ने नवनिर्मित काव्य-प्रवृत्तियों के विश्लेषण में अपनी अद्‌भुत क्षमता का परिचय दिया है। उन्होंने उपर्युक्त सूत्रों के आधार पर ही "हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी" में नवीन काव्यधारा की अनुसंधानपूर्वक पांडित्यप्रचुर समीक्षा की है—नवीन कवियों की परिस्थितियों को यथोचित रूप से ध्यान में रखकर तथा पैनी दृष्टि से उनकी भावनाओं की तह में पहुँच कर, साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं को अनावृत्त किया है।

वाजपेयीजी शुक्लजी के समान आलोचना के क्षेत्र में विचारात्मकता के ग्रहण एवं भावात्मकता के त्याग पर विशेष बल देते हैं। परन्तु पूर्वनिश्चित किसी भी कसौटी पर रचना विशेष की परख करने के सर्वथा विरोधी हैं। "काव्य को किन्हीं भी नीति-वादी या उपयोगितावादी तुलाओं पर तौलना," "समय और समाज की आवश्यकताओं पर आँकना", वाजपेयीजी आलोचना की सबसे बड़ी बाधा समझते हैं। उन्होंने नवयुग-

अधिनायक शुक्लजी को ही लक्ष्य कर बड़ी निर्भीकता के साथ अपनी साहित्य-समीक्षा संबंधी धारणा को व्यक्त किया है––"साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिये किन्तु जिसे शुक्लजी ने बार-बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्वनिश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धांत को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। सभी सिद्धांत सीमित हैं। किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है। कोई बंधन नहीं है जिसके अन्तर्गत आप उसे बाँधने की चेष्टा करें (सिर्फ़ सौंदर्य ही उसकी सीमा या बंधन है, किन्तु उस सौंदर्य की परख किन्हीं सुनिश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती)।" उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाजपेयीजी आलोच्य कृति के सम्यक् सौंदर्योद्घाटन के लिए पूर्वनिश्चित सिद्धांतों का समीक्षा-क्षेत्र से वहिष्कार चाहते हैं। क्योंकि आधारस्वरूप गृहीत सिद्धांत भ्रामक होने पर अन्तिम परिणाम भी भ्रामक होता है। शुक्लजी का 'लोकधर्म' सिद्धांत इसी कारण श्रेष्ठ काव्य की पहिचान में असफल रहा––"उन्होंने राम के निरूपण में ही रस की सत्ता मानी है, रावण के निरूपण में नहीं।" "वे विश्लेषण का समारोह ऐतिहासिक अध्ययन और मनोवैज्ञानिक तटस्थता उतनी नहीं दिखा सके जितनी सामान्य रूप से साहित्य मात्र और विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी के नवोन्मेषपूर्ण और प्रसरणशील साहित्य के लिए अपेक्षित थी।" "उन्होंने स्थूल व्यवहारवाद को निस्सीम बताकर और रहस्यवाद की कनकौए से तुलना कर नवीन कविता के साथ अन्याय किया है।"

एक तो किसी भी सिद्धांत का सर्वसम्मत होना कठिन है। और दूसरे सिद्धांत विशेष से प्रभावित समीक्षक अपने भावों की ही छाया आलोच्य कृति में देखने लगता है। ऐसी अवस्था में न्यायसंगत आलोचना की संभावना हवाई किले बाँधने के समान है। इसलिए वाजपेयीजी शुक्लजी द्वारा काव्यालोचन में प्रयुक्त एवं समर्थित––लोकधर्म, जीवन और जगत् के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन, शील-सौंदर्य-शक्ति की अभिव्यक्ति का सामंजस्य, प्रेम का लोक मंगलकारी स्वरूप, प्रवृत्ति-निवृत्ति, काव्य में प्रकृति चित्रण आदि––सभी सिद्धांतों को रचनाकार की हैसियत से उनकी उपयोगिता मानते हुए भी समीक्षक के लिए काव्य-परीक्षण में असंपूर्ण एवं त्याज्य समझते हैं। प्रत्येक कवि की रचना में कुछ न कुछ मौलिक विशेषताएँ रहती ही हैं जिनका पूर्वकल्पित सिद्धांतों पर उद्घाटन प्रायः असंभव है। वाजपेयीजी की सम्मति में तो आलोचक की "सौंदर्य-दृष्टि और सिद्धांत-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है।............(कलाकृति) के सौंदर्य के संबंध में कभी दो रायें नहीं हो सकतीं।"

वाजपेयीजी सिद्धान्त-निरपेक्षता के अतिरिक्त वाद-निरपेक्षता के भी प्रबल पोषक हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है––"वाद-पद्धति पर चलने का नतीज़ा साहित्य में कृत्रिमता बढ़ाना, दलबन्दी फैलाना और साहित्य की निष्पक्ष माप को क्षति पहुँचाना ही हो सकता है।" "किसी राजनीतिक या आर्थिक या सामाजिक सिद्धान्त का लोहा मान

कर उसकी चौहद्दी में बंद हो जाना न केवल साहित्य के लिए एक बड़ी कुंठा है, मनुष्य के लिए भी एक पंगुकारी रोग है।" अतः विवेचन का प्रारम्भ आलोच्य विषय के ही अन्तस् के साथ एकरस होकर करना अभीष्ट है, न कि किसी मतवाद के साथ अपने को तादात्म्य करके। वाद-विमुखता के लिए वाजपेयीजी ने दो शर्तें अनिवार्य मानी हैं—"एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो--किसी मतवाद का आग्रह न हो।" समीक्षक को व्यक्तिगत रुचि से भी तटस्थ रहना चाहिये। तटस्थता से वाजपेयीजी का यह मतलब नहीं है कि "समीक्षक अपनी सामाजिक और संस्कारजन्य इयत्ता खो दे। यह सम्भव भी नहीं है।.... जहाँ तक काव्य के कलात्मक स्वरूप और मनोभूमि के विश्लेषण का प्रश्न है समीक्षक को तटस्थता क़ायम रखनी चाहिये।"

प्रगतिवादी समीक्षक काव्य के सर्वप्रधान अनुभूति पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करते हैं। इसीलिए वाजपेयी जी को उनके समीक्षा-सिद्धान्त के प्रति भी सहानुभूति नहीं है—"मार्क्स-वादी सामाजिक, आर्थिक सिद्धान्त का जब काव्य अथवा साहित्य में प्रयोग किया जाता है तब उसकी स्थिति बहुत कुछ असंगत और असाध्य-सी हो जाती है। समाजवादी प्रतिष्ठा के पूर्व का सम्पूर्ण साहित्य वर्गवादी या पूँजीवादी साहित्य है। अतएव मूलतः दूषित है। केवल वह साहित्य श्रेष्ठ स्वागत-योग्य है जिस पर पूँजीवादी समाज व्यवस्था की छाया नहीं पड़ी। मार्क्सवादियों की यह उपपत्ति सभी दृष्टि से थोथी और सारहीन सिद्ध होती है।" यदि हम मार्क्सवादियों की साहित्य-समीक्षा की यह परिभाषा मान लें तो वाल्मीकि, व्यास, होमर, मिल्टन, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी आदि महान् नायकों की महती जीवन-कल्पना, मानव-स्वभाव-दर्शन तथा अनुभूतियों की उपेक्षा करनी होगी। वाजपेयीजी का विवेचक मन इस प्रकार की मान्यता के साथ कैसे चल सकता है? इसी तरह प्रयोगवादी रचनाओं के सम्बन्ध में भी उनकी धारणा कभी ऊँची नहीं रही। 'प्रयोग' शब्द ही कृत्रिमता एवं अभ्यास का व्यंजक है जो कलापूर्ण बुद्धिजन्य साहित्य भले ही निर्माण करे, परन्तु प्राणप्रद साहित्य का सृजन उससे कैसे भला सम्भव है? अतः वाजपेयीजी का कथन है—"प्रयोगवादी काव्य की इस अँधाधुँध में सबसे बड़ी बुराई यह हुई कि काव्य-कला सम्बन्धी स्थिर परिमाणों पर किसी का विश्वास नहीं रहा और पंत जैसे निसर्ग सिद्ध कवि भी कविता का पल्ला छोड़कर वादों का रंग अलापने लगे। उससे भी अधिक खेदजनक बात यह हुई कि समीक्षा के क्षेत्र में काव्य संबन्धी विचार परम्परा सुरक्षित न रह सकी। काव्य और वाद को एक ही श्रेणी में मिला दिया गया।"

जीवन से हटी हुई कविता साहित्य की सब से बड़ी निर्लज्जता है। बाजपेयीजी भी "साहित्य और जीवन का स्वभावसिद्ध सम्बन्ध सर्वथा मंगलमय" मानते हैं, परन्तु उस सम्बन्ध को उन्होंने अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उनका कथन है—"हम साहित्य के आकाश में क्षितिज के पास के रक्तिम वर्ण ही को न देखें, सम्पूर्ण सौरमण्डल

और उसके अपार वि
में साँस लेते हैं, प्रत्येक ती । उर
केवल उन परमाणुओं काव्य के [illegible]
क्षणिक यथार्थ के नाम पर वाक्यों से भाव-विशेष का निदर्शन किरनों च
"साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता है उसकी निंदा करते हैं।" साहित्य के व्यापक और क्रमागत स्वरूप को वे किसी भी मतवाद के आग्रह से सहसा छोड़ना नहीं चाहते, परन्तु साथ ही उनका उपयोग और उन की सहायता अपनी काव्य-धारणाओं के निर्माण में अवश्य कर लेना चाहते हैं। इसीलिए वे काव्य-समीक्षा में सामाजिक सम्पर्क का आवाहन करते हैं। शुक्लजी का साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों से तादात्म्य न होने का कारण—उनकी सम्मति में—"नव्यतर सामाजिक प्रगति से (विशेषतः राजनीति से) घनिष्ठ सम्बन्ध का अभाव था।" अतः उनका आग्रह है—"युग की संवेदनाओं से समीक्षक का घनिष्ठ परिचय होना चाहिये। तभी वह युग के साहित्य का आकलन सम्यक् रूप से कर सकेगा। जिन नूतन स्थितियों और प्रेरणाओं से नवीन काव्य का निर्माण हुआ, जिन वादों की सृष्टि हुई है और जो नई शैलियाँ साहित्य में अपनाई गई हैं, उनका जब तक परिचय नही, तब तक साहित्य का मूल्यांकन क्या होगा ? वाजपेयीजी साहित्य का प्रयोजन—शुक्लजी की तरह आत्मानुभूति मानते हैं। अतः साहित्य में प्रयोगों के खिलवाड़ को "समीक्षा को जड़ से उखाड़ फेंकने का सरंजाम" समझते हैं—"काव्य कला की मुखर वर्णमयता में वर्ण-भेद, वर्ग-भेद और वाद-भेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव-कल्पना का यह अनुभूति-लोक नित्य और शाश्वत है। कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करने वाली आत्मप्रेरणा ही काव्यानुभूति बनती है।" इस प्रकार वाजपेयीजी ने आलोचक के रूप में अपने स्वस्थ एवं व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

वाजपेयीजी की आलोचन-पद्धति चुस्त और मार्मिक अवश्य है। परन्तु कहीं-कहीं विशेषतः उनकी आरम्भिक रचनाओं में संयम का तोल नहीं रह पाया है। ऐसे स्थानों पर उन्होंने व्यक्ति को ही लक्ष्य बना कर आक्षेपपूर्ण आलोचना की है तथा वाद-विवाद में पड़ कर कड़वी-चुभती बातें भी कही हैं—"प्रेमचंदजी एक शब्द को लेकर मज़ाक करने लगे—"जहाँ वाणी मौन रहती है वह साहित्य है ? वह साहित्य नहीं, गूँगापन है। यदि इस प्रकार की दलील की जाय तो हम भी कह सकते हैं कि उपन्यास, कहानियाँ और लेख लिखते समय क्या आप की वाणी चिल्लाया करती है ? आपकी किन-किन रचनाओं का कंठ फूट चुका है ? क्या वह आविष्कार लखनऊ में हुआ है जिससे साहित्यिक पुस्तकें वहीं की कुंजड़िनों की तरह वाचाल बन गई हैं ?" उक्त उद्धरण से उनकी आलोचना की अन्यान्य विशेषताएँ भी सामने आ जाती हैं। आलोचना करते समय बीच में ही प्रतिपक्षी पर व्यंजक प्रश्नों की बौछार कर पाठकों के मुख-मण्डल पर मुस्कराहट की आभा विकीर्ण

ाता की बात है कि
ा में विरल हैं। दूसरी
विशेष... ाद-युग प्राचीन-नवीन के
अर्थात् परम्परा के आर ... के लिए अनुकूल था। एक ओर युग की आवश्यकताओं के अनुरूप तथा शास्त्र-विधान-सम्मत साहित्य-सर्जन पर ज़ोर दिया जा रहा था, तो दूसरी ओर बुद्धिप्रसूत एवं कृत्रिम काव्य के समर्थकों का कड़े शब्दों में कुछ कटुता के साथ विरोध किया जा रहा था। ऐसे ही युग में वाजपेयीजी ने लेखनी उठाई थी। अतः उनकी आलोचना में व्यंग्य का पुट उभर आया है। उनकी लेखनी से मानो पाखण्ड प्रचार-जन्य हृद्गत व्यथा मुखरित होने के लिए उत्सुक हो उठी है--"इन दिनों साहित्य और जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की ज़ोरदार माँग बढ़ रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस माँग की खूब क़द्र की जा रही और खूब दाद दी जा रही है। . . . . लेखक-गण घर के बाहर स्वदेशी लिबास में रहने में प्रतिष्ठा पाते हैं और समालोचक-गण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आने वाले सैनिक--साहित्यिक के बड़े गुणगान करते हैं।" "इसलिये हिन्दी में इन दिनों लोग एक एक टेक लेकर चलने लगे हैं। उस टेक को आदर्श के नाम से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिये कोई ग़रीबी की टेक और कोई आचार की टेक लेकर चलते हैं, परन्तु इन के होते हुए भी विचारों का दैन्य छिपता नहीं।" उपरोध एवं उपहास का यह प्रबल स्वर वाजपेयीजी की आलोचना में यहाँ-वहाँ एक दो वाक्यों में ही नहीं समा पाता, सुदूर तक छा जाता है। यहीं उनका व्यक्तित्व भी पूर्णतः प्रस्फुटित होता है। कहीं-कहीं तो वे मार्मिक व्यंग्य की चोट करते-करते हताश भाग्यवादी जैसे बन जाते हैं--"स्वच्छंदता की प्रकृत प्रेरणा से प्रकट हुई 'पल्लव' जैसी रचना को शुक्लजी सरीखे समीक्षक भी हेठी देते हैं और 'युगवाणी' सरीखे कोरे बुद्धिप्रसूत पद्यों को स्वच्छन्दतावाद के अन्दर शुमार करते और प्रवर्धना देते हैं। तब मानना पड़ता है कि इस युग की काव्य-सृष्टि के साथ किसी अशुभ ग्रह का योग अवश्य हो गया था।"

शुक्लजी में संयत, सुमधुर और यथावसर व्यंग्य का पुट है, परन्तु वाजपेयीजी के व्यंग्य में आवश्यकता से अधिक कड़वाहट आ गई है--वह कुछ अधिक तीखा हो गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने असम्मत मान्यताओं की प्रायः सर्वत्र व्यंग्यात्मक विवेचना की है। परन्तु आलोचना के मर्मस्पर्शी स्थानों पर वे भावात्मक भी हो गये हैं। ऐसे अवसर पर अपने आचार्यद्वय के समान वे भी छोटे-छोटे पर चुस्त वाक्यों का व्यवहार कर पाठकों के मनोराज्य में एक प्रांजलता का वातावरण निर्माण कर देते हैं--वाक्यों की लघुता एवं चुस्ती से एक विचित्र प्रकार की रमणीयता का उद्भावन होता है--"जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतंत्र विषय नहीं रह जाते, उच्च साहित्य की यह भाव-भूमि है। वहाँ अपरिग्रह का साम्राज्य है, फोटो नहीं छापे जाते, वहाँ वाणी मौन रहती है, गाथा

गाने में सुख नहीं मानती। उस उच्च स्तर से जितने क्रिया-कलाप होते हैं, आत्म-प्रेरणा से होते हैं।" किसी विषय के स्पष्टीकरणार्थ वाजपेयीजी ने व्याख्यानात्मक रीति को अपनाया है और छोटे-छोटे वाक्यों से भाव-विशेष का निदर्शन विचारों को बार बार दोहराकर किया है—"जीवन सम्बन्धिनी आधार-भूत चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाय। हम मृत्यु के अथवा अगति के उपासक न बन जायें। निराशा और आत्म-पीड़न को अर्घ्य न देने लगें।"

डॉ० नगेन्द्र ने वाजपेयीजी की आलोचना में कुछ अस्पष्टता का विचार कर एक दोष की ओर इंगित किया है—"परन्तु इनके विवेचन में एक दोष था। इन्होंने छायावाद के ऊपर दार्शनिक आवरण इतना अधिक चढ़ा दिया कि न तो वह स्वयं ही अपना आशय बिल्कुल स्पष्ट कर सके और न छायावाद ही उसको वहन कर सका। इसका कारण यह था कि इन्होंने छायावाद की अधिकांश मूल प्रवृत्तियों का उद्गम प्रसादजी की तरह भारतीय दर्शन को ही माना। विदेशी रोमांटिक स्कूल और इस युग की सामाजिक कुंठाओं का—विशेषकर सेक्स सम्बन्धी कुण्ठाओं का प्रभाव यह उचित मात्रा में स्वीकार न कर सके। इसके अतिरिक्त कलापक्ष में इन्हें जैसे कुछ कहने को ही न था।" डॉ०नगेन्द्र पर स्वयं फ्रायड के सिद्धान्तों का आतंक छाया हुआ है। अतः वे उसी दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। यह सच है कि दार्शनिकता के आयोजन से वाजपेयीजी की आलोचना सहसा बोधगम्य नहीं बन पाती—(देखिये, 'संगम' के 'प्रसाद-अंक' में प्रकाशित 'प्रसाद के नाटक' नामक लेख)—प्रतीत होता है उक्त लेख जीवन की अधिक भाग-दौड़ के अवसर पर लिखा गया है। इसलिये यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे प्रसाद के नाटकों को वास्तव में किस कोटि के नाटक समझते हैं। कभी-कभी वाजपेयीजी आलोचना की सुदीर्घ भूमिका भी बाँधते हैं। इतना सब कुछ होने पर भी बाजपेयीजी के निष्कर्ष साहित्य-संसार में समादृत हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य की स्वतंत्र वैज्ञानिक व्याख्या करने में उन्होंने जो श्रम उठाया है, उसका साहित्य-जगत् में स्थायी मूल्य रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का इतिहास अभी तक ठीक तरह वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से नहीं लिखा गया है और जितने भी इतिहास आज दिन प्रतिदिन रचे जा रहे हैं, वे अधिकांशतः शुक्लजी के ही इतिहास पर आधारित हैं। किन्तु शुक्लजी ने जिस समय इतिहास रचना की थी, उस समय से आज तक वह कितना समृद्ध हो चुका है तथा कितनी अप्राप्त प्राचीन सामग्री उपलब्ध हो चुकी है, यह साहित्य पाठकों से छिपा हुआ नहीं है। वाजपेयीजी शुक्लजी के शिष्यों में अपनी गणना साभिमान करते हैं और मानते हैं—"उन का शिष्यत्व तो है उनके किये हुए काम को आगे बढ़ाने में जिस प्रकार स्वयं उन्होंने पिछले किये हुए काम को आगे बढ़ाया।" यह प्रसन्नता की बात है कि वाजपेयीजी शुक्लजी के अवशेष कार्य को, आधुनिक हिन्दी साहित्य का अप-टु-डेट इतिहास लिख कर, 'आगे बढ़ाने' के लिए उद्यत हुए हैं। इसी तरह हिन्दी में एक और आवश्यकता प्रतीत हो रही है। पौर्वात्य और पाश्चात्य समीक्षा-प्रणालियों के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन का ग्रन्थ रूप में अभाव ही है। ज्ञात हुआ है कि वाजपेयीजी इस दिशा की ओर भी अग्रसर हो चुके हैं। उनकी अध्ययनपरायणता एवं उद्यमशीलता निश्चय ही उद्‌बोधक हैं।

: १७ :

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

[ठाकुर प्रसाद सिंह]

स्वर्गीय लाला भगवान दीन ने कभी बड़े ही विश्वास से अपने दो परम प्रिय शिष्यो श्री मोहन बल्लभ पंत तथा श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—को अपनी आँख और अपना हाथ कहा था। दीन जी की शिष्य-परम्परा आज भी काशी में वर्त्तमान है और समय समय पर प्रकट किये गये उनके उद्‌गारों के संस्मरण के प्रवाह में श्री विश्वनाथ जी के प्रति उनके अनुराग का वर्णन करती है। 'दीन-सुकवि मंडल' की याद अभी भी एक पीढी पहले के साहित्य के विद्यार्थियों के मन में बनी हुई है तथा 'भगवानदीन साहित्य विद्यालय' आज भी अपनी पूर्व पद्धति से विद्यार्थियों की सेवा करता जा रहा है। इन सब के मूल में श्री विश्वनाथ जी का ही व्यक्तित्व प्रमुख रूप से कार्य कर रहा है: इसमें किसी भी प्रकार संदेह नहीं किया जा सकता। आलोचना के क्षेत्र में पं. रामचन्द्र शुक्ल के उदय ने यद्यपि 'दीन' जी का प्रकाश क्षीण कर दिया: किन्तु काशी तथा हिन्दी के अन्य अंचलों में एक ऐसा साहित्य-जिज्ञासु वर्ग काफ़ी दिन तक प्रभावशाली रहा जिस पर दीन जी की छाप काफ़ी गहरी थी। यह वर्ग स्पष्ट ही उनकी आलोचना-पद्धति का समर्थक था; इस वर्ग की पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास से ही पं. विश्वनाथ जी का यशःशरीर उत्तरोत्तर पुष्ट तथा समृद्ध होता जा रहा है। विश्वनाथ जी का आलोचक अपने चरम विकास के स्तर पर भी श्री दीन जी का आभारी है: उसकी सफलता उस शैली की सफलता है और उसकी विफलता भी उसी शैली की विफलता है। दीन जी की मृत्यु के बाद के वर्षो में काफ़ी प्रभावित तथा विचार-वृद्ध होते हुए भी विश्वनाथ जी अपनी जाति बदल नही सके है। यहाँ 'बिहारी' आलोचना ग्रन्थ की इन पंक्तियों की याद आती है:—

"परम्परा-पालन से दोष भी होते है, पर परम्परा का पालन करने वाला अपने रूप की रक्षा भी करता है। वह प्रवाह में बह नही जाता, हवा में उड़ता नहीं, यह भी सत्य है।"

('बिहारी' :९७ पेज)

श्री विश्वनाथ जी के इधर के जीवन में यद्यपि प्रवाह आये है: हवाएँ बही है पर वे इस संक्रान्ति में भी अपना स्वरूप बना रखने में समर्थ हुए है। उनके आलोचक के शैशव में ही पितृ-तुल्य दीन जी का अवसान काफ़ी दुःखद है: बाद में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की छाया में उनके जीवन के अगले दस वर्ष बीते हैं, जिनमें उनकी आलोचना में आवश्यक परिवर्त्तन घटित हुए हैं। शुक्ल जी की मृत्यु के बाद के अगले बारह वर्षों में उनके आलोचक के साथ उनका अध्यापक अपनी सफलता तथा अध्यवसाय के चरम पैर पहुँचा है।

श्री दीनजी तथा आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के आलोचना के दो युगों का स्पष्ट प्रभाव तथा विकास का क्रम आँकने वालों के लिए श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का साहित्य जानना आवश्यक होगा। दूसरी तरह से कहें तो हिन्दी की व्यवस्थित परम्परायुक्त शास्त्रीय आलोचना के विकास-क्रम का पूरा ज्ञान विश्वनाथ जी का नाम जोड़े बिना किसी भी प्रकार संभव नहीं। हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ प्राचीन शास्त्रीय नियमों की छाया पकड़ कर ही प्रारम्भ हो सका था। संवत् १९६० के पश्चात् आचार्य द्विवेदी जी के 'सरस्वती' में आने के पश्चात् ही आलोचना का शास्त्रीय परिचय हिन्दी जगत को हुआ। श्री बाल मुकुन्द गुप्त, गोविन्द नारायण मिश्र आदि के विवाद के बीच उसका स्वरूप मूर्त्त हो रहा था, तभी श्री पद्मसिह शर्मा की सतसई की आलोचना (सं १९७५) सम्मुख आयी। इसके पहिले यद्यपि सं. १९७० में 'मिश्रबन्धु विनोद' प्रकाशित हो चुका था तथा 'हिन्दी-नवरत्न' चर्चा का विषय बन चुका था, पर साहित्यिक मार्दव तथा परिश्रम की हलकी झलक शर्मा जी ही में मिली। १९७७ में गुलेरी जी की मृत्यु हो चुकी थी तथा लाला जी काशी विश्वविद्यालय में आ चुके थे। आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल का विकास-काल भी यही था। स्पष्ट है कि सं. १९८० तक आते-आते हिन्दी आलोचना का भविष्य अपना संकेत देने लग गया था। १९८० से १९९० तक का काल हिन्दी की शास्त्रीय तथा नीतिवादी आलोचना का यौवन काल है। पं. रामचन्द्र शुक्ल की सभी मुख्य स्थापनाएँ तथा दीन जी की सभी भूमिकाएँ इसी काल की है। 'भ्रमरगीत सार','जायसी ग्रन्थावली' तथा तुलसी की प्रसिद्ध आलोचनाएँ १९८२-८३ तक लिखी जा चुकी थी। दीन जी की 'कवितावली की टीका' भी इमी समय निकली। १९८४ में तुलसी पर शुक्ल जी ने स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रस्तुत कर दिया तथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अधिकांश कार्य पूरा कर लिया था। १९८६ में वह अलग से प्रकाशित भी हो गया। इसी वर्ष 'केशव पंचरत्न' दीन जी ने प्रकाशित करवाया। सं.१९८७ मे उनकी मृत्यु हो गई। इसके बाद पं. रामचन्द्र शुक्ल का भी कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उनके जीवन-काल में नही रचित हुआ। 'चिन्तामणि' के निबन्ध उनके पूरे जीवन-काल के है तथा 'रस मीमांसा' तथा 'सूरदास' मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुए। दो स्थापनाएँ 'काव्य में रहस्यवाद' तथा 'अभिव्यंजनावाद' संबंधी आवश्यक महत्त्वपूर्ण थीं जिनका निर्णयात्मक प्रभाव तत्कालीन हिन्दी आलोचना पर पड़ा।

पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की टीकाओं, दीपिकाओं तथा टिप्पणियों के दर्शन सं. १९८७-८८ के आसपास होने लगते है। दीन जी की मृत्यु के पश्चात् उनके छूटे हुए कार्यों को पूरा करने तथा उस परम्परा को वहन करने का उत्साह इन प्रयत्नों के मूल मे है। 'भूषण ग्रन्थावली','कवितावली','सुदामा चरित' की भूमिकाएँ सं. १९८८ की है : 'हमीर हठ' की १९९० की। 'गीतावली गुजन' नाम से गीतावली की एक खण्डित टीका १९९० में छपी है। इनके अतिरिक्त 'अजातशत्रु दीपिका' तथा 'हिन्दी में नाटच साहित्य का विकास' ऐसी कृतियाँ भी इसी समय आगे-पीछे प्रकाशित हुई हैं। टीकाओं की इस परम्परा में एक

हलका-सा व्यवधान देकर 'घनानन्द कवित्त' (२०००) तथा 'घनानन्द और आनन्दघन' (२००२) में प्रकाशित होती हैं। इस बीच में 'पद्माकर पंचामृत' एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया गया है, जिसमें दीनजी के आदेश की विनम्रता स्पष्ट है। इसका प्रथम संस्करण सं. १९९२-९३ में प्रकाशित हुआ। अन्य छोटी-मोटी भूमिकाओं का उल्लेख यहाँ उतना आवश्यक न होगा।

इस तरह के सम्पादन, उपपादन तथा पुस्तकों के साथ बड़ी-बड़ी आलोचनात्मक भूमिकाओं के वर्ग की आलोचनाओं के अतिरिक्त इनका दूसरा पक्ष भी सम्मुख आया। स्वतन्त्र आलोचना-ग्रन्थ सम्मुख आये। संवत् १९९३-९४ में 'बिहारी की वाग्विभूति' प्रकाश में आयी। विश्वनाथ जी ने इसे बिहारी पर लिखी पहली पुस्तक कहा। वाङ्मय के सभी अंगों का विवेचन करने की दृष्टि रखकर १९९९ में 'वाङ्मय-विमर्श' प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर काफ़ी लम्बा काल बिना किसी प्रकाशन के बीता। इन वर्षों में ये घनानन्द सम्बन्धी खोजों में लगे रहे। 'घनानन्द कवित्त' २००० में प्रकाशित भी हुआ जिसमें इन्होंने रीतिकाल में रीतिबद्ध तथा स्वच्छन्द धारा का विभाजन प्रस्तुत किया। २००२-३ में 'घनानन्द और आनन्दघन' का आधिकारिक संग्रह प्रकाशित हुआ। पाँच वर्ष पश्चात् २००७ में 'बिहारी' स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ। जिसके आरम्भिक अंश नवीन हैं। अन्त में पूरी सतसई जोड़ कर पुरानी संपादन की परम्परा बनायी रखी गई है। एक वर्ष बाद २००८ में 'सम-सामयिक साहित्य' प्रकाशित हुआ है जिसमें समय-समय पर लिखे गये फुटकल निबन्धों का संग्रह है।

संक्षेप में यही विकास-क्रम इनका रहा है। एक सजग प्रतिभाशील विद्यार्थी की दृष्टि से विश्वनाथ जी ने अपने उपयुक्त एक युग चुन कर उसका मन्थन किया है। यदि तुलसी की गुरु-आदेश से तथा छात्रोपयोगी दृष्टि से लिखी आलोचना को एक ओर कर दें तो स्पष्ट दीख पड़ेगा कि इनका मुख्य क्षेत्र रीतिकाल या उन्हीं के शब्दों में शृंगार-काल रहा है। ये स्वयं रीति-ज्ञाता कम नहीं रहे हैं। 'काव्यांग कौमुदी' के तीनों प्रकाशों में इनकी सहज पैठ सब कहीं परिलक्षित होते हम देख सकते हैं।

(२)

यहाँ आकर यह देखना आवश्यक हो गया कि वे कौन सी स्थापनाएँ हैं जिन्हें लेकर विश्वनाथ जी हिन्दी की आलोचना के चिन्तन-विकास के सम्मुख खड़े हो सकते हैं। ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य महत्त्वपूर्ण है पर उसका स्थान शुद्ध अनुभूतिपूर्ण स्थापना के पश्चात् ही होगा। इनके साहित्य का अधिकांश परीक्षोपयोगी भी रहा है। 'दीपिका', 'नाट्य का इतिहास', 'सुदामा चरित्र' तथा अन्य छोटी-मोटी गीतावली आदि की टीकाएँ केवल नामोल्लेख मात्र को इनकी हैं। किसी भी स्थिति में वे इनके साहित्य की नींव की ईंट बनने का दावा न कर सकेंगी। इनसे थोड़े ऊँचे स्तर पर 'कवितावली' का परिचय, 'हमीर हठ' का सम्पादन, 'पद्माकर पंचामृत' का सम्पादन, आदि कार्य रखे जा सकते हैं। घनानन्द पर की गई खोजें या निम्बार्क मत के 'माधुर्य लहरी' आदि पर किये गये कार्य काफ़ी गंभीर अन्वेषण के परिणाम

है। इन कार्यों के अतिरिक्त अभी कितना और कार्य है जो अप्रकाशित पड़ा है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादन तथा सभा के अन्वेषण-विभाग की अध्यक्षता के दिनों में काफ़ी कार्य हुआ है, पर वह अप्रकाशित होने के कारण हमारी सीमा के बाहर रह जाता है। इनके सम्पादन-कार्य की सबसे बड़ी सफलता 'घनानन्द' हैं ; आज भी यह कार्य समाप्त नहीं हो सका है। भाषा तथा आवेगों की झिलमिल पहचान के बल पर ये घनानन्द के नाम पर प्रचलित साहित्य में से घनानन्द का साहित्य उद्धृत कर रहे हैं। इस कार्य के लिए ज्ञान और प्रतिभा के अलावा अनुभव के काफ़ी वर्ष भी चाहिए। विश्वनाथ जी के पास इन तीनों की प्रचुरता है।

तीसरी प्रवृत्ति के दर्शन हमें 'वाङ्मय विमर्श' में होते हैं। पाँच सौ पृष्ठों की इस पुस्तक का महत्त्व अवश्य अधिक हुआ होता। यदि लेखक (उद्गाता भी कह सकते हैं, क्योंकि पूरी पुस्तक बोलकर लिखवाई गई है।) इसे परीक्षोपयोगी बनाने के लिए प्रकाशक के सम्मुख प्रतिश्रुत न रहा होता। पुस्तक का एक तिहाई अंश (१४८ पेज के लगभग) भाषा-विज्ञान को दे दिया गया है, जिसका अधिकांश तारापुर वाला के भाषा-विज्ञान की स्पष्ट और सुष्ठु छाया है। उसमें किसी मौलिकता की खोज करना आवश्यक नहीं। पिंगल के लिए दिये गये पन्द्रह से ऊपर पेज मात्र नोट्स है। वैसे ही नाटक, रस, शास्त्र, पद्य, गद्य, काव्य आदि प्रकरण भी परीक्षोपयोगी है, इसलिए संस्कृत-शास्त्रों या अंग्रेजी की दो एक कोर्स में निर्धारित पुस्तकों के उद्धरणों की सरणि पकड़ कर रास्ता पार करते दीखते हैं। आलोचना के नाम अध्याय में पाश्चात्य और पौर्वात्य शास्त्रीय विचारों के हलके नोट्स चलते रूप से संग्रहीत हैं। यत्र-तत्र स्वतन्त्र विचार स्फुलिगों की तरह धुएँ में चिटकते-बुझते दीख पड़ते हैं, पर उनमें कोई पारस्परिक संबंध नहीं दीखता। यह सारी योजना विश्वविद्यालय के एम. ए. के पंचम पत्र के लिए की गई है। इस बाँट-दौड़ में हिन्दी के विशाल इतिहास के पल्ले केवल सौ से दस-पाँच ऊपर पेज पड़े हैं। इतनी कम जगह में हिन्दी की विशाल परम्परा और गंभीरता का आभास देना सूत्र-शैलीकारों के लिए भी असंभव होता। यहाँ पर भूलना नहीं होगा कि उनकी यह असफलता आलोचक की असफलता है। यों तो विद्यार्थी समाज के लिए 'वाङ्मय विमर्श' एक मात्र ग्रन्थ है। इस दृष्टि से देखते समय हमें उन कतिपय शास्त्रीय आलोचकों को दृष्टि में रखना होगा जिन्होंने प्राचीन तथा पाश्चात्य शास्त्रों का मन्थन करके उन्हें विद्यार्थियों के लिए सुलभ बनाया है। श्री गुलाबराय जी के 'सिद्धान्त और अध्ययन' सीरीज़ के विचार विरल निबन्धों की कक्षा में रखने पर 'वाङ्मय विमर्श' की सुलझी विचार परम्परा का महत्त्व माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त भी इस ग्रन्थ का एक विशेष महत्त्व है। स्थान-स्थान पर स्वतन्त्र रूप से प्रकट किये गये विचारों का सूक्ष्म अन्वेषण करके उनके विचारों की परम्परा तथा औचित्य का विवेचन किया जा सकता है। ऐसा करना तब तक आवश्यक होगा जब तक भविष्य में विश्वनाथ जी गंभीरता पूर्वक अपने टीकाकार से छात्रोपयोगी पुस्तक-रचयिता

तथा टिप्पणीकार से अपने आलोचक को अलग करके विचारकों तथा जिज्ञासु-वर्ग के सम्मुख उपस्थित नहीं करते ।

चौथी प्रवृत्ति है स्वतन्त्र आलोचना की । बिहारी पर लिखी आलोचनाएँ तथा सामयिक विचार इस कोटि में आते हैं । इन आलोचनाओं में उन्होंने अपने को रीतिकाल के एक विद्यार्थी के रूप में प्रतिष्ठित किया है । यह पहले ही कहा जा चुका है ; दृष्टि क्या है इसका विचार यथास्थान होगा । 'बिहारी की वाग्विभूति' एम. ए. की थीसिस है । उसमें विभाजन और कैटिलांगिग की शैली है । जीवनवृत्त, भावपक्ष, कलापक्ष, भाषा, अलंकार, वस्तु-योजना, अप्रस्तुत विधान के पूर्व निर्धारित खानों में बिहारी के दोहे बाँटे गये हैं । 'बिहारी' ग्रन्थ का प्रारम्भ मौलिक है । 'घनानन्द कवित्त' में संकेत मात्र में स्पष्ट शृंगार काल की स्थापना इसमें पूर्ण प्रतिष्ठित हुई है । हिन्दी के समसामयिक साहित्य में आचार्य द्विवेदी, पं. रामचन्द्र शुक्ल, भारतेन्दु, दिनकर आदि पर समय-समय पर प्रकट किये गये विचार संग्रहीत हैं । उनकी आलोचना-शैली वही है जो ग्रन्थों में पाई जाती है ।

(३)

अब हमें विश्वनाथ जी की विचारधारा से परिचित होना होगा । इसके लिए उनके द्वारा प्रकट किये विचारों में से ऐसे स्थल चुनने के पहले आवश्यक होगा कि हम हिन्दी के उन ऐतिहासिक स्थलों, परिवर्त्तनों तथा संक्रान्तियों का स्मरण कर लें जिनके कारण साहित्य की गति तथा भावना बदली है । पहले इतिहास लें । पं. रामचन्द्र शुक्ल के विभाजन का क्रम इतिहास को चार भागों में बाँटता है : विश्वनाथ जी इस क्रम को स्वीकार करते हैं पर वीरगाथा काल के संक्षिप्त विवेचन में शुक्ल जी से काफ़ी दिन बाद वे कोई परिवर्त्तन करने की आवश्यकता नहीं देखते । शुक्ल जी के इतिहास के सभी संस्करण इकट्ठे करने पर स्पष्ट देखा जा सकता है कि उसमें सबसे अधिक परिवर्त्तन वीरगाथा काल में ही हुए हैं: पर 'वाङ्मय विमर्श' में संतों-सिद्धों और देशभाषा के विशाल वाङ्मय की उपेक्षा करदी गयी है : यह कार्य ज्ञान की कमी से नहीं साहित्य-संबंधी अपनी धारणा विशेष के कारण घटित हो गया है । सिद्धों, सन्तों तथा रहस्यवाद के संबंध में यद्यपि पं. रामचन्द्र शुक्ल के विचार भी उतने उदार नहीं कहे जा सकते : पर विश्वनाथ जी तो काफ़ी दूर तक इस वर्ग का अस्तित्व ही साहित्य में स्वीकार नही करते । उनके आसपास रहने वाले उनके इस विश्वास से काफ़ी परिचित है । पंडित जी की आस्तिकता उन्हें नास्तिक दर्शनों (?) का समर्थन नहीं करने देती । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के विकास काल के ऐतिहासिक उपादानों की स्पष्ट उपेक्षा करने के कारण उनकी तत्संबंधी आलोचनाएँ कुछ दूरी तक तो चली हैं, वे मात्र शुक्ल जी की छाया बन कर रह गयी हैं । उनके सभी निर्णय सतही हैं और भविष्य की कसौटी पर लोग उन्हें रखने में भी हिचकेंगे । आज वीरगाथा काल की सीमाएँ टूट गयी हैं : इतनी प्रचुर सामग्री सामने आयी है कि यदि २००५ तक शुक्ल जी जीवित होते तो प्रसन्नता से परिवर्त्तन कर डालते । इतनी ऐतिहासिक पीढ़ी के उत्तराधिकारी होकर जब

विश्वनाथ जी तत्संबंधी अपने मुश्किल से दस पेज के विवेचन में प्रबन्ध और मुक्तक का नाम लेकर शास्त्र उद्धृत करने में ही तीन पेज लगा देते हैं तब विवेच्य के प्रति करुणा भाव ही पहले आता है। भक्ति-काल की स्थापना भी इसी तरह चलती कलम से कर दी गयी है : बीस वर्ष पहले कही गयी बातों की हलकी गूँज यहाँ भी सुन पड़ती है। मिल्टन की तरह गुरुओं की दी हुई सामग्री लेकर ये अब भी वैसे ही खड़े हैं। न तो एक नवीन ग्रन्थ की चर्चा, न तो एक नवीन सत्य का उद्घाटन का स्थापन। "जो केवल खड़े रह कर प्रतीक्षा करते हैं वे भी सेवा करते हैं।" के सिद्धान्त से विश्वनाथ जी ने जितना पाया है उतने के साक्षी वे अब भी हैं : संभवतः भविष्य में भी 'कैसावियान्का' की तरह दृढ़ भाव से रहेंगे। परम्परा पर उनके विश्वास की दृढ़ता उन्हें शक्ति भी देती रहेगी। रहस्यवाद के संबंध में असहिष्णु होकर भी शुक्ल जी ने स्वीकार किया कि "स्वाभाविक रहस्य-भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमें संदेह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा मानते है जिसका अनुभव ऊँचे कवि कभी-कभी प्रमाण प्राप्त होने पर किया करते हैं।" यहाँ तक तो वे पूरे मानवतावादी तटस्थ आलोचक की हैसियत से यह स्वीकार करते हैं कि यह भावना अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। 'वाद' रूप में उसे स्वीकार न करके भी वे काफ़ी उदार हैं। इतनी उदारता होने पर भी वे साहित्य की अदालत में इन विचारों के लिए काफ़ी संकीर्ण और प्राचीन कहे गये। इस स्थिति में विश्वनाथ जी जब कहते हैं कि "... कहना नहीं होगा कि बुद्धि की यह यात्रा दर्शन-शास्त्र के मार्ग पर होती है। हृदय का योग ज्ञात ही के साथ हो सकता है, अज्ञात से नहीं।" तब स्पष्ट ही वे रहस्य-भावना तक को साहित्य-क्षेत्र से भी बाहर कर देते है।

रीतिकाल को शृंगार काल कहने के लिए उनका आग्रह ठीक ही है : इससे तो स्वयं शुक्लजी भी सहमत थे : प्रवृत्ति के अनुसार नामकरण होना ही चाहिए। किन्तु रीति की वाध्यता भी कोई चीज़ अवश्य है जिसने भूषण तक को भेदाभेद में फँसा लिया था। इस वाध्यता का संकेत 'शृंगार काल' कह देने से उतना स्पष्ट नहीं होता। इस एक शंका के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहना है, क्योंकि शुक्लजी से यह थोड़ी-सी नवीनता केवल खाने हटाने-बढ़ाने की है : आलोचना की जाति नहीं बदली है। प्रारम्भ में थोड़ा-सा स्पष्टीकरण करके ये विवेचन की वही पुरानी व्यावहारिक आलोचना-शैली की राह पकड़ लेते हैं। किसी प्रकार की नवीन उद्भावना ऐतिहासिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में नयी जानकारी या प्रतिपादन के नवीन मान के दर्शन बिहारी ग्रन्थ के प्रारम्भ में नहीं होंगे। घनानन्द के प्रति जो भावना प्रदर्शित हुई है वह भी शुक्लजी की विरासत है। श्री दीनजी ने उन्हें बिहारी के प्रति प्रेम-भावना दी थी : शुक्लजी की भावुक प्रवृत्ति ने उन्हें घनानन्द के प्रति भावुक बनाया है : शुक्लजी का छूटा हुआ यह कार्य विश्वनाथजी ने पूरी तन्मयता और ईमानदारी से किया है। इसके लिए हिन्दी का भावनालोक उनका आभारी रहेगा।

यहीं दबी ज़बान से एक बात और कहनी है। न जाने क्यों बिहारी ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'स्वच्छन्द' कवि घनानन्द की प्रशस्ति कुछ अस्थान प्रतिष्ठित लगती है। अच्छा होता कि यह घनानन्द के साथ जुड़ी होती। इस नवीन अंश के अतिरिक्त बाकी जो आलोचना भाग है वह 'बिहारी की वाग्विभूति' का ही है, इसलिए कुछ विशेष नहीं कहना है।

रीतिकाल के पिछले खेवे में भूषण और अन्य वीर रस के कवियों को लेकर जो एक नई भावना खड़ी हुई वह भी एक ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। 'भूषण-ग्रन्थावली' की विशाल भूमिका में विश्वनाथजी ने उस पर मत प्रकट करते हुए कई बातें कहीं हैं। प्रारम्भ ही में ये कहते हैं कि "संसार में दो प्रकार के काव्य विशेष रूप से स्थायी रह सकते हैं; एक भक्ति काव्य दूसरे वीर काव्य।" यहाँ 'स्थायी रह सकते हैं ?' की जगह यदि 'स्थायी रह सके हैं' होता तो कोई विरोध न होता। सकते हैं में जो भविष्य का संकेत है या वर्त्तमान का निर्णय है उससे सहमत होना मुश्किल है। किन्तु इस निर्णय से आलोचक की अध्ययन की दिशा तथा सामाजिक धारणाएँ काफ़ी उभर कर सामने आ जाती हैं। वीर काव्य या भक्तिकाव्य की जो व्याख्या बाद में की गयी है वह और भी विवादास्पद होगयी है: शास्त्र की याद पद-पद पर करने वाले आलोचक जहाँ शास्त्रों को मौन देखते है वहाँ अक्सर अशास्त्रीय और अस्वाभाविक बातें कहते दीखते हैं। इस निर्णय के अतिरिक्त और सभी बातें विश्वनाथ जी की उसी परिचित शैली में है। 'बिहारी' की तरह इस ग्रन्थावली में भी भूमिका भाग में ४० पेज के करीब अलंकारों का इतिहास है जो अस्थान स्थापित है।

रीतिकालीन स्थापनाओं में कुल मिलाकर विश्वनाथजी की दृष्टि एक स्वस्थ स्वभाववादी व्यक्ति की है। रीतिबद्ध-कवियों के मुक़ाबिले रीति-सिद्ध और रीति-सिद्ध कवियों के मुक़ाबिले स्वच्छन्द कवियों को अपनी श्रद्धा देने वाले आलोचक को उस युग की पृष्ठभूमि में प्रगतिशील ही कहा जायगा। बिहारी का समर्थन करते हुए भी ये चमत्कार-वादी कभी नहीं रहे और न ही रीति-नीति के आगे इनके हृदयपक्ष ने आत्म-समर्पण ही किया है। यह बड़ा ही स्वस्थ दृष्टिकोण है।

रीतिकाल के अन्तिम दिनों तथा भारतेन्दु युग के उत्थान के दिनों पर भी इनका कोई स्पष्ट मत परिलक्षित नहीं हुआ है: भारतेन्दु पर प्रकाशित इनके निबन्ध में कोई ऐसी बात नहीं है जिसे अलग से इनका मान कर रखा जाय। और आगे बढ़ने पर छायावाद युग के प्रति इनकी तीव्रता अवश्य प्रखर हो उठती है। एक बात जो समझ में नहीं आयी, वह है आधुनिक काल का नामकरण। ये इसे प्रेमकाल कहते हैं। इस पर कुछ न कहना ही ठीक होगा। छायावाद के विरुद्ध और तर्कों के अलावा एक विचित्र तर्क यह भी दिया गया कि "छायावाद तो केवल पद्य तक ही सीमित रहा।" क्या छायावाद एक विशेष भावना का प्रकटीकरण नहीं है ? यदि है तो माध्यम कुछ भी हो सकता है: इसके लिए चिन्ता क्यों ? सोचने, विचारने और उपस्थित करने की दिशा में जो क्रान्तिकारी परिवर्त्तन द्विवेदी-काल के पश्चात हुए हैं: उसी की आलोचना करनी चाहिए थी: गद्य में नहीं है—कहने से वह

विपत्ति टलने की नहीं जो काफ़ी लोगों के न चाहते हुए भी २५ वर्ष तक हिन्दी के विकास की पर्याय बनी रही है। प्रगतिवाद तक आते-आते विश्वनाथजी आलोचक की सर्वमान्य संवेद्यता भी भुला बैठते हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं :

"इसी प्रकार टेढ़े-सीधे मतों का सहारा लेकर प्रगति प्रगति की भीषण पुकार मचाई जा रही है।.....साहित्य में साम्यवाद, समाजवाद आदि नवीन मतों को आधार मानकर चलना देश को चौपट करना तो है ही, साहित्य को भी अपभ्रष्ट कर देना है।"

इन पंक्तियों में एक अछूत के स्पर्श से भड़के ब्राह्मण के आक्रोश के अलावा और क्या है ? इनकी सब से बड़ी चिन्ता यही है कि "गाँवों की झोंपड़ियों, खपरैल, हल-बैल, धुर्री-गैल आदि जो अब तक दिखायी पड़ते हैं उन चिरन्तन विभूतियों का त्याग कैसे होगा।" क्या बचकानी तर्क है! पण्डितजी शहर में रहते है, इसलिए इन चिरन्तन विभूतियों को पकड़ सकने के लिए इतने उतावले होते हैं। पिछले कालों की आलोचना में पण्डितजी कम बोलते हैं, शास्त्र ही अधिक बोलते हैं : इसलिए पण्डितजी का स्वर स्पष्ट नही होता। कहीं-कहीं वे सामाजिक तत्त्वों की बात भी करते है, कहीं प्रगति का समर्थन करते भी दिखलाई पड़ते हैं : इसलिए लोगों को भ्रम हो जाता है। किन्तु आधुनिक काल की आलोचना में जहाँ शास्त्र हताश होकर चुप हो जाते हैं वहाँ पण्डितजी को ही बोलना पड़ता है। छायावाद के पूरे विकास में पण्डित जी अलंकार-योजना और अप्रस्तुत विधान ही देखते रहे : आगे बढ़कर प्रगतिवाद के नाम पर बौखला उठे। लगता है, पण्डितजी का असली स्वर भी यही है। बातचीत में भी बराबर ये कहते ही हैं कि हमारा क्षेत्र आधुनिक काल नहीं है। न होना एक बात है और कटु आलोचना का विषय होना दूसरी बात है : यह अन्तर समझ लेने में आलोचक और आलोच्य दोनों का कल्याण दीखता है। जिन विश्वनाथ जी ने बिहारी पर लिखते हुए कहा है कि बिहारी शृंगारी कवि तो हैं पर उनमें प्रेम की उच्च भूमिका का अभाव है, उनसे प्रगति-वाद पर ऐसी सम्मति की आशा किसी को भी नहीं हो सकती। जहाँ शुक्लजी के साथ आपने यह स्वीकार किया कि "हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से भी अधिक बलवती दिखाई पड़ी। (घनानन्द ने) भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चला कर उसे अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है" वहीं इसी गुण के होते हुए भी छायावादियों के लिए न्याय क्यों नही दिया। यह समझ में नहीं आता।

(४)

विश्वनाथजी ने यह सब जिस शैली में लिखा है वह आलोचना की बड़ी चलती शैली है। प्राचीन शास्त्रों की बताई काव्य, नाटक, रस, रीति, आदि की व्यवस्थित रेखाओं को दृष्टि में रखकर अपने आलोच्य को उसी कसौटी पर कसा है। गुणदोष-विवेचन की यही शैली विश्वनाथ जी की प्रिय शैली है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है :

"केवल काव्य-रचना में ही नहीं आलोचना में भी विदेशी रंगत अधिक मात्रा में चढ़ने लगी है। भामह, दण्डी, वामन, कुंतक . . . (आदि) आचार्यों का नाम न लेकर विदेश

के अरस्तू, प्लेटो, ड्राइडन . . . . . मीमांसकों के साथ दार्शनिकों तथा मनोवैज्ञानिकों के नाम भी लिये जाने लगे हैं। × × अतः हमारे देश में जैसे और भी विदेशी रोग फैले वैसे यह भी। इसे तात्विक समझ कर काव्य-समीक्षा की दुहाई देना अपने को भूल जाना तो है ही; दूसरों का रोग बटोरना भी है।" इस वक्तव्य से पण्डितजी का विचार काफ़ी स्पष्ट है। वे न तो साहित्येतर दर्शनों का प्रभाव साहित्य पर स्वीकार करते हैं और न प्राचीन आचार्यों के मतों के अतिरिक्त अन्य मतों की प्रतिष्ठा ही करने को प्रस्तुत हैं। ये विचार काफ़ी स्पष्ट रूप में उन्हें प्राचीन शास्त्रीय आलोचक सिद्ध कर देते हैं। ऐसी हालत में प्राचीन शास्त्रों के विद्यार्थी एक प्रश्न पण्डितजी से भी पूछेंगे कि क्या भारतीय रस-सिद्धान्त तथा ध्वनि सम्प्रदायों के पारस्परिक विरोध में तत्कालीन अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, निम्बार्क, आदि सम्प्रदायों (?) का काफ़ी बड़ा हाथ नहीं था ? यदि वे दर्शनों के इस हस्तक्षेप से इनकार करेंगे तो कोई बात नहीं, किन्तु स्वीकार करने की हालत में उनकी ऊपर की धारणा यों ही साम्प्रदायिक सिद्ध होकर रहेगी। विश्वनाथ जी इस प्रश्न पर काफ़ी दृढ़ दीखते हैं। गोस्वामी तुलसीदास की आलोचना करते समय पं. रामचन्द्र शुक्ल ने लोकमंगल, मंगलाशा, शील, आदि जिन जागतिक नीति-रीतियों के सम्यक् निर्वाह के लिए तुलसीदास की प्रशंसा की थी वे भी गृह्य-सूत्र हैं : इस कारण कर्मकाण्ड और आचार के देश में उनको भी साम्प्रदायिक ही मानना होगा। मुसलमानों के आक्रमणों में किसी संस्कृति की रक्षा भी उसी साम्प्रदायिक की सीमा में आयेगी, इसलिए ऊपर वाला निर्णय शुक्ल जी के खिलाफ़ भी जायगा। साहित्येतर विजातीय द्रव्यों का साहित्य पर प्रभाव डालना एक ऐसी समस्या है जिसे उठाने पर शास्त्रीय आलोचना स्वयं ख़तरे में पड़ जायगी। क्योंकि आज यह विश्वास दृढ़ हो चुका है कि किसी भी युग का साहित्य अपनी विशुद्धता का दावा नहीं कर सकता; बराबर युगीन सत्यों से उसने अपनी शक्ति को मुखर बनाया है : जीवन दिया है। जो वस्तु साहित्य का जीवन है उसे जीवन कह देने से सारी शंकाएँ : शिकायतें अपने आप मिट जायँगी और व्यर्थ की चिन्ता से पीले पड़े आलोचक को दुनिया में सुख-शान्ति के दर्शन भी होंगे।

अन्त में यही कहना है कि पं. विश्वनाथजी ने अपनी शक्ति भर आलोचना की शास्त्र विहित पद्धति को परिमार्जित किया है। 'उपमा कालिदासस्य', 'कालिदासो प्रकाश', आदि के युग से उठा कर पण्डितजी के पूर्व पुरुषों ने उसे जब इनके हाथ में सौंपा था तब भी वह काफ़ी शक्तिहीन थी; तुतलाभर लेती थी। पण्डित जी ने उसे अपने अध्यवसाय के बल पर प्रौढ़ और संवेदनशील बनाया है; इससे इनकार नहीं किया जा सकता। अपनी इस शक्ति के लिए वे बराबर याद भी किये जायँगे।

: १८ :

विनयमोहन शर्मा

[महेन्द्र भटनागर]

हिन्दी-साहित्य में आलोचना का स्वरूप इधर दस-पन्द्रह वर्षों में बहुत कुछ बदल गया है। आलोचना के प्राचीन मान हटाए जा रहे हैं और उसे पहले से अधिक वैज्ञानिक, संतुलित एवं तुलनात्मक रूप दिया जा रहा है। आचार्यों द्वारा निर्मित साहित्य के विविध प्रकारों के संबंध में निश्चित धारणाओं और नियमों को सामने रख कर अब साहित्य की छानबीन नहीं होती, वरन् साहित्य को समाज का प्राण समझ कर उसके स्वस्थ और जीवनदायी तत्त्वों को ढूँढ़ा जा सकता है। हिन्दी के आलोचक यद्यपि आलोचना के प्राचीन मानों को छोड़ नहीं सके हैं फिर भी उनमें एक व्यापक भावना आ गई है। पाश्चात्य विचारकों ने हिन्दी के आलोचकों को निःसंदेह नई दृष्टि दी है। आजकल हिन्दी आलोचना में यदि एक ओर प्राचीन संस्कृत आचार्यों की साहित्यगत रूढ़िवादी मान्यताओं को स्थान दिया जाता है तो दूसरी ओर फ्रायड, मार्क्स, कॉडवेल आदि आधुनिक विचारकों की उपेक्षा भी नहीं की जाती।

इस दृष्टि से देखने पर हिंदी-आलोचना में दो प्रकार के आलोचक दिखाई देते हैं। एक तो वे जो प्राचीन मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते और दूसरे वे जो नवीनता को ग्रहण करना नहीं चाहते; किन्तु इन दोनों प्रकारों से अलग एक इस प्रकार के भी आलोचक हैं जो इन दोनों प्रकारों का समन्वय किए हुए हैं, जिन्होंने प्राचीन और नवीन दोनों को अपनाया है, किसी के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं दर्शायी है। प्राचीन मान्यताओं में जो वैज्ञानिक हैं उन्हें अपना कर नवीन विचारकों के स्वस्थ दृष्टिकोण पर जिन आलोचकों की दृष्टि केन्द्रित है उनमें प्रो. विनयमोहन शर्मा का नाम प्रमुख है।

प्रो. विनयमोहन शर्मा हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान एवं प्रतिष्ठित आलोचक हैं। आपकी चार आलोचनात्मक पुस्तकें—'साहित्य-कला' (१९३९), 'कवि प्रसाद','आँसू तथा अन्य कृतियाँ' (तृतीय संस्करण), 'दृष्टिकोण', और 'साहित्यावलोकन' प्रकाशित हुई हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त आपका बहुत-सा साहित्य हिन्दी की उच्चकोटि की पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होता रहा है। विनयमोहनजी के आलोचना-साहित्य को हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) अनुसंधान-पूर्ण लेख
(२) आचार्यत्व से पूर्ण समालोचनाएँ
(३) छात्रोपयोगी आलोचनात्मक लेख

(४) परिचयात्मक टिप्पणियाँ (Reviews)
(५) व्यक्तिगत संस्मरण
(६) आधुनिक-काव्य पर टीकाएँ
(७) अन्तर-प्रांतीय साहित्य पर खोजपूर्ण लेख

अनुसंधान-पूर्ण लेखों की संख्या कम है। 'साहित्यावलोकन' में 'नामदेव और उनकी हिन्दी-कविता', 'अवधी और कृष्णायन की भाषा' आदि लेख संग्रहीत है जो लेखक के अध्ययन की गहराई को प्रकट करते हैं। नामदेव की हिन्दी-कविता पर यह लेख हिन्दी-साहित्य में सम्भवतः अकेला है। यह अवश्य है कि प्रो. विनयमोहन शर्मा ने ऐसे खोजपूर्ण लेख अधिक नहीं लिखे, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनमें एक स्कॉलर की योग्यता एवं सामर्थ्य है।

उनकी दूसरी प्रकार की समालोचनाएँ ऐसी हैं जो उन्हें आचार्यत्व के पद पर पहुँचा देती हैं। आचार्यत्व से मेरा अभिप्राय उन स्वतन्त्र और निर्भीक विचारों से है जिन्हें साधारण प्रतिभा और बुद्धि वाले आलोचक लिखने में जरा झिझकते हैं अथवा उनकी दलीलें इतनी सशक्त नहीं होतीं कि जिनको पढ़ने से पाठक प्रभावित हो सके। विनयमोहनजी के संबंध में ऐसी बात नहीं है। उन्होंने जहाँ भी विरोध किया है वहाँ उनकी शैली का अत्यधिक प्रभावशाली रूप दिखाई देता है। विरोध करते समय वे कभी भी न तो मानसिक संतुलन खोते हैं और न सच्चाइयों को ही तोड़ते-मरोड़ते हैं। इस प्रकार के अधिकांश निबन्ध 'दृष्टिकोण' में संकलित हैं। 'साहित्य की पृष्ठभूमि', 'छायावाद' के बाद का साहित्य' 'जड़वाद या वास्तववाद', 'साहित्य में प्रगतिवाद, 'साहित्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद' आदि आलोचनात्मक लेख मेरे उपर्युक्त मत की पुष्टि करेंगे। 'विद्यापति की पदावली' शीर्षक लेख में आलोचक विनयमोहन शर्मा की स्पष्टता का आभास मिलता है, यथा—

"जयदेव का अनुकरण पूर्व में चंडीदास और विद्यापति ने किया और पश्चिम में सूर तथा नंददास ने। यद्यपि सूर को हिन्दी का प्रथम गीति-कवि कुछ लोग कहते है और उन्हें पद-शैली का प्रथम आचार्य भी; परन्तु यह दृष्टिकोण उस समय तक मान्य था जब तक मैथिल को हिन्दी की विभाषा नहीं माना गया था। मैथिल भाषा हिन्दी की सीमा के अन्तर्गत है। अतः हिन्दी के प्रथम गीति-कवित्व का सेहरा विद्यापति के सिर पर बाँधा जाना चाहिए और उन्हें ही कृष्ण-परम्परा का प्रथम हिन्दी-कवि उद्घोषित करना चाहिए।" ('दृष्टिकोण' पृ. १३०)

मत की स्पष्टता और विचारों की निर्भीकता उन्हें निःसंदेह आचार्य बना देती है। विनयमोहनजी किसी 'वाद' के विरोधी या समर्थक बन कर हमारे सम्मुख नहीं आए हैं। वे तो साहित्य के एक तटस्थ जिज्ञासु की भाँति अच्छाइयों और कुत्साओं का यथार्थ चित्रण कर देते है। 'साहित्यावलोकन' के 'दृष्टिक्षेप' में जैसा वे लिखते हैं, "एक बात का मैंने यत्न अवश्य किया है कि साहित्य के अवलोकन में अपनी दृष्टि को 'वाँद-ग्रस्त' होने से बचाया है।

अनुभूति के सहज प्रकाश को साहित्य की कसौटी मानकर उसका रसास्वादन मेरा ध्येय रहा है।"

वे मार्क्स में अधिक आस्था नहीं रखते। फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र को भी वे अपूर्ण समझते हैं। वे उपर्युक्त दोनों मनीषियों के दर्शन में एकांगीपन देखते हैं। वैसे मार्क्स और फ्रायड के अनेक सिद्धान्त उन्हें मान्य हैं, फिर भी वे उनके सिद्धान्तों को साहित्य के मूल्यांकन के लिए पूर्ण नहीं समझते। मार्क्स आर्थिक पहलू पर और फ्रायड अतृप्त विकारों-इच्छाओं पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखते हैं जिसके कारण साहित्य में एकांगिता प्रविष्ट कर गई है। विनयमोहनजी ने इस एकांगिता के संबंध में अनेक स्थलों पर लिखा है:--

"फ्रायड की व्याख्या में हमें एकांगीपन दीखता है। प्रश्न यह है कि क्या साहित्य में अतृप्त विकारों-इच्छाओं का ही प्रतिबिम्ब होता है? हम देखते हैं 'तृप्त' वासनाओं--अनुभूत विकारों का भी चित्रण साहित्य में रहता है। सच बात यह है कि तृप्त और अतृप्त दोनों प्रकार की 'वासनाएँ' साहित्य-सृजन की पृष्ठ-भूमि तैयार करती है।" ('दृष्टिकोण' पृष्ठ २)

"मनोविश्लेषण की परम्परा ने हिन्दी में कुछ ऐसे उपन्यासों को जन्म दिया है, जिनमें मानव-स्वभाव की मूल और संस्कृत-प्रवृत्ति की हत्या की गई है, और विकृत-मस्तिष्क के क्रीड़ा-कलाप को उभारकर प्रस्तुत किया गया है।" ('दृष्टिकोण'--पृष्ठ २५)

"मार्क्सवादियों को अपने 'वाद' के एकांगीपन का जब अनुभव हुआ तो वे उसका क्रमशः स्पष्टीकरण करने लगे। उन्होंने फ्रायड का सहारा लिया। आसबोर्न ने कहा भी है कि यदि 'मार्क्सवाद' की एकांगिता नष्ट करनी है, तो फ्रायड के मानस-तत्त्वों को अपनाना होगा। परन्तु फ्रायड की अनुसंधान-दिशा भी भ्रमपूर्ण है, उसने मन की विकृतियों का विश्लेषण तो किया है, परन्तु उसमें भी एकाँगीपन का दोष आ गया है।" ('कवि प्रसाद'--पृष्ठ २८)

"मार्क्सवादी आलोचनाओं में परीक्षण की एकांगिता चिंतनीय है।" ('दृष्टिकोण'--पृष्ठ १९)

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचक विनयमोहन शर्मा साहित्य की केवल एक-पक्षीय कल्पना कर ही नहीं सकते। फ्रायड और मार्क्स के सिद्धान्तों की एकांगिता और अपूर्णता पर उन्होंने लिखा है, पर यहाँ यह समझना भूल होगी कि विनयमोहन मार्क्स-विरोधी हैं। प्रगतिशील साहित्य जो मार्क्स की धारणाओं से प्रभावित है उसके भी वे विरोधी नहीं हैं। हाँ, फ्रायडवाद को वे अवश्य समाज के लिए घातक समझते हैं। आज के मार्क्सवादी लेखक भी फ्रायड के विरोधी है। अतृप्त वासनाओं को साहित्य में उभार कर रखने का बड़ा सख्त विरोध आज के प्रगतिशील आलोचक अनेक बार कर चुके हैं। साहित्य की उक्त अस्वस्थ मनोवृत्तियों को नष्ट करने का पहला कर्त्तव्य आज का प्रगतिशील साहित्यकार समझता है। यह बात दूसरी है कि एक समय हिन्दी के कुछ प्रगतिशील आलोचकों ने फ्रायड और मार्क्स के समन्वय की बात चलाई थी। राबर्ट ओसवर्न ने अपनी 'फ्रायड एंड मार्क्स' ग्रन्थ में यही बात प्रमाणित

की है कि ये दोनों विचारक एक दूसरे के पूरक हैं। मनोविज्ञान और समाजविज्ञान का अध्ययन तो अवश्य लेखक को सहायक सिद्ध होगा, किन्तु विरोध फ्रायड के उन विचारों से है जहाँ वे मानव-मन की कुत्साओं के नैतिक परदे को फाड़ कर, रख देने की बात करते हैं। इसी कारण प्रगतिवादी फ्रायड विरोधी हैं, क्योंकि वे कोई भी ऐसी चीज़ बरदाश्त नहीं कर सकते जो सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो। कॉडवेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टडीज़ इन डाइंग कल्चर' में फ्रायड को 'रुग्ण और ह्रासोन्मुख उच्चवर्ग का चारण' कहा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'हिन्दी साहित्य में प्रगति-विरोधी धाराएँ' शीर्षक लेख में फ्रायड-वादियों को प्रगतिवाद का विरोधी बताया है—"प्रगतिशील साहित्य के विरोधियों में अन्तर्चेतनावादी लोग हैं जो फ्रायड के मनोविज्ञान को सच्चा प्रगतिवाद मानते हैं। फ्रायड का कसूर यह था कि वह इस एक मातात्रत को अस्वास्थ्यकर मानता था। इलाचंद जोशी के अनुसार उसे अस्वस्थ मानना मूलतः एक भ्रांत धारणा है। इसीलिए वह फ्रायड के मनोविज्ञान को स्वस्थ करके मनुष्य की तमाम वासना-संबंधी विकृतियों को अपने उपन्यासों का आधार बताते हैं। अश्लीलता के खिलाफ़ ज़िहाद बोलने वाले सज्जन फ्रायड के इस भारतीयकरण से संतुष्ट हो जाते हैं।" आदि (संध्या, अंक २) ऐसी स्थिति में प्रो. विनय मोहन शर्मा और प्रगतिवादी-मार्क्ससादी आलोचकों में कहीं भी मतभेद को स्थान नहीं रह जाता। विनयमोहनजी ने कहीं भी साहित्य की प्रगतिशील धारा को बुरा नहीं बताया है, जो कुछ आक्षेप किए भी हैं वे या तो आज के प्रगतिवादियों ने मान लिये हैं या वे विचार-णीय हैं। प्रगतिशील साहित्य की दुर्बलताओं को जब तक बताया नहीं जाता तब तक प्रगति-शील साहित्य उन्नति नहीं कर सकता। वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। यदि कोई प्रगतिवादी आलोचक किसी पुस्तक की प्रशंसा करता है और उसके अभावों को जानबूझ कर छोड़ जाता है क्योंकि वह पुस्तक प्रगतिशील लेखक की है या प्रगतिशील तत्त्वों से युक्त है तो वह अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं करता। उसकी आलोचना प्रशंसा मात्र बनकर रह जाएगी। विनयमोहन शर्मा ने प्रगतिवादी साहित्य के संबंध में जो आक्षेप किए है वे निःसंदेह विचारणीय हैं। यदि हम प्रगतिवादी साहित्य को स्वस्थ और पनपता हुआ देखना चाहते हैं तो आलोचक को निष्पक्ष होना चाहिए। उसे साहित्य की किसी विशेष धारा का समर्थक या विरोधी बन कर नहीं रहना होता है वरन् सहानुभूति के साथ कमज़ोरियों और सशक्तताओं को सामने रखना होता है। यह बात हमें विनयमोहनजी में मिलती है। अधो-लिखित पंक्तियाँ जो कि उन्होंने अपने कुछ लेखों में दी हैं उक्त बात की पुष्टि में उद्धृत की जाती हैं :—

"आज अनेक नवयुवक अपनी रचनाओं में मज़दूर, किसान, इन्क़लाब आदि के नारे लगाकर अपने को प्रगतिशील कहलाने में गर्व का अनुभव करते हैं। देश के कृषक-मज़दूरों का जागरण किसे नहीं सुहाता ? पर, प्रश्न यह है कि जिन कृषक और मज़दूरों के लिए गीत लिखे जाते हैं वे उन्हें समझ भी सकते हैं ? इन रचनाओं में अनुभूति की गहराई का तो प्रायः अभाव ही रहता है। ऐसे कितने प्रगतिशील कवि हैं जिन्होंने कृषक और

मज़दूरों-सा जीवन व्यतीत किया है या उनके साथ एक होकर सुख-दुःख को अपने हृदय में उतारा है ? इसी से अधिकांश प्रगतिशील कहलाने वाली कविताएँ शुष्क, निष्प्राण और सिद्धान्त-प्रचारक सी लगती हैं।" ('दृष्टिकोण'—पृ. २४)

"प्रगतिवादी कविताओं में प्रेरणा नहीं, प्रयास होता है। आत्मानुभूति नहीं, ज्ञानसंचय होता है। इसी से उनके स्थायित्व में संदेह है।" ('दृष्टिकोण'—पृ. २४)

"अधिकांश प्रगतिवादी कथा-साहित्य विवस्त्र होकर निराश्रित शरणार्थी-सा बन गया है जिसे देख कर दया होती है, क्षोभ पैदा होता है।" ('दृष्टिकोण'—पृ. २०)

"प्रगतिवादी साहित्य का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह जिस वर्ग के लिए लिखा जाता है, उसका उस वर्ग की भाषा तक से कोई संबंध नहीं। यहीं तक नहीं, उस वर्ग के साथ एक रस होकर हमारे प्रगतिवादियों ने बहुत कम अभिव्यक्त किया है। उसे अपनी आँखों से देखने की उन्हें चिन्ता नहीं है तब मनों और टनों कागज़ों में लिखा गया प्रगतिशील साहित्य किसकी बौद्धिक प्यास बुझाने के लिए है ? मुझे इसलिए प्रगतिवादी साहित्य का भविष्य अंधकारमय दीख पड़ता है।" ('दृष्टिकोण'—पृ. ४८)

"कल कवि अभिजातवर्गीय तरुणियों के रूप पर मुग्ध हो उन्मत्त गीत गाया करता था, आज कृषककिशोरी को अधनंगी देखकर वह सिहर उठता है।" ('दृष्टिकोण'—पृ.४७)

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट है कि विनयमोहनजी ने प्रगतिवादी साहित्य पर स्पष्ट और सीधा प्रहार किया है। इन उद्धरणों से दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता है कि आलोचक प्रगतिशील धारा का विरोधी है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनके आक्षेप सत्य हैं जिनको बड़े से बड़ा प्रगतिवादी स्वीकार करने में संकोच नहीं करेगा। प्रश्न केवल यह है कि क्या प्रगतिशील साहित्य में विकास नहीं हो रहा ? यदि हाँ, तो आलोचक को नई-नई प्रवृत्तियों से पूर्ण रूप से परिचित होना चाहिए और उसकी विशेषताओं को भी लिखकर पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना चाहिए। मैं प्रगतिवादी आलोचकों और विनयमोहन शर्मा के विचारों में कोई मूलभेद नहीं मानता। 'प्रगतिवादी साहित्य का भविष्य अंधकारमय है,' यह वाक्य काफ़ी निराशाजनक है। अब तो हम देखते हैं कि उसकी स्थिति दिन पर दिन अधिक सबल होती जा रही है। इसका कारण यही है कि वह अपनी कमज़ोरियों से भिज्ञ है और उनको दूर करने का प्रयत्न कर रहा है। उसकी अनुभूति अब पहले की तुलना में अधिक वास्तवमय, अधिक जीवनमय व अधिक अनुभवमय होती जा रही है। प्रगतिवादी लेखक जन-भाषा के सब से बड़े समर्थक हैं। सरल भाषा में जन-जन के विचारों को अभिव्यक्त करना उनका धर्म है। मेरा ऐसा विश्वास है कि आलोचक विनयमोहन शर्मा प्रगतिशील साहित्य की गति-विधि से परिचित ही नहीं विशेष रूप से जागरूक हैं और अपनी नई पुस्तक में वे प्रगतिवादी साहित्य पर हमें अपने नए विचारों से अवश्य अवगत कराएँगे। प्रगतिशील लेखकों में हमें कुंठावादी, अन्तर्चेतनावादी, नारावादी लेखकों को शुमार नहीं करना चाहिए। प्रगतिवादी साहित्य के स्वस्थ पक्ष को देखना ज़रूरी है अन्यथा

उसकी व्याख्या में भी एकांगिता का दोष आ जाएगा।

समय के साथ साथ विचारों में परिवर्त्तन होते रहते हैं। प्राचीन मान्यताएँ युग की परिस्थितियों के बदल जाने के कारण समाज से उठ जाती हैं। कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। प्रगतिशील व्यक्ति को परिवर्तित परिस्थितियों से परिचित होना ज़रूरी है। हिन्दी के आलोचक, जो प्राचीन धारणाओं को ही अंतिम समझते हैं, आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर सकते। विनयमोहन शर्मा नैतिक सिद्धान्तों तक को सनातन नहीं मानते :—

"यह सत्य है कि नैतिक सिद्धान्त शाश्वत नहीं होते। वे युग-धर्म के अनुरूप परिवर्त्तित होते है।" ('दृष्टिकोण'—पृ. ५१)

प्रगतिशील तत्त्वों की प्रतिष्ठा विनयमोहनजी ने निर्भीक होकर की है, किन्तु वे साहित्य में उच्छृंखलता को सहन नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी समालोचना का मूलाधार सामाजिक स्वास्थ्य (Social Welfare) है। नैतिक सिद्धान्तों को रूढ़ि न मानना तो ठीक है; किन्तु समाज से उनका लोप कर देना मनुष्यता के लिए कभी भी हितकर नहीं हो सकता :—

"हम पाप-पुण्य की परिभाषा को सनातन मानने वालों में से नहीं है, परन्तु हम नैतिक आचार को समाज-स्वास्थ्य के लिए आवश्यक अवश्य समझते हैं।" ('दृष्टिकोण'—२७ पृ.)

इसी प्रकार यथार्थवाद के नाम पर जो नैतिक आचारों की हत्या की जाती है वह कभी भी युग को जीवन-दान नहीं दे सकती :—

"यथार्थवाद के नाम पर नारी के जम्पर और साड़ी उतरवाना, उसके गुप्तांगों को देखना जैसे श्री. जैनेन्द्र ने 'सुनीता' में और श्री. यशपाल ने 'दादा कामरेड' में किया है—नारी जाति को अपमानित करना है। यह उसका उद्धार नहीं है, विकृत मन का वाणी-विलास है।" ('दृष्टिकोण'—पृ. ४५)

आगे चल कर आलोचक ने रूसी साहित्य से प्रेरणा और प्रकाश लेने पर बल दिया है —

"आज रूस में रूसी संस्कृति और रूसी जीवन को उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत करने के लिए कलाकारों को प्रेरित किया जा रहा है। समाज की गन्दगी को साहित्य में उतारने की प्रवृत्ति वहाँ निन्दनीय समझी जाती है। वहाँ के परिष्कृत बुद्धि-कलाकार जीवन की महत्ता और उच्चता तथा उसकी सद्वृत्तियों को साहित्य के उपकरण बनाने में व्यग्र हो रहे हैं।" ('दृष्टिकोण'—पृ. ५२)

आदर्श और यथार्थ का संतुलन होना चाहिए। प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद निश्चय ही युग को जीवन दे सकता है। यथार्थवाद यदि नग्न रूप में हमारे सामने रखा जाएगा तो उससे हित-साधन के स्थान पर अहित की ही सम्भावना अधिक होगी। विनयमोहन आदर्श और यथार्थ दोनों को आवश्यक समझते हैं, और यह ज़रूरी भी है:—

"मनुष्य जो कुछ वह है उसे तो जानता ही है। उसे 'कैसा होना चाहिये?' इसे जानने

की भी उसमें एक प्रवृत्ति होती है, जिसकी तृप्ति यथार्थवादी साहित्य से नहीं होती।" (दृ. ५१ पृ.)

ठीक इसी प्रकार कोरे आदर्शवाद से मनुष्य को 'क्या होना चाहिए ?' प्राप्त करना संभव नहीं। आदर्श को बिना वास्तव पर निर्मित किए उसकी व्याख्या केवल काल्पनिक और रहस्य बन कर रह जाएगी जो समाज को निष्क्रिय, आलसी और निकम्मा बना देगी। विनयमोहन शर्मा के 'साहित्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद' शीर्षक लेख के ये शब्द कितने महत्त्व के हैं :—

"आज का युग जीवन माँगता है। क्या यथार्थवादी साहित्य उसे यह दे सकता है ? क्या आदर्शवादी साहित्य उसे यह दे सकता है।" (दृ. पृ. ५३)

निश्चय ही यथार्थ और आदर्श मिल कर ही समाज को स्वस्थ बना सकेंगे। विनय मोहन शर्मा ने इस प्रकार यथार्थवाद, सनातन सत्यों, प्रगतिवाद आदि पर स्वतन्त्र विचारों का प्रतिपादन इतने युक्ति-संगत (Logical) ढंग से किया है कि साहित्य के मर्मज्ञ को सोचने के लिए विवश कर देता है। इन्हीं विषयों पर उनकी लेखनी सशक्त हो उठी है। आलोचक का स्वतन्त्र अस्तित्व उपर्युक्त लेखों को पढ़ने से ज्ञात हो सकता है। आचार्यत्व से पूर्ण ये लेख भारत के आलोचनात्मक साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखेंगे, इसमें सन्देह नहीं। यह सब होते हुए भी मुझे एक कमी दिखाई दी। वह यह कि विनय-मोहनजी ने अपने पूर्व के आलोचकों विशेषकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की धारणाओं की पुष्टि बहुत की है। सच बात की पुष्टि करना बुरा नहीं है, किन्तु उसकी अधिकता से लेखक की मौलिकता उसके स्वतन्त्र-चिन्तन और विचारों पर ज़ंग-सा लग जाता है जो अवांछनीय है।

विनयमोहनजी की तीसरे प्रकार की रचनाएँ छात्रोपयोगी आलोचनात्मक लेख हैं। आलोचक स्वयं विश्वविद्यालय में प्राचार्य हैं, अतः यह स्वाभाविक है कि उनके द्वारा छात्रो-पयोगी लेख अधिक लिखे गए। 'कवि प्रसाद' पुस्तक के अतिरिक्त 'दृष्टिकोण' में उनके अनेक लेख उक्त प्रकार के है। 'कवि प्रसाद' आधुनिक कविता की पृष्ठभूमि पर 'प्रसाद' के कवि का निरीक्षण है। इस प्रकार की आलोचना में रस-निष्पत्ति एवं काव्य-चित्रों की विशेष खोजबीन की गई है। ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य, अलंकार योजना, भाषा आदि के आधार पर शास्त्रीय रीति से ये लेख लिखे गए हैं। इन्हीं के साथ साथ पर्याप्त संख्या में परिचयात्मक टिप्पणियाँ (Reviews) भी संग्रहीत हैं। आलोचक की ये टिप्पणियाँ कोई कम महत्त्व की नहीं है, क्यों कि उन्होंने थोड़े में ही बड़ी बारीकियों का निर्देश किया है। ये परिचयात्मक टिप्पणियां पर्याप्त सहानुभूति से लिखी गई हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि समालोचना में विश्लेषण का अभाव है। व्यक्तिगत संस्मरण और आधुनिक काव्य पर टीकाएँ अधिक नहीं हैं। कवि प्रसाद की श्रेष्ठ और लोकप्रिय पुस्तक 'आँसू' के कठिन स्थलों के अर्थ लिख कर लेखक ने छायावादी—रहस्यवादी साहित्य की दुरूहता कम करने

की ओर कदम उठाया है। 'प्रसाद' के संबंध में अपने व्यक्तिगत संस्मरणों को भी उक्त पुस्तक में संकलित कर दिया गया है।

अन्तर–प्रांतीय साहित्य में मराठी-साहित्य का परिचय हिन्दी-भाषा-भाषियों को विनयमोहनजी ने दिया है। 'साहित्यावलोकन' का तृतीय खंड मराठी-साहित्य पर ही लिखा गया है। हिन्दी राष्ट्रभाषा होने के कारण इस प्रकार के लेखों का विशेष महत्त्व है; क्योंकि समूचे देश की विभिन्न भाषाओं का साहित्य भारत का साहित्य है और उसे भारतीय भाषा-भाषियों को परिचित कराना ही चाहिए। विनयमोहनजी का यह प्रयास समयानुकूल एवं स्तुत्य है।

विनयमोहन शर्मा की आलोचनाएँ शुष्क नहीं होतीं, उनमें wit भी है, बात कहने का अपना आकर्षक ढंग है, जैसे :—

'सुभद्राकुमारी घुमा-फिरा कर कहना नहीं जानती। आनन्दवर्धन भले ही उस कथन को मध्यम कोटि का काव्य कहें, पर भारत की साधारण हिन्दी-जनता के मन में उनके द्वारा आनन्द-वर्धन अवश्य हुआ है।' (पृ. १३७ 'दृष्टिकोण')

'कवि श्रेणी-वर्ग की भित्तियाँ मार्क्सवादी वाह्य संघर्ष से तोड़ना नहीं चाहता, प्रत्युत उन्हें समाज में मानवता के विकास मार्ग से क्रमशः उसी तरह विलीन करना चाहता है, जिस तरह रक्तहीन क्रान्ति के द्वारा आज भारतीय सामन्तशाही रियासतों का भारतीय शासन में विलीनीकरण हो गया है।' (पृ. १९४)

इस प्रकार नए रूपों, नई उपमाओं एवं नई शैली में आलोचक ने साहित्य की व्याख्या की है। विनयमोहनजी का दृष्टिकोण पाश्चात्य कला-प्रयोगों और प्राचीन भारतीय आदर्शों के स्वस्थ समन्वय का है। निःसन्देह, आज के युग में ऐसे दृष्टिकोण से साहित्य की धारा को बड़ा बल मिलेगा। विनयमोहन शर्मा अपनी वैज्ञानिक शैली के आधार पर साहित्य का तटस्थ, तुलनात्मक एवं सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से जो अध्ययन कर रहे हैं वह हिन्दी-साहित्य में एक प्राणवान और मान्य चीज़ को जन्म देगा।

: १९ :

शान्तिप्रिय द्विवेदी

[रामरघुवीर प्रसाद सिंह]

सन् '३४ की बात है। 'सरस्वती' में शांतिप्रिय द्विवेदी का एक लघु लेख देखा था। शीर्षक था 'कविता का स्वरूप'। तब कविता के उस स्वरूप को पूर्णतः हृदयंगम तो नहीं कर सका था, लेकिन उसका स्निग्ध परिचय मिल गया था। लेखक ने लिखा था—'कविता हमारी भावनाओं का सबसे मधुर रूप है। संसार के कोलाहल से दूर, हृदय के एकांत में, जब हम अपने 'आप' को अधिक पहचानने लगते हैं, उस समय हम अधिक सरस हो उठते हैं और तब कुछ ऐसे भावमय उद्गार हमारे अन्तर्तम से स्वयमेव निकल पड़ते हैं जिनकी स्वरलहरी में संसार का संपूर्ण वैषम्य बह जाता है एवं हमारे तन, मन, प्राण एक असम भार से मुक्ति पाकर हलके हो जाते हैं; हममें नई स्फूर्त्ति, नई ज्योति आ जाती है।' और इस परिचय से मेरे जिज्ञासु मन को एक नई परितृप्ति, एक नई स्फूर्त्ति मिली थी, इसे अस्वीकार करने का आज भी कोई कारण नहीं दीखता। निश्चय ही, तत्कालीन हिन्दी-आलोचना-पद्धति से भिन्न, शांतिप्रिय द्विवेदी में एक अभिनव सहृदयता का दर्शन हुआ।

जिस समय शांतिप्रिय द्विवेदी साहित्य से अपना परिचय बढ़ा रहे थे, छायावाद-युग का प्रवर्त्तन हो चुका था। लेकिन आलोचना के क्षेत्र में पुरानी पीढ़ी के आलोचकों का ही एकच्छत्र साम्राज्य था। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी 'आधुनिक कवि और कविता' नामक लेख में, पं. पद्मसिंह शर्मा मुजफ्फरपुर वाले अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-मंच से अपने भाषण में तथा पं. रामचन्द्र शुक्ल अपनी विभिन्न रचनाओं में छायावादी कवियों के प्रति आक्रोश व्यक्त कर चुके थे। वस्तुतः उन लोगों की पुरानी कसौटियाँ नवीन काव्य का मूल्यांकन करने में बहुत-कुछ असमर्थ थीं। लेकिन नवयुवकों के हृदय में छायावाद अपनी छाप डाल चुका था। इसीलिए इसकी प्रतिक्रिया एक ओर काशी विश्वविद्यालय के छात्रों के बीच प्रारम्भ हुई, जो पं. रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवान दीन आदि की छाया में अध्ययन कार्य कर रहे थे। छायावाद के दार्शनिक व्याख्याता तथा कलात्मक मूल्यांकन करने वाले पं. नन्ददुलारे वाजपेयी इसी वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में आये, जिनके पास काव्य के शास्त्रीय मानदंडों का समर्थन प्राप्त था। दूसरी ओर उन भावुक युवकों का दल था, जो सहृदयता के आधार पर छायावादी कविता का मूल्यांकन करने बैठा था। कवि सुमित्रानन्दन पंत की सुकुमार सौंदर्य-चेतना ने अपने सहज संस्पर्श से युवकों की भावुकता को जगा दिया था। साहित्य के अन्दर नवीन सौंदर्य-दृष्टि का

उन्मेष पाकर उनके हृदय खिल उठे थे, लेकिन शास्त्र का वैसा ज्ञान तो उन लोगों के पास था नहीं, जिसके आधार पर वे अपने प्रिय कवियों या उनकी रचनाओं का मूल्यांकन करते। अतः उन्होंने आलोचना के लिए अपना हृदय ही प्रमाण माना और उसी को लेकर आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण किया। उनके विचारों में भावुकता अधिक व्यक्त हुई और शैली में भावोच्छ्वास। इस वर्ग ने जिस सधे हुए आलोचक को हिन्दी के क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया, वह हैं शांतिप्रिय द्विवेदी। एक और विशेष बात यह है कि शांतिप्रिय द्विवेदी की साहित्य-चेतना मुख्यतः हिन्दी साहित्य के परिपार्श्व में ही विकसित हुई। हिन्दी क्षेत्र के बाहर जिन लेखकों की कृतियों के संपर्क में वे थोड़ा-बहुत आये, वे हैं—शरत्, रवीन्द्र और ताल्स-ताय।

तब से हिन्दी साहित्य के नवीन युग के दो दशक पार हो चुके। शांतिप्रिय द्विवेदी की प्रगति के पद-चिह्न हमें आज इस रूप में प्राप्त है : (१) हमारे साहित्य निर्माता (२) कवि और काव्य (३) साहित्यिकी (४) संचारिणी (५) युग और साहित्य (६) साम-यिकी (७) ज्योति विहग।

अब तक शांतिप्रिय द्विवेदी का साहित्यिक व्यक्तित्व तीन रूपों में हमारे सामने उभर कर आ चुका है: (१) आलोचक-निबंधकार के रूप में (२) इतिहासकार के रूप में (३) कवि पं. सुमित्रानन्दन पंत के अध्येता-व्याख्याता के रूप में। हमारे 'साहित्य निर्माता', 'कवि और काव्य' तथा 'साहित्यिकी' में प्रथम रूप। 'संचारिणी' में प्रथम और द्वितीय की मध्य-भूमि में। 'युग और साहित्य' तथा 'सामयिकी' में द्वितीय रूप। 'ज्योतिविहग' में तृतीय।

कवि और निबंध लेखक के रूप में शांतिप्रिय द्विवेदी ने साहित्य में प्रवेश किया था। 'हिमानी', 'नीरव', 'जीवनयात्रा' उन्हीं दिनों की स्मृतियाँ है। उनका अन्तरंग कवि और दार्शनिक का है और बहिरंग निबंध-लेखक का। आलोचना उनकी भाववृत्ति है। 'पथचिह्न' उनका संस्मरण है अपना और अपनी प्रेरणा-केन्द्र बहिन का। उसमें लेखक ने अपने संबंध में कुछ महात्त्वपूर्ण पंक्तियाँ लिखी हैं:—

'छायावाद में मुझे अपने जीवन की समष्टि मिली। उसमें प्रकृति-प्रदत्त सौंदर्या-नुराग भी मिला और अपना निःसंग जीवन, बहिन का सूनापन, माँ का अन्तःकरण, पिता का तपश्चरण, स्वामी राम का आत्मोद्बोधन, यह सब कुछ भी मिल गया।'

'जब मैंने छायावाद के संबंध में अपना अध्ययन दिया तब उसमें मेरे ही जीवन का साकल्य था।'

और छायावाद युग में भी कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत का लेखक पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। शांतिप्रिय द्विवेदी की विचार-सरणियों में भी कवि पंत के काव्य-विकास की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है।

'हमारे साहित्य निर्माता' समीक्षा के क्षेत्र में लेखक का प्रथम परिचय है। इस पुस्तक में सरस और अनुभूतिपूर्ण शैली में आधुनिक हिन्दी के कुछ विशिष्ट कवियों और

साहित्यकारों का परिचय कराया गया है । 'कवि और काव्य' में काव्य-चिन्तन, प्राचीन हिन्दी कविता और आधुनिक हिन्दी कविता नामक निबंध विशेष उल्लेखनीय हैं । काव्य-चिन्तन में काव्य के रूप की सरस मीमांसा के साथ-साथ काव्य-संबंधी दृष्टिकोण के लिए कामचलाऊ शास्त्रीय आधार निश्चित किया गया है, जिसमें लेखक के रुचि और संस्कार को ही अधिक प्रधानता मिल गयी है । प्राचीन और आधुनिक हिन्दी कविता में पुरातन और नूतन काव्य की भाव-धारा को संश्लिष्ट रूप में समझने का प्रयत्न है । आधुनिक हिन्दी कविता में आधुनिक हिन्दी कविता का इतिवृत्त भी विशेष रूप से समाविष्ट है ।

'साहित्यिकी' उनके वैसे समीक्षात्मक निबंधों का संग्रह है, जिनमें आलोचक की अन्तर्दृष्टि के साथ-साथ उनके कवि व्यक्तित्व की मधुरिमा का आत्मद्रवण है । इसीलिए इस संग्रह के अनेक निबंधों में रचनात्मक साहित्य का सा आनन्द मिलता है । शांतिप्रिय द्विवेदी का निबंध-लेखक और समीक्षक 'साहित्यिकी' में पूर्णतः एकाकार हैं । शैली सहज, प्रसन्न, मधुर और व्यंजनापूर्ण है । संक्षेप में 'साहित्यिकी' के निबंधों में वैयक्तिक निबंधों की चारुता है और शैली में गद्यकाव्य की सी मधुर प्रसादकता । दो एक निबंध तो शुद्ध वैय-क्तिक निबंधों की कोटि में चले आते हैं, जैसे 'प्रवास','एक अतीत स्वप्न' । शैली और वस्तु, दोनों दृष्टियों से शरद की औपन्यासिक सहृदयता, ब्रजभाषा का माधुर्य विलास, नवपलकों में सौंदर्य और प्रेम, एकांत के कवि मुकुटधर, जैनेंद्र के विचार आदि उल्लेखनीय हैं । 'जैनेंद्र के विचार' में सूझ की गहराई है, आलोच्य वस्तु में पैठने की अद्भुत क्षमता । लेकिन 'गोदान प्रेमचन्द' की परख एक दम सतही मालूम पड़ती है । मैथिलीशरण गुप्त को सांस्कृतिक कवि और सियाराम शरण गुप्त को गार्हस्थिक रचनाकार की संज्ञा देना भी विवादास्पद है । वस्तुतः दोनों गुप्त बंधुओं के बीच ऐसी कोई विभाजक रेखा खींचना ही ठीक नहीं है । वर्गीकरण की ऐसी प्रवृत्ति आगे चलकर भी उनकी आलोचनाओं में भरमानेवाली ही सिद्ध हुई है ।

निबंधों की दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'संचारिणी' है । 'साहित्यिकी' की तुलना में इसके निबंधों में गंभीरता और प्रौढ़ता की स्पष्ट झलक मिलती है । इसीलिए इस में 'साहित्यिकी' की सहज प्रसन्न शैली किंचित् गंभीरपदा हो गयी है और रमावेश बौद्धिक विकास के साथ सुसंयमित हो गया है । लगता है कि लेखक रस से भाव की ओर और कल्पना की भूमि से विचारों की भूमि पर अग्रसर हो रहा है । यहीं से लेखक की शैली में कृत्रिमता और कारीगरी की भी स्पष्ट झलक मिलने लगती है ।................'संचारिणी' के ये निबंध प्रकीर्णक नहीं, बल्कि परस्पर क्रमबद्ध हैं, विविध युगों के प्रतीक स्वरूप ।' इसीलिए इस पुस्तक में व्यक्ति की अपेक्षा युग को प्रधानता मिली है । लेखक ने अपने दार्शनिक और साहित्यिक विचारों की पृष्टभूमि पर किभिन्न युगों की साहित्य-चेतना का एक सुसंबद्ध विकास और परिणति की दिशा में पुनर्मूल्यांकन या भावन किया है और भक्तिकाल से लेकर आधुनिक युग तक के साहित्य का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर दिया है । यहाँ लेखक ने

साहित्य के इतिहास को परम्परा-प्राप्त विवरण के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवन्त प्राण-धारा के रूप में मौलिक ढंग से उपस्थित करने का सफल प्रयत्न किया है। भक्तिकाल की अन्तर्चेतना, व्रज भाषा के अन्तिम प्रतिनिधि, भारतेन्दु युग के बाद हिन्दी कविता, नवीन मानव साहित्य, छायावाद का उत्कर्ष और हिन्दी, गीतिकाव्य में हिन्दी काव्यसाधना का इतिहास है। कला में जीवन की अभिव्यक्ति, कलाजगत् और वस्तु जगत् तथा कवि का आत्मजगत् चिन्तन की दिशा के निदर्शक हैं। इन दोनों प्रकार के निबधों में आधार और आधेय का संबंध है। ये द्विविध प्रवृत्तियों के निदर्शक होते हुए भी एक ही उद्देश्य के पूरक हैं। छायावाद युग मे उपलब्ध संस्कारों के आधार पर लेखक ने साहित्य-समीक्षा का दृष्टिकोण निर्धारित किया था, उसका पूर्ण विकसित रूप हम इन निबंधों में देख सकते हैं। इस पुस्तक का एक निबंध है— शरत्साहित्य का औपन्यासिक स्तर। शरत् लेखक के सर्वाधिक प्रिय उपन्यासकार हैं और हिन्दी से इतर एकमात्र शरत् का ही लेखक की चिन्ताधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। अतः इस पुस्तक में लेखक की भावभूमि का संपूर्ण प्रसार एकत्र ही देखने को मिल जाता है।

'युग और साहित्य' उस समय की रचना है, जिस समय पंत युग की यथार्थता को वाणी दे रहे थे। शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी 'सत्यं, शिवं, सुदरम्' वाली दृष्टि के साथ-साथ मार्क्सवाद के ऐतिहासिक दृष्टिकोण को भी अपनाने का प्रयास किया। और यही कारण है कि इस पुस्तक में साहित्य की अपेक्षा युग ही अधिक विवेचित हुआ, क्योंकि लेखक छायावाद-युग का व्याख्याता रहा है और छायावाद का युग के यथार्थ से कोई सीधा संबंध नही रहा है। लेकिन इतिहास-लेखक के रूप में शांतिप्रिय द्विवेदी को ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि बनानी थी। वह पृष्ठभूमि बनी या नहीं यह दूसरी बात है। यों तो साहित्य के इतिहास में युग का उतना ही विवेचन होना चाहिए, जितने का उस युग के साहित्य से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष लगाव हो, साथ ही साहित्य के अविच्छिन्न प्रवाह की ओर भी ध्यान रहे। उन्होंने आधुनिक हिन्दी काव्य को अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में देखा है, इसमें कोई संदेह नहीं। अपने दृष्टिकोण के अनुरूप लेखक ने द्विवेदी युग के बाद के काव्ययुग को व्यक्ति-अभि-ज्ञानवादी पद्धति के अनुसार गांधी-रवीन्द्र युग की संज्ञा दी है और इस युग की चरम परिणति पन्त और महादेवी हैं। सौदर्य और वेदना के दो उपकूलों में छायावादी काव्यधारा को देखना बहुत कुछ सही देखना है, लेकिन 'प्रसाद' और विशेषतः 'निराला' को छायावादी काव्य-धारा में कम महत्त्व देना स्वयं उस युग की उपलब्धियों और संभावनाओं को कम स्वीकार करना है। इससे दृष्टिकोण की एकांगिता भी सूचित होती है।

छायावादी युग को ठीक तरह से उभारने के लिए शायद उस युग की कविता लेखक को पर्याप्त नहीं मालूम पड़ी, इसलिए उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य का भी विश्लेषण किया है। इसके पूर्व लेखक शरत् की मानवीय करुणा से प्रभावित था, यहाँ आकर प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा से भी परिचित हुआ। फिर भी कथा की अपेक्षा काव्य को ही

अधिक स्थान मिला है। 'प्रसाद' और प्रेमचन्द की उनकी प्रतिनिधि रचना 'कामायनी' और 'गोदान' के साथ चर्चा हुई है और अन्त में पंत और महादेवी का युग की परिणति के रूप में साथ-साथ विश्लेषण किया गया है। 'निराला' पर भी अलग से एक निबंध है, लेकिन वह उल्लेखनीय नहीं। उक्त लेख में लेखक कुछ ऐसी भ्रामक दिशाओं में जा पडा है कि 'निराला' के कवि व्यक्तित्व का न तो समुचित मूल्यांकन हो सका है और न उनकी दार्शनिकता का विश्लेषण ही। 'निराला' और जैनेंद्र के तुलनात्मक प्रसंग से कुछ पंक्तियाँ लीजिए—'मध्य युग के ये दार्शनिक साहित्यिक (निराला और जैनेंद्र) आज के कराल युग में अतीत की रक्षा के लिए अपनी-अपनी शैली में सचेष्ट हैं। निरालाजी अतीत के ऐश्वर्य की ओर उन्मुख हैं (?) जैनेंन्द्रजी उस युग के त्याग की ओर। निराला उस युग के राजसमाज की पंक्ति में हैं, जैनेंद्र उस युग के संत कवियों की संगति में। इसीलिए जबकि निरालाजी गांधी युग से भी पीछे के व्यक्ति हैं, जैनेंद्रजी गांधी युग के प्राणी।' इतने से ही स्पष्ट हो गया होगा कि यह विवेचन कितना असंगत और दोषपूर्ण है। लेखक के अध्यात्मवादी दृष्टिकोण ने भी कम गज़ब नहीं ढाया है। उदाहरण के लिए पन्त और महादेवी शीर्षक लेख की निम्न पंक्तियाँ लीजिए—'शृंगारिकता दोनों की कविता में नहीं है, वाह्य शृंगार उनके चित्र के फ्रेम मात्र है जैसे कबीर या मीरा के पदों में शृंगारिक रूपक।' जगह-जगह भविष्यवाणियों ने भी उनकी समीक्षा को कम विचित्र नहीं बनाया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा उसी पंत और महादेवी शीर्षक लेख से : 'यदि पंत का कवि नहीं आया होता तो आज छायावाद की कविता अपनी कोमल अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा को अपना लेती।'

तो जैसा कि कह चुका हूँ कि शांतिप्रिय द्विवेदी अपनी चिन्तना की भावभूमि में पंत के ऋणी हैं, इसीलिए उनकी चिन्तन-सरणियाँ, दार्शनिक और कलात्मक स्थापनाएँ पंत के अधिक मेल में हैं।

'सामयिकी' में साहित्य के विभिन्न अंगों को साथ लेकर चलने का उपक्रम किया गया है। लेकिन 'युग और साहित्य' से ही साहित्य की अपेक्षा युग की समस्याओं की ओर लेखक का ध्यान अधिक है। शांतिप्रिय द्विवेदी अपने विचारों में समन्वयवादी हैं, लेकिन गांधीवादी और समाजवादी विचारधाराओं का समन्वय पूर्ण अन्तर्दृष्टि के साथ नहीं हो सका है। वस्तुतः उन्हें छायावादी अन्तर्दृष्टि का कुछ इतना मोह है कि गांधीवाद को तो बहुत दूर तक अपना लेते हैं, लेकिन समाजवाद को अपनाने में अक्षम प्रतीत होते हैं। साहित्य और जीवन के लिए उनके समन्वयवादी विचारों के कुछ मुख्य कोण ये हैं— गांधीवाद-समाजवाद, सूक्ष्म-स्थूल, अन्तर्जगत्-बहिर्जगत्, आदर्श-यथार्थ, कलापक्ष-भावपक्ष, चिन्तन-अनुभूति, व्यष्टि-समष्टि, कल्पना-यथार्थ आदि '। 'सामयिकी' में आकर इन्हीं कोणों से एक त्रिकोण बन गया है। यह त्रिकोण सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के रूप में उनकी आलोचना की पूर्व-पीठिका बन चुका था। यही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् 'सामयिकी' में गांधी, रवीन्द्र और मार्क्स

अथवा गांधीवाद, छायावाद और प्रगतिवाद को समन्वय की भावभूमि पर ले आता है। इस त्रिकोण चिन्ताधारा के द्वारा लेखक ने जीवन और साहित्य का जो स्वरूप निश्चित करना चाहा है, उसमें एक दार्शनिक ऊहापोह के सिवा कोई ठोस वैज्ञानिक समाधान उपस्थित नहीं हो पाता। बल्कि युग की ये भिन्न चिन्ताधाराएँ लेखक के भावलोक में आकर नवीन आख्या और व्याख्या ग्रहण कर लेती हैं।

परन्तु 'युग और साहित्य' में समन्वय का स्वर होते हुए भी सामाजिक यथार्थता का आग्रह प्रबल है, बल्कि उसमें लेखक के विचार कहीं-कहीं उग्रतर साम्यवादी की तरह भी प्रतीत होते हैं। लेकिन 'सामयिकी' में वह यथार्थवादी दृष्टिकोण गांधीवाद, समाजवाद और छायावाद के त्रिकोण में उलझकर दिग्भ्रमित हो गया। इसीलिए छायावाद के 'सुन्दरम्' के पटावरण के बाहर झाँकने का प्रयास करने के बावजूद भी वे फिर लौट कर उसी 'सुरक्षा-गृह' में चले आये हैं। उनकी हाल में प्रकाशित पन्त पर लिखी हुई समीक्षा पुस्तक 'ज्योति विहग' इसका प्रमाण है। पन्त के ऊर्ध्वमुख भविष्य के कल्पना-लोक में जैसे उनके विचारों को सुस्थिरता प्राप्त हो गयी है।

'संचारिणी' के पश्चात् ही शांतिप्रिय द्विवेदी की मनःस्थिति युग के द्वंद्व में उलझ गयी थी और वे अपनी स्वाभाविक भावभूमि से थोड़ा विलग हो गये। उनकी रुचिर गद्य-शैली निरन्तर सूक्ति-प्रधान और कृत्रिम होती चली गयी। लेकिन 'ज्योति-विहग' में लेखक फिर अपनी परिचित भावभूमि की ओर लौट आया है और शैली भी पूर्व के दोषों से मुक्त होकर निखर उठी है। 'ज्योति-विहग' में अपनी समालोचना-शैली को स्पष्ट करते हुए 'निवेदन' में लेखक ने लिखा है—'ज्योतिविहग में मैंने व्यक्ति को नहीं, कवि को देखा है और उसे देखने के लिए दृष्ट के अनुरूप ही दृष्टिकोण दिया है। मैं कवि और पाठकों के बीच एक सूत्रधार हूँ, इसीलिए कवि को यथासंभव कवि के ही शब्दों (उद्धरणों) में उपस्थित किया है, ताकि सभी रुचि के पाठकों और समीक्षकों को स्वयं निर्णय करने में सुविधा हो।' और फिर कविता और विशेषतः छायावादी कविता को परखने के लिए अपना दृष्टिकोण यों व्यक्त किया है—

> 'मध्ययुग की कविताओं को निरखने-परखने के लिए व्रजभाषा में रीतिशास्त्र है। छायावाद की रचनाओं के लिए वैसा कोई स्थिर शास्त्र नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उसकी कला कविता की तरह ही, वाह्य नहीं आन्तरिक है। उसमें भावों की मानसिक प्रक्रिया (मनोवृत्यात्मक गतिविधि) है।' पृष्ठ १०९
>
> 'शिशु के मन में रमने के लिए जैसे वात्सल्य की आवश्यकता है वैसे ही कविता को अपनाने के लिए भी। शास्त्रों के शासन से धर्म के मर्म की तरह काव्य का भाव भी लुप्त हो जाता है। रससिद्ध कवि की कविता के लिए समीक्षा भी रसात्मक ही होनी चाहिए।' पृष्ठ १११

इससे स्पष्ट है कि शांतिप्रिय द्विवेदी की आलोचना-पद्धति व्याख्यात्मक है। वे

: २० :

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

[रामधारीसिंह 'दिनकर']

रवीन्द्रनाथ ने कला की व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्मरक्षा अथवा जातिरक्षा के लिए जितने ज्ञान और प्रयास की आवश्यकता है, उतना ज्ञान और प्रयास मनुष्य और पशु में समान रूप से पाया जाता है। किन्तु, इस आवश्यकता की परिधि से बाहर भी एक भूमि है जिसमें पशु नहीं जा सकते, केवल मनुष्य ही जाता है और अपने ज्ञान तथा प्रयास के द्वारा इस भूमि में वह जो आनन्द उठाता है वह उसके "बायोलाजिकल" अस्तित्व या विकास के लिए तनिक भी आवश्यक नहीं है। यही आनन्द कला का आनन्द है, अर्थात् जो अनावश्यक है, जिसका कोई उद्देश्य नही, वही भूमि कला की जन्मभूमि है और इसी भूमि में जन्म लेकर कला फूलती-फलती है।

रवि बाबू का यही दृष्टिकोण श्री लक्ष्मी नारायण सिंह सुधांशु की कला-विषयक व्याख्या में एक अन्य प्रकार की शब्दावली में प्रकट हुआ है। सुधांशु जी मानते हैं कि संसार की अन्य सभी वस्तुओं के समान कला और साहित्य भी मनुष्य के ओज से जन्म लेते है और ओज के द्वारा ही श्रोता और दर्शक उनका रसास्वादन भी करते हैं। यह ओज, शायद अंगरेजी के एनर्जी (Energy) शब्द का पर्याय है। मनुष्य के ओज का व्यय शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी होता है और जिस मनुष्य का सारा ओज स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने में ही समाप्त हो जाता है, वह न तो कला की सृष्टि कर पाता है और न उसके आनन्द का उपभोग ही। अतएव, निष्कर्ष यह निकलता है कि कला की सृष्टि और आनन्दोपभोग, दोनों के लिए, रचयिता और श्रोता या पाठक को एक हद तक अवकाश चाहिए। रवीन्द्रनाथ की भाषा में अवकाश तो पशुओं को भी मिलता है, किन्तु, वे इस अवकाश का सार्थक उपयोग नहीं कर पाते। किन्तु, मनुष्य में यह शक्ति है कि वह अवकाश से अर्जित ओज का उपयोग ऐसी क्रियाओं के लिए करे जो जीवन-धारण के लिए तो तनिक भी आवश्यक नहीं हैं। किन्तु, जिनसे जीवन के आनन्द में वृद्धि होती है। यही आनन्द मनुष्य के व्यक्तित्व का आनन्द है, उसकी कला का आनन्द है। सुधांशु जी के आशय को समझने के लिए रवि बाबू के द्वारा दिया गया यह उदाहरण उपयोगी होगा कि योद्धा का असली व्यक्तित्व उसके युद्ध-कौशल में नहीं है। युद्ध तो एक आवश्यक कृत्य है, अतएव, वह योद्धा के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति नहीं देता। व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के लिए उसे बाजे चाहिए, सजावट और सैनिक पोशाक तथा क़वायद और परेड की अदा चाहिए। रवि बाबू ने लिखा है, "योद्धा में जो योद्धा होनेकी एक तीव्र चेतना है उसकी अभिव्यक्ति के बिना

उसका व्यक्तित्व व्यंजित नहीं हो पाता, यद्यपि, इस चेतना की अभिव्यक्ति केवल अनावश्यक ही नहीं, कभी-कभी आत्मघातक भी हो सकती है।" और सत्य ही, संसार के इतिहास में इसके अनेक प्रमाण हैं, जबकि जातियाँ कला की आराधना करते-करते अपना सर्वस्व गँवा बैठी हैं। और कला की आराधना एवं जीवन को रचनात्मक ढंग से व्यतीत करने के प्रयास में भारतेन्दु के समान तो कितने ही लोग मिट चुके हैं।

कला आनन्द है और इस आनन्द की उपलब्धि के लिए अवकाश में अर्जित-संचित ओज चाहिए। "जिसके मन में ओज नहीं है, जो अपने दिन-रात के कामों में मन का सारा ओज व्यय कर चुका रहता है, उसे किसी भी वस्तु से आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। काव्य का रसास्वादन मन के अतिरिक्त ओज के आधार पर ही होता है।"

इस ओज का संबन्ध काव्य में प्रयुक्त कौशल से भी है, क्योंकि इस ओज का जहाँ सदुपयोग नहीं होता वहाँ कविता बोझिल और कुछ व्यर्थ भी हो जाती है। कवि का कौशल यह है कि जिन बातों के उल्लेख के बिना कविता का काम चल सकता है, उनका उल्लेख करने में वह अपने ओज का व्यय नहीं करे। और पाठक भी यह चाहता है कि व्यर्थ का वर्णन पढ़ने में उसके ओज का व्यय नहीं हो। इसके सिवा, पाठक भी अपने ओज का उत्पादक उपयोग करना चाहता है जिसके लिए कविता में अवकाश रहना चाहिए। वस्तुतः, "काव्य की क्षमता ओज की संवेदना को उभाड़ना भर होना चाहिए। . . . काव्य के वर्णनों में ज्यादा ध्यान हम उन्हीं बातों—घटनाओं पर देते हैं, जिनसे हमें आनन्द मिलता है। व्यर्थ की बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित ही नहीं होता। सत्काव्य का सारा काम केवल वर्णनों से ही नहीं चलता, उसका बहुत-सा काम संकेत या उपेक्षा से ही पूरा किया जाता है। काव्य में जहाँ संकेत या उपेक्षा रहती है, वहाँ उस अंश की पूर्ति पाठक अपनी बुद्धि से कर लेता है। . . . जब तक अपने मानसिक ओज का व्यय नही किया जाय, तब तक काव्य से आनन्द की प्राप्ति संभव नहीं; अतएव, जहाँ मानसिक ओज अनुत्पादक रूप से खर्च होता है, वहाँ का वर्णन रुचिकर नहीं मालूम होता।" दूसरे शब्दों में, लक्षणा, व्यंजना तथा उक्ति-लाघव के अन्य कौशलों में से प्रत्येक का ओज के उपयोग के साथ कुछ न कुछ मनोवैज्ञानिक संबन्ध है।

चूँकि अपने संचित ओज का उपयोग मनुष्य केवल अपने आनन्द के निमित्त करता है, जीवन की किसी स्थूल आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं, अतएव, सुधांशु जी मानते हैं कि कविता की रचना भी केवल स्वान्तः सुखाय ही की जाती है, जनहित अथवा विश्वहित की दृष्टि से नहीं। ऊपर से तो यह सिद्धान्त साहित्य के प्रगतिवादी उद्देश्य का विरोधी जान पड़ता है। किन्तु, सुधांशु जी इस विरोध को नहीं मानते। उनका विचार है कि जनहित भी, अन्ततः, आत्महित ही है। इन दोनों में जो ऊपरी विरोध दीखता है, वह सिर्फ़ दृष्टिभेद है। वस्तुतः, मनुष्य किस भाव से प्रेरित होकर कौन कार्य करता है, इसका उसे ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता, न उसके पास ऐसी भाषा ही विद्यमान है जिसके सहारे वह प्रत्येक भाव

को अलग-अलग पहचान सके। "प्रकट रूप में हम प्रत्येक कर्म का कोई न कोई हेतु बतला दिया करते हैं, किन्तु, प्रत्येक स्थिति में वह यथार्थ ही होता है, यह कहना भ्रम से खाली नहीं है। हमारी चेतना में जो हेतु प्रत्यक्ष रहता है, उसका उल्लेख हम कर देते हैं, पर, उस प्रत्यक्ष हेतु को उपस्थित करने वाला कौन-सा अप्रत्यक्ष कारण है, इस संबंध में हमारा मौन ही उत्तर है।"

स्वान्तः सुखाय और जनहिताय का सम्मिश्रण वे इस प्रकार करते हैं कि "अपने हित को जनता के हित से भिन्न देखने की दृष्टि कवि को नहीं होती।" अर्थात् जनहित के साथ आत्महित को एकाकार समझने के कारण वह जनहिताय लिखता हुआ भी, वस्तुतः, स्वान्तः-सुखाय ही लिखता है। इस प्रसंग में उन्होंने तुलसीदासजी का नाम लिया है। किन्तु, इतने से शंका का पूरा समाधान नहीं होता, क्योंकि ऐसे कवि भी हो सकते हैं जो जनता के हित तक पहुँच ही नहीं सकें और स्वान्तःसुखाय वे ऐसी रचनाएँ भी करने लगें जिनसे जनता के हित पर प्रहार होता हो। तब भी यह मानने में कठिनाई नहीं दीखती कि आत्मसुख नहीं मिले तो कोई भी कलाकार रचना की वेदना भुगतने को तैयार नहीं होगा। कवि जनता-जनार्दन के लिए लिखता हो अथवा अपनी प्रेमिका के लिए, किन्तु, दोनों अवस्थाओं में उसे रचना की प्रक्रिया से आनन्द मिलना ही चाहिए और उचित मात्रा में उसे यह भी आशा होनी चाहिए कि जो आनन्द उसे स्वयं प्राप्त हुआ है, वही आनन्द श्रोताओं को भी प्राप्त होगा। सुधांशु जी ने सरलता के साथ यह मान लिया है कि "जीवन और जगत् से निरपेक्ष रहना मनुष्य के लिए एक कठिन व्यापार है और कवि के लिए असंभव।" किन्तु, अनुभव ने यह बतलाया है कि इस कठिनाई के होते हुए भी ऐसे मनुष्य और कवि होते ही रहते हैं जिनका ध्यान जीवन और जगत् पर नहीं होकर निरी कल्पना या किसी धुँधले स्वप्न पर बना रहता है। संचित ओज के बिना कला की रचना और उसका आनन्दोपभोग संभव नहीं है, यह सत्य है। यह भी ठीक है कि कला के निर्माण का सद्यःकारण रचयिता का आत्मसुख होता है। किन्तु यह आत्मसुख ही अन्तिम वस्तु नहीं हो सकती। समालोचक को यह भी देखना चाहिए कि जहाँ से यह आत्मसुख उत्थित होता है वहाँ लोक-कल्याण की भावना काम करती है या कोई ऐसी एषणा जिसका जन-जीवन के साथ अनुकूल संबन्ध नहीं है।

सुधांशुजी ने कला की व्याख्या का जो सूत्र उठाया है वह बहुत कुछ "कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त से बँधा हुआ है। यह बात इससे भी समर्थित होती है कि क्रोचे के प्रति वे सहानुभूतिशील और टालस्टाय से कुछ खिंचे हुए हैं। उनका विचार यह दीखता है कि कला मनुष्य के अतिरिक्त ओज से उत्पन्न होती है और यह ओज मनुष्य के भीतर निहित काम-भावना एवं उसकी वैयक्तिक गति और प्रवृत्ति के अनुसार ही अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग बनाता है। यह ध्यान देने की बात है कि क्रोचे के समान वे भी यह नहीं मानते कि प्रतिभा बुद्धि का ही एक अंश या गुण है। वे प्रतिभा को बुद्धि के परे मानते हैं और कहते हैं कि काव्य-समीक्षा में बुद्धि का पथ-प्रदर्शन सर्वत्र चलता नहीं। इन सारी दलीलों का

स्वाभाविक निष्कर्ष यह होना चाहिए कि कला निर्बन्ध है और आचार के क्षेत्र में भी उसे स्वतंत्र रहना चाहिए। किन्तु, यहाँ आते आते वे सँभल जाते है और कहते है कि "जगत् में जहाँ जीवन है, वहाँ किसी न किसी रूप में नैतिकता को आश्रय देना ही पड़ता है। जीवन की नैतिकता का यह संबन्ध काव्य में भी दिखाई पड़ता है, परन्तु, कोई भी काव्य केवल अपने नैतिक आदर्श की महत्ता के कारण ही महत् नहीं हो पाता।" यहाँ ऐसा लगता है, मानों, लेखक अपनी इच्छा के विरुद्ध कला में आचार की सत्ता स्वीकार करने को वाध्य हो रहा हो। सुधांशुजी के इस निष्कर्ष को स्वीकार करने में आचारवादियों को कोई दिक़्कत नहीं होगी, किन्तु, वे जिस मार्ग पर चल कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते है वह उसका सीधा और स्वाभाविक मार्ग नहीं है।

सुधांशुजी का यह विचार भी ध्यान देने योग्य है कि कवि जैसे भावों का आकलन ज्ञान के बल पर नहीं कर सकता, वे बहुत कुछ निर्धारित रूप में ही उसे उपलब्ध होते हैं, वैसे ही, इन भावों के अभिव्यक्त करने की शैली के बारे में भी चुनाव की आज़ादी उसे नहीं रहती। "जहाँ तक काव्य-संबन्धी अनुभूति है, वह पदावली से अपनी सत्ता को पृथक् नहीं कर सकती। कवि में अनुभव करने और अनुभव को पदावली में व्यक्त करने की शक्ति भिन्न-भिन्न नहीं है।" अर्थात् भाव की अनुभूति कवि को जिस रूप में होती है, वही रूप उसकी शैली का निर्धारण कर देता है। ऐसा नहीं है कि भाव तो कवि पहले ग्रहण कर लेता है और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम पीछे चुनता है। एक ही भाव कई कवियों को अनुभूत हो सकते है। किन्तु, प्रत्येक कवि उसे अलग-अलग ढंग से व्यक्त करेगा। यह विभिन्नता इसीलिए होती है कि प्रत्येक कवि को उस भाव की अनुभूति अलग-अलग ढंग से हुई है। शुद्ध कलावादियों का कहना है कि अगर कोई व्यक्ति यह कहता है कि "काल के गह्वर से एक आवाज़ आई" तो इसका अर्थ यह नहीं है कि "आवाज़ पुरातन काल से आई है" बल्कि इसका अर्थ इतना ही है कि "आवाज़ काल के गह्वर से आई है।" यानी अनुभूति जिस रूप में उतरती है, भाव का वही रूप अपना रूप है और उसमें फेरफार नहीं हो सकता।

शैली के विषय में सुधांशुजी का यह मत बहुत लोगों को ग्राह्य होगा कि शैली का निर्धारण भाव-ग्रहण के समय ही हो जाता है, उसे एक शैली से निकाल कर दूसरी शैली में तो जाने की स्वतंत्रता कलाकार को नहीं रहती। किन्तु, इसके साथ ही जब वे यह कहते हैं कि नये भाव भी पुराने छन्दों में सफलता के साथ व्यक्त किये जा सकते हैं तब उनकी इस स्थापना का मेल शैली वाली स्थापना के साथ नही रह जाता। एक ही भाव दो कवियों के द्वारा दो विभिन्न शैलियों में अभिव्यक्ति पाता है, इसका कारण यह है कि उस भाव को ग्रहण करने के समय दोनों कवियों की भाव-दशाएँ, मन की अवस्थाएँ और सोचने की मुद्राएँ दो भिन्न प्रकार की रहती हैं। इस प्रकार, दो भिन्न युगों की भाव-दशाओं में भी भेद होता है और प्रत्येक युग अपनी मुद्रा के अनुसार अनुकूल छन्दों की खोज करता है। यही कारण है कि प्रत्येक युग में छन्द बदलते रहते हैं, कभी तो बहुत पुराने छन्द नवीन हो उठते हैं, कभी

नये छन्दों का जन्म होता है और कभी छन्द टूट भी जाते हैं। उन्होंने प्रश्न उठाया है कि "यदि काव्य-रचना के लिए नये छन्द-विधान की अनिवार्यता प्रमाणित की जाय, तो उससे पहले इसी प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए कि क्या पुराने छन्द-विधान में आबद्ध कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, देव और बिहारी को हम भूल सकते हैं ? क्या हम अभिज्ञान शाकुन्तल, उत्तररामचरित, रामायण, सूर सागर, प्रिय प्रवास, यशोधरा, साकेत और कामायनी में वर्णित जीवन-वृत्त की उपेक्षा कर सकते है ?" जिस ज़ोर से यह प्रश्न किया गया है उसका एकमात्र उत्तर "नहीं" ही हो सकता है। किन्तु इतना ही यथेष्ट नहीं है। वस्तुतः, प्रश्न शकुन्तला, रामायण और सूर-सागर में प्रयुक्त छन्दों के आदर और अनादर का नहीं है। प्रश्न यह है कि नये कवि की मनोदशा पुराने कवियों की मनोदशा के समान है या नहीं। आदमी का वस्त्रादि से और भाषा का वर्णमाला से जो संबन्ध है, काव्य का छन्द से केवल उतना ही सरोकार नहीं माना जा सकता। भारतवासी यूरोप का भी लिबास पहन सकता है और हिन्दी रोमन लिपि में भी लिखी जा सकती है, किन्तु, शाकुन्तल के श्लोक जर्मन में अनूदित होकर कालिदास के श्लोक नहीं रह सकते। और जैसी वाधा एक भाषा की कविता को दूसरी भाषा में अनूदित करने में है, बहुत कुछ वैसी ही वाधा एक युग के भाव को दूसरे युग के छन्द में बाँधने में होती है। जैसे एक कवि का व्यक्तित्व दूसरे कवि के व्यक्तित्व से भिन्न होता है, उसी प्रकार एक युग की मनोदशा दूसरे युग की मनोदशा से भिन्न होती है। और इसी प्रकार, जसे कितने ही छन्दों का समान रूप से व्यवहार करने वाले एक ही युग के कई कवि कुछ ख़ास छन्दों पर विशेष प्रीति रखते हैं, ठीक उसी प्रकार, कई भिन्न युग भी कितने ही खास छन्दों का समान रूप से उपयोग करते हुए अपनी मनोदशा के विशेष अनुकूल कुछ खास छन्दों को प्रमुखता देते हैं। युग विशेष की मनोदशा अपने अनुरूप छन्दों की खोज करती है। यही कारण है कि काल-क्रम में कई प्रसिद्ध छन्द पीछे छूट जाते है,कइयों में काट-छाँट हो जाती है और कई तो अनेक छन्दों के मिश्रण से नवीन बन जाते हैं। छन्द केवल वस्त्र या वर्णमाला नहीं, वे तो भावों की त्वचा है और भाव जब भी उतरते हैं, त्वचा उनके साथ आती है। यही तो वह सत्य है जिसे सुधांशुजी शैली-प्रकरण में स्वीकार कर चुके हैं।

उनकी पहली पुस्तक 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' विद्वानों के बीच काफ़ी आदर पा चुकी है। 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पुस्तक काव्य के सम्बन्ध में उनके वैज्ञानिक चिन्तन का परिणाम है तथा उनके अन्य लेखों और अभिभाषणों से हिन्दी की आलोचना-पद्धति को यथेष्ट शक्ति प्राप्त हुई है।

: २१ :

डॉ. नगेन्द्र

[अमरनाथ जौहरी]

आचार्य शुक्ल ने भारतीय रस-सिद्धांतों को पाश्चात्य दृष्टिकोण से स्थापित किया। उन्होंने "रस और अलंकार-शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया"[1]। रस और अलंकार लक्षण ग्रन्थों में बन्द होकर केवल विद्यार्थियों के घोटने की वस्तु न रहे, साहित्य के मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन में उनको विशिष्ट स्थान मिला। पूर्व तथा पश्चिम के इस समन्वय का सूत्रपात आचार्य शुक्ल ने किया, और इन सिद्धांतों के आधार पर हिन्दी में एक नई प्रयोगात्मक समीक्षा शैली को विकसित तथा परिपुष्ट करने का श्रेय नगेन्द्र को है।

साहित्यिक समीक्षा के अनेक सिद्धांत हैं, किन्तु इतना सर्वमान्य है कि समीक्षा का आधार केवल बौद्धिक विश्लेषण ही नहीं है, यद्यपि बौद्धिक विश्लेषण का दृढ़ आधार समीक्षा के लिये आवश्यक है। समीक्षक में बौद्धिक छानबीन की शक्ति के साथ-साथ सृजनात्मक एवं संश्लेषणात्मक प्रतिभा की भी आवश्यकता है। यदि हम यह मानें कि साहित्यिक समीक्षा एक उच्च कोटि के मस्तिष्क का अद्भुत पर्यटन है, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि कवि या लेखक के अन्तरप्रदेश में यात्रा करने वाला प्राणी एक विशेष अनुभूति तथा संवेदन से युक्त होना चाहिये। इनके बिना साहित्यकार के मानसिक एवं भावनात्मक जगत् का रहस्योद्-घाटन सम्भव नहीं। मूल्यांकन अथवा निर्णय तभी हो सकता है जब समीक्षक के हृदय के तार लेखक की विचारधाराओं एवं भावनाओं से तादात्म्य तथा एकाकारिता स्थापित कर लें। नगेन्द्र की समीक्षा में बौद्धिक तथा भावात्मक दोनों तत्त्वों का अभूतपूर्व संयोग हुआ है।

यथार्थ की पृष्ठ-भूमि

नगेन्द्र की आलोचना यथार्थ की ठोस पृष्ठभूमि पर आश्रित है। वे लेखक अथवा कवि के साहित्य की समीक्षा के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का भी पुर्ननिर्माण करते हैं। कवि की तात्कालिक एवं अन्तरंग परिस्थितियों के इस अध्ययन से उसके काव्य का एक समग्र रूप प्रस्तुत होता है जिससे पाठक के हृदय में उसके प्रति केवल मानवी सहानुभूति ही नहीं उत्पन्न होती, किन्तु उसके साहित्य के समन्वयात्मक अध्ययन में भी बहुत सहायता मिलती है। कवि के जीवन की यह सामग्री वे मूलतः वाह्य प्रमाणों के आधार पर एकत्रित

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी—'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' पृष्ठ ५८.

करते हैं, किन्तु उसके मानसिक एवं भावात्मक अन्तर का चित्र वे कल्पना के रंगों से बनाते हैं।

इस ईमानदारी और जागरूक विवेचन का श्रेय, उनकी कुशाग्र बुद्धि के साथ-साथ, उनके विकास एवं शिक्षा-दीक्षा की आरम्भिक परिस्थितियों को भी है। धार्मिक शिक्षा ने उन्हें यथार्थ के प्रति सजग एवं प्रयत्नशील बनाया। स्वामी दयानन्द के निर्भ्रान्त और स्वच्छ चिन्तन का उनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा और उनमें निर्भीकता से सत्य की खोज एवं स्पष्टवादिता की प्रवृत्तियाँ परिपुष्ट हुई। यही कारण है कि भावनात्मक सत्य की खोज के साथ-साथ वे साहित्य-निर्माण करने वाले मानव के स्थूल एवं सूक्ष्म जीवन की भी खोज करते हैं। उनकी प्रत्येक आलोचना में इस प्रकार के ठोस मानव-तत्त्व बिखरे हुए हैं।

'त्यागपत्र' और 'नारी' की आलोचना करते हुए वे अन्त में कहते हैं--"त्यागपत्र का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्पी की दुहाई देता है, और 'नारी' का कौशल अपने को छिपा कर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफ़ारिश करता है"। बिजली की चमक के समान इन शब्दों से इन उपन्यासों के लेखकों का व्यक्तित्व प्रदीप्त हो जाता है और हम इन स्रष्टा कलाकारों के चिन्तन एवं मानव चेतना का आभास सहज में ही पा लेते हैं। इसी प्रकार 'साकेत' की सृजन-प्रेरणा के प्रसंग में लिखते हैः "यद्यपि वर्षों 'साकेत' का काम रुका रहा, परन्तु फिर आरम्भ होने पर जब कुछ दिन चल लिया तब तो कवि उसमें ऐसा लग गया कि आठ-आठ घंटे बैठा रहा करता था--कभी कभी आवेश में टहलने लगता था---अन्त में सूखे वमन आने लगते तब किसी प्रकार उठता ('साकेत' के पूर्वार्ध में कथा की मन्थरता और उत्तरार्ध के दुर्दम प्रवाह का यही कारण है)।" कथा की मंथरता और प्रवाह का कारण कवि की शारीरिक एवं मानसिक परिस्थिति में ढूँढना, सम्भव है, नगेन्द्र के विश्लेषण के उपरान्त स्वाभाविक सा लगता हो, किन्तु उससे नगेन्द्र की आलोचक-बुद्धि का महत्त्व कम नहीं हो जाता। गुप्तजी के गार्हस्थ्य चित्रों के अपूर्व सफलता का कारण नगेन्द्र के अनुसार यह है कि 'वे (गुप्तजी) स्वयं बहुजनगृही हैं'। प्रसाद के चरित्र-निर्माण की प्रतिभा के सम्बन्ध में कहते है--'प्रसाद जी के जीवन की परिधि भले ही घर से दशाश्वमेध और दशाश्वमेध से घर तक सीमित रही हो, परन्तु उनका भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन चिरगतिशील था'। इसी प्रकार 'दूर चिर-गाँव में बैठे हुए सियारामजी का स्टेज से कभी कैसा भी सम्पर्क नहीं रहा।' कवियों अथवा लेखकों के व्यक्तिगत जीवन की इस प्रकार की छोटी-छोटी साधारण बातें उनकी कला कृतियों के अध्ययन में बहुत सहायक होती हैं। यह विशेषकर अंग्रेजी शैली का प्रभाव है और नगेन्द्र ने सुमित्रानन्दन पन्त, मैथिलीशरण गुप्त एवं देव के विस्तृत विवेचन में सफलतापूर्वक इस शैली का प्रयोग किया है।

पूर्व और पश्चिम का समन्वय

नगेन्द्र की आलोचना में पूर्व और पश्चिम के साहित्यिक चिन्तन का समन्वय हुआ है।

एक और उन्होंने हिन्दी और संस्कृत के साहित्यिक आचार्यों के सिद्धांतों को हृदयंगम किया है, दूसरी ओर, अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर होने के कारण, उन्होंने योरुप के आलोचकों का भी अत्यन्त गहरा अध्ययन किया है। हिन्दू धर्म के मूलभूत दार्शनिक सिद्धांतों एवं संस्कृत और वैदिक साहित्य का ज्ञान नगेन्द्र को, अपने घर के वातावरण के कारण सहज में ही सुलभ हो गया। जहाँ एक ओर वे राजशेखर, मम्मट, विश्वनाथ आदि संस्कृत आचार्यों की अधिकारपूर्ण आलोचना करते हैं, वहाँ वे अरिस्टाटल, रिचर्ड्स, टी. एस. ईलियट, क्रोचे इत्यादि पाश्चात्य समीक्षकों के सिद्धांतों का भी विवेकपूर्ण विवेचन करते हैं। उनका यह तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी के लिये बड़े महत्व का है। तत्वों को समझने एवं उन्हें सरल भाषा में प्रस्तुत करने में वे दक्ष हैं। वे मनोविज्ञान एवं आधुनिक यथार्थवाद से काफ़ी प्रभावित हुए हैं, किन्तु अपने संस्कारों की दृढ़ पीठिका पर ही उन्होंने पश्चिमी विचारों को स्थापित किया। यही कारण है कि उनकी आलोचना में अनुपम व्यक्तिगत दृढ़ता है। वे साहस के साथ अपनी मान्यताओं को स्थापित करते है, और जो उचित समझते है उसे, चाहे वह पूर्व में मिले अथवा पश्चिम में, निर्भीकता से ग्रहण करते हैं।

मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि

नगेन्द्र की पहिली पुस्तक 'सुमित्रानन्दन पन्त' को आलोचना के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग समझना चाहिये। जिस शैली का विकास 'साकेत: एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी नाटक' आदि पुस्तकों एवं 'विचार और अनुभूति' और 'विचार और विवेचन' के लेखों में हुआ है, उसके अंकुर इस प्रथम पुस्तक में पाये जाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व 'विचार और अनुभूति' की आलोचना करते हुए मैंने लिखा था--"वे (नगेन्द्र) राजनैतिक अथवा सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि पर भी मनोवृत्तियों का विश्लेषण करते हैं जिसकी ओर अन्य समीक्षकों ने उतना ध्यान नहीं दिया है, इससे उनकी समालोचना में एक प्रकार की व्यापकता तथा सम्पूर्णता आजाती है। इससे पता चलता है कि आलोचक का मानसिक धरातल बड़ा समुन्नत है।"[१] अपने इसी समुन्नत मानसिक धरातल से वे कवि के मानसिक जगत् की खोज करते हैं और फिर उसकी कविताओं का रहस्योद्घाटन करते हैं। इस प्रकार पाठक को एक नवीन दृष्टिकोण एवं रसास्वादन के एक विशेष ढंग की अनुभूति होती है। उनकी यह शैली 'साकेत' एवं 'देव' की कला के अध्ययन में आकर बहुत चमक उठी है। इसका कारण सम्भवत: यह हो सकता है कि 'पन्त' की प्रकृति-सम्बन्धी लिरिक्स एवं स्वच्छन्द गीतों में कवि के मनोभावों का अध्ययन ही वांछित था, किन्तु 'साकेत' के इतिवृत्तात्मक काव्य होने के कारण, इसमें पात्रों का भी विश्लेषण करना आवश्यक हो गया। जिस एकान्त निष्ठा एवं मनोयोग से उर्मिला के स्रष्टा ने उसकी विरह-व्यथा का अंकन किया है, उसी तन्मयता एवं मनोयोग से नगेन्द्र ने उस व्यथा के सूत्र पकड़े हैं। नारी के प्रति नगेन्द्र के संस्कार, फ्रायड आदि के प्रभाव के उपरान्त भी बदले नहीं हैं, यदि इसका प्रमाण वांछित हो तो

---

१. देखिये 'विशाल भारत' सितम्बर १९४५, पृष्ठ १७३.

'साकेत: एक अध्ययन' नामक पुस्तक का 'साकेत में विरह' प्रकरण पढ़िये। कवि ने 'साकेत' के पात्रों की रचना में मनोवैज्ञानिक तत्वों एवं भावनाओं का कैसा कुशल समन्वय किया है, उसका विशद विवेचन नगेन्द्र ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

जिस समय राम, सीता और लक्ष्मण वन जाने के लिए तैयार होते हैं, उस समय की परिस्थितियों का वैषम्य उर्मिला की भावनाओं को और तीव्र कर देता है, किन्तु उसे अपनी प्रबल आकांक्षाओं का दमन करना पड़ता है। उसका मौन उसकी दयनीयता तथा कातरता को अधिक स्पष्ट करता है। मनोवैज्ञानिक नगेन्द्र जानते है कि 'यदि वह स्वयं ही उक्त भावनाओं को शब्दों में व्यक्त करती तो वे ईर्ष्या का रूप धारण कर लेतीं, इसलिये कवि ने राम और सीता के द्वारा उनकी ओर संकेत कराया है।' नगेन्द्र के यह शब्द, कवि की पंक्तियों के प्रभाव को गहरा करते हैं, पाठक के हृदय में एक मधुर वेदना एवं कारुण्य का संचार करते है और गुप्तजी की उर्मिला नगेन्द्र की स्वप्नमयी प्रतिमा बन कर, युग-युग की विरह-व्यथा लिये हुए जीवित चित्र के समान मन पर अंकित हो जाती है।

उर्मिला के साथ साथ 'साकेत' के अन्य पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी अपूर्व है। कैकेयी अथवा कौशल्या का तुलनात्मक अध्ययन बहुत सुन्दर बन पडा है। इसी प्रकार देवर-भाभी के सात्विक रोमांस की व्याख्या बड़े कोमल स्पर्श से की गई है। सुलक्षणा के निर्माण का कारण नगेन्द्र के अनुमार यह है कि 'अकेला प्रलाप कुछ अस्वाभाविक सा लगता है, इसलिए कवि ने सुलक्षणा नाम की सखी की कल्पना की है। जिस समर्थता एवं सफलता से कवि मानव-चरित्र की जटिलताओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है, उसी समर्थता से नगेन्द्र भी मानसिक संघर्षो और हृदय की संगुफित अन्तर्वृनियों को सुलझाते हे। देखिये इन वाक्यों के अर्थ कितने गहरे है और इनसे पात्रों के अन्तर्दर्शन में आपको कितनी सहायता मिलती है :

'उर्मिला के चरित्र–विकास में अर्धविस्मृत अवस्था का सफल विश्लेषण इसका साक्षी है' ('साकेत : एक अध्ययन' पृष्ठ १५३)

'वैषम्य और साम्य का यह उपयोग 'साकेत' में बड़ी कुशलता से किया गया है' (वही पृष्ठ १५७)

'युग-युग की लांछिता रानी को भव्य माता के रूप में देख कर वृद्ध जग आज चकित है' (वही पृष्ठ १५८).

'परन्तु मूल में एक असन्तोष भावना होने के कारण एक अव्यक्त वेदना की टीस इस भुलावे या पुनरुत्थान में भी बनी रही और सचमुच यही उसकी प्राण-शक्ति भी है। अन्यथा कल्पना-लोक कोरा हवाई किला और पुनरुत्थान केवल आत्म-प्रवंचना है ('आधुनिक हिन्दी नाटक' पृष्ठ २४)

संयम

नारी के प्रति नगेन्द्र का दृष्टिकोण अत्यन्त कोमल एवं संयत है। उनकी स्पष्टवादिता

को कुछ आलोचक उच्छृंखलता भले ही समझें, किन्तु सत्य तो यह है कि नगेन्द्र किसी भी 'हम्बग' को पसन्द नहीं करते। वे यथार्थ के भक्त हैं, किन्तु इसके साथ-साथ वे सौन्दर्य की उदात्त और कवित्वपूर्ण अनुभूति में रस-मग्न होकर, निर्विकल्पता से, स्वयं उसमें न उलझ कर, नारी-जनित आनन्द का सात्विक रसास्वादन भी करते हैं।

आधुनिक समाज की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित नारी केवल कल्पना-लोक की वस्तु नहीं है, इस दृष्टिकोण के सहारे वे 'साकेत' अथवा आधुनिक नाटकों के नारी-पात्रों का अध्ययन करते हैं। उनकी मान्यता है कि 'दाम्पत्य के मूल में काम की प्रेरणा है और उसका जन्म और पोषण सेक्स की भावना के द्वारा होता है।' बौद्धिक स्तर पर वे फ्रायड के समान यह मानते हैं कि जीवन के समस्त व्यापारों का मूलकेन्द्र काम-वासना ही है। उनकी ऐसी धारणा विदेशी मनोवैज्ञानिकों के अधिक अध्ययन एवं सामाजिक विषमताओं के चिन्तन के फलस्वरूप ही बनी है। किन्तु इस बौद्धिक वेष्टन के नीचे, युग-युग की कल्पना एवं सौंदर्य-चेतना की अधिष्ठात्री कल्याणी नारी की प्रतिमूर्ति ही अंकित है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अन्यथा वे उर्मिला का एवं अन्य नारियों का इतना मार्मिक, करुण और कल्पनात्मक अध्ययन कर नहीं सकते थे। 'साकेत' के इन शब्दों की मार्मिकता देखिये :

'रवि बाबू कहते हैं कि मेरे हृदय में एक विरहिणी नारी बैठी है जो अपने दुःख का गीत सुनाया करती है। यह विरहिणी अजर अमर है, और उनके ही हृदय में नहीं, सभी कवियों की आत्मा में इसका निवास है। यही विरहिणी कालिदास के हृदय में शकुन्तला, भवभूति के हृदय में सीता, जायसी की आत्मा में नागमती, सूर के अन्तस में राधा और मीरा के प्राणों में अरूप होकर रोई थी। मैथिलीशरण के हृदय में वही उर्मिला बन गई।'

इसी प्रकार प्रसाद के नारी पात्रों की विभिन्न श्रेणियों में से, नगेन्द्र के मन पर अंकित हैं, 'अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में एक करुण गन्ध छोड़ जाने वाली फूल सी सुकुमारियाँ' देवसेना, मालविका, कोमा, मृणाल, उर्मिला आदि की यह करुण, कोमल प्रतिमायें नगेन्द्र की कल्पना में नारी के एक नितान्त मानवी किन्तु देवत्व से दीप्त सौंदर्य की स्थापना करती हैं। नारी के प्रति जिसका संस्कारगत दृष्टिकोण इतना सूक्ष्म, कोमल और उदात्त है, वह यदि फ्रायड के समान काम-वासना को जीवन का मूल केन्द्र माने, तो भी उसकी रस-सिक्त सात्विक आनन्दमयी भावना अक्षुण्ण ही रहेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

रसो वै सः

भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के अंग-उपांगों का सूक्ष्म अध्ययन करने के उपरान्त, नगेन्द्र ने अपनी संयत और संकल्पात्मक आलोचना-शक्ति द्वारा एक ओर रस-भोक्ता हृदय की अन्तर्वृत्तियों का विवेचन किया है, दूसरी ओर भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में शायद पहिली बार, इतने ज़ोरदार और स्पष्ट शब्दों में रस-स्रष्टा कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की है। वे साहित्य को, उसके समष्टिगत मूल्यों के बावजूद भी, अन्ततः व्यक्तिगत

साधना ही मानते है। उनके विचार से साहित्य का मूल धर्म है निश्छल आत्माभिव्यक्ति 'महान् व्यक्तित्व के अभाव में कोई कृति महान् साहित्य नहीं हो सकती,पर निश्छल आत्माभिव्यक्ति के अभाव में तो वह साहित्य ही नहीं रहती।' इस प्रकार वह टेन और टी. एस. इलियट के ऐतिहासिक और परम्परावादी सिद्धांतों के विरुद्ध है। उनका विचार है कि साहित्य की श्रेष्ठता का निर्णय 'व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर, देश और काल की सीमाओं को तोड़ कर बहती हुई अखंड मानव-चेतना के प्रकाश में ही करना होगा।' वह कवि अथवा कलाकार के व्यक्तित्व को देश-काल और परिस्थिति की सीमा से मुक्त करके, उसके शाश्वत मानवी मूल्यों को अधिक महत्त्व देते है।

नगेन्द्र के समन्वयात्मक आलोचना-पक्ष का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि वे साहित्य में प्रत्येक अतिवाद के विरोधी है। एक ओर वे संस्कृत के पूर्ववर्त्ती आचार्यों की यह सीमा बताने में संकोच नहीं करते कि उन्होंने रस-स्रष्टा कलाकार को बिल्कुल छोड़ ही दिया है, दूसरी ओर वे उन आधुनिक समालोचकों के भी विरुद्ध हैं, 'जो कलाकार के व्यक्तित्व के निश्चित और अनिश्चित तथ्यों में इतना उलझ जाते हैं कि कृति सर्वथा उपेक्षित हो जाती है।' वे यह मानते है कि जीवनगत भाव और काव्यगत भाव में अन्तर तो है। 'भौतिक भाव का आस्वाद सुखमय और दुःखमय दोनों ही प्रकार का हो सकता है, परन्तु काव्यगत भाव जो अपनी पूर्णावस्था में रस रूप में परिणत हो जाता है, अनिवार्यतः सुखमय ही होता है,' किन्तु टी. एस. इलियट के साथ वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि जीवनगत भाव और काव्यगत भाव सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार वे रस और रीति में भी कोई मौलिक विरोध नहीं मानते। वे अलंकार, रीति और वक्रोक्ति जैसे शरीरवादी सिद्धांतों को रस और ध्वनि जैसे आत्मवादी सिद्धांतों का पूरक समझते हैं। उनके विचार से भाव का सौंदर्य और उक्ति का सौंदर्य एक दूसरे पर आश्रित है।

इसमें सन्देह नहीं कि पुराने आचार्यों ने रस का जो स्वरूप स्थापित किया था, आज का पाठक अथवा प्रेक्षक उससे संतुष्ट नहीं होता। काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर अथवा अलौकिक और अनिर्वचनीय कहने से आधुनिक रस-भोक्ता की तृप्ति नहीं होती। इसी प्रकार योरुप में काव्यानन्द के स्वरूप की जो विवेचना हुई है, नगेन्द्र ने उसका भी परीक्षण किया है। स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने काव्यानन्द को जो ऐन्द्रिय, आत्मिक, कल्पनात्मक, सहजानुभूतिमय, अथवा लौकिक आनन्दों से भिन्न एक विचित्र और अनुपम आनन्द बताया है, नगेन्द्र ने उसकी विद्वत्तापूर्ण विवेचना की है, और अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि इनमें से कोई भी सिद्धांत मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। काव्यानुभूति को वे साधारण अनुभूति से भिन्न भावित अनुभूति मानते हैं। उनका विचार है कि जब काव्य से प्राप्त संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है, तो हमारी अनुभूति मधुर होती है, और जब यह विशृंखल और विकीर्ण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है। इस प्रकार जब अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित होती है, तो हमें काव्य का

भावन होता है, जो हमें आनन्द प्रदान करता है। काव्यानन्द को ऐन्द्रिय आनन्द मानने का यह सिद्धांत आधुनिक विश्लेषण शास्त्र के अनुसंधानों पर आश्रित है। अंग्रेजी समालोचना में इसका सबसे सफल प्रयोग आई.ए.रिचर्ड्स महोदय ने किया है, और स्पष्टतः नगेन्द्र की आलोचना पर उनकी विचारधारा की छाप है।

उल्लिखित सिद्धांत स्थापित करने के लिए, नगेन्द्र ने काव्यानन्द की मनोभूमिका बड़े यत्न से बनाई है। किन्तु यदि कहीं मनोविज्ञान उनकी शंकाओं का समाधान नहीं कर पाता, तो वे दुराग्रहवश उसको ही अपने चिन्तन का अवलम्ब नहीं बनाते। मनोविज्ञान के प्रति इतनी आस्था होने पर भी, वे उसकी सीमाओं को जानते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर, वैज्ञानिक परिधि छोड़कर जीवन के अधिक व्यापक दृष्टिकोण से भी, काव्यगत समस्याओं को सुलझाते हैं। 'भावक्षेत्र में यदि एक भाव दूसरे की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और कोमल है—अथवा तीव्र एवं स्थायी है—अथवा अधिक प्रभावशाली है', तो ठीक है। मनोविज्ञान यदि भावों का इस प्रकार वर्गीकरण न कर सके, तो कोई हानि नहीं। जीवन मनोविज्ञान से अधिक व्यापक होता है, और यदि जीवन में इस प्रकार के भाव विद्यमान हैं, तो वे नगेन्द्र को मान्य हैं, स्वीकृत हैं। इसी प्रकार संस्कृत के नव रस यदि मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल नहीं हैं, तो इसका आशय यह नहीं है कि वे सर्वथा अनर्गल और कपोल कल्पित हैं। नगेन्द्र के लिये इतना काफ़ी है कि रस का वर्गीकरण मनःशास्त्र की कसौटी पर बहुत अंशों में पूरा उतरता है।

रस की स्थिति के प्रश्न पर अनेक भारतीय आचार्यों के मतों का तत्त्वपूर्ण विवेचन करने के उपरान्त, नगेन्द्र भट्टनायक और अभिनवगुप्त के इस मत को स्वीकार करते हैं कि रस की स्थिति न नायक-नायिका में होती है, न नट-नटी में, सीधी सहृदय की आत्मा में उसकी स्थिति होती है। नगेन्द्र के अनुसार काव्यगत कोई भाव विशिष्ट नहीं होता, साधारणीकृत होता है, और हृदय में उसकी स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है। जिस भाव की अनुभूति कवि के लिये सम्भव है, प्रेक्षक अथवा पाठक के लिये भी सर्वथा सम्भव है। काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता, अपने हृदय में स्थित रस के ही कारण, भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाता है, और काव्यानन्द लाभ करता है। इसी प्रकार कवि भी, अपने मानस-कृत पात्रों द्वारा अपनी अनुभूतियों को हमारे प्रति संवेद्य बनाता है। नगेन्द्र कहते हैं कि 'जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके।' नगेन्द्र का यह सिद्धांत टालस्टाय की इनफेक्शन थ्योरी से बिल्कुल मिलता-जुलता है। टालस्टाय का विचार है कि यदि कोई व्यक्ति लेखक की आत्मिक दशा से तुरन्त प्रभावित हो जाय, यदि उसे उसके भाव की अनुभूति हो जाय, और वह अन्य मनुष्यों से एकता का अनुभव करने लगे, तो जिस वस्तु द्वारा यह कार्य सम्पादित होता है, उसे

कलाकृति कहते है। यह प्रभाव (इन्फेक्शन) कला का सब से विश्वस्त चिह्न है, और जितना ही अधिक यह प्रभाव होगा, उतना ही अधिक कलाकृति का महत्त्व होगा।' नगेन्द्र के अनुसार कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है, और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है। इस प्रकार नगेन्द्र साहित्य को मूलत: व्यक्तिगत आदान-प्रदान मानते हैं। यह सब्जैक्टिव दृष्टिकोण, जैसा मै ऊपर कह चुका हूँ, उनके समीक्षागत चिन्तन की विशेषता है।

प्राचीन काल से, शायद भारत के भी बहुत पहले से, संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने रस की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। किन्तु जैसा नगेन्द्र ने अपने ऐतिहासिक विवेचन में स्पष्ट किया है, उन्होंने अपने विशिष्ट दर्शन के आधार पर ही काव्यगत आनन्द की व्याख्या की है। न्याय, मीमांसा, सांख्य आदि अनेक दार्शनिक सिद्धांतों की पृष्ठभूमि पर काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों की नींव रक्खी गई, और इस प्रकार एक अत्यन्त वृहद् किन्तु परस्पर-विरोधी साहित्य की रचना हुई। नगेन्द्र ने एक ओर इस अर्धविस्मृत, कठिन और उलझे हुये साहित्य का सुव्यवस्थित और सूक्ष्म विश्लेषण करके, इसका पुर्ननिर्माण किया है, दूसरी ओर पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा, आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर इसे कसा है। उन्होंने इस विषय को साहित्य-शास्त्रियों के सुदूर और गहन साधना-गृह से निकाल कर, साधारण मनुष्य की मानसिक परिधि की खुली हवा में रक्खा है। उन्होंने इस शुष्क और रसहीन विषय को जिस रचनात्मक कल्पना-शक्ति द्वारा रोचक बनाया है, उससे उनके शास्त्रीय अनुसंधानों का मानवी और साहित्यिक मूल्य भी बहुत अधिक बढ़ जाता है।

ऐतिहासिक कल्पना

नगेन्द्र की समीक्षा की विशिष्टता है उनकी संकल्पात्मक कल्पना। वे किसी लेखक के भिन्न-भिन्न अंगों का शुष्क विश्लेषण मात्र नहीं करते, वरन् अपनी कल्पना द्वारा उसकी मानसिक एवं भावात्मक रचना-शक्ति का पुर्ननिर्माण करते हैं। उनकी आलोचना किसी पूर्वग्रह को लेकर नहीं चलती, वे किसी 'वाद' में बँधना भी पसन्द नहीं करते। यद्यपि शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव से एवं बौद्धिक चिन्तन के कारण उनका दृष्टिकोण काफ़ी हद तक भौतिक एवं यथार्थवादी बन गया है, किन्तु आलोचना करते समय वे अन्य समीक्षकों की भाँति लेखक अथवा कवि पर अपने किसी विशेष मत का आरोप नहीं करते।

नगेन्द्र की रचनात्मक समीक्षा का एक विशेष अंग है, ऐतिहासिक कल्पना। लाँगफ़ैलो ने एक स्थान पर लिखा है कि गीतों के देश में बहुत दूर तक इतिहास अपनी छाया डालता है। गीतों के आधार पर, इतिहास की इन हल्की-झीनी छाहों द्वारा एक युग का, एवं उस उस युग की पृष्ठभूमि पर लेखक का सांगोपांग चित्रण करना वास्तव में बड़े कमाल का काम है। नगेन्द्र ने 'देव और उनकी कविता' नामक पुस्तक में इस प्रतिभा का प्रचुर प्रमाण दिया है। देव की रस-चेतना का अध्ययन अलंकारों के सौंदर्य एवं आधुनिक मनोविज्ञान के सहारे

करने की कल्पना ही एक मौलिक चीज़ है। रीति काल के कवियों को एक परम्परा की कड़ियाँ मान कर उनकी उपेक्षा करने की कुछ परिपाटी-सी चली आती है। नगेन्द्र ने देव के व्यक्तित्व का एक विशिष्ट रूप प्रस्तुत करके हिन्दी में नई भूमि तैयार की है। अपनी इस विशाल ऐतिहासिक कल्पना के सहारे उन्होंने पहिले तो रीतिकाल के भिन्न-भिन्न सामाजिक, मानसिक,धार्मिक एवं कलात्मक क्षेत्रों की भूमिका प्रस्तुत की है, तदुपरान्त देव की वेश-भूषा, रहन-सहन, जीवन-यापन, अध्ययन, पर्यटन इत्यादि का प्रामाणिक वर्णन करके उनके काव्यगत भावों का चित्र बनाया है। 'साकेत' के अध्ययन में, प्राधान्य 'साकेत'की विशिष्टताओं का होते हुए भी 'साकेत' के कवि का चित्र भी आपको मिलेगा। किन्तु देव के अध्ययन में कार्य अधिक कठिन था। ऐतिहासिक, आत्मकथा-सम्बन्धी एवं काव्यगत सामग्री की न्यूनता होते हुए भी नगेन्द्र ने प्रस्तुत सामग्री के आधार पर, प्रामाणिक ऐतिहासिक कल्पना द्वारा, जो रंग भरे हैं वे अपूर्व हैं। मौलिकता की दृष्टि से इस पुस्तक में 'देव की वैराग्य-भावना और तत्व-चिन्तन' आदि अनेक प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

कला के मापदण्ड

नगेन्द्र की रचनात्मक कल्पना का दूसरा पहलू है शुद्ध साहित्यिक सिद्धांतों द्वारा मूल्यांकन। इसके लिये जिस रस-चेतना एवं संवेदनात्मक अनुभूति की आवश्यकता होती है, नगेन्द्र में वह प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। जिस सहृदयता से उन्होंने पन्त एवं मैथिलीशरण गुप्त की कला और रचना-तन्त्र का अध्ययन किया है, उसी सहृदयता एवं सहज बुद्धि से उन्होंने देव की कला के सूक्ष्म स्थलों का भी अध्ययन किया है। अन्ततः रस और अलंकार काव्य के प्राण है, और इस दृष्टिकोण से देव की कला का विश्लेषण अत्यन्त मनोरम बन पड़ा है। देव की भाषा, व्याकरण, छन्द, अलंकार आदि शास्त्रीय प्रसाधनों का अध्ययन नगेन्द्र के पाण्डित्य एवं वृहद् ज्ञान का परिचायक है, किन्तु देव की चित्रण कला, वर्ण-योजना आदि अनेक चीज़ें नगेन्द्र की रस-सिद्ध समीक्षा और मौलिक कल्पना का प्रमाण देती हैं।

नगेन्द्र की कलात्मक अन्तर्दृष्टि कितनी पैनी एवं अचूक है, इसका प्रमाण उन स्थलों पर मिलता है जहाँ वे लेखक अथवा कवि की सूक्ष्म कला-योजना का विश्लेषण करते हैं। 'साकेत' में, उर्मिला और लक्ष्मण के चित्रकूट में दुबारा मिलन के प्रसंग में लिखते है कि इस बार भी उर्मिला मौन है।"इस प्रकार कवि ने विच्छेद के दोनों अवसरों पर अनुभावों से ही काम लिया है। व्यथा ध्वनित की गई है, कथित नहीं। कथन तो ऐसे अवसर पर होना ही असम्भव अथवा अप्राकृतिक है (साकेत : एक अध्ययन, पृष्ठ ६४) देखिये कवि की कलात्मक सत्यता का कितना सूक्ष्म विवेचन है। देव की कला का विवेचन और भी अधिक सूक्ष्म है। देव रीति काल के कवि थे, इसलिये उनकी कविता में उर्दू कविता के समान बड़ी बारीकी, लालित्य एवं कल्पना की उड़ान है। जिस शोख़ी और चटक का हिन्दी में अभाव है और जो उर्दू में इतने वैभव को प्राप्त हुई, वह शोख़ी और बारीकी देव में खूब मिलती है। देव ने

सरोवर से नहा कर निकलने वाली जिस नायिका का रूप-चित्र उसके अवयवों के वर्णन द्वारा बनाया है (देव और उनकी कविता, पृष्ठ १७४), नगेन्द्र की उसकी व्याख्या भी उतनी ही सूक्ष्म है। नगेन्द्र ने नायिका के मुख पर भौंरों के मँडराने को अस्वाभाविक तो बतलाया है, किन्तु वे जानते हैं कि वे काव्य की समीक्षा कर रहे हैं, वैज्ञानिक तत्त्वों का विश्लेषण नहीं, इसलिये वे लिखते हैं कि इतने संकेतों में यह एक संकेत छिप जाता है। स्वर्गीय लाला भगवानदीन जैसे उर्दू-फ़ारसी-दाँ आलोचक ने "बोलें बाल पिक सी" पर जो आक्षेप किया है, नगेन्द्र ने उसका उचित प्रतिवाद किया है। हिन्दी के समीक्षक इतनी साधारण अतिशयोक्ति को भी नहीं पचा सकते, उर्दू शायरी अथवा रीतिकाल की कविता की उड़ान तो मैं समझता हूँ, उन्हें हतप्रभ कर देती होगी। मीर अनीस ने गर्मी की अधिकता इस शेर में इस प्रकार दिखलाई है :

'गर आँख से निकल के ठहर जाय राह में
पड़ जाँय लाख आबले पाये निगाह में'

जब 'बोले बाल पिक सी' पर भी आक्षेप है, तो फिर "दृष्टि के पैरों में गर्मी के कारण लाखों आबले पड़ जायेंगे", इस सूक्ष्म कल्पना का कलात्मक वैभव समझना तो दूर की बात है। नगेन्द्र की यह विशिष्टता है कि वे साहित्य के प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ-साथ काव्य के सूक्ष्म कलात्मक मर्म को भी खूब समझते हैं।

जर्मन कवि और दार्शनिक 'हेन' ने एक स्थान पर लिखा है कि कवि-पक्षी समय के खण्डहरों पर बैठ कर गाना गाता है। जिस प्रकार काव्य-संगीत की यह प्रतिभा दुर्लभ है, उसी प्रकार समय के खण्डहरों पर गाना गाने वाले सूक्ष्म द्रष्टा एवं तत्त्ववेत्ता कवि-पक्षियों की वाणी को समझने का सामर्थ्य भी प्रत्येक व्यक्ति में नहीं होता। और समझ कर, उसकी वाणी के मर्म को, उसके अन्तर की वेदना को, एवं उसकी साधना के स्वप्न को स्रष्टा कलाकार के समान भाषा देने की शक्ति भी बहुत दुर्लभ है। जिस प्रकार कवि अथवा लेखक मानव के सार्वजनीन अन्तर में पैठ कर युग-युग की वाणी बोलता है, उसी प्रकार ऐसा आलोचक कवि अथवा लेखक के अन्तर में पैठ कर उसके मर्म को ढूँढ़ निकालता है, और जनता के सामने उस स्रष्टा कलाकार का वास्तविक रूप रख देता है। नगेन्द्र की समीक्षा का यही मूलभूत कलात्मक आधार है।

रचनात्मक वर्णन-शैली

जिस प्रकार नगेन्द्र का समीक्षा-चिन्तन सूक्ष्म एवं कोमल है, उसी प्रकार उनकी भाषा भी अत्यन्त स्वच्छ एवं परिमार्जित है। वास्तव में उनकी भाषा के प्रभाव का रहस्य है उनकी रचनात्मक, काव्यात्मक शैली। वे सफल कवि तो नहीं बन सके, किन्तु उनके कवि ने अन्य कवियों के अध्ययन से मुखरित होकर, उनकी भाषा को एक अनुपम सौंदर्य, सौष्ठव एवं अभिव्यंजना-शक्ति से अनुप्राणित कर दिया है।

कवियों के समान वे चित्रों एवं उपमाओं का प्रयोग करते हैं और इन चित्रों द्वारा सूक्ष्म भावों को स्पष्ट करते हैं। 'साकेत' के विरह-वर्णन की शैली के विषय में लिखते हैं— 'यहाँ बदलते हुये छन्दों में नित्यप्रति के जीवन से सम्बद्ध भावनाओं की इस प्रकार व्यंजना हुई है कि यह प्रतीत होता है मानों कोई विरहिणी करवटें बदल बदल कर सभी बातों पर झींकती हुई रोदन कर रही हो।' छन्दों की गति के साथ विरहिणी के करवट बदलने की कल्पना एक विचित्र किन्तु मार्मिक रूप से कवि के मनस्तत्वों का रहस्योद्घाटन करती है। भाषा की इस चित्रात्मक शैली के अन्य उदाहरण देखिये :—

'ऐसा प्रतीत होता है मानो भरत अभीप्सित शब्द को पकड़ कर आवेग के आवर्त्त में चक्कर लगा रहे हों और वह डूबता-उतराता हुआ उनकी शक्ति को विफल कर रहा हो।'

'गहरे काले अँधेरे में उन्मादिनी रानी उल्का के समान चमक रही है'

'इन भिन्न भिन्न पात्रों का स्पर्श करता हुआ उर्मिला का चरित्र आगे बढ़ता है'

'इस प्रकार के चलचित्र क्षण भर फुलझड़ी की भाँति चमक कर पीछे एक रेखा सी छोड़ जाते हैं।'

'इसी प्रकार लज्जा ने घूँघट काढ़ा में यह व्यंजित है कि सीता की लज्जा मूर्तिमन्त हो गई और उसने स्वयं हाथ बढ़ा कर सीता का घूँघट काढ़ दिया'

'शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है, ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।'

'कोलाहल की अवनी तज कर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुये विराम स्थल की खोज करते होंगे, उस समय यह रंगीन अतीत उन्हें सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा।'

इस चित्रमयी शैली के साथ-साथ कहीं कहीं हास्यात्मक वाक्य भी नगेन्द्र की भाषा में जान डाल देते हैं। ऐसे हल्के फुल्के स्पर्श एक ओर तो वर्णन में चटक और प्रवाह ले आते हैं, दूसरी ओर विषय की गम्भीरता के रंगों को हल्का करते हैं। नगेन्द्र स्वयं विनोद-प्रिय हैं और गम्भीर से गम्भीर वार्त्तालाप के बीच में कभी कभी ऐसी बात कह देते हैं कि सुनने वाले खिलखिला कर हँस पड़ते हैं और वातावरण में एक नये प्राण आ जाते हैं। गुह के सौजन्य का वर्णन करते हुये कहते है कि गुह सीता की चरण-रज नहीं माँगता क्योंकि उसमें (चाहे चरणों का ही सही) स्पर्श का भाव विद्यमान है। इसी प्रकार "मार्ग की स्त्रियों के यह पूछने पर कि

'शुभे तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं'

सीता—'He is Mr. Ram, my husband', यह नहीं कहती, किन्तु बड़े लाघव से संकोच की रक्षा करते हुये कहती हैं :—

'गोरे देवर–श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।"

कभी कभी उर्दू-मिश्रित मुहावरों एवं वाक्यों के प्रयोग से वर्णन बड़ा सजीव हो जाता है। रामकुमार वर्मा की आलोचना करते हुये एक स्थान पर कहते हैं–'ऐसा वहाँ हुआ है जहाँ लेखक या तो नैतिक उपदेश के चक्कर में पड़ गया है, या ज़बान के चटखारे ले उठा है।' आज के नाटककार . . . . . ज़िन्दग़ी की चहारदीवारी के चारों ओर घूमते हैं। यहाँ 'ज़बान के चटखारे' 'ज़िन्दग़ी की चहारदीवारी' आदि वाक्य अपने स्थान पर अपूर्व हैं, इनका हिन्दी में अनुवाद होना सम्भव नहीं।

नगेन्द्र में व्यंगात्मक वाक्चातुर्य भी प्रचुर मात्रा में मिलेगा। किन्तु उनका व्यंग्य तीखा एवं कड़वा नहीं होता। अंग्रेजी लेखक डीन स्विफ्ट के समान वे बर्बरता से, कटु शब्दों में समाज एवं व्यक्तियों पर चोट नहीं करते। इसका स्पष्ट कारण यह है कि वे मुख्यत: साहित्यिक चिन्तक हैं, उनका क्षेत्र समाज-सुधार नहीं। अपनी वाक्विदग्धता से वे हृदय पर एक हल्की सी चोट करते हैं। प्रसाद के नाटकों का दोष बतलाते हुये कहते हैं–"अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गतिविधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिये उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़ कर उपस्थित कर देना पड़ा है–अथवा किसी का ज़बरदस्ती गला घोटना पड़ा है। ('आधुनिक हिन्दी नाटक' पृष्ठ १८)। गुप्तजी की वर्णन-शैली के विषय में एक स्थान पर लिखते हैं :"वर्णन के शब्द एक दूसरे से कन्धे से कन्धा भिड़ाकर नहीं चल रहे। उनमें धक्का-मुक्की मची हुई है। वे इस समय डबल अप कर रहे हैं। यह वेग बढ़ता ही जाता है। अन्त में राम की मूर्च्छा के साथ वर्णन भी एक साथ क्षीण होकर गिर पड़ता है और उसको वांछित विराम मिल जाता है।"

प्रत्येक रचनात्मक साहित्यकार भाषा पर अपनी छाप डालता है। वह भाषा को एक नई अभिव्यक्ति की शक्ति प्रदान करता है। उसकी वाणी शब्दों में नूतन भावों का संचार करती है। अंग्रेजी में इस प्रकार के शब्द एवं पदांश-रचना का बड़ा महत्त्व है। 'तरल प्रवहमान भावुकता', 'कल्पना-विलास', 'भापा की रेशमी जाली', 'आवेग की प्रखर शिखायें' अलंकार राशि में फूट उठी है' इत्यादि अनेक अभिव्यंजनात्मक शब्द, पदांश एवं वाक्य नगेन्द्र के साहित्य में मिलेंगे।

* * * *

नगेन्द्र के कार्य का उचित मूल्यांकन अभी हो सकना सम्भव नहीं। वे गतिशील लेखक हैं। उनकी पहली पुस्तक 'सुमित्रानन्दन पन्त' १९३८ में प्रकाशित हुई थी। उनकी देव-सम्बन्धी थीसिस १९४९ में प्रकाशित हुई। इन दोनों पुस्तकों में बहुत अन्तर है। १९३८ से अब तक प्रकाशित होने वाली प्रत्येक पुस्तक को उनके विकास की सीढ़ी समझना चाहिये। १९३८ में उनका अध्ययन इतना विस्तृत नहीं था, वे भावुक अधिक थे, साहित्यिक तत्त्वों की उनकी पकड़ ढीली थी, उनके विचारों में उचित संतुलन नहीं था, उनकी शैली में भी दृढ़ता की कमी थी। 'सुमित्रानन्दन पन्त' नामक पुस्तक में अनेक खूबियों के साथ साथ ये

दोष भी मिलेंगे। किन्तु उन्होंने अथक साहित्यिक तपस्या से इन दोषों को दूर किया। 'देव की कविता' नामक पुस्तक गम्भीर, चिन्तनपूर्ण एवं अधिकारी समालोचना के क्षेत्र में अत्यन्त सबल प्रयोग है।

हिन्दी समीक्षा को उनकी सब से बड़ी देन है उनकी जागरूक, विवेकपूर्ण, निष्पक्ष समीक्षा-वृत्ति। उन्होंने योरुपियन एवं संस्कृत समीक्षा-सिद्धांतों को प्रशंसनीय तत्व-चिन्तन से हिन्दी में सुलभ बनाया है। उन्होंने आलोचना की शब्दावली को समृद्ध किया है। उन्होंने अधिकारपूर्ण मान्यतायें हिन्दी-समीक्षा में स्थापित की हैं। हिन्दी साहित्य को उनसे बड़ी आशायें हैं।

: २२ :

डॉक्टर सत्येन्द्र

[पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश']

सत्येन्द्रजी के आलोचक जीवन के अध्ययन से दो बातों का स्पष्ट पता लगता है—एक तो वे अपनी गरीबी और कठिनाई में भी विद्याभ्यास करते रहे हैं और दूसरे नई पीढ़ी का निर्माण करने की भी चिन्ता में व्यस्त रहे है। नई पीढ़ी की चिन्ता उनको इसलिए भी रही है कि वे आज तक 'बालचर संस्था' से संबन्धित हैं। एक सच्चे बालचर की भाँति वे कर्तव्यपरायण और जागरूक व्यक्ति हैं।

साहित्य के प्रति उनकी रुचि का बहुत बड़ा कारण उनके तपस्वी पिता की अध्ययन-शीलता है। वे बचपन से ही स्कूली पुस्तकों के अलावा अन्य सामग्री को चाव से पढ़ते रहे हैं। उन्हें उपन्यासों का बड़ा शौक था। जब वे सुनते कि बड़े-बड़े उपन्यास लेखक कुछ पढ़े ही नहीं थे तो स्वयं भी लिखने की सोचते। लेकिन पिता जी उपन्यासों का पढ़ना बुरा बताते थे और समय व्यर्थ नष्ट करना समझते थे। फिर भी यह चुपचाप पढ़ते रहते थे। साहित्य में दूसरे जिस व्यक्ति से इनको प्रेरणा मिली वे थे 'बालचर संस्था' के अधिकारी श्री पी.एन. वाघ्रे। वे साइंस के विद्यार्थी होते हुए भी साहित्य में अधिक रुचि रखते थे। इनके पिताजी आर्य समाज के जलसे में जाते तो कुछ पुस्तकें अपने लिए और कुछ इनके लिए खरीद लाते। इस वाता-वरण और प्रेरणा के परिणामस्वरूप इन्होंने सातवें में ही बालचर संस्था के पत्र 'उद्धारका' में मनुस्मृति के विपय में लेख लिखा था। दूसरी रचना बालचर सम्बन्धी थी, जो 'कर्त्तव्य' नामक पत्र में निकली थी। सबसे पहला निबन्ध कृष्ण कवि के विषय में था जो 'माधुरी' में छपा था। इसके पश्चात् तो 'सैनिक', 'भारत' आदि पत्रों में उनके लेख पर लेख निकलते रहे। इन लेखों ने उनके भावी साहित्यकार के प्रति लोगों का ध्यान आकर्पित कर दिया।

शनैः शनैः उनका साहित्य में गम्भीरता से प्रवेश हो गया। इनकी जो सबसे पहली पुस्तक निकली वह थी 'साहित्य की झाँकी', जिसके खोजपूर्ण लेख 'वीणा' में निकले थे। इसमें भूषण के सम्बन्ध में जो लेख है वह हिन्दी में पहला लेख है जिसमें साहित्य के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को आवश्यक ठहराया गया है। उसके बाद 'गुप्तजी की कला' तैयार हुई। प्रेमचन्द पर आपने विशेष अध्ययन किया था। उसके फलस्वरूप 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी कला' की रचना हुई। 'हिन्दी एकांकी' की रचना नवलगढ़ में हुई। आगरे में आकर 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' पी. एच. डी. का प्रबन्ध लिखा। 'कला, कल्पना और साहित्य' तथा 'हिन्दी साहित्य में आधुनिक प्रवृत्तियाँ' उनके साहित्यिक निबन्धों के संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त 'कुणाल', 'प्रायश्चित्त' और 'मुक्ति यज्ञ' नाटक,

'बलिदान और स्वतन्त्रता का अर्थ' एकांकी, 'नागरिक कहानियाँ', 'विज्ञान की करामात' आदि पाठ्य पुस्तकें भी आपने लिखीं।

स्वभाव की दृष्टि से डॉक्टर सत्येन्द्र सीधे-साधे और विज्ञापन से दूर रहने वाले हैं। वे पृष्ठभूमि में रहकर ही कार्य करना पसन्द करते हैं। सभा-सोसायटियों की अपेक्षा मौलिक और ठोस सृजन-कार्य में उनकी विशेष रुचि है। अनुसन्धान कार्य के लिए उनके पास जो दृष्टि है वह बहुत कम लोगों पर होगी। अंग्रेजी में जिसे 'ऑल राउण्ड' कहते हैं वह जितना सत्येन्द्र जी पर घटित होता है उतना किसी पर नहीं। भाषा-विज्ञान और व्याकरण जैसे शुष्क विषयों से लेकर छायावाद की अस्पष्ट अभिव्यक्ति को वे एक ही प्रकार से सरस बनाकर छात्रों को समझा सकते हैं और लेखों में लिख सकते हैं। गहराई उनमें इतनी है कि सामानान्तर का व्यक्ति उनसे ऊब उठता है। मिलनसारी में तो कमाल है। चाहे जब चाहे कोई उनको पकड़ सकता है और घण्टों खराब कर सकता है, पर वे कभी न व्यस्तता का बहाना करेंगे न उससे ऊबने का आभास देंगे। इतना होने पर भी वे इतना लिख लेते हैं, जितना इस परिस्थिति में बहुत कम व्यक्ति ही लिख पायेंगे। उनका अधिकांश कार्य रात्रि के समय ही हो पाता है। कर्तव्यपरायणता और ईमानदारी उनमें कूट-कट कर भरी है। उन्होंने अनेक लेखकों और कवियों का निर्माण किया है। यों तो वे साहित्य की सभी धाराओं पर लिखते है, परन्तु लोक-साहित्य पर उनका अध्ययन प्रशंसनीय है।

सत्येन्द्रजी की आलोचना-पद्धति विश्लेषण और संश्लेषण प्रधान है। विश्लेषण में वे किसी कृति को सभी दृष्टिकोणों से देखते हैं—उसी प्रकार जैसे कोई फोटोग्राफर किसी का चित्र लेने पर किसी भी दिशा को नहीं छोड़ता। उदाहरण के लिए उनकी 'गुप्तजी की कला' और 'प्रेमचन्द : उनकी कहानी कला' पुस्तकें ली जा सकती हैं। प्रथम पुस्तक में उन्होंने गुप्त जी की कृतियों का वस्तु-विवेचन[१] किया है। उसमें विषय-विवेचन करते हुए केवल गुप्तजी की रचनाओं को ही नहीं लिया वरन् संस्कृत से लेकर आजतक उस विषय पर जो कुछ लिखा गया है उस सबसे रचना-विशेष की कथावस्तु का तारतम्य मिलाया है। इसके साथ-साथ सब रचनाओं की कथावस्तु में परस्पर समानता के तत्वों का विशेष रूप से उद्घाटन किया गया है। यों एक ओर अलग-अलग कथावस्तु का विश्लेषण और दूसरी ओर परस्पर कथाओं की संगति-संयुक्त संश्लेषण उनमें साथ-साथ चलते हैं। विश्लेषण और संश्लेषण की इस पद्धति द्वारा वे आलोच्य लेखक की देन को बड़ी सरलता से अलग कर देते है। वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि कहाँ और कितने अंशों में लेखक ने प्रगति की है। यही पद्धति प्रेमचन्द वाली पुस्तक में भी अपनाई गई है। उसमें कहानियों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। पहले उनकी कहानियों को स्त्री-पुरुष के आधार पर विभाजित किया गया है। उनमें स्त्री-प्रधान और स्त्री-शून्य कहानियों का विवेचन अलग से किया गया है। फिर सत्-असत् पक्ष

---

१. गुप्तजी की कला, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ८८–१२५

को लेकर कहानियों का विभाजन हुआ है। उसके बाद स्त्री-पुरुष सम्बन्ध वाली कहानियाँ ली गई है। आगे चल कर कहानियों में पशुओं का विश्लेषण है और अन्त में घटना-संयोजन का महत्त्व बताकर टैकनीक के आधार पर कहानियों के विभाजन से यह अध्याय समाप्त हुआ है। प्रत्येक विभाजन के साथ कहानियों के नाम दिए गए हैं। इन वर्गों में जो उपवर्ग हैं उनकी संख्या भी बहुत है। उदाहरण के लिए स्त्री-पुरुष सम्बन्ध वाले वर्गीकरण को लिया जा सकता है।[1] इसमें (१) प्रेम सम्बन्धी, (२) विवाह सम्बन्धी, (३) वेश्या सम्बन्धी, (४) सतीत्व सम्बन्धी (५) पुरुष को जीतने वाली स्त्री सम्बन्धी (६) स्त्री को जीतने वाले पुरुष सम्बन्धी (७) स्त्री को खोने वाले पुरुष सम्बन्धी (८) स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध -सम्बन्धी (९) पुरुष से प्रबल स्त्री सम्बन्धी (१०) रसिकता-सम्बन्धी आदि शीर्षकों से कहानियों का विभाजन है। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग में सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रकार की कहानियों को अपने उपवर्ग में रखा गया है। कहानियों के नाम भी साथ दिए गए हैं। हुआ यह है कि लेखक के सामने प्रेमचन्द की समस्त कहानियाँ हैं—उन समस्त कहानियों को वर्गों और उपवर्गों में विभाजित किया है, जिससे एक कहानी कई वर्गों में आगई है, लेकिन अपने उपवर्ग की दृष्टि से वह असंगत नहीं है। वर्गों और उपवर्गों के नामकरण में लेखक ने स्वतंत्रता रखी है। इस विभाजन से विषय के स्पष्टीकरण में तो सहायता मिलती है, पर पाठक का मन अवश्य घबरा उठता है।

जैसा कि हम कह चुके है, यों तो विश्लेषण और संश्लेषण साथ-साथ चलते हैं परन्तु अलग से भी वे अपने निबन्धों में संश्लेषण पद्धति का परिचय देते हैं। उदाहरण के लिए उनका 'सूर के नयन'[2] निबन्ध लिया जा सकता है। नेत्रों के विषय में सूरदास की उद्भावनाओं के सौंदर्य की झाँकी देने में और कोई लेखक होता तो साधारण रूप से नेत्रों के सम्बन्ध में उद्धरण देकर उनके काव्यगत सौंदर्य को स्पष्ट कर देता। लेकिन सत्येन्द्रजी ने पहले भारतीय कला की आन्तरिक सौंदर्य-परक दृष्टि का परिचय दिया है, फिर नेत्रों की महत्ता बताई है और फिर नेत्र, उनके साथी मन, गोपी और कृष्ण इन चारों की स्थिति का तारतम्य मिलाया गया है। यही नेत्रों को विषयीपरक (Subjective) और विषयपरक (Objective) इन वर्गों में बाँट कर उनके स्वभाव का चित्रण है। उसके बाद मन, गोपी और कृष्ण की दृष्टि से नेत्रों की स्थिति का चित्र दिया गया है। इसके साथ ही गोपी-कृष्ण की आध्यात्मिक सत्ता को भी ले लिया गया है। एक नेत्रों के वर्णन में यों सूर के चरित्र-चित्रण और दर्शन तथा आचार-सम्बन्धी प्रश्नों पर भी प्रकाश डाल दिया गया है। संश्लेषण की इस पद्धति से उनकी आलोचना में गहराई आ गई है।

सत्येन्द्रजी की आलोचना में शब्दों और प्रवृत्तियों के ऐतिहासिक विवेचन भी ऐसे

---

१. **प्रेमचन्द: कहानी कला, पृष्ठ ६२**

२. **कला, कल्पना और साहित्य, पृष्ठ १३८**

हैं, जो उन्हें अन्य आलोचकों से भिन्न कर देते हैं। 'साहित्य की झाँकी में' विष्णु का विकास[1] और 'भूषण कवि तथा उनकी परिस्थिति' शीर्षक निबन्ध उनकी इस विशेषता को समझने के लिए पर्याप्त है। पहले निबन्ध में वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण, वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि के आधार पर तथा अन्य अंग्रेज़ी ग्रंथों के आधार पर 'विष्णु' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों का स्पष्टीकरण करके आज वह जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसका स्वरूप-निर्धारण किया गया है। दूसरे निबन्ध में उन राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन है, जिनमें भूषण उत्पन्न हुए थे। प्रतिपाद्य यह है कि भूषण के निर्माण में इन परिस्थितियों का ही हाथ था। इस निबन्ध की आज कोई महत्ता न हो, परन्तु जब यह लिखा गया था तब हिन्दी में इस प्रकार से विचार करने की प्रणाली का जन्म भी नहीं हुआ था। इस निबन्ध में एक बात और है, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलती और वह है संस्कृत में 'शिवराज' भूषण' की शैली पर लिखी गई रचनाओं का परिचय। लेखक ने संस्कृत की इन रचनाओं के निर्माण का प्रमुख स्थान दक्षिण को माना है। विवेचन की ऐतिहासिक प्रवृत्ति का बहुत अच्छा परिचय उनकी 'हिन्दी एकांकी' नामक पुस्तक में मिलता है। इस पुस्तक में एकांकी का विवेचन संस्कृत और भारतेन्दु तथा प्रसाद को दृष्टि में रख कर हुआ है। संस्कृत और अंग्रेजी के तुलनात्मक अध्ययन से एकांकी का स्वरूप विशेष रूप से उद्घाटित हुआ है। इस प्रवृत्ति में सत्येन्द्रजी की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति के विशेष रूप से दर्शन होते हैं।

कला का स्वरूप निर्णय करने का प्रयत्न उनकी आलोचना-पद्धति की एक और उल्लेखनीय विशेषता है। कला के स्वरूप-निर्णय में वे शैली को विशेष रूप में दृष्टि में रखते हैं लेकिन उसके साथ ही साथ उसके दार्शनिक तथा सामाजिक महत्व को भी प्रकट करते चलते हैं। एक वाक्य में कहें तो वे कला के स्वरूप-निर्णय में आलोच्य कवि या कृति को सभी रूप में देखकर अपना निर्णय देते है। कला में वे भाव और भाषा दोनों के सौंदर्य की सापेक्ष स्थिति स्वीकार करके चलते हैं।

सत्येन्द्रजी की आलोचना अंग्रेज़ी ढंग की होती है। वे अंग्रेज़ी के शब्दों को कोष्ठकों में देते चलते है। मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक शब्दों के हिन्दी शब्द बनाने में वे स्वतंत्रता बरतते है। ऐसे शब्दों के बनाने में वे पहले बोलचाल के शब्द ढूँढ़ते है और उनका धड़ल्ले के साथ प्रयोग करते हैं। जैसे टैकनिक के लिए उन्होंने 'ढर्रा' शब्द बनाया है, जो व्रजभाषा का ठेठ ग्रामीण शब्द है। ऐसा लगता है, जैसे वे अंग्रेजी में सोचते हों। साहित्यिक पारिभाषिक शब्दावली का यह बाहुल्य कभी-कभी खटकने भी लगता है। दूसरी बात यह है कि वे आलोचना मे मौलिक होने के लिए शास्त्रीयता की भी परवाह नहीं करते। वस्तुतः उनका

---

१. साहित्य की झाँकी, पृष्ठ १०

२. वही पृष्ठ १२९

चिन्तन इतना व्यापक और गहरा होता है कि वह शास्त्रीयता की सीमा में नहीं समा पाता और उन्हें विवश होकर उसे छोड़ देना पड़ता है। यही कारण है कि विश्लेषण की जो पद्धति उन्होंने अपनाई है, वह हिन्दी वालों के गले न उतरने या कम उतरने के कारण कुछ क्लिष्ट जान पड़ती है। उनकी भाषा में मुहावरों और कहावतों का अभाव-सा है, यह भी एक कारण है, जो उनको समझने में कठिनाई होती है। वे अपनी रचनाओं में 'उद्धरणों' की भरमार नहीं करते। विवेचन ही इतना स्थान घेर लेता है कि उसके अतिरिक्त अन्य उद्धरणों के लिए स्थान नहीं रहता। उद्धरणों की कमी वे अपनी मौलिक व्याख्या से पूरी करके सरसता ले आते हैं। बातचीत के सिलसिले में एक बार उन्होंने कहा था—"मैं एक फोटोग्राफर की भाँति कैमरे की दृष्टि से दिखने वाले सौंदर्य को देखता और उसके कारण देता हूँ। इसी स्थल पर पाठकों को कठिनाई होती है। उन्हें कठिनाई भले ही हो पर वस्तु से व्यक्ति तक पहुँचने का मार्ग यही है और आलोचना की प्रणाली इसके अतिरिक्त दूसरी कोई रखी जाय तो न हम वस्तु (कृति) को समझ सकते हैं न व्यक्ति (कृतिकार) को।"

सत्येन्द्रजी आलोचना में अपने इस दृष्टिकोण को ही रखते हों ऐसा नही है। कहीं-कहीं शास्त्रीय पक्ष को लेकर भी सूक्ष्म विवेचन करते हैं। जैसे 'आचार्य कवि दास की परख।'[1] नामक निबन्ध में। इसमें उन्होंने सेठ श्री कन्हैयालाल पोद्दार जैसे आलंकारिक को प्रत्युत्तर दिया है, जिन्होंने कवि के 'काव्य-निर्णय' पर 'वीणा' में तीन लेख लिखे थे। इस लेख में कवि 'दास' के सिद्धांतों की मौलिक धारणा प्रस्तुत की गई है। उससे उनके गंभीर शास्त्रीय अध्ययन का पता चलता है। लेकिन इस शास्त्रीयता का उपयोग अपनी आलोचना में उन्होंने कम ही किया है। इसका कारण यह है कि वे अंग्रेज़ी आलोचना-पद्धति से अधिक प्रभावित हैं। दर्शन, मनोविज्ञान, तर्क-शास्त्र और सौंदर्य-शास्त्र के आधार के साथ प्रभाववादी आलोचना के भी कुछ तत्त्व उनमें मिलते हैं। इन सब से मिलकर उनकी आलोचना-पद्धति एक नई शैली का प्रतिनिधित्व करती है। अस्पष्टता का जो दोष पहले सामान्य पाठक को दिखाई देता था उसका भी अब परिहार हो रहा है, जो शुभ है।

---

१. कला, कल्पना और साहित्य, पृष्ठ २३३

: २३ :

आधुनिक शास्त्रीय आलोचक

[डॉक्टर ओम्प्रकाश]

साहित्य के दूसरे रूपों के समान आलोचना में भी रीतिकाल की अविच्छिन्न परंपरा आधुनिक युग तक चलती रही। हाँ, विवेचन की वैज्ञानिक शैली, गद्य का माध्यम, प्राचीन ग्रन्थों की सुगम प्राप्ति, अनुसंधान के तत्वों से लाभ, तथा विरच्यमान पुस्तक की उपादेयता आदि सुविधाओं ने इस युग में हमारे आचार्यों के सामने एक नया क्षेत्र खोल दिया; वे माँग के अनुकूल नये नये प्रयोग करने लगे; और प्रत्येक आचार्य अपनी कुछ विशेषताओं के साथ ही आगे बढ़ा—रीतिकाल में जो नीरस पिष्टपेषण हुआ था उसकी इतिश्री हो गई।

शास्त्रीय आलोचना के विभिन्न सम्प्रदायों में से इस युग में भी अलंकार-सम्प्रदाय का सार्वभौम शासन रहा; प्रतिक्रिया—स्वरूप कुछ लोग रस की प्रतिष्ठा के लिए भी आगे बढ़े, परन्तु शेष सम्प्रदायों की ओर ध्यान न जा सका—उनका केवल संकेत ही आचार्यों में यत्र-तत्र मिलता है। कारण कदाचित् यह रहा हो कि पाश्चात्य आलोचना के विभिन्न सम्प्रदाय ('वाद') केवल विश्लेषणात्मक तथा समकालीन होने के कारण आलोचक को अधिक आकृष्ट कर लेते हैं, पुराने शास्त्रीय सम्प्रदायों को समझ कर ग्रहण करने की सामर्थ्य आलोचक में हो भी परन्तु पाठक में उस गंभीर विषय को समझने का धैर्य नहीं है। आधुनिक हिन्दी आलोचना का इतिहास शास्त्रीय आलोचना से धीरे-धीरे हटकर पाश्चात्य आलोचना पर आ जाना है। वर्त्तमान युग में दोनों धाराएँ समानान्तर रूप से चल पड़ी हैं, क्योंकि आलोचना के क्षेत्र में भी यह अनुभव किया जा रहा है कि आलस्यवश, अपनी पूँजी को खोद कर बाहर निकाले बिना, कर्ज़ ले-लेकर सारी ज़िन्दगी नहीं कट सकती।

वर्त्तमान शास्त्रीय आलोचकों की अपनी-अपनी विशेषताएँ अवश्य हैं परन्तु विवेचन तथा प्रतिपादन में ही, प्रतिपाद्य विषय में मौलिकता का प्रश्न इस युग में भी प्रायः ज्यों का त्यों बना रहा। लोकरुचि या समय की माँग के अनुकूल प्रभूत सामग्री में से "किम् ग्राह्यम्", "किम् अग्राह्यम्" पर ही हमारे आलोचक आचार्य बन गये। कवियों के समान आलोचकों की भी इस युग में बाढ़ आ गई है और अधिकतर ऐसे हैं जो शास्त्रीय आलोचना के ज्ञान के बिना भी चलते-चलते, अपना व्यावसायिक कर्त्तव्य समझकर, दो-एक बात कह जाते हैं। शेष शास्त्रीय आलोचकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है :—(क) प्राचीनों के ही अनुसार अलंकार-शास्त्र की लक्षण-उदाहरण वाली शैली पर पुस्तक लिखने वाले; (ख) अलंकार-शास्त्र पर विचारात्मक (प्रायः अनुसन्धान के सहारे)

पुस्तक लिखने वाले। शास्त्रीय आलोचकों में यह पिछला वर्ग अपेक्षाकृत बहुत ही नवीन है।

अलंकार के आचार्य

अब हम आधुनिक शास्त्रीय आलोचक तथा उनकी कृतियों पर विचार करते हैं। अलंकार-सम्प्रदाय का प्रभुत्व होने के कारण पहिले इसी सम्प्रदाय के आचार्यों को लेंगे; मुरारिदान, भानु, दीन, केडिया, पोद्दार तथा मिश्र (रामदहिन) के प्रयत्न इधर सराहनीय हैं।

कविराजा मुरारिदान : जसवंत जसोभूषन

महाराज जसवंतसिंह के आज्ञानुसार कविराजा मुरारिदान ने सं. १९५० में "जसवंत जसो भूषन" ग्रन्थ लिखा, जिसका लघु संस्करण "जसवंत भूषण ग्रन्थ" था। "भाषा भूषण" को 'अलंकार कौ ज्ञान' में समर्थ न समझकर १५ वर्ष में कविराजा ने इस 'निर्मल ग्रन्थ नवीन' की रचना की थी।

प्रस्तावना में लेखक ने बतलाया है कि —"....संस्कृत और भाषा में अलंकारों के ग्रन्थ अनेक हैं, पिष्ट-पेषण तो व्यर्थ है, कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिए कि जिससे विद्वानों को इस ग्रन्थ के अवलोकन की रुचि होवे, और विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ के पढ़ने से विलक्षण लाभ होवे, तब राजराजेश्वर के पुण्य प्रभाव से चन्द्रालोक ग्रन्थ की—"स्यात् स्मृति-भ्रान्ति-सन्देहैस्तदेवालंकृतित्रयम्" इस कारिका की स्मृति होकर यह स्फुरणा हुई कि 'दूसरे कवियों ने तो अलंकारों के नामों को लक्षण नहीं समझा है, इसलिए सबों ने नामों के अतिरिक्त लक्षण बनाये हैं। एक जयदेव कवि ने स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह इन तीन अलंकारों के नामों को लक्षण समझा है' . . . समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण सिद्ध हो गये।"

अनुप्रास अलंकार का स्वरूप बतलाते हुए कविराजा जी ने लिखा है :—

अनु =वीप्सा; अनेक बार

प्र =प्रकृष्ट; उत्तम

आस =न्यास; धरना

बारंबार उत्तम धरना

"अर्थ के बारंबार धरने में पुनरुक्ति दूषण होता है, उसमें विपरीत भाव अर्थात् भूषण का बोध कराने के लिए——इस नाम में 'प्र' उपसर्ग लगाया है। यहाँ काव्य के अलंकारों का प्रकरण है और काव्य में शब्द-अर्थ ये दो ही वस्तु होती हैं, सो अर्थ का बारंबार धरना तो दूषण है उत्तम नही इससे और शब्दालंकार के प्रकरण से, यहाँ शब्द बारंबार धरना अर्थसिद्ध है।"

इस व्याख्या में अनावश्यक खींचतान की गई है। अर्थ की आवृत्ति में दूषण क्या है? क्या किसी और आचार्य ने भी ऐसा माना है? क्या वीप्सा तथा पुनरुक्तप्रकाश में आवृत्ति

नहीं होती ? 'शब्द का बारंबार धरना' ही यदि अनुप्रास का लक्षण माना जायगा तो क्या इसमें अतिव्याप्ति दोष न आजावेगा। यह स्पष्ट नहीं कि यह आवृत्ति सव्यवधान हो सकती है या नहीं, क्या उसका एक ही चरण में होना आवश्यक है, यह आवृत्ति एक बार होगी या अनेक बार ?

बानगी के लिए 'उपमा' तथा 'परिसंख्या' के स्वरूप को भी देखा जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि कविराजाजी आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों को अलंकार विषय का कामचलाऊ ज्ञान करा रहे हैं—किस प्रकार नाम सुनते ही सारी विशेषताएँ याद आ सकती हैं।

कविराजा ने दूसरे ग्रन्थों को पढ़कर अलंकारों के नामों में लक्षण देखे या अपनी सूझ से ही—यह कहना कठिन है। परन्तु यह निश्चय है कि जयदेव कवि के अतिरिक्त आचार्यो—हिन्दी आचार्यों—ने भी इस विलक्षणता पर ध्यान दिया था। यह प्रवृत्ति प्रायः तो उन्हीं तीन अलंकारों के विषय में थी :—

(क) **सुमिरन, भ्रम, संदेह को लच्छन प्रगटै नाम।** (काव्य निर्णय)
(ख) **लच्छन नाम प्रकास है, सुमिरन, भ्रम, संदेह।** (,, ,,)
(ग) **सुमिरन सुमृति, सुभ्रान्ति भ्रम, बिन निश्चय संदेह।**
निश्चय बिन संदेह, ये जानि नाम ते लेह॥ (काव्यरसायन)

देवकवि में इस ओर कुछ अधिक झुकाव दिखाई पड़ता है :—

(क) **दृष्टान्तालंकार सो लक्षन नाम प्रमान** (काव्य रसायन)
(ख) **जहाँ अर्थ संभव नहीं, ताहि असंभव भाखि।** (,, ,,)

परन्तु इन सभी आचार्यों ने नाम को संकेत भर माना है, लक्षण नहीं। वस्तुतः नाम स्वरूप का ठीक-ठीक बोध नहीं करा सकते। संभव है साहित्यशास्त्र के शैशव में अलंकारों के नाम कुछ सोचकर रखे गये हों। परन्तु ज्यों-ज्यों नये-नये अलंकार जन्मते गये, त्यों-त्यों पुराने नाम अतिव्याप्त दिखलाई पड़ने लगे—उपमा अलंकार का क्षेत्र सादृश्यमात्र से किस प्रकार संकीर्ण होता चला गया है, यह कभी फिर कहने की कहानी है। साहित्य-शास्त्र में एक ही शब्द "रूपक" आज अलग-अलग क्षेत्रों में अलग अलग अर्थों का बोधक है। "स्मरण" भाव भी होता है तथा अलंकार भी। "अप्रस्तुत प्रशंसा" में "प्रशंसा" का अर्थ ही अलग है। अस्तु, अलंकारों के नामों में उनके लक्षण नहीं मिल सकते; और जब तक शास्त्रीय लक्षण न विदित होगा तब तक अलंकारों का वास्तविक स्वरूप, पारस्परिक अन्तर, तथा वर्गीकरण समझा नहीं जा सकता।

इस ग्रंथ में ८१ अलंकार हैं; १ शब्दालंकार तथा ८० अर्थालंकार। अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक, अभेद, अवसर, आभास, नियम, प्रतिभा, मिष, विकास, संकोच, संस्कार अलंकार बिलकुल नये हैं। कुछ अलंकार तो आपस में एक दूसरे के विपरीत हैं—(क) अवसर तथा अनवसर, (ख) संकोच तथा विकास। कुछ अलंकार पूर्व-

स्वीकृत अलंकारों के विपरीत हैं—(क) अतुल्ययोगिता, (ख) अपूर्वरूप, तथा (ग) अप्रत्यनीक। इस विपरीत सृष्टि में चमत्कार नहीं रह जाता, इसलिए अलंकारत्व का भी लोप हो जाता है। 'तुल्ययोगिता' में प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों का एक ही साधारण धर्म एक बार कहा जाता है, 'अतुल्ययोगिता' में इसका विपरीत होगा; यदि प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों का एक ही सामान्य धर्म होगा तो अलंकार दीपक है इसलिए उससे विभेद करते हुए 'अतुल्ययोगिता' में अनेक प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों के धर्म अलग-अलग (एक ही न) होंगे :—

मेघमाल जल अल्प दें, विरल जु फल तरु पंत।
कलि प्रभाव कम दान मैं, भयौ न नृप जसवंत॥

यहाँ प्रस्तुत है 'नृप जसवंत', तथा अप्रस्तुत 'मेघमाल' और 'तरुपंत' हैं, जिन दोनों के अलग-अलग धर्म 'जल अल्प' तथा 'विरल फल' का कथन है। इस उदाहरण में यदि कोई सौन्दर्य है तो व्यतिरेक का ही, दो अप्रस्तुतों के अलग-अलग धर्म होने से सौन्दर्य में कोई वृद्धि नहीं होती।

'अभेद' अलंकार 'अभेद रूपक' ही है, 'नियम' तथा 'परिसख्या' में कोई अन्तर नहीं, और 'विकास', 'अवसर', तथा 'संकोच' में अलकारत्व नहीं दिखाई पड़ता, 'प्रतिमा', तथा 'संस्कार' के विषय में भी यही बात है। 'रूपक' अलकार को कविराजा ने नाट्यशास्त्र के 'रूपक' से मिलाकर घपला कर दिया है।

ग्रन्थ की छठवीं आकृति में उन अलंकारों के नाम है जिनका अन्तर्भाव दूसरे अलंकारों में कर दिया गया है। ये हैं—अत्युक्ति, अनन्वय, अनुगुण, अर्थान्तरन्यास, असंगति, आशी, उन्मीलित, उपमेयोपमा, परिकरांकुर, पुनरुक्तवदाभास, प्रतीप, प्रस्तुतांकुर, प्रौढ़ोक्ति, ललित, व्याजनिन्दा, व्याजोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति—सब मिलाकर १८। इनमें से अधिकतर के विषय में पुराने आचार्यों में भी मतभेद रहा है। अत्युक्ति को संस्कृत वाले नहीं मानते; परिकरांकुर को परिकर के तथा प्रस्तुतांकुर को अप्रस्तुतप्रशंसा के अन्तर्गत किया जा सकता है, अनन्वय, अनुगुण, आशी, उन्मीलित, उपमेयोपमा आदि भी विशेष महत्त्व के नहीं; परन्तु अर्थान्तरन्यास, असगति, प्रतीप, विभावना तथा विशेषोक्ति तो मुख्य अलंकारों में से हैं। काव्यलिंग तथा अर्थान्तरन्यास में सूक्ष्म अन्तर है, असंगति विरोध नहीं हो सकती, और यदि विभावना तथा विशेषोक्ति को भी विचित्र अलंकार के (दे. पृ. ३१०) अन्तर्भूत किया जा सकता है तो दूसरे अलंकारों को भी यही दण्ड मिलना चाहिए क्योंकि अन्ततोगत्वा सब के मूल में विचित्रता भी रहती है। हाँ, प्रतीप के कुछ भेद पुराने आचार्यों को भी नहीं जँचे और रसगंगाधर में तो प्रथम ३ भेदों को उपमा के, चौथे को आक्षेप के और पाँचवें भेद को अनुक्तवैधर्म्यरूप व्यतिरेक के अंतर्गत मान लिया गया था; हमारे आचार्य ने उसी मत का समर्थन सा किया है (दे. पृ. २९७)। शब्दालंकारों का अन्तर्भाव प्रयोग से स्पष्ट है, लाटानुप्रास तथा यमक को अनुप्रास के अन्तर्भूत कर दिया है। यह कोई नई

बात नहीं। रीतिकाल के अनेक आचार्यों ने वक्रोक्ति को तो अर्थालंकार कहा तथा यमक को अनुप्रास का एक भेद 'जमकानुप्रास' माना है।

इस ग्रन्थ की एक मौलिकता या विचित्रता यह है कि अर्थालंकारों में "उपमा अति प्रसिद्ध है, इसलिए उपमा को प्रथम कहकर फिर वर्णमाला क्रम से दूसरे अलंकार" कहे गये हैं। अकारादि क्रम से अलंकारों की चर्चा करना बड़ा हास्यास्पद बन गया है—विशेषतः उस समय जबकि प्रारंभिक सभी अलंकार नगण्य ही हों। पुराने आचार्यों ने क्रम में एक तो यह ध्यान रखा था कि जो अलंकार जितने अधिक महत्त्व का है उतना ही वह पहिले रखा जाना चाहिए और दूसरा यह कि एक वर्ग के अलंकार यथासंभव एक साथ हों; परंतु कविराजा ने इन दोनों गुणों की अवहेलना कर दी। यदि अकारादि क्रम ही ठीक सोचा था तो उपमा के साथ अनुचित पक्षपात करके उसको सर्वप्रथम स्थान क्यों दिया? इसीलिए न कि लेखक को स्वयं अपनी योजना बड़ी शिथिल दिखलाई पड़ रही थी।

लेखक की शैली पाण्डित्य के अनुकूल भले ही हो, उपयोगिता की दृष्टि से बड़ी हीन है। पहिले लक्षण तथा उदाहरण पद्य में दे दिये हैं फिर गद्य में उनकी व्याख्या है। जो बात पद्य में लिख दी उसी को फिर गद्य में लिखना उस समय शायद गुण समझा जाता रहा हो, परंतु आजकल की व्यस्त दृष्टि से एक दोष है। कविराजा ने लगभग प्रत्येक अलंकार के लक्षण पर अनावश्यक समय लगाया है, फिर दूसरों की आलोचना का कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं दिया। हाँ, लक्षणों में उदाहरणों को घटाने का संकेत छात्रों के लिए लाभदायक है। कविराजा पंडित थे परन्तु आचार्य नहीं—विषय को भलीभाँति समझ कर दूसरों के लिए सुगम बना देना, इनसे न हो पाया। इनका विवेचन गद्य का माध्यम होने पर भी उलझ गया है। मौलिकता के प्रयत्न में इन्होंने पाठक को मार्गभ्रष्ट कर दिया है। लुप्तोपमा में ये केवल धर्मलुप्ता को ही मानते हैं शेष "मनरंजन न होने से अलंकार के प्रकार नहीं" माने गये; अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय में इनका अपना मत है; और प्रत्यनीक के क्षेत्र में भी इन्होंने परिवर्त्तन कर दिया है।

कविराजा बहुश्रुत थे। संस्कृत के कुछ अच्छे छन्दों का छायानुवाद मिलता है, भाषा-कवियों में बिहारी के उद्धरण हैं, जसवंत सिंह का तो बड़ा ऋण है ही, रसगंगाधर का प्रभाव प्रचंडता तथा काट-छाँट में है; नवीन अलंकारों के उदाहरण तो प्रायः मतिराम से ही आये हैं। उनकी योग्यता का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता, परन्तु उनका अहंकार संदेहरहित है। कविराजा ने उपमा के १० भेद किये जो प्रायः केशव का ऋण ही बतलाते हैं। देहली दीपक इनसे पूर्व भी था, परन्तु ये लिखते हैं कि—"यह दीपक का प्रकार हमारे से लिखा गया है।" विषाद अलंकार के प्रसंग में रससिद्धान्त को घसीट बैठे हैं। अलंकारों की संख्या कम करने से ये रसवादियों के वर्ग में चल सकते थे, परन्तु रस तथा भाव के ७ अलंकारों के लिए पूरी "पंचम आकृति" लगा बैठे, फिर भी आश्चर्य यह कि ८ प्रमाणालंकारों का नाम भी नहीं लिया।

जगन्नाथ प्रसाद भानु : काव्य-प्रभाकर

सं. १९६६ में बा. जगन्नाथ प्रसाद (भानु कवि) ने साहित्यशास्त्र पर "काव्य प्रभाकर" नाम का ग्रन्थ लिखा, जो द्वादश मयूखों तथा ७८६ पृष्ठों में साहित्य के सभी अंगों पर प्रकाश डालता है। अलंकार-विषय नवम मयूख में है। ३ पृष्ठ की प्रस्तावना में लेखक ने इस दीर्घाकार ग्रन्थ की रचना के दो कारण बतलाये हैं; (क) दूसरी प्राप्त पुस्तकें प्रायः शिथिल तथा अव्यवस्थित हैं (ख) उनमें विषय के सभी अंगों पर विचार नहीं किया गया।

दीर्घाकार के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता अंग्रेज़ी पढ़े पाठकों का ध्यान रखना है। लेखक ने प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है, प्रस्तावना अंग्रेजी में लिखी है, और ग्रंथारंभ में २८ पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेज़ी पर्याय दे दिये हैं।

लेखक के दृष्टिकोण को समझने के लिए इस ग्रन्थ की "भूमिका", "अनुभूमिका", तथा "उपसंहार" का विशेष महत्व है। काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द, कवि-प्रिया, काव्यनिर्णय, भाषाभूषण, ललितललाम तथा पद्माभरण आदि ग्रन्थों तथा वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, केशव आदि कवियों को सादर स्मरण किया है। काव्य का प्राचीन इतिहास, सम्प्रति अवनति के कारण, काव्यनिर्माण के कारण, काव्यस्वरूप आदि पर भी भूमिका में सरल हिन्दी गद्य में विचार कर लिया गया है।

"अनुभूमिका" में भानुकवि ने काव्यशास्त्र स·बन्धी कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है। वे सिद्धान्त ये हैं :

(क) जो काव्य की शोभा को बढ़ावे वही अलंकार है।

(ख) अलंकार काव्य का हृदय स्वरूप है, क्योंकि उसका आभास हृदय ही में होता है।[1]

(ग) जहाँ चमत्कार नहीं वहाँ कोई अलंकार नहीं।

(घ) अलंकारहीन काव्य नग्न कहलाता है।

(ङ) अलंकार के ३ भेद हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार।

(च) मेरे मत में अलंकार १०८ हैं; शब्दालंकार ८ और अर्थालंकार १००।

इन सिद्धान्तों में कोई मौलिकता नहीं प्रत्युत समन्वय का प्रयत्न है। भानुजी अलंकार को शोभाकारक नहीं मानते प्रत्युत सौन्दर्यवर्द्धक मानते हैं, साथ ही केशव के साथ अलंकारहीन काव्य को नग्न भी कह देते हैं। सौन्दर्य मात्र अलंकार नहीं है, परन्तु जहाँ अलंकार होगाँ वहां सौन्दर्य अवश्य होगा। भानु कवि को हम अलंकारवादी नहीं कह सकते, परन्तु वे अलंकार के महत्व की अवहेलना न कर सके; वे मम्मट—विश्वनाथ

---

[1] **व्यंग रु रस तें भिन्न जो, हृदय रूप सरसांहि।**
चमत्कार भूषण सरिस, सोई भूषण आँहि॥

से बहुत कुछ सहमत हैं। अलंकार को काव्य का हृदय बड़ी शिथिल युक्ति के बल पर कहा है, काव्यमात्र का आभास हृदय ही में होता है, केवल अलंकार का ही क्यों?

'काव्य प्रभाकर' के नवम मयूख में अलंकार विषय दीर्घाकार १६५ पृष्ठ में फैला हुआ है। कारण लक्षणों या उदाहरणों की व्याख्या या आलोचना नहीं, प्रत्युत उदाहरणों की भरमार है। अष्टम मयूख के भीतर शान्तरस के प्रकरण में उदाहरणों के लिए ४६ सवैये और छप्पय जुटाये गये हैं, अलंकार प्रकरण में भी यही प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकरण में "अलंकारों के दूषण" तथा "३६ प्रकार के न्यायों का वर्णन" भी रख दिये गये हैं। प्रत्येक अलंकार के प्रसंग में उसका नाम, संस्कृत लक्षण, इस लक्षण के पदों का अर्थ, संस्कृत उदाहरण, भाषा-लक्षण, भाषा-उदाहरण, भावार्थ तथा अन्त में 'अन्यान्य उदाहरण' की लड़ी मिलती है।

भानुकवि ने मूल के साथ "सूचना", "प्रश्नोत्तर" तथा "फुटनोट" की तीन विशेषताओं को भी जोड़ा है। "सूचना" के द्वारा लेखक प्रायः दो या अधिक अलंकारों का पारस्परिक भेद सरल गद्य में समझा देता है (दे. पृ. ५९३ छेकापन्हुति का भेद); या छात्रों के लिए ध्यान रखने योग्य बातें बतला देता है (पृ. ५५१ अनुचितार्थ दोष)। प्रश्नोत्तर द्वारा शंका-समाधान से विषय स्पष्ट किया जाता है[1]। फुटनोट केवल स्वमत प्रकट करता है[2]। स्पष्टीकरण के ये तीनों प्रकार लेखक का पाण्डित्य तथा आचार्यत्व दोनों ही के द्योतक हैं, सर्वत्र सभी का सहमत होना संभव नहीं, परन्तु भानुकवि के निर्भ्रान्ति ज्ञान की प्रशंसा करनी ही पड़ेगी।

'काव्य प्रभाकर' में हठात् मौलिकता लाकर पंडित बनने का प्रयत्न नहीं किया गया। लेखक का परिश्रम तथा संग्रह-बुद्धि सराहनीय है, वह पाठक की कठिनाई को ठीक-ठीक समझकर उसको हल करना भी जानता है; उसका यह प्रयत्न रहा है कि अन्यत्र जो कुछ अच्छा है उसे साभार ग्रहण कर लिया जावे। संस्कृत-अंश तो दूसरों का है ही, भाषा का भी सारा अंश अपना नहीं है। प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त लछिराम, गुलाब, माखन तथा गोकुल जैसे अप्रसिद्ध कवियों की सुन्दर रचनाएँ उदाहरणों में रख कर उनको भी नष्ट होने से बचाया है; प्रमाण अलंकार के उदाहरण में माखन कवि का यह कवित्त देखिए:—

---

[1] **प्रश्न—लेश और उल्लास में क्या अन्तर है?**
उत्तर—लेश में दोष को गुण अथवा गुण को दोष कल्पना करना होता है और उल्लास में एक के गुण-दोषों से दूसरे के गुण-दोष कथन किये जाते हैं।

[2] **भ्रमर के व्याज से नायक प्रति जहाँ कोई उक्ति कही जाय उसे कतिपय कवियों ने भ्रमरोक्ति कहा है। मेरे विचार में भ्रमरोक्ति तथा अन्योक्ति दोनों ही गूढ़ोक्ति के अन्तर्गत हैं। (पृ०५८८)**

वेद के पढ़ैया को अढ़ैया को न लागै जोग,
आल्हा के गवैया को रुपैया रोज खानो है।
होती क्यों न होती गरे पोती कुलनारिन क,
हार बारनारिन को बसन खजानो है।
'माखन' कहत गुर पैसा को पसेरी भर,
पैसा ही को पैसा भर माहुर बिकानो है।
यारो गुन मानो और गुन को न दोष देहु,
गुन ना हिरानो गुन-गाहक हिरानो है।

वस्तुतः भानुकवि की विशेषता उदाहरणों में ही अधिक है; हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत तथा फ़ारसी के उदाहरण भी यत्र-तत्र मिलेंगे; पहिली बार गद्य के व्यावहारिक उदाहरण हमारे आचार्य ने ही रखे हैं, यद्यपि वहाँ अलंकार का मुख्य गुण चमत्कार है नहीं, उल्लेख अलंकार का एक उदाहरण यह है—"हमारे तो डिपुटी कमिश्नर, कमिश्नर चीफ़ कमिश्नर, और लाट साहब सब आप ही हैं।"

इस ग्रन्थ में शब्दालंकारों में पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास (५ भेद), यमक, वक्रोक्ति, भाषासमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र को स्थान मिला है; उपमा के ४ भेद—पूर्णा, लुप्ता, रशना तथा माला—हैं; शेष में साहित्यदर्पण का क्रम तथा भेद ही भानुकवि ने अनुकरणीय समझा है। रस तथा भाव के ७ अलंकार लेखक को मान्य नहीं[1] तो भी "उनसे भी काव्य-प्रभाकर के पाठक अज्ञात न रहें, एतदर्थ उन्हें भी 'भूषणचन्द्रिका' से उद्धृत कर अपनी सम्मति सहित" लिख दिया है।

भानुकवि का यह विशालकाय ग्रंथ अपने क्षेत्र में एक प्रगति का सूचक है; कोरे पांडित्य के स्थान पर आचार्यत्व का यहाँ से प्रारम्भ समझना चाहिए; विषय में निरर्थक टाँग न अड़ाकर उसको पाठकों के लिए सुगम बनाने में काव्य-प्रभाकर को बड़ी सफलता मिली है। लेखक ने नवीनतम साधनों का उपयोग करके ग्रंथ को आद्यवत् बनाया है। ग्रंथ की "अनुभूमिका," "सूचना", "प्रश्नोत्तर", तथा "फुटनोट" उसके आचार्यत्व के अच्छे परिचायक हैं। अधिक से अधिक उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट करना इस ग्रंथ का मुख्य गुण है। लेखक की सारग्राहिणी बुद्धि तथा विनम्र विद्वत्ता की प्रशंसा करनी पड़ती है। यद्यपि ग्रंथ का इतना बड़ा आकार आज के पाठक को खटकता है फिर भी नवम मयूख के विषय में हम लेखक से सहमत हैं कि—"इस संपूर्ण मयूख में ऐसा सुगम क्रम रखा गया है कि पढ़ते ही विषय सहज ही हृदयंगम हो जाता है।"

---

[1] **मेरी सम्मति में इन सातों में अलंकारता नहीं, क्योंकि ये सब रस विषयक हैं और रस व्यंग्य के अन्तर्गत है, एवं व्यंग्य अलंकारों से पृथक् है। (पृ० ६१९)**

भगवान दीन : अलंकार-मंजूषा

परीक्षा में प्रविष्ट होनेवाले युवकों की कठिनाई को दूर करने के लिए सं. १९७३ में ला. भगवानदीन ने "अलंकार-मंजूषा" नामक पुस्तक लिखी। यह बड़ी लोकप्रिय हुई, हमारे सामने इसका सं. २००४ का नवम संस्करण है। 'मंजूषा' में ४ पटल या अध्याय हैं; प्रथम में अलंकार की परिभाषा, अलंकार का स्थान, तथा अलंकारों के ३ प्रकार बतलाकर (यहाँ तक केवल गद्य का ही प्रयोग है) लेखक ने १० शब्दालंकारों का वर्णन किया है। दूसरे पटल में १०८ अर्थालंकार, तीसरे में उभयालंकार तथा चतुर्थ पटल में अलंकार-दोषों का विषय है।

इस युग में आश्रयदाता के नाम पर ही पुस्तक लिखकर सम्मान न मिल सकता था इसलिए मुरारिदान ने राजाश्रय प्राप्त करके भी पुस्तक में 'विलक्षणता' लाने का प्रयत्न किया, भानुकवि ने संस्कृत लक्षण, पदार्थ, सूचना, प्रश्नोत्तर, फुटनोट तथा अनुभूमिका के सहारे लोकप्रियता प्राप्त की। वर्त्तमान लेखक ने तीन विशेषताओं को रखा है:—

(क) प्रत्येक अलंकार के कई एक उदाहरण दिये गये हैं।

(ख) जहाँ तहाँ विषद टिप्पणियाँ और सूचनाएँ भी दी गई हैं।

(ग) अलंकारों की बारीकियाँ और भेद गद्य में समझाये गये हैं।

फलोत्प्रेक्षा तथा हेतूत्प्रेक्षा का भेद दीनजी ने कितनी सरलता और कितने विस्तार से स्पष्ट किया है :—

"सूचना—फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा की पहिचान करना विद्यार्थियों के लिए तनिक कठिन बात है। इसकी जाँच के लिए सर्वप्रथम 'क्रिया' को जाँचो। यदि क्रिया किसी हेतु से कही गई जान पड़े तो हेतूत्प्रेक्षा समझो और यदि उस क्रिया से किसी फल की इच्छा प्रकट हो तो फलोत्प्रेक्षा समझो। नीचे लिखे उदाहरणों पर विचार करो:—

१. राधिका जी के अधर और नासिका की छवि अनूप है, मानो बिंबाफल को देखकर लालच-वश आकर शुक बैठा हो। (सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा)

२. राधिका जी के अधर और नासिका की छवि अनूप है, मानो बिंबाफल का स्वाद लेने के लिए शुक चोंच मारना चाहता है। (सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा)

भानुकवि की अपेक्षा दीनजी का यह विवेचन सरल तथा सुगम है; भानुकवि ने अनेक उदाहरण रखे थे; इन्होंने उदाहरणों को लक्षणों में भी घटाया है। भगवानदीन ने रीतिकाल की प्रथा को त्याग कर उदाहरण सूर तुलसी आदि भक्त कवियों या भूषण आदि वीरकवियों की रचनाओं से लिए हैं, पुराने अलंकार-ग्रंथों को "पढ़ाने में शिक्षकों को संकोच-भाव धारण करना पड़ता था, अर्थात् कोई गुरु अपने शिष्य को, कोई पिता अपने पुत्र को, या कोई भाई अपने छोटे भाई को निःसंकोच भाव से नहीं पढ़ा सकता (वक्तव्य, पृ. १)" था, वह इस पुस्तक में दूर हो गया। भानुकवि ने अपने ग्रंथ में अंग्रेजी पढ़े लोगों का

ध्यान रखा था, इस लेखक ने "उर्दू फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी भाषा के अलंकारों के साथ हिन्दी अलंकारों का मिलान" भी कर दिया है; यद्यपि इस तुलनात्मक अध्ययन का कोई सारपूर्ण लाभ नहीं दिखलाई पड़ता। भानुकवि के समान इस आचार्य ने भी बोलचाल की गद्य से उदाहरण रखे हैं, और उनकी संख्या काफ़ी है। 'काव्य प्रभाकर' के सभी गुण 'अलंकार-मंजूषा' में पाये जाते हैं, और बहुत अंश तक यह उसके दोषों से मुक्त है। स्तम्भाकार चित्रों द्वारा विषय को समझाने का नया ढंग 'मंजूषा' में अपनाया गया है और ध्यान देने योग्य बातों को अलग-अलग गिनाकर प्रतिपाद्य विषय को कंठस्थ करने की सुविधा पाठकों को दे दी है (दे. पृ. ५० पर उपमालंकार का महत्व)।

'अलंकार मंजूषा' के प्रथम पटल में १० शब्दालंकार हैं—अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट, अन्त्य), चित्र, पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तवदाभास, प्रहेलिका, भाषासमक, यमक, वक्रोक्ति, वीप्सा तथा श्लेष। अधिक से अधिक अलंकारों के संग्रह के अतिरिक्त दूसरी बात यहाँ नहीं दिखाई पड़ती। पुराने आचार्यों में दास का (पुनरुक्त प्रकाश, वीप्सा, अनुप्रास तथा चित्र में) तथा केशव का विशेष प्रभाव है। भाषासमक के कुछ उदाहरण भानुकवि से ही ले लिये हैं। यमक के विषय में लेखक ने ठीक ही लिखा है कि—"इसके सबसे अधिक भेद केशवदास ने अपनी कविप्रिया में लिखे हैं।" लेखक ने विवेचन में कुछ शिथिलता या असावधानी भी करदी है, जैसे वक्रोक्ति का पद्य में लक्षण है:—

होय स्लेष सों काकु सों, कल्पित औरै अर्थ।
ताहि कहत वक्रोक्ति हैं, सिगरे सुकवि समर्थ॥

इस पद्य से वक्रोक्ति के उस मूल का संकेत नहीं मिलता कि "........जब वक्ता कोई वाक्य एक अर्थ में कहता है और श्रोता उसका दूसरा ही अर्थ लगाता है........" तब यह अलंकार माना जायगा, नीचे "विवरण" के द्वारा यह बात स्पष्ट की गई है—या तो पद्य में लक्षण होता ही नहीं, या फिर उसे कसा हुआ होना चाहिए था। पृ. ४०-४१ पर श्लेष अलंकार का "विवरण" संशयात्मक है, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का भेद ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं होता, उदाहरण भी अधिक सहायक नहीं हो पाता; हाँ, "सूचना"[1] विषय को स्पष्ट कर देती है। क्या ही अच्छा होता कि लेखक अपनी सम्मति को, भानुकवि के समान, स्वमत कहकर पाठकों के सामने रखता और मुख्य विषय में दूसरे आचार्यों का ही अनुकरण करता।

अर्थालंकारों में सर्वप्रथम स्थान "अलंकारों में सर्वोत्तम और अनेक अलंकारों का मूल उपमा अलंकार" को मिला है। फिर मालोपमा, रसनोपमा, अनन्वयोपमा, उपमेयो-

---

[1] **"यदि ये शब्द पर्यायवाची शब्दों में बदल दें तो वह अलंकार ही मिट जाता है। इसी से उसे शब्दालंकार मानना पड़ा है। अर्थश्लेष में शब्दों को बदल देन पर भी अलंकार बना रहता है।"**

पमा तथा ललितोपमा अलग अलंकार माने गये हैं। दीन ने ललितोपमा जयदेव से नहीं ली, भूषण से ली है, लक्षण, उदाहरण तथा "लीलादिक पद" की नामावली में वही अनुकरण है; "सूचना" द्वारा केशव की संकीर्णोपमा का इसी में अन्तर्भाव कर देना लेखक की विवेचन शक्ति का द्योतक है। रूपक का लक्षण मुरारिदान से ले लिया है, सांगरूपक के लम्बे उदाहरण खटकते हैं, इसी प्रकार उल्लेख के उदाहरण में रामचरितमानस की इतनी चौपाइयाँ न दी जातीं तो क्या हानि थी ? स्मरण तथा उत्प्रेक्षा के विषय में लेखक का प्राचीनों से मतभेद है। प्राचीनों ने स्मरण वहाँ माना था जहाँ "सदृश वस्तु लखि सदृश की सुधि आवै," परन्तु "हिन्दी साहित्य में हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि प्राचीनों का यह लक्षण पर्याप्त नहीं"; अस्तु, लेखक ने इसका विस्तार कर दिया और सदृश को देख-कर ही नहीं, सुनकर या सोचकर भी जो सदृश की याद आ जावे वहाँ यह सौंदर्य माना है; जो सर्वथा स्वीकार्य होना चाहिए। उत्प्रेक्षा में दीन ने मुरारिदान से सहायता ली है और "उत्प्रेक्षा (उद्+प्र+ईक्षन) शब्द का अर्थ है बलपूर्वक प्रधानता से देखना" कहकर मानो नाम में ही लक्षण की खोज की है; लेखक ने शास्त्रीय शब्द 'संभावना' से बचना चाहा था, परन्तु 'बलपूर्वक प्रधानता से देखना' कम क्लिष्ट नहीं है।

क्रम अलंकार के ३ भेद हैं, जो शास्त्रानुकूल नहीं है। 'यथाक्रम' तो वास्तविक क्रम है ही, 'भंगक्रम' फ़ारसी की छाया से आया है। (हिन्दी तथा संस्कृत में यह एक दोष माना जाता है), 'विपरीत क्रम' लेखक की अपनी खोज है और इसमें चमत्कार भी है ही। दीनजी ने उदाहरण अलंकार के विषय में अपनी स्वतन्त्र सम्मति दी है, वक्रोक्ति को शब्दालंकार भी माना है और अर्थालंकार भी, अत्युक्ति के प्रेमात्युक्ति, विरहात्युक्ति आदि कई और भेद दिये हैं, रसवत् आदि को अलंकारों में कोई स्थान नहीं दिया, और प्रमाण के सभी भेद एक ही अलंकार के अन्तर्गत आ गये हैं। फिर भी अर्थालंकारों की संख्या १०८ है, कारण यह कि कुछ भेदों को स्वतन्त्र अलंकारत्व प्राप्त हो गया है, दीपक तथा उपमा के साथ तो यह व्यवहार खटकता है। 'मंजूषा' में तिरस्कार नामक एक नया अलंकार वहाँ माना गया है जहाँ दोष-विशेष के देखने पर आदरणीय का भी त्याग हो जावे, उदाहरण से मुरारिदान के नये अलंकारों की याद आ जाती है :—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तेहि त्यागिए कोटि वैरी-सम यद्यपि परम सनेही॥

भगवान दीन ने यह पुस्तक पांडित्य के लिए न लिखकर माँग के अनुकूल लिखी थी जिसमें यह सफल है। समय के साथ-साथ पुराने विषय को भी नवीन शैली से सम-झाने में यह काफ़ी आगे है। भानुकवि की अपेक्षा हमारा लेखक आगे है, उसने आकार नहीं बढ़ाया, और अधिक सुगम बनाकर समझाया है। पुराने आचार्यों से यहाँ पर्याप्त सहायता ली गई है विशेषतः जसवंतसिंह, केशव तथा 'दास' से; परन्तु संस्कृत लक्षणों

को जानबूझकर ही नहीं रखा। औरों की अपेक्षा यह पुस्तक अधिक उपादेय थी, यह इसकी लोकप्रियता से ही सिद्ध है।

अर्जुनदास केडिया : भारती भूषण

सेठ अर्जुनदास केडिया ने सं. १९८७ में अलंकारों का एक ३८३ पृष्ठ का ग्रंथ "भारती-भूषण" लिखा। भानुकवि तथा दीन के समान प्रस्तुत लेखक नवीन शैली को न अपना सका, उसने उसी शास्त्रीय शैली का अनुकरण किया। परन्तु ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि केडिया ने अलंकारों के लक्षण पद्य में न लिखकर गद्य में ही लिखे हैं। कन्हैयालाल पोद्दार ने भी यही विशेषता अपने लक्षणों में रखी थी।

केडियाजी आचार्य के वर्ग में ही न रहकर पंडित वर्ग में प्रविष्ट होने वाले हैं, उन्होंने दूसरों से कम से कम लेने का प्रयत्न किया है, समसामयिक से लेना या लेकर स्वीकार करना वे उचित नहीं समझते; समसामयिकों की अपेक्षा प्राचीनों से तथा हिन्दी-आचार्यों की अपेक्षा संस्कृत आचार्यों से लेना उनके यहाँ अधिक क्षम्य है। 'भारतीभूषण' में लक्षण बिल्कुल मौलिक हैं, और उदाहरण भी ७५० में से ३७५ स्वरचित हैं और शेष ३७५ दूसरे कवियों के। लक्ष्योपमा माला, सिंहावलोकन, भ्रांता-पन्हुति आदि के उदाहरण बहुत ही सुन्दर हैं।

यह मौलिकता अपने आप में कोई बहुत बड़ा गुण नहीं है, क्योंकि जिन पुस्तकों का अध्ययन किया है उनकी अच्छी बातों को साभार स्वीकार कर लेना नवीन आचार्य पर कोई आक्षेप नहीं ला सकता; इसके विपरीत प्रसिद्ध तथा उपयुक्त उदाहरणों को इसलिए त्याग देना कि शायद दूसरों की नकल समझी जावे और अपने नये उदाहरण गढ़ना—पाठक के प्रति कर्त्तव्य की उपेक्षा है। केडिया और दीन इस दृष्टि से एक दूसरे के नितांत विपरीत हैं। 'भारतीभूषण' में जसवन्तसिंह, भूषण, मतिराम, मुरारिदान तथा उत्तमचंद भंडारी से तो यथावश्यकता सहायता ली है, परन्तु समसामयिक भानु कवि, दीन तथा पोद्दार की छाया को भी बचाया है—जहाँ छिपकर लिया भी है वहाँ अपनी चोरी बचाने के लिए किसी पुराने ग्रंथ का नाम ले दिया है जैसे "तिरस्कार" अलंकार दीन में भी था परन्तु केडिया इसको 'रसगंगाधर" से लिया गया बतलाते हैं। सारी पुस्तक में खड़ी बोली के उदाहरण दो-तीन ही हैं, कोई भी पद्य संस्कृत का अनुवाद मात्र नहीं कहा जा सकता।

इस पुस्तक में अलकारों के लक्षण गद्य में दिये गये हैं, वह भी इतनी सरल तथा सुगम भाषा में कि प्राचीन तथा नवीन का सुन्दर समन्वय-सा हो जाता है। 'विनोक्ति' का लक्षण देखिये :

"जहाँ कोई प्रस्तुत किसी वस्तु के बिना अशोभन, अथवा किसी के बिना शोभन कहा जाय, वहाँ 'विनोक्ति' अलंकार होता है। इसका वाचक प्रायः 'विना' शब्द होता है, किन्तु कहीं 'हीन', 'रहित', 'न हो' आदि भी हो जाते हैं।"

इस लक्षण में 'प्रस्तुत' तथा 'वाचक' जैसे सरल पारिभाषिक शब्द, 'शोभन कहा जाय' जैसी शास्त्रीय पंडिताऊ अभिव्यक्ति, तथा 'न हो' को वाचक बतलाना हिन्दीपन को दिखलाते हैं; प्रथम वाक्य शास्त्रीय लक्षण है और दूसरा वाक्य उसका विस्तार; 'आदि भी' लिख कर वाचकों की सूची को सीमाबद्ध होने से बचा लिया है। केडियाजी की लक्षण शैली का यही सामान्य आदर्श है।

अलंकारों के भेदों की ओर इस लेखक ने औरों से अधिक ध्यान दिया है। यहाँ पहली बार प्रत्येक भेद को उदाहरणों में घटाकर समझाया गया है। समान दिखाई पड़ने वाले अलंकारों का पारस्परिक भेद भी स्पष्ट हो जाता है।

प्ररम्भ में ८ शब्दालंकारों का विषय है—अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, शब्दवक्रोक्ति, शब्दश्लेष, वीप्सा तथा चित्र। वीप्सा के अतिरिक्त सभी अलंकार संस्कृत के आचार्यों में मान्य रहे हैं:—वीप्सा 'अलंकारमंजूषा' या 'काव्यनिर्णय' से लिया होगा; चित्र का इतना विस्तार खटकता है। शब्दालंकारों के विषय में इस ग्रंथ में कुछ विशेषताएँ भी दिखलाई पड़ती हैं:—

(क) 'बैण-सगाई' अलंकार जिसको अनुप्रास का ही एक भेद कह सकते है इस ग्रंथ में नया आया है। लेखक की जन्मभूमि राजपूताने में यह चलता था, उत्तमचंद भंडारी ने अपने 'अलंकार-आशय' में इसको स्थान दिया था (दे. भारतीभूषण, पृ. १४) उदाहरण मारवाड़ी या डिंगल के हैं। हमारी सम्मति में प्रादेशिक बोलियों के सौंदर्य को अन्त:-प्रांतीय साहित्यिक भाषा पर लादना ठीक नहीं है; आचार्य का काम नये अलंकार गढ़कर पहिनाना नहीं है प्रत्युत स्वीकृत अलंकारों का ही उसको परिचय देना चाहिए।

(ख) अनुप्रास के अन्त में कुछ आचार्यों से मतभेद प्रकट करते हुए लेखक ने यह माना है कि अनुप्रास में "व्यंजनसाम्य" ही पर्याप्त नहीं "स्वर-व्यंजन-साम्य" होने पर ही सौंदर्य आनन्दप्रद होगा। समर्थन में चन्द्रालोक की दुहाई ली है और भूषण के उदाहरणों से उसको पुष्ट किया है; परन्तु वस्तुत: यह सूझ भंडारी[१] की है हमारे लेखक की नहीं, उसने डरते-डरते इसको छिपे हुए स्वर में स्वीकार भी किया है:—

"इसी प्रकार उत्तमचंद भंडारी कृत 'अलंकार-आशय' नामक भाषा-ग्रंथ में भी व्यंजन के साथ स्वर समता का स्पष्ट विधान है।" (पृ. १६)

(ग) लाटानुप्रास के वाक्य तथा शब्द की आवृत्ति के अनुसार दो भेद किये गये हैं,

---

[१] **केडियाजी की बहुत कुछ मौलिकता दूसरों से, छिपकर, आई जान पड़ती है, भंडारी की पुस्तक से तुलनात्मक अध्ययन करने पर कुछ और भी रहस्य प्रकट हो सकता है। उपमा तथा रूपक का प्रसंग भी इसी छाया में देखा जाना चाहिए।**

संस्कृत में 'पद' तथा 'नाम' का भेद था, कदाचित् हमारे लेखक ने उसी का अनुकरण किया है।

'भारतीभूषण' में अर्थालंकार १०० हैं। लेखक ने उपमा के अनेक भेदों में कोई गौरव माना है और इसीलिए 'अलंकार आशय' तथा 'कविप्रिया' का नामपूर्वक स्मरण किया है; फिर भी 'श्रोती' तथा आर्थी नाम के भेद न जाने क्यों भुला दिये हैं; उदाहरण संस्कृत के भी हैं तथा डिंगल के भी। लक्ष्योपमा में बेनी कवि का प्रसिद्ध कवित्त उदाहरण स्वरूप रखा है :

करी की चुराई चाल, सिंह की चुराई लंक,
ससी कौ चुरायौ मुख, नासा चोरी कीर की।
पिक के चुराए बैन, मृग के चुराए नैन,
दसन अनार, हाँसी बीजुरी गँभीर की।
कहै कवि बेनी बेनी व्याल की चुराइ लीन्हीं
रती-रती सोभा सब रति के सरीर की।
अब तौ कन्हैया जू को चित्त हू चुराइ लीन्हौ,
चोरटी है गोरटी या छोरटी अहीर की।।

दीन के अनकरण पर केडिया ने स्मरण का क्षेत्र व्यापक बना दिया है और विरोध द्वारा भी स्मरण अलंकार उसने माना है, 'स्मरण-वैधर्म्य-माला' में कोई सौंदर्य नहीं दिखलाई पड़ता। उत्प्रेक्षा के लक्षण में दीन का ही अनुकरण है। एकावली का लक्षण बड़ा उलझा हुआ है। प्रमाण के आठों भेदों का 'अलंकार मंजूषा' के ही समान वर्णन है।

केडियाजी ने "सूचना" द्वारा अनेक स्थलों को स्पष्ट किया है; प्रायः तुलनात्मक अध्ययन का प्रयत्न किया गया है। परन्तु "सूचना" की शैली पुराने ढंग की होने के कारण सफल कम ही हो पाई है। स्थान-स्थान पर संस्कृत के उद्धरण तथा शास्त्रीय शब्दों के प्रयोग से विषय दुरूह हो गया है। जो पाठक संस्कृत जानता है वह तो मूल को संस्कृत में ही पढ़ लेगा, परन्तु जो संस्कृत नहीं जानता उसके लिए अर्थ किये बिना ही संस्कृत उद्धरण रखने से क्या लाभ ? समासोक्ति पर इसी प्रकार की टीका-टिप्पणी से विषय की सुगमता लुप्त हो गई है; दीपक पर टीका-टिप्पणी में पाठक के हाथ वामनाचार्य तथा जीवनानन्द विद्यासागर ही रह जाते हैं, प्रतिपाद्य विषय का एक कण भी नहीं मिलता। ये सूचनाएँ अधूरी भी हैं, फलोत्प्रेक्षा तथा हेतूत्प्रेक्षा का अन्तर दीन में स्पष्ट है परन्तु यहाँ गोलमोल है (दे. पृ. १३३) विवेचन में साथ-साथ उदाहरण भी होते तो शायद कुछ सुगमता हो जाती।

उदाहरणों में इस लेखक से एक बड़ी भूल हो गई है। प्रसिद्ध तथा परम उपयुक्त उदाहरण दूसरे लोग रख चुके थे उनको हमारा लेखक कैसे अपनाता ? रूपकातिशयो-

करने लगा है। संस्कृत का ठोस आधार तथा आलोचना—ये दो इस पुस्तक के द्रष्टव्य गण हैं।

भूमिका के रूप में ग्रंथ का जो विस्तृत प्राक्कथन है उसमें लेखक ने "काव्य में अलंकार का स्थान" "अलंकार क्या है" "अलंकारों के नाम तथा लक्षण," "संस्कृत साहित्य के प्राचीन अलंकार ग्रंथ," "अलंकारों का क्रम विकास," "अलंकारों का वर्गीकरण," तथा "हिन्दी साहित्य में अलंकार ग्रंथ" शीर्षकों से जो प्रबंध लिखा है उसमें हमको 'अलंकार साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' मिल जाता है। आधार ज्यों का त्यों संस्कृत का ही है इसलिए मौलिकता की कोई बात नहीं आती, फिर भी पांडित्य स्पष्ट है। अलंकार-साहित्य का इतिहास हिन्दी साहित्य को प्रथम बार प्राप्त हो रहा है। जब हिन्दी साहित्य में अलंकार-विषय की चर्चा चलती है तो लेखक ने यह दिखलाया है कि अमुक कृति में यह दोष है, अमुक में यह कमी है, गुण किसी भी समकालीन लेखक के नहीं बतलाये। यह अहंकार तथा दोषदर्शन संस्कृत के पांडित्य का प्रसाद है जो हिन्दी के तादृश लेखकों में स्पष्ट झलकता है। पोद्दारजी ने अपनी कृतियों की प्रशंसा तथा दूसरों की कृतियों की निंदा इस प्रकार की शब्दावली में की है:—

"अलंकार-प्रकाश और काव्यकल्पद्रुम के बाद अलंकार विषय के जो हिन्दी में अन्य लेखकों द्वारा ग्रथ लिखे गये हैं, प्रायः उनमें बहुत कुछ सामग्री लेखक के उक्त दोनों ग्रंथों से ही ली गई हैं।" (प्राक्कथन, पृ. ५२)

अलंकार-मंजरी में अष्टम, नवम तथा दशम तीन स्तवक हैं। अष्टम में ६ शब्दालंकारों (वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र) की विवेचना है। प्रथम चार का विषय अत्यन्त विस्तृत तथा अन्तिम दो का अत्यन्त संक्षिप्त है—चित्र का महत्व स्वभावतः नवीन संस्करणों में कम होता गया है। अनुकरण प्रायः 'काव्य-प्रकाश' का है। यमक के सव्यपेत तथा अव्यपेत भेद काव्यप्रकाश में नहीं हैं, परन्तु अग्नि-पुराण, काव्यादर्श आदि में है; हमारा लेखक भी इनको न लिखता परन्तु एक समकालीन लेखक (पं. रामशंकर शुक्ल) की भूल दिखलाने के लिए इसका लिखना आवश्यक हो गया है (दे. पृ. ८७)। लेखक की यह धारणा है कि उसके सभी कार्य शास्त्रानु-मोदित हों, उसने चित्र का अनादर खुली आँखों से देखा होगा परन्तु जब मम्मट उसको संक्षिप्त नहीं करते तो वह किस कलम से ऐसा करदे; खोजने पर पंडितराज जगन्नाथ का मत पक्ष में जान पड़ा—"पंडितराज का कहना है कि इसे काव्य में स्थान देना ही अनुचित है। इसके अधिक भेद न दिखाकर एक उदाहरण देते हैं।।" (पृ. १०६)

अलंकार-मंजरी के नवम स्तवक में अर्थालंकार हैं। उपमा के कुछ भेद तो ग्राह्य समझकर विस्तार से समझाये गये हैं परन्तु अमुख्य भेदों का भी एक-एक उदाहरण दे दिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि लेखक अपनी पुस्तक को प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण बनाना चाहता है—उसमें कोई बात रह न जावे। अर्थालंकारों का क्रम मम्मट के अनुसार नहीं है।

प्रमाण के ८ तथा रस-भाव के ७ अलंकारों को यहाँ स्थान नहीं मिला। विरोध तथा विरोधाभास को एक ही माना है। 'असम' नाम का अलंकार काव्यप्रकाश से वाह्य है। और सब बातें संस्कृत ग्रंथों के अनुसार रखते हुए भी न जाने क्यों, मुरारिदान के समान. 'अपरिवृत्ति' नाम का एक नया अलंकार पोद्दारजी ने स्वीकार किया है--'परिवृत्ति' में कुछ लेकर बदले में कुछ दिया जाता है; यहाँ इसके विपरीत है अतः ऐसे वर्णनों में 'अपरिवृत्ति' अलंकार माना जा सकता है।" (पृ. ३५६)। दशम स्तवक में संसृष्टि तथा संकर, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का पृथक्करण, और अलंकार-दोषों की चर्चा है। इस प्रकार 'मंजरी' में ६ शब्दालंकार तथा १०० अर्थालंकारों के अतिरिक्त अन्य अलंकार-विषयक ज्ञातव्य विषय भी समाविष्ट हैं जो पुस्तक की उपादेयता को और भी बढ़ा देते हैं।

भारतीभूषण के समान अलंकार-मंजरी में उदाहरणों के अतिरिक्त सारा विषय गद्य में है। लक्षणों के लिए लेखक ने पुरानी सभी शैलियों से लाभ उटाया—पदों का अर्थ है, शब्दार्थ है, लक्षण का विवेचन भी है। वक्रोक्ति का प्रारंभ करते हुए लिखा है— "वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र उक्ति[१]"; फिर मम्मट के लक्षण का गद्यानुवाद है; अंत में विवेचना है—"अर्थात् वक्ता ने जिस अभिप्राय से जो वाक्य कहा हो, उसका श्रोता द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाना [२]"। अनुप्रास के लक्षण में भी यही घिच-पिच दिखलाई पड़ती है:—

'अनुप्रास' पद 'अनु' 'प्र' और 'आस' से मिलकर बना है। 'अनु' का अर्थ है 'बारम्बार' 'प्र' का अर्थ है 'प्रकर्ष', और 'आस' का अर्थ है 'न्यास' (रखना) अर्थात् वर्णों का बारम्बार प्रकर्षता से—पास-पास में—रक्खा जाना।[३] (पृ० ७०)

पदार्थ-शब्दार्थ देते हुए लक्षण उत्प्रेक्षा, प्रतीप आदि मुख्य-मुख्य अलंकारों के ही हैं, शेष में शास्त्रीय लक्षण तथा व्याख्या मात्र है।

पोद्दारजी ने अलंकारों के भेद देने में कोई कंजूसी नहीं की। उपमा की बात ऊपर आ चुकी है; अत्युक्ति औदार्य की, प्रेम की, सौन्दर्य की, तथा विरह की है; श्लेष के २ भेद सभंग तथा अभंग, फिर उनके तीन-तीन उपभेदों में एक-एक का नाम 'प्रकृतमात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य सभंग श्लेष' या 'अप्रकृतमात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य अभंग श्लेष'

---

[१] यह अर्थ तो पाठक समझता है, फिर मुरारिदान के इस अनुकरण की क्या आवश्यकता है ?

[२] यह वाक्य कर्मवाच्य में है, और पाठक 'जिस' तथा 'जो' के झमेले में उलझ जाता है। जान पड़ता है यह विवेचन किसी का अनुवाद है—भले ही छाया-नुवाद हो।

[३] इस विवेचन को देखकर हमको भानुकवि की याद आ जाती है।

आदि बनकर पाठक के मन में आतंक या हास्य उत्पन्न किया करते हैं। अतिशयोक्ति के कम से कम ६ और व्यतिरेक के २४ भेद हैं। यद्यपि भेद-वृक्ष बनाकर भी समझाया गया है फिर भी अलंकारवादी विद्वानों को छोड़कर दूसरे लोग इन बारीकियों को ग्रहण न कर सकेंगे। भेदों के सम्बन्ध में आचार्य पोद्दार ने एक बड़ा लाभदायक कार्य यह किया कि अनेक स्थलों पर यह बतला दिया है कि अमुक भेद का अन्तर्भाव अमुक आचार्य ने अमुक के अन्तर्गत किया है। ऐसा विवरण अन्त में सूचना के रूप में है; असंगति का प्रकरण देखिए :—

(क) कविप्रिया में असंगति को व्यधिकरणोक्ति नाम से लिखा है।

(ख) प्राचीन ग्रन्थों में असंगति का यही एक भेद है। कुवलयानन्द में इसके और भी दो भेद लिखे हैं।

(ग) पंडितराज का कहना है . . . यहाँ असंगति नहीं, विरोधाभास है।

(द्वितीय असंगति पर)

(घ) पंडितराज का कहना है कि यह तो कुवलयानन्द में मानी गई पंचम विभावना का विषय है। (तृतीय असंगति पर)

अलंकार-मंजरी में उदाहरण तीन प्रकार के हैं—स्वरचित, अनूदित, तथा दूसरों के। स्वरचित उदाहरण थोड़े ही हैं, परन्तु अनुवादों की संख्या कम नहीं—ये संस्कृत काव्यों से भी है तथा लक्षण ग्रन्थों से भी। लक्षण ग्रन्थों से उदाहरणों के अनुवाद करके रखना भाषा-ग्रन्थों के लिए बड़ा हेय है; इससे भाषा-ग्रन्थ हीन तो बन ही जाते हैं, ऐसा भी आभास मिल सकता है कि लेखक ने मूल विषय को ठीक-ठीक समझ न सकने के कारण ऐसा किया है। पोद्दारजी ने अनवाद का सहारा इसलिए लिया है कि हिन्दी वालों का उन्हें ऋण न स्वीकार करना पड़े और संस्कृत के कारण उनके ग्रन्थ को और भी अधिक गौरव मिले—दोनों ही धारणाएँ निर्मूल हैं। अलंकार-मंजरी में हिन्दी के पद्य प्रायः दोषों के उदाहरण बनकर ही आये हैं। केडियाजी में भी यही कमी थी। उदाहरण की दृष्टि से दीनजी का आदर्श सबसे अच्छा था, उन्होंने दूसरों के ही अच्छे से अच्छे उदाहरण छाँटकर रखे है। पोद्दारजी ने गद्य के उदाहरण नहीं दिये और खड़ी-बोली के भी नाम को ही है।

अलंकार-मंजरी में आचार्यत्व की अपेक्षा पाण्डित्य अधिक है; उसका पाठक कौन है यह शायद लेखक ने सोचा ही नहीं। यदि पाठक स्वयं पंडित होता तो संस्कृत भाषा में ही उस लम्बी-चौड़ी व्याख्या या तर्क-वितर्क को पढ़ लेता जो इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर मिलती है। यदि पाठक आज के युग का कालेज का अध्यापक या छात्र होता तो उसे न इस तर्क-वितर्क की आवश्यकता है न सूक्ष्म भेदोपभेदों की। वक्रोक्ति, श्लेष, रूपक, अपन्हुति, समासोक्ति तथा अप्रस्तुत प्रशंसा के प्रकरण तो लाभदायक भी कहे जा सकते हैं परन्तु १० पृष्ठ में श्लेष का दूसरे अलंकारों से पृथक्करण, उदाहरण अलंकार की अलग सत्ता, तादरूप रूपक तथा परिकर के प्रसंग में अनावश्यक परिश्रम किया गया है; फिर भी

आश्चर्य यह है कि स्वभावोक्ति के विषय को लेकर लेखक ने लिखना उचित न समझा। इस ग्रन्थ में मौलिकता कम ही है—विषय की भी और विषय-निर्वाह की भी। रसवादियों का विशेष प्रभाव है; मुख्यतः आचार्य मम्मट तथा पंडितराज जगन्नाथ का। पोद्दारजी ने अपनी पुस्तक को समयोपयुक्त नहीं बनाया। संस्कृत का प्रभाव, पांडित्य की लहर, ब्रजभाषा का मोह तथा युग से अपरिचय इसके लिए उत्तरदायी हैं।

रामदहिन मिश्र : काव्यदर्पण

स्व० पंडित रामदहिन मिश्र ने वर्षों तक प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अध्ययन करके "काव्यालोक" नाम का ग्रन्थ पाँच खण्डों में तैयार करने की योजना बनाई थी और 'काव्यालोक' का द्वितीय उद्योत छपकर साहित्य-प्रेमियों के सामने आया भी था, परन्तु इस योजना को समयसाध्य जानकर मिश्रजी ने "....'काव्यप्रकाश' या 'साहित्य-दर्पण' जैसा पाँचों उद्योतों का सारांश लेकर एक ग्रन्थ प्रस्तुत किया ... जिसमें काव्य-शास्त्र की सारी बातें नवीन विचारों और नवीन उदाहरणों के साथ ...." रखी गई हैं। यह ग्रन्थ "काव्य दर्पण" है (जो नाम तथा संकल्प से भी काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण का समन्वय-सार प्रतीत होता है)। "अभिनव साहित्य शास्त्र" का यह ग्रन्थ १९४७ ई० में पहली बार छपा था। सामान्यतः इसकी मुख्य-मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(क) "प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की विवेचना को सम्मिलित रूप से अपनाकर, दोनों दृष्टिकोणों को देखकर ही कविता का स्वाद लेना" (आत्मनिवेदन, पृष्ठ (क))।

(ख) "नवीन विचारों" के साथ-साथ विषय को स्पष्ट करने के लिए "नवीन उदाहरणों" का ही उपयोग—नवीन कवियों तथा खड़ी बोली के उदाहरण।

(ग) लेखक यह मानकर चला है कि "पाश्चात्य विचार या सिद्धान्त चक्कर काटकर भारतीय सिद्धान्तों पर ही आ जाते हैं; इसलिए पाश्चात्य सिद्धान्त केवल तुलना की दृष्टि से ही इस पुस्तक में आये हैं और "संस्कृत के आचार्यों के आकर ग्रन्थों को ... मूलाधार" माना गया है।

(घ) यह पुस्तक समूचे साहित्य-शास्त्र का विवेचन करती है; अलंकार-विषय को अपेक्षाकृत गौण स्थान ही मिल पाया है।

(ङ) प्राचीन विषय को नवीन शब्दावली में नवीन दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न है। (आत्मनिवेदन; पृष्ठ ग)।

(च) लक्षण सरल गद्य में है; उदाहृत कठिन पद्यों का अर्थ दे दिया है; और गद्य में ही उन पद्यों का 'लक्षण-समन्वय' कर दिया है।

(छ) ऐसे उदाहरण प्रायः नहीं आये, जो अन्यत्र उदाहृत है।

(ज) सर्वत्र "तुलनात्मक दृष्टिकोण" है।

यह स्वाभाविक ही है कि 'काव्यदर्पण' अपने विषय की सर्वाधिक उपयोगी पुस्तक बन गई; समय की माँग थी अभिनवता—पुराने विषय की नवीन शब्दावली से व्याख्या और स्पष्टीकरण के लिए नये कवियों के प्रसिद्ध काव्यों से उदाहरण। मिश्रजी को इस माँग का भी ध्यान था तथा तुलनात्मकता का भी। यदि प्राचीन, नवीन तथा पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को एक स्थान पर देखना हो तो 'काव्यदर्पण' की एक प्रति अपने पास बड़े काम की है। लगभग ७०० पृष्ठ की पुस्तक में यदि आधा लेखक का अपना है तो आधा दूसरे लोगों का। निश्चय ही विद्वान् लेखक ने बड़ा परिश्रम किया है पढ़कर, समझ कर और ठीक स्थान पर रखकर; और उसके इस परिश्रम से २० पुस्तकें न पढ़कर १० विद्वानों के विचार रटकर हम जैसे लोग भी अपने पाण्डित्य से झूम सकते हैं। परन्तु प्रत्येक पृष्ठ पर :—

(क) इसी से मम्मट ने कहा है
(ख) दर्पणकार भी कहते हैं
(ग) दण्डी के कथनानुसार
(घ) लोचनकार को भी यह मान्य है
(ङ) कीट्स की भी यही उक्ति है
(च) वर्ड्सवर्थ का भी कहना है
(छ) शैली ने भी कहा है
(ज) प्लेटो भी कहता है
(झ) वाटसन Behaviourism नामक ग्रन्थ में यह बात लिख चुका है।
(ञ) हेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है

आदि वाक्य पाठक के धैर्य की परीक्षा लेने लगते हैं; तुलनात्मक दृष्टिकोण बड़ी अच्छी बात है परन्तु प्रतिपाद्य विषय तथा तुलनार्थ विषय का पारस्परिक क्या अनुपात होना चाहिए—यह भी स्वतन्त्र रूप से विचारणीय है; अन्यथा पंडित पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना के समान तुलना प्रतिपाद्य विषय पर अपना आतंक जमा लेगी।

मिश्रजी ने कहने को तो पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के ज्ञान से भी लाभ उठाया है परन्तु जिज्ञासु की भावना से वे उसके पास नहीं गये; यह मानकर चलना कि सब कुछ अपने यहाँ था, व्यक्ति की भावना को कभी भी परिष्कृत नहीं कर सकता। यदि यह ठीक है कि "आठ-नौ सौ वर्ष पहले अभिनवगुप्त अपनी आलोचना में जो बातें लिख गये हैं वे आधुनिक युग की पाश्चात्य आलोचना में पाई जाती हैं", तो इस स्थापना का कोई मूल्य नहीं कि "पाश्चात्य आलोचना का अनुशीलन प्राच्य रसतत्व के समझने में कभी सहायक नहीं होगा।" ज्ञान, सत्य के जन्म का नहीं, सत्य के अनावरण का नाम है; वह सब देशों तथा सब कालों में समान रूप से संभव है क्योंकि स्वस्थ जिज्ञासा सर्वदा जीवित रहती है भले ही सर्वत्र वह सशक्त न बनी रह सके; नव अनावृत्त सत्य की व्याख्या पुरानी शब्दावली

में करना अनैसर्गिक है—अनैतिहासिक है; स्वाभाविक क्रम है पुराने ज्ञान (पूर्व अनावृत्त सत्य) को नवीनतम शब्दावली से समझना और समझाना; ज्ञान के क्षेत्र में विकास का ऐसा ही रूप दिखलाई पड़ता है। 'काव्यदर्पण' की भूमिका रूप में 'काव्यशास्त्र की भूमिका' ९४ पृष्ठों में लिखी गई है, जहाँ लेखक की प्राच्य आचार्यों के प्रति श्रद्धा तथा पाश्चात्य आचार्यों के प्रति तिरस्कार की भावना मिलेगी, 'उपक्रम' में ही आनन्दवर्द्धन, दण्डी, और मंखक के लिए आदरसूचक शब्द व्यवहृत हैं परन्तु प्लेटो के लिए इसका विपरीत है[1]—"हम भारतीयों के लिए यह गौरव की बात" शायद नहीं है। लेखक ने पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के प्रति सद्भावना रखनेवाले साहित्यिकों को बेधड़क "अधकचरे समालोचकों का अवतार" कहा है, और वर्त्तमान अधोगति का कारण "प्राचीन आचार्यों की अवहेलना" को ही माना है; उसने दूसरे समसामयिक भारतीय साहित्यिकों के 'आक्षेपों' का उत्तर लगभग इस प्रकार की शब्दावली में दिया है :

(क) आपके मस्तिष्क में पाश्चात्य विचार उछल-कूद मचा रहे हैं, और हाथ में कलम है, जो चाहे कह डालें और लिख डालें। (१०)

(ख) आप रूढ़ियों को तोड़ दें; अंध विश्वास को अंधे कुएँ में डाल दें, अतीत को तलातल में उतार दें और प्राचीन परम्पराओं को परलोक में पार्सल कर दें, यदि समाज का मंगल हो। (१५)

(ग) यह तो लेखिनी के साथ बलात्कार है। (४)

ये उन 'आक्षेपों' के उत्तर हैं जो दूसरे आलोचकों की सम्मति रूप में साहित्य के विषय में सामान्यतः आये हैं; यदि कोई आलोचक मिश्रजी की आलोचना के गुण-दोष निकालता तो वे उसपर कैसा प्रहार करते—यह भी सोचना है। किसी समीक्षक ने लेखक के 'काव्यालोक' की समीक्षा करते हुए कहा था कि "इसमें पंडिताऊपन अधिक है", क्या वह कथन शेष रचनाओं पर भी लागू नहीं होता ? यदि असीम अध्ययन के साथ-साथ मिश्रजी का दृष्टिकोण भी उदार होता तो उनके परिश्रम से हिन्दी साहित्यशास्त्र के लाभान्वित होने की आशा थी।

'काव्यदर्पण' में सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का विषय समझाया गया है; इसमें बारह 'प्रकाश' हैं। प्रथम में 'काव्य' का सामान्य परिचय, दूसरे में 'अर्थ', तीसरे में 'रस' का परिचय, चौथे में 'एकादश रस', पाँचवें में 'रसाभास', छठे में 'ध्वनि', सातवें में 'काव्य' के भद, आठवें में 'दोष', नवम में 'गुण', दशम में 'रीति', एकादश में 'अलंकार' का सामान्य

---

१. आनन्दवर्द्धनाचार्य ने......यह प्रश्न किया है।
आचार्य दण्डी कहते हैं।
मंखक कहते हैं।
प्लेटो भी कहता है।

परिचय, तथा द्वादश में 'अलंकारों के भेद' हैं। अन्य समान शास्त्र के ग्रन्थों से इसमें आलोचना के अंश अधिक है और वह भी उन विषयों को लेकर जो विद्यालयों में परीक्षा की दृष्टि से आलोच्य माने जाते रहे हैं—काव्य, रस तथा अलंकार—लेखक ने तीनों के लिए तीन नये अध्याय लगाये हैं। सामान्यतः क्रम 'साहित्यदर्पण' के अनुसार है। मौलिकता के लिए स्थान न था। लेखक समन्वय बुद्धि का रसवादी है, उसने अलंकार आदि को काव्य का उत्कर्ष हेतु माना है, परन्तु उनकी मात्रा पर संयम का प्रतिबन्ध लगा दिया है :— "रचना में कल्पना, अलंकार आदि को वहीं तक प्रश्रय देना चाहिए, जहाँ तक भाव को सुरूप बनाया जा सके; अन्यथा भाव का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।" ध्वनि, दोष, गुण तथा रीति पर लेखक ने चलता हुआ काम ही किया है—कदाचित् इन विषयों की विद्यालयों में उतनी माँग न थी—फिर भी "अभिधा के साथ बलात्कार" वह सहन न कर सका। दोष-प्रकरण में लिंगदोष, वचन दोष, ग्राम्य दोष (शब्द दोषों में) आदि के उदाहरण सभी को मान्य नहीं हो सकते। अर्थ दोषों में विद्याविरुद्ध, साकांक्ष आदि के उदाहरण भी या तो मिश्रजी का पक्षपात दिखलाते हैं या असामर्थ्य। लेखक ने नये उदाहरण लेकर तो अच्छा काम किया, परन्तु दूसरों के उदाहृत पद्यों को न लेने की प्रतिज्ञा या उसका पुराना दृष्टिकोण नई आभा के प्रति न्याय नहीं कर सका है।

'काव्यदर्पण' के अन्तिम दो 'प्रकाश' अलंकार विषय में लगे हैं—ग्यारहवाँ प्रकाश सामान्य परिचय में, तथा बारहवाँ अलंकारों के भेदों में। अन्य प्रकाशों के समान यहाँ भी बहुत सी सामग्री एकत्र की गई है, जिससे लेखक के परिश्रम का तो ज्ञान होता है पाठक को कुछ तत्त्व पल्ले नहीं पड़ता—संस्कृत का पंडित तो संस्कृत ग्रन्थों से ही सब कुछ पढ़ लेगा और केवल हिन्दी का पाठक इस 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' अथवा (मक्षिका स्थाने मूषकः) अनुवाद से क्या करे। पहिला ही वाक्य देखिए:—"अलम् का अर्थ है—भूषण। जो अलंकृत—भूषित करे वह है अलंकार। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय इस करण व्युत्पत्ति से उपमा आदि का ग्रहण हो जाता है।" वामन की वृत्ति का यह अनुवाद न तो अलंकार का लक्षण है न स्पष्टीकरण। आगे चलकर दण्डी के लक्षण की आलोचना (पृ० ४१६, अन्तिम पैराग्राफ़) करते हुए लेखक इस ऐतिहासिक सत्य को भुला देना चाहता है कि दण्डी के समय में गुण तथा अलंकार का व्यक्तित्व अर्वाचीन अर्थ में स्पष्ट न हो पाया था। १० छायाओं में अलंकार विषय के अनेक प्रश्नों पर विचार करके 'काव्य-दर्पण' ने विद्यार्थियों का हित किया है; फिर भी पाँचवीं छाया में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि-कोण की कमी दिखलाई पड़ती है—हर युग में साम्य का आधार एक ही नहीं हो सकता, क्योंकि हर युग की परिस्थितियाँ एक नहीं होतीं।

बारहवें प्रकाश में अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति, श्लेष शब्दालंकार हैं फिर अर्थालंकारों का प्रकरण है। अंग्रेज़ी का जितना प्रभाव इस प्रकाश में है, उतना इस पुस्तक में पहिले कभी देखने में नहीं आया; सभी शास्त्रीय शब्दों

के अंग्रेज़ी पर्याय देने का प्रयत्न है, भेदोपभेदों में कोई संकोच नहीं किया गया; उदाहरणों से सन्तोष नहीं होता; व्याख्या भी अधिक सन्तोषजनक नहीं है। सन्देह आदि छोटे अलंकारों के कई उदाहरण व्यर्थ हैं। अलंकारों का पारस्परिक अन्तर अवश्य दिखलाना चाहिए था। वर्गीकरण के अनुसार अलंकारों का प्रकरण पाठक को अवश्य सहायक होता होगा। हमारा व्यक्तिगत विचार यह है कि अंग्रेज़ी पर्याय समझाने में सहायक नहीं होते, भुलावे में डाल सकते हैं—प्रत्यनीक का Rivalry, परिसंख्या का Special mention, एकावली का Necklace, व्याघात का Frustration और समासोक्ति का Speech of Brevity अनुवाद हास्यास्पद बन गया है। पाश्चात्य साहित्य से आये हुए मानवीकरण, ध्वन्यर्थव्यंजना विशेषण-विपर्यय अलंकारों को मिश्र जी ने अलग मान लिया है, यह आश्चर्य की बात है; इनका भी कहीं न कहीं अन्तर्भाव हो सकता था, क्योंकि मिश्रजी के शब्दों में पाश्चात्य आलोचना "चक्कर काट कर इन्हीं सिद्धान्तों पर" आ जाती है। 'काव्यदर्पण' से जो आशा की जा सकती थी, वह पूरी न हो सकी; उसमें अध्ययन की कमी नहीं परन्तु मनन, स्वतन्त्र सूझ अथवा मौलिकता का अभाव है। रामदहिन मिश्र दूसरों के 'अधकचरे' ज्ञान की आलोचना ही करते तो अधिक सफल रह सकते थे, 'काव्यदर्पण' उनकी कीर्ति में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं करता।

रस के आचार्य

रस-विषय की विवेचना कविराजा मुरारिदान के 'जसवंत जसोभूषण' से ही प्रारंभ हो जाती है, परन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं कविराजा का मुख्य विषय अलंकार था और अलंकार में भी नाम में ही लक्षण की खोज; इसलिए रस विषय अत्यन्त संक्षिप्त रूप में संस्कृत ग्रन्थों के ही अनुसार कह दिया गया है। भानुकवि के 'काव्य प्रभाकर' में सब से ध्यान देने योग्य तो अलंकार वाला नवम मयूख ही है, परन्तु रस विषय का प्रतिपादन भी उसी सुगमता तथा सफलता से मिलता है जिससे कि अलंकार विषय का (भानुकवि की शैली पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं)। महाराज प्रताप नारायणसिंह का 'रस कुसुमाकर', बाबूराम वित्थरिया का हिन्दी में 'नव रस' तथा भगवान् दीन की 'व्यंग्यार्थमंजूषा' इसी विषय पर विवेचनाएँ हैं। रस-विषय पर हिन्दी में उतनी पुस्तकें नहीं लिखी गईं जितनी कि अलंकार विषय पर, फिर भी बा० गुलाबराय की 'नवरस', स्व० हरिऔध का 'रसकलस', तथा सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की 'रसमंजरी' इस क्षेत्र में काफ़ी प्रसिद्ध हैं। इस दिशा में शोधकार्य भी हुआ और यत्र-तत्र भी लिखा गया।

गुलाबराय : नवरस

मनोविज्ञान के पंडित बा० गुलाबराय ने रस विषय को नवीन छाया में देखते हुए यह अनुभव किया कि "रीति-ग्रन्थों में जो नवरसों का वर्णन है उसके आधार पर भावों का

मनोविज्ञान भली-भाँति लिखा जा सकता है;" फलस्वरूप सं० १९७७ में उनका 'नव-रस' नाम का ग्रन्थ तैयार हो गया जिसमें लेखक ने "इस बात का यथाशक्ति उद्योग किया है कि नवरसों के वर्णन में जो गूढ़ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त अप्रस्तुत रूप से वर्त्तमान है उनका पूर्णतया उद्घाटन कर दिया जावे।" भूमिका से यह स्पष्ट है कि लेखक संस्कृत के आचार्यों की आलोचना नही कर रहा, और न उनका ज्यों का त्यों अनुकरण कर रहा है, उसके सामने है एक नया दृष्टिकोण—रसविषय को मनोविज्ञान की छाया में समझना-समझाना। रीति काल में रस की इतनी अतिरसता हुई कि वर्त्तमान वैज्ञानिक युग में लोग काव्य और रस को व्यावहारिक जीवन में घातक समझ कर छोड़ने से लगे।[1] हमारे लेखक ने इसी दुर्भावना का निराकरण करने के लिए भी मानो प्रस्तुत पुस्तक लिखी है और उसकी यह कामना है कि "नवरस का अध्ययन विद्यार्थियों को जीवित मानव-समाज और उसके काव्यमय चित्रों की रुचि के साथ समझने में सहायक हो।"

'नवरस' का उद्देश्य सर्वप्रथम व्यावहारिक या सामाजिक है, फिर मनोवैज्ञानिक या वैज्ञानिक और तब काव्यशास्त्रीय तथा साहित्यिक। पुरानी धारणाओं को बदल कर लेखक समाज में सुधार करना चाहता है इसलिए उसने नवीनतम ज्ञान की दलील से उपदेश देना प्रारंभ कर दिया है; ऐसे स्थल अनेक हैं जहाँ रुककर पाठक सोचने लगता है कि वह समाजशास्त्र की पुस्तक पढ़ रहा है या किसी सुधारक के उपदेश—उसे साहित्य विषय का ध्यान नहीं रहता। स्त्री के विषय में निश्चय ही ग़लत धारणाएँ रही हैं (और नवीनतम धारणा कितनी ठीक है, यह भी सोचने की बात है) परन्तु काव्यशास्त्र के आचार्य का उत्तरदायित्व उनमें सुधार करना नहीं है, अन्यथा वह पथभ्रष्ट समझा जायगा। 'नवरस' में कुछ उपदेश-स्थल बड़े मनोरंजक हैं :—

(क) यद्यपि परकीया के प्रेम में प्राबल्य की मात्रा अधिक है तथापि उसके स्थायित्व में सदा संदेह रहता है, क्योंकि जिस प्रकार उसने अपने पति को धोखा दिया, वह उपपति को भी धोखा दे सकती है। (१६६)

(ख) स्त्रियाँ प्रारंभ में इतनी अग्रसर नहीं होतीं जितने कि पुरुष। एक बार पुरुषों द्वारा नैतिक पतन हो जाने के पश्चात् उनकी स्वाभाविक लज्जा का ह्रास हो जाता है। (१९०)

(ग) प्रीति का मूल्य केवल प्रीति हो सकती है, वह धन से नहीं खरीदी जा सकती। (१९२)

(घ) ओविड अपने Lover's Handbook में कहते हैं कि जो कार्य सैकड़ों अनुनय-विनय से नहीं होता वह सुवर्ण से हो जाता है। (३८०)

---

[1] लोग अभी तक काव्य का विषय बहुत अनुपयोगी समझते हैं और इसी कारण वर्त्तमान समाज में काव्य का यथोचित आदर नहीं। (द्वितीय संस्करण की भूमिका पृष्ठ ९)।

इस प्रकार का विवेचन अनेक स्थलों पर है और वह भी विस्तार के साथ। हमारा विचार है कि यदि काव्य-शास्त्र प्रीति की रीति सिखलाना चाहता है तो शृंगार काल की अपार राशि की इतनी अवहेलना व्यर्थ है, क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष अनुभव की बातें हैं केवल किताबी ज्ञान का उल्लेख मात्र ही नहीं।

विद्वान् लेखक ने अधिकतर बातों को मनोविज्ञान के सहारे समझाने का प्रयत्न किया है। काम वासना के सम्बन्ध में वह लिखता है—"कुछ मनोवज्ञानिकों का कथन है कि स्त्री वा पुरुषों में कामेप्सा का आधिक्य मस्तिष्क की एक बीमारी के कारण होता है। पुरुषों में यह बीमारी Satyriasis (सेटीरिएसिस) और स्त्रियों में Nynphomania (निनफोमेनिया) अर्थात् कामोन्माद कहलाती है। (१६०)।" "सात्विक भावों का वैज्ञानिक विवरण" देते हुए गुलाबरायजी ने शरीर विज्ञान की सारी प्रक्रिया ६-७ पृष्ठ में समझा कर साहित्य के प्रति न्याय नहीं किया। षड् ऋतु के प्रसंग में जो ७-८ पृष्ठ का गणित विज्ञान फैलाया है और $\frac{\text{१०५१०४४२}}{\text{१०६८६६६०}}$ का जो हिसाब लगाया है (पृ० ३१२) उससे भले-भले गणितज्ञ त्राहि-त्राहि बोल सकते हैं। पृ० ५५७ (पृ० ५५३ से पृ० ५६० तक) पर यही अतिविज्ञानवाद है। Psycho-analysis तथा Sub-conscious शब्द तो न जाने कितनी बार आये हैं। भारतीय 'काम' तथा अंग्रेज़ी 'Sex' का जो घपला आजकल के विद्वानों में चला हुआ है उस पर हमारे आचार्य ने एक शब्द भी नहीं कहा, प्रत्युत यह मान लिया है कि "इनसे यह अवश्य सिद्ध होता है कि हमारे जीवन में हमारी कामवासनाएँ, बहुत बड़ा हिस्सा घेरे हुए हैं" (१५५)। जब शृगार रस तथा कामवासना एक ही चीज़ है तो रसाभास का क्या प्रश्न, और ऊपर दिये गये उपदेशों का क्या मूल्य? भारतीय रसशास्त्र की आधुनिक ढंग से व्याख्या हो सकती है, परन्तु इस काम को लगे हाथों करने से न करना अच्छा है।

बा० गुलाबराय ने इस पुस्तक में काव्य-शास्त्र पर अधिक ध्यान नहीं दिया, इससे कुछ भूलों का रह जाना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में पोद्दारजी की 'रस मजरी' की भूमिका (पृ० २५ से २७ तक) देखी जा सकती है। हमको खटकनेवाली बात यह दिखलाई पड़ती है कि लेखक ने नये युग में अग्रणी बनकर भी नायिका-भेद से मुक्ति न पाई, उदाहरण प्रायः पुराने (ब्रजभाषा के) या संस्कृत के रखे, कहीं-कहीं उदाहरणों की अति कर दी (पृ० ५६३ से ५७६ तक देशभक्ति के उदाहरण तथा पृ० २६६ से ३०८ तक प्राकृतिक दृश्यों के उदाहरण)। 'नवरस' के लगभग ३०० पृष्ठ रसराज की सेवा में समर्पित हैं, और लगभग २०० शेष सारे रसों के सहायक बने हैं। 'नवरस' के चौदहवें अध्याय में रसाभास और भावाभास की चर्चा है, लेखक ने लक्षण तो साहित्य दर्पण से लिया है परन्तु उदाहरण शृंगारी कवियों के हैं। उपनायकनिष्ठ रति (पृ० ५८५) तथा बहुनायक निष्ठ रति (पृ० ५८६) के उदाहरण मतिराम के 'रस राज' से लिये हैं—परन्तु मतिराम ने उनको दोष या अनौचित्य के लिए नहीं लिखा, तब हमारे लेखक के लिए ऐसा

करना क्या उचित है ? वस्तुतः जब परकीया नायिका और उपपति के प्रेम को आप ठीक समझते हैं तो उपनायकनिष्ठ रति को रसाभास नहीं कहा जा सकता। अधम पात्र के प्रति रति (पृ० ५८६) में 'जातिविलास' का वह उदाहरण रखा है जो चमारिनि के वर्णन में आया है, यह उदाहरण भी अनुचित है क्योंकि चमारिनि के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की रति हेय नहीं मानी जा सकती। अनुभयनिष्ठ रति का उदाहरण भी ठीक नहीं है क्योंकि वस्तुतः नायक और नायिका में प्रेम है तो सही, वह गुप्त है, उसको सब लोग नहीं जान सकते। रस दोष[1] के प्रसग में 'रति' शब्द (६०८) के आ जाने मात्र से स्वशब्द वाच्य दोष नहीं माना जा सकता --'रति' एक स्थायीभाव का भी नाम है तथा संभोग की क्रीड़ा को भी 'रति' ही कहते हैं।

'नवरस' ६३४ पृष्ठ की बड़ी पुस्तक है, जिसमें १८ अध्याय हैं। चतुर्थ अध्याय में ह्यूमर तथा व्हिट का अन्तर (४३६-३७), पंचम में दुःखान्त नाटकों की विवेचना (पृ० ४५१-५६), सप्तम में वर्त्तमान युग में वीरता के क्षेत्र (पृ० ४८३-८४), नवम में वीभत्स-वर्णन द्वारा समाज सुधार (५०४-५), दशम में वैष्णव मत से अद्भुत के चार प्रकार (५१४-१५), तेरहवें अध्याय का अधिकतर अश (५५६-५७६) तथा अठारहवें अध्याय में रसनिष्पत्ति के प्रसग विशेष रूप से देखने योग्य है। लेखक ऐसे स्थलों पर मौलिक है और भले ही सब उससे सहमत न हों, उसकी सचाई पर विश्वास करना पड़ता है।

हरिऔध : रसकलस

स्व० पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" ने सन् १९३१ में एक "रस सम्बन्धी अनूठा काव्य-ग्रन्थ" लिखा जिसमें ३६३ पृष्ठ रस के सांगोपांग वर्णन में तथा २१६ पृष्ठ भूमिका में लगे हैं। 'रस कलस' की भूमिका खड़ी बोली गद्य में लेखक के रस-विषयक आलोचनात्मक विचारों को स्पष्ट करती है और मूल ग्रन्थ लक्षण-उदाहरण-प्रणाली पर रस का विस्तृत वर्णन करता है। हरिऔध अध्यापक थे और कवि थे, रस-कलस में उनके दोनों रूप हैं, वे ब्रज भाषा के प्रेमी थे, परन्तु उसमें नवीन विचार लाना चाहते थे--इस पुस्तक में यह प्रयत्न भी प्रशंसनीय है।

'रसकलस' में सक्षिप्त लक्षण तो खड़ी बोली गद्य में है परन्तु सारे उदाहरण हरि-औध जी ने ब्रजभाषा तथा ब्रजभाषा छन्दों में (मुख्यतः दोहा, कवित्त तथा सवैया छदों) में दिये हैं। यही इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषता है जिसके कारण हरिऔध पुरानी परिपाटी के आचार्य-कवि जान पड़ते हैं, आधुनिक युग के आलोचक नहीं। यह कहना अनुचित न होगा कि खड़ी बोली गद्य के इस युग में रचे गये ब्रज भाषा के ये उदाहरण पुराने सम-वर्गियों के समान मधुर एव सरस न हो सके--रीतिकाल के कवियों में युग की अमिट छाप

---

[1] शरद निसा प्रीतम प्रिया, बिहरत अनुपम भाँति।
ज्यों-ज्यों रात सिरात अति, त्यों-त्यों रति सरसाति॥

माधुर्य का अजस्र स्रोत भर चुकी थी, उसकी आवृत्ति फिर कैसे हो सकती थी ? इस ग्रन्थ में रीतिकालीन आचार्यों के समान ही लक्षण, व्याख्या, तर्क-वितर्क आदि को व्यर्थ समझ लिया गया है; सारी शक्ति उदाहरणों में लगी है—इसलिए शास्त्रीय मौलिकता का प्रश्न ही नहीं आता। फिर भी हरिऔध जी ने बँधी हुई परिपाटी के भीतर कुछ नवीनता भरने का प्रयत्न किया है सुधार की भावना से प्रेरित होकर।

शृंगार रस के प्रसंग में उत्तमा नायिका का वर्णन करते हुए उसके ८ भेद किये हैं; पति-प्रेम तो उत्तमा नायिका का गुण है परन्तु इस संकीर्ण 'प्रेम'का जितना अधिक विस्तार होगा उतना ही नारी-प्रकृति के प्रतिकूल पड़ेगा; फलतः जो नारी पति तक अपने प्रेम को सीमित रखती है (सन्तान, सास-ससुर आदि के प्रति अनुराग भी पतिप्रेम का ही रूप है) वह तो वरेण्य है, परन्तु जिसके अनुराग का क्षेत्र बढ़ता जायगा उतनी ही वह 'नारी' कम होती जायगी—पुरुष का विकास विस्तार में है परन्तु नारी का संकोच में। हरिऔध जी ने परिवार, जाति, देश, जन्मभूमि, निजता, लोक तथा धर्म तक अनुराग का जो क्रमशः विस्तार दिखलाया है वह इसीलिए हास्यास्पद बन गया है; नारी के आदर्श की यह कल्पना कवि जी ने पुरुष के आदर्श के समानान्तर की है। उदाहरण बड़े ही हलके, उथले तथा रूखे हैं—'लोक सेविका' का सारा वर्णन देखा जा सकता है। यही बात मध्यमा तथा अधमा के सम्बन्ध में भी है। "प्रकृति संबन्धी भेद" जाति-सम्बन्धी भेदों से नितान्त स्वतन्त्र नहीं मालूम पड़ते। पूर्वानुराग में पुराने आचार्यों ने प्रत्यक्ष, चित्र, श्रवण, स्वप्न इस चार प्रकार के दर्शन को आधार माना है; आजकल के युग में सामान्य पत्र-व्यवहार से भी प्रेम हो जाता है, फोन पर बात करके भी, और किसी की रचनाओं को पढ़कर भी—क्या ही अच्छा होता यदि हरिऔध जी ने अपनी पुस्तक में इन साधनों का समावेश कर दिया होता।

करुण रस में जो मौलिकता है वह करुण रस को करुणा तक खींचकर छोटा बना देती है—करुण एक रस का नाम है जिसका स्थायी भाव शोक है, और करुणा स्वयं एक भाव है जो शोक से बहुत हलका है। देश की दशा पर आँसू बहाना, विधवा पर दया, हिन्दुओं का भोलापन आदि विषयों वाले उदाहरण इसीलिए इस रस में फिट नहीं होते। अद्भुत रस में 'रहस्यवाद' शायद चल सके। हाँ, हास्यरस में कवि ने जो सामग्री रखी है वह अवश्य प्रशंसनीय है; आधुनिक नारी, नेता, साहब बहादुर आदि नई फ़ैशन के चेरे तथा 'महनीय महन्त' आदि पुरानी लकीर के फकीर दोनों ही पर समान प्रहार है—हास्यरस का प्रसंग हरिऔध जी के विचारों को समझने में बड़ा सहायक है। कुछ स्थल देखिए :—

(क) चंद-मुखी किधौं कोऊ पिसाची।

(ख) नर अब नारि के नयन में न बसिहैं।

(ग) बिना पति पूजे पूजनीय होति नारी है।

(घ) नारी जो न होती तो अनारी नर रहते।

(ङ) **जिनकी ताड़ी लगति है, करि ताड़ी को पान ।**

(च) **साहु कहावहिं पै सदा मूसि मूसि धन खाँहि ।**

वीररस के प्रसग में 'कर्मवीर' भेद बढ़ाया गया है, कारण नहीं दिया। 'कर्म' स्वयं कोई अलग कर्त्तव्य नहीं, धर्म, युद्ध, दान, दया——सभी तो 'कर्म' हैं और जो इनमें 'वीर' (=उत्साहयुक्त) होगा, वह किसी न किसी भेद के अन्तर्गत आ जावेगा; हरिऔधजी निष्काम सोत्साह प्रयत्नशीलता इस कर्मवीरत्व का लक्षण समझते हैं——उदाहरणों से एसा[1] प्रतीत होता है। रौद्र रस में भी विस्तार है, भेद तो अलग नहीं हैं परन्तु उदाहरणों में क्रोध धिक्कार का साथी बन गया है। वीभत्स रस का उपयोग सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए हो सकता है, हमारे कवि ने भेद तो नहीं बनाये परन्तु उदाहरणों में कर्त्तव्यविमुख लोगों के प्रति घृणा उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है जो अधिक सफल नहीं हुआ।[2]

मूलग्रंथ में जो कमी रह गई थी उसकी पूर्त्ति भूमिका भाग से हो गई है——पुराने आचार्यों में भी मतभेद था ही, आधुनिक युग में अनेक विवादास्पद प्रश्न भी उठ खड़े हुए, जिनका उत्तर तथा स्पष्टीकरण हरिऔधजी ने बड़ी कुशलता से सम्पन्न किया है। मनोविज्ञान की सहायता से तुलनात्मक अध्ययन की यहाँ आवश्यकता नहीं समझी गई, क्योंकि लेखक का उद्देश्य तो "जाति, देश और समाज-संशोधन सबंधी विषयों" को स्थान देना तथा "पाश्चात्य विचारों के प्रवाह में पड़कर देश की कुलांगनाओं में, अन्ध अनुकरणकारियों एव विदेशी भावों के प्रेमियों में जो दोष आ रहे हैं——उनकी भर्त्सना" ही है——जिस पर ऊपर विचार किया जा चुका है। दो और बातें हरिऔधजी के सामने थीं——ब्रजभाषा तथा शृंगार रस ; वे ब्रजभाषा की अवहेलना को समयोचित नहीं समझते। शृंगार का अवश्य उन्होंने उद्धार किया और जिस अश्लीलता के कारण विद्वज्जन शृगार से नाक-मुँह सिकोड़ते थे उस अश्लीलता को दूर करके शृगार का "संयत और गूढ़" वर्णन किया है——"जहाँ मधुरता, सरलता, हृदयग्राहिता और सौंदर्य है"। संयम तथा सरलता के ही कारण इस 'कलश' का रस उतना मादक न बन सका जितना कि पुराने 'तरंग', 'पीयूष', 'विनोद', 'विलास' आदि का।

भूमिका में तीन प्रसंग मुख्य हैं:——रस, शृंगार रस तथा वात्सल्य रस। रस की सामान्य समस्याओं पर आचार्य ने विस्तार से ७२ पृष्ठ में विचार किया है; सभी कुछ प्राचीन शास्त्र-सम्मत है परन्तु किसी एक ग्रंथ के आधार पर ही लिखा हुआ नहीं, प्रत्युत विशाल अध्ययन तथा मनन का फल। संस्कृत भाषा के उद्धरण स्थान-स्थान पर आय हैं।

---

[1] **हार न मानत साहसी सिर पर गिरे पहार।**
किये भरोसो भाग को भागवान भौ कौन ॥

[2] **ताको थूकै क्यों न जन, होठ दुखनतें काटि ।**
जाकी काया पलति है, थूक पराया चाटि ॥

फिर भी प्रतिपादन बड़ा निर्भ्रान्त तथा साधिकार है। हिन्दी के उद्धरणों की भी कमी नहीं। श्रृंगार रस के संबंध में नये लोगों से बहुत कुछ कहना था, इसलिए संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के उद्धरणों से यह स्थापना की गई है कि श्रृंगार बड़ा व्यापक तथा कमनीय है— प्रेम के गौरव तथा महत्त्व को अनेक प्रकार से बतलाया है। अद्भुत, करुण तथा शांत भी रसराजत्व चाहा करते हैं, इसलिए इनके अधिकार का निराकरण भी इस भूमिका में मिलेगा। श्रृंगार रस का इतना विस्तृत, सरल तथा स्वस्थ विवेचन इस वर्ग की किसी दूसरी पुस्तक में नहीं है। वात्सल्य रस के साथ-साथ भक्तिरस की भी चर्चा आ गई है; अन्त में हरिऔधजी ने बड़ी विनीत शब्दावली में "वत्सल की रसता" सिद्ध की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि हरिऔध की अपेक्षा आचार्य हरिऔध इस ग्रंथ में अधिक निखरे हैं— पुरानी परिपाटी में उन्होंने जो कुछ फिट करना चाहा था वह तो सफल न रहा, परन्तु पुराने सिद्धांतों का विवेचन बड़ा सफल है; ग्रंथ की भूमिका समयोपयुक्त तथा मूल्यवती है।

कन्हैयालाल पोद्दार : रस-मंजरी

'काव्य कल्पद्रुम' की प्रथम मजरी 'रसमंजरी' है; जिसमें "प्रधानता रस विषय है", साथ ही शब्दशक्ति, ध्वनि, गुण तथा दोष विषयों पर भी विचार है—लेखक का प्रयत्न यह है कि रस-मजरी तथा अलंकार-मंजरी दोनों मिलकर साहित्य-शास्त्र की पूरी शास्त्रीय विवेचना कर सकें। ग्रंथ के प्रारम्भ में २८ पृष्ठ की भूमिका है जिसमें अन्य सामान्य प्रकार की चर्चा के साथ इस विषय पर प्राप्य साहित्य का सक्षिप्त इतिहास भी मिल जाता है— लेखक ने हिन्दी की समसामयिक सवर्गी कृतियों के दोषों तथा सीमाओं पर अच्छा प्रकाश डाला है, यहाँ अलंकार-मजरी की अपेक्षा विनम्रता है। 'रसमंजरी' में सारा विवेचन संस्कृत ग्रंथों के अनुसार है; लक्षण खड़ी बोली गद्य में, अति संक्षेप से दिये गये हैं, उदाहरण मुख्यतः तो ब्रजभाषा के हैं परन्तु कहीं-कहीं खड़ीबोली के भी; "लक्षणों को समझाने एवं उदाहरणों में लक्षणों का समन्वय करने के लिये वार्त्तिक वृत्ति में स्पष्टीकरण कर दिया गया है;" उदाहरण प्रायः एक से अधिक हैं—फिर भी प्रायः व्यर्थ की भरमार नहीं है।

रसमंजरी की मुख्य विशेषता है नायिका-भेद के उदाहरणों से छुट्टी पा लेना, रस का विवेचक तथा रसिक दो अलग व्यक्तित्व हैं—यह सबसे पूर्व व्यवहार में यहीं स्वीकार किया गया है। फिर भी नायिका-भेद चल तो रहा ही था, इसलिए ५ पृष्ठ में केवल लक्षणों द्वारा उसको समझाने का प्रयत्न है। ऋतुवर्णन, नखशिख आदि के साथ भी ऐसा ही व्यवहार है। फलतः रसमंजरी अपने विषय की सबसे गंभीर तथा उपयोगी पुस्तक बन गई है। मनोविज्ञान वाले तुलनात्मक अध्ययन की यहाँ भी कोई आवश्यकता न थी।

रसमंजरी में सात स्तवक है। प्रथम में काव्य-विषयक सामान्य बातें हैं। काव्य का लक्षण मम्मट का अनुवाद है जो बड़ी जल्दी में चलता कर दिया है; सस्कृत भाषा में इस लक्षण को लेकर इतना तर्क-वितर्क है परन्तु पोद्दारजी ने उससे कोई लाभ न उठाया—

कारण शायद यह हो कि प्रथम स्तवक को वे सूत्ररूप में ही पूरा कर दना चाहते हैं, जो इस पुस्तक की एक भारी कमी है। द्वितीय स्तवक में शब्दशक्ति का विषय है, जिसकी विवेचना में संस्कृतपन आवश्यकता से अधिक है, अनुवाद ही पर्याप्त नहीं होता, प्रवृत्ति का भी ध्यान रखना चाहिए। वाचक का प्रसंग देखिए:—"जैसे 'नाक' पद का 'स्वरव्ययं स्वर्गनाक' इस अमरकोष के श्लोक द्वारा स्वर्ग अर्थ में संकेत-ग्रहण होता है; इनके अतिरिक्त सकेत-ग्रहण करानेवाले 'वाक्यशेष' एवं 'विवरण' भी होते हैं" (५३)। यदि पाठक इन शास्त्रीय शब्दों को समझता होता तो उसे इस रसमंजरी की क्या आवश्यकता थी? लक्षण के प्रसग में 'तादर्थ्य' तथा 'तात्कर्म्य संबंध' एवं 'ये कुन्त आ रहे हैं' 'वाहीक बैल है' आदि उदाहरण असाध्य बन गये है। तृतीय स्तवक में व्यंजना का विषय है; हमारा विचार है कि "वाच्य-सम्भव-वक्तृ-वैशिष्टय-प्रयुक्ता' जैसे भयंकर एवं सूक्ष्म भेदों को छोड़ दिया जाता तब भी कोई हानि न थी। लक्षणा के प्रसग में विश्वनाथ का मत मान्य समझकर दे दिया गया है; और तीनों वृत्तियों के अन्त में मम्मट की 'तात्पर्याख्या' वृत्ति, बिना किसी खंडन या मंडन के, लिख दी है—जिससे लेखक का स्वमत स्पष्ट नहीं हो पाता।

चतुर्थ स्तवक में ध्वनि का विषय है; ध्वनि के ५१ भेद भेदवृक्ष द्वारा समझाये गये हैं। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत रस का विषय प्रारम्भ होता है। लेखक ने आचार्यों के उद्धरण फुटनोट में दिये हैं, मूल का अंग नहीं बनाये और अनावश्यक उदाहरण नहीं दिये; संचारी भावों में उदाहरण-संकोच नहीं है। स्थायीभाव ९ ही माने हैं। 'रस का आस्वाद' यद्यपि साधिकार समझाया गया है, परन्तु उसमें कोई नवीनता नहीं है; प्रश्नोत्तर तथा शका-समाधान भी तो हो सकते थे; साधारणीकरण का विषय इतना कठिन तथा चलता हुआ है कि उससे संतोष नहीं होता—"अभिनवगुप्ताचार्य आदि के अनुसार साधारणी-करण भावना का व्यापार नहीं है, किन्तु व्यजना का अलौकिक विभावन व्यापार है" (१७३)। रसों का वर्णन बड़े विस्तार से है, सारा उदाहरणों से भरपूर। विप्रलम्भ के भेदोपभेदों की इतनी सोदाहरण व्याख्या क्या आवश्यक थी? सारा वर्णन प्राचीन परि-पाटी के अनुकूल है; यद्यपि दूसरे आचार्यों ने रसों का क्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न किया था परन्तु पोद्दारजी उस ओर से उदासीन है, वात्सल्य रस, भक्ति रस को भुला देना ठीक नहीं लगता; हास्य के नये उदाहरण लिखे जा सकते थे। हाँ, स्थान-स्थान पर संदेहास्पद स्थलों में यह बतला दिया है कि यहाँ अमुक रस होगा, अमुक नहीं। 'हास्य और वीभत्स के आश्रय' पंडितराज जगन्नाथ के मत में किसी व्यक्ति के आक्षेप से आते हैं, पोद्दारजी ने इस मत में अधिक विश्वास नहीं दिखलाया (२३९)।

प्राचीन आचार्यों के अनुकरण पर ही भाव का वर्णन करते हुए भक्ति, वात्सल्य आदि को रति-भाव के अन्तर्गत मानकर इनमें रस परिपाक का निषेध किया है, फिर इनको स्वतन्त्र रस मानने का प्रश्न ही नहीं आता—विरोधी मत का इन स्थलों पर खंडन नहीं है। लेखक का मत है—"भक्ति को एक स्वतन्त्र रस न मानकर भाव मात्र

मानना केवल प्राचीन परिपाटी-मात्र है। वास्तव में अन्य रसों के समान सभी रसोत्पादक सामग्री भक्ति रस में भी होती है" (२४४) परन्तु वात्सल्य के विषय में उसका मत भिन्न है—"वात्सल्य वह प्रेम है जो माता, पिता आदि गुरुजनों के हृदय में पुत्रादि के विषय में होता है, इसी कारण 'वात्सल्य' को स्वतन्त्र रस न मान कर पुत्र-विषयक रति-भाव माना है" (२४५)। रसाभास के सबंध में जो बात 'नवरस' के प्रकरण में ऊपर कही जा चुकी है उसे दुहराने से कोई लाभ नहीं, क्योकि पोद्दारजी तो पुराने संस्कृत आचार्यों का ज्यों का त्यों अनुकरण कर रहे हैं।

'रसमंजरी' के शेष तीन स्तवकों में गुणीभूत व्यंग्य, गुण तथा दोष की विवेचना है। इस पुस्तक में आचार्य मम्मट का ही अनुकरण मुख्य है, दूसरे आचार्यों की सहायता विरल है; लेखक ने मम्मट पर किये गये आक्षेपों के भी उत्तर नहीं दिये, केवल मम्मट के उत्तरों को ही दुहराया है। विश्वनाथ तथा पंडितराज भी स्थान-स्थान पर आ गये हैं। हिन्दी आचार्यों तथा संस्कृत के आधुनिक विद्वानों (लहरी, राघवन, दे, काणे आदि) से यह लेखक उदासीन क्यों रहा, यह आश्चर्य की बात है। दूसरों की बात न मानी जाती, परन्तु उस पर विवेकपूर्वक विचार तो हो सकता था। 'रसमंजरी' आद्यवत् पुस्तक न बन सकी, इसमें सूक्ष्म विवेचना का अभाव है, नवीन समस्याओं का समावेश नहीं है, और अधिकतर उदाहरण ब्रजभाषा के हैं; विवेचना में शास्त्रीय शब्दों को स्पष्ट नहीं किया गया; उदाहरणों के अनुवाद परिश्रम की कमी दिखलाते हैं। संतोष यही है कि अपने दृष्टिकोण में यह पुस्तक सफल है और लेखक ने स्वरचित उदाहरण कम ही रखे हैं। काव्य के लक्षण में रस का नाम भी न लेना आज के पाठक को खटकता है। नायिका-भेद से रसशास्त्र को मुक्ति दिलाने के लिये पोद्दारजी प्रशंसा के पात्र हैं।[1]

रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा

"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सन् १६२२ के आसपास काव्यमीमांसा के लिये कुछ

---

[1] सं. १९९४ में राजकवि बिहारी लाल भट्ट की 'साहित्यसागर' तथा सं. १९९७ में मिश्रबन्धु की 'साहित्य-पारिजात' नामक रचनाएँ प्रकाशित हुईं, जिनका परिचय डॉ. भगीरथ मिश्र ने अपनी 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' नामक पुस्तक में (पृष्ठ २२५ से पृष्ठ २३५ तक) दिया है। 'साहित्य-सागर' ६०० पृष्ठों में साहित्य के विभिन्न अंगों का वर्णन बड़ी विद्वत्ता से करता है, लक्षण पद्य में हैं, नायिकाओं की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए स्वकीया को सतोगुणी वृत्ति, परकीया को रजोगुणी और गणिका को तमोगुणी वृत्ति माना गया है। 'साहित्यपारिजात' में लक्षण गद्य में है, उदाहरण पद्य में, इस पुस्तक का दूसरा खंड प्रकाशित नहीं हुआ।

निबंध लिखे थे, जो पृथक्-पृथक् शीर्षकों में लिखे गये थे," और समय-समय पर विद्वानों के सामने भी आये। सं. २००६ में पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उनका संपादन 'रसमीमांसा' के नाम से किया। प्रस्तुत पुस्तक में काव्य, विभाव, भाव, रस तथा शब्दशक्ति के विषय की विवेचना है। शुक्लजी रसवादी थे, शायद इसलिए मिश्रजी ने प्रस्तुत पुस्तक का नाम 'रसमीमांसा' रखा है। इस संग्रह को नवीन कोटि के अध्ययन में ही रखना अधिक उचित है, परन्तु यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि सारी विवेचना का आधार भारतीय काव्य-शास्त्र ही है। शुक्ल जी ने सिद्धांतों पर विचार किया है, उनकी विवेचना की है, प्राचीनों या नवीनों के मत को ही सर्वसुलभ बनाना उनका उद्देश्य न था। "काव्य" नामक निबंध बिल्कुल नवीन शैली पर लिखा गया है, और "काव्य के विभाग" नामक लेख की समस्या ही नितांत नवीन है। विभाव, भाव तथा रस का विषय तो पुराना है परन्तु इनकी विवेचना नई है; साधारणीकरण के विषय में शुक्लजी का अपना मत है। शब्दशक्ति तथा ध्वनि के विषय को भी साधिकार स्पष्ट किया गया है। शुक्लजी का विवेचन सर्वथा प्रौढ़ तथा निर्भ्रान्त है, भले ही उनका मत सबको मान्य न हो।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मम्मट, विश्वनाथ तथा पंडितराज की कोटि के हिन्दी-आचार्य हैं; प्राचीन की मौलिक व्याख्या तथा पाश्चात्य प्रभावजन्य नवीन भ्रान्तियों का निराकरण उनके शास्त्रीय विवेचन का लक्ष्य था; संस्कृत तथा अंग्रेजी के ठोस ज्ञान के बिना ही विलक्षणता को परम ध्येय समझने वाले अधकचरे आलोचकों को वे सोचकर आगे बढ़ने का आदेश देते हैं। शुक्लजी काव्य को इसी लोक और इसी समाज की वस्तु मानते हैं, और कवि की अनुभूतियों को सर्वसामान्य की अनुभूति; रस से उनका अभिप्राय व्यक्ति-वैचित्र्य से भिन्न एक सर्वसामान्य हृदय-दशा से है; वाल्मीकीय रामायण उनका आदर्श काव्य है। 'रस', 'भाव', 'साधारणीकरण' आदि शब्दों की व्याख्या इसी छाया में देखनी चाहिए।

इसके विवेचन में आचार्यजी ने 'पूर्ण रस' (पृ०९३, पृ० ९९) शब्दों का प्रयोग किया है और लिखा है कि:—

(क) पूर्ण रस में कसर आलम्बन के अनौचित्य और अनुपयुक्तता के कारण होगी, साधारणत्व के कारण नहीं।. . . .वह सच पूछिये तो विशेषत्व के कारण होती है। (९२)

(ख) जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहाँ तीन हृदयों का समन्वय चाहिये। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरितार्थ हो सकता है। (९९).

(ग) . . . . भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती। (२६७).

इन वाक्यों में 'रस' के दो विशेषण 'पूर्ण' तथा 'सच्चा' दृष्टिगोचर होते हैं और

अन्यत्र इसकी अवस्थाएँ या कोटियाँ बतलाई गई हैं। परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में इस स्वयमेव पूर्ण, सच्चा तथा सर्वोच्च कोटि का माना गया है, जब तक वह ऐसा न होगा तब तक उसको रस-संज्ञा न दी जावेगी। वस्तुतः शुक्लजी ने 'रस' शब्द के व्यापक अर्थ को व्यवहार से ले लिया है जिसके अन्तर्गत रसाभास तथा भाव भी आ जाते हैं; जो शुक्लजी का 'पूर्ण' 'सच्चा' एवं 'प्रथम कोटि' का रस है, यथार्थ में वही 'शास्त्रीय रस' है; अन्यत्र 'रस', न समझकर रस की अनुकृति या रसाभास ही समझा जावेगा।

'भाव' की शुक्लजी ने ३ दशायें स्वीकार कीं हैं (१८६):—भावदशा, स्थायीदशा तथा शीलदशा; सबसे उच्चकोटि की पूर्ण तथा सच्ची दशा 'शीलदशा' ही है। ध्यान रखना होगा कि प्राचीन काव्यशास्त्र में भाव के दो वर्ग हैं—अस्थायी (भाव) एवं स्थायी, अस्थायी भाव को संचारी भाव कहते हैं; स्थायी भाव भी दो प्रकार का है—रस तथा रसाभास, यहाँ व्यवच्छेदक धर्म औचित्य है। अस्तु 'भावदशा', 'स्थायीदशा' तथा 'शीलदशा' को 'संचारी भाव', 'स्थायीभाव' (मुख्यतः रसाभाव) तथा 'रस' के मेल में रखना उचित है। संस्कृत के आचार्यों ने 'स्थायीभाव' तथा 'रस' दो अलग-अलग दशाएँ मानी हैं; समस्त सामग्री के उपस्थित रहने पर भी स्थायीभाव का रस बन जाना अनिवार्य नहीं—औचित्य की अवहेलना करके भी प्रपानक की मादक सामग्री मन पर प्रभाव डालेगी, परन्तु काव्यास्वाद मादक नहीं सात्विक होता है अतः उसमें औचित्य से उदासीन नहीं रहा जा सकता। शास्त्रीय 'रस' 'पूर्णरस', 'सच्चा रस', 'प्रथम कोटि की रसानुभूति', तथा 'शीलदशा' एक ही वस्तु के विभिन्न नाम हैं।

इसी प्रसंग में 'स्थायीभाव' तथा 'अंगीभाव' से भिन्न एक 'बीजभाव' (पृ०६५) का अस्तित्व शुक्लजी ने बतलाया है, यह बीजभाव प्रबन्ध काव्य के प्रधान पात्र में मूल प्रेरक भाव के रूप में रहकर घटना-चक्र का संचालन करता है। काव्य का बीजभाव कवि का अभीष्ट भाव है जिसकी स्थिति प्रधान पात्र के अन्तस्तल में सबसे प्रबल तथा वेगवती बनकर लक्षित होती है, जब तक इस बीजभाव से तादात्म्य न होगा तब तक रस (पूर्णरस) का आस्वाद सम्भव नहीं। बीजभाव संचरण करके शांत भी हो सकता है, परन्तु वह प्रधान पात्र की महत्ता की माप अवश्य है।

साधारणीकरण पर शुक्लजी ने दो दृष्टियों से विचार किया है—कविकर्म की दृष्टि से तथा रस-विवेचन की दृष्टि से। कविकर्म को दृष्टि में रखकर वे लिखते हैं कि "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है" (३१२); पृ० २६६ तथा २६८ पर भी ये ही विचार हैं। उनका अभिप्राय यह है कि कवि "विशेष का चित्रण करने में भी 'भाव' के विषय के सामान्यत्व की ओर" (पृ०९०) दृष्टि रखे। इन कथनों में विलक्षणता का तिरस्कार है, अलौकिकता का परिहास है; और साधारणत्व

या सामान्यत्व या लोक-सामान्य भावभूमि का आग्रह है; विशेष का वर्णन भी सामान्यवत् होना चाहिये—विशेष भी सामान्य की ही सज्जा में पाठक या श्रोता के सामने आवें तभी उनके साथ तादात्म्य हो सकता है और तभी 'पूर्ण रस' का आस्वाद संभव है।

रस विवेचन को दृष्टि में रखकर आचार्य शुक्ल साधारणीकरण के विषय में लिखते हैं :—

(क) साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं। (२६६).

(ख) साधारणीकरण स्वरूप का ही होता है, व्यक्ति या वस्तु का नहीं। (२६८).

(ग) साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। (३१२).

(घ) . . .कवि विषय को श्रोता या दर्शक के सामने नहीं रखता, वास्तव में किसी वर्णित पात्र के सामने रखता है। (८९)

(ङ) जब कि आश्रय के साथ अभिन्नता होगई तब उसके आलम्बन भी अपने आलम्बन हो ही जायेंगे। (२६७) .

(च) ....हम उनके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध का अधिक अनुभाव करते हैं, जिससे साधारणीकरण पूरा पूरा होता है (१११).

उपरिलिखित कथनों से स्पष्ट है कि रस-विवेचन में भी शुक्लजी कवि-कर्म को भूले नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार वे रस को 'पूर्ण' और अपूर्ण अथवा 'सच्चा' और 'आभास' दो वर्गों में विभक्त करते हैं उसी प्रकार साधारणीकरण को भी—पूर्ण रस पूर्ण साधारणीकरण द्वारा संभव है, परन्तु रसाभास अपूर्ण साधारणीकरण द्वारा (जहाँ कवि अनौचित्य ज्ञान के कारण विरक्त या उदासीन रहकर आश्रय के भाव का प्रदर्शन आरोचित्त या आहार्य रूप में करता है, दे० पृ० ९१)। साधारणीकरण का ही दूसरा नाम आश्रय के साथ अभिन्नता है; परन्तु 'पूर्ण साधारणीकरण' के लिये प्रभाव (२६६) के साथ अभिन्नता या तादात्म्य अनिवार्य है—'शीलदशा' को प्राप्त 'बीजभाव' के साथ साधारणीकरण ही पूरा तथा सच्चा साधारणीकरण है। साधारणीकरण में विशेष नहीं रहता उस विशेष का सामान्यत्व ही रह जाता है। शुक्लजी ने रस की कोटियों के अनुरूप ही साधारणीकरण की भी दो कोटियाँ स्वीकार की हैं (३१३)। उनकी मौलिकता तथा उनका सूक्ष्म विवेचन दूसरे अनुसंधाताओं के लिये भी नया क्षेत्र खोल देते हैं; रस-विषयक यह मीमांसा प्रौढ़ता तथा मौलिकता की दृष्टि से अप्रतिम है।

डॉ० भगवानदास

'दि सायंस ऑफ़ दि इमोशंस' में डॉ. भगवान दास ने रस तथा भाव के 'अध्यात्म की चर्चा विस्तार से' की थी, हिन्दी में उनके इस विषय पर लेख ही हैं। 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' में डॉक्टर महोदय का एक लेख 'रसमीमांसा' संग्रहीत है; जिस में लेखक के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का पता लगता है; सामग्री संस्कृत के काव्यशास्त्र के ग्रंथों से कम और दार्शनिक ग्रंथों से अधिक आई है। 'रसो वै सः' लेखक का सिद्धांत-वाक्य

है। 'साहित्य' तथा 'सौहित्य' शब्दों के अर्थ बतलाकर 'रस' शब्द के विभिन्न अर्थ दिये हैं, सार है—"अस्मिता का अनुभव, आस्वादन, रसन ही रस है" (४)। एक बड़ा विचारणीय प्रश्न उठाया है—"रसों में सामान्य विशेष, परात्परा जाति है या नहीं" (५) जिसका उत्तर आगे के पैराग्राफ़ों में दिया गया है। डॉक्टर महोदय के कुछ निष्कर्ष ध्यान देने योग्य हैं:—

(क) काव्य की आत्मा रस है।(४)

(ख) जैसे अति सौहित्य से, विशेषकर तीव्र रसवाले चटनी-अचार और खटाई-मिठाई के व्यंजनों के अति भोजन से, शरीर में व्याधि उत्पन्न होती है, वैसे ही अति साहित्य से, अति मात्र रसों और अलंकारों की चर्चा से, चित्त में आधि, विकार, शैथिल्य, दौर्बल्य पैदा होते हैं। (वही)

(ग) जैसे जिह्वा का रस 'सौहित्य' में प्रधान है, वैसे ही मन का रस 'साहित्य' में (वही)।

(घ) अस्मिता का अनुभव, आस्वादन, रसन ही 'रस' है। (४)

(ङ) अबुद्धिपूर्वक—अनिच्छापूर्वक—'स्वाद' नहीं, किन्तु बुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक 'आस्वादन' की अनुशयी चित्तवृत्ति का नाम 'रस' है। भाव का अनुभव 'रस' नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रति-संवेदन, 'आस्वादन', 'रसन' रस है। 'भावस्मरणं रसः'।.... अर्थात् मैं हूँ—यही रस का सार-तत्त्व है। (७)

(च) इस 'मैं हूँ' में जो आनन्द का अंश है वही रसबुद्धि है, उसी का पर्याय 'रस' है। (८)

(छ) ब्रह्मास्वाद का सहोदर काव्यास्वाद नहीं, प्रत्युत उसका प्रतिबिंब, विवर्त्त, रूपक, नकल, छाया-मात्र है।.........ब्रह्मास्वाद में 'वेद्यांतर' का निषेध, 'नेह नानास्ति किंचन,' है। इसमें तो बिना 'विभाव' रूपी 'वेद्यांतर' के काम नहीं चलता। (९)

(ज) लोकोत्तर भी कैसे कहा जा सकता है? लोक में ही तो, और लौकिक विशेष विशेष अनुभवों को लेकर ही तो, काव्यसाहित्य के 'रस' की चर्चा है (९)।

रामदहिन मिश्र : काव्यालोक

'काव्यालोक' का अभी तक द्वितीय उद्योत ही प्रकाशित (सं. २००१) हुआ है, जिसमें "अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि" विषय पर विस्तार से विचार है। हिन्दी में अपने ढंग की यह पहली पुस्तक है; भाषा-शैली बड़ी सरल तथा विषय-विवेचन बड़ा पूर्ण है। संस्कृत की काव्यशास्त्र संबंधी सभी पुस्तकों का अध्ययन करके इस पुस्तक की रचना हुई है और 'काव्यदर्पण' के समान पाश्चात्य सिद्धांतों से चलती तुलना यहाँ नहीं है। उदाहरण हिन्दी के हैं और यथासंभव आधुनिक, अनावश्यक उद्धरणों का परित्याग है। इस प्रकार विद्वानों तथा छात्रों दोनों के लिए पुस्तक की उपयोगिता निर्विवाद है। लक्षणा तथा व्यंजना के भेदोपभेद सामान्य पाठक को कठिन अवश्य मालूम

पड़ेंगे परन्तु यह विषय ही ऐसा है जिस पर प्राचीन आचार्यों ने इतना व्यापक तथा गंभीर विचार किया था ।

'ध्वनि' के अन्तर्गत 'काव्यालोक' में रस पर विचार किया गया है, परन्तु केवल ४० पृष्ठ में ही, उदाहरण प्रायः प्राचीन हैं, तर्क-वितर्क या व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई। लेखक ने मानो कुछ अनुख्यानों में ही रस विषय का संक्षिप्त परिचय दे दिया है। मौलिकता तथा नवीनता का यहाँ प्रश्न ही नहीं आता, पुरानी परिपाटी पर केवल नौ रसों, रसाभास, भाव, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता का परिचय भर मिलता है। फिर लेखक अपने प्रतिपाद्य विषय ध्वनि पर आ गया है।

अध्यापक-त्रय

काशी विश्वविद्यालय के **पं० केशवप्रसाद मिश्र** तथा **डॉ० श्यामसुन्दर दास** और आगरा विश्वविद्यालय के **बा० गुलाबराय** ने विद्यार्थियों की आवश्यकता का अनुभव करके जहाँ दूसरे विषयों पर लिखा वहाँ भारतीय काव्यशास्त्र पर भी।

पं० केशवप्रसाद मिश्र

पं० केशवप्रसाद मिश्र ने 'मेघदूत' की भूमिका में ब्रह्मास्वादसहोदर रस के लिये अनिवार्य भूमि "मधुमती भूमिका" पर विचार किया है, उनके सामान्यतः निष्कर्ष निम्नलिखित हैं:

(क) मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। .. जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं; केवल वस्तु-मात्र का आभास मिलता रहता है उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क सभापति कहते हैं। जैसे पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलंबन हो सकता है।

(ख) ... जिस समय हमको वस्तुओं के परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध,शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मक छोड़कर अलौकिक सुखात्मक धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है, और कुछ नहीं।

(ग) साधक और कवि में अन्तर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस् के उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है।

(घ) जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है जो अपने शब्द-शक्ति से उसी निर्वितर्क समापत्ति का रूप खड़ा कर देती है जिसकी चर्चा पहले ही हो चुकी है। यही रसास्वाद की अवस्था है, यही रस की 'ब्रह्मास्वादसहोदरता' है।

(ङ) महर्षि बाल्मीकि और भगवान रामचन्द्र दोनों ही ऐसे व्यक्ति थे जो परम

शोक नहीं है जिससे कि वह दुःखात्मक हो, अपितु वह व्यक्ति संबंध-शून्य अपरिच्छिन्न शोक था जो स्थायी भाव होकर रस के रूप में परिणत हो सका।

मिश्र जी के निष्कर्षों से यह स्पष्ट है कि वे प्राचीन सिद्धांतों की ही विद्वत्तापूर्ण एवं अध्ययन-संवलित व्याख्या कर रहे हैं; पंडितवर्ग में परम्परा से स्वीकृत सभी सिद्धांत उनको मान्य है, रस को वे लोकोत्तर आनन्दमय मानते हैं जिसका आस्वाद सात्विक चित्त से (सत्वोद्रेकात्) ही सम्भव है। दार्शनिक शब्दावली में मधुमती भूमिका की व्याख्या करके उन्होंने विषय को अधिक स्पष्ट कर दिया है तथा तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। साधारणीकरण की व्यापक व्याख्या मिश्रजी ने नहीं की, परन्तु कवि तथा पाठक या श्रोता दोनों की दष्टि से निर्वितर्क समापत्ति का अस्तित्व आवश्यक माना है; क्योंकि पुत्र 'केवल पुत्र, के रूप में पहले कवि को प्रतीत होगा फिर उसके वर्णन द्वारा सहृदय मात्र को प्रतीत होगा।'

डॉ० श्यामसुन्दरदास

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' में प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों साहित्य-शास्त्रों से लाभ उठाया है; इस पुस्तक का छठा अध्याय 'रस और शैली' है, जिसके अन्तर्गत भारतीय रसशास्त्र की व्याख्या है। मनोविज्ञानवेत्ताओं के विचारों के अनुसार भावों का विवेचन करने के उपरान्त लेखक ने साहित्यिकों के अनुसार रस का निरूपण किया है, और आगे चलकर पं० केशवप्रसाद मिश्र के विचारों को ज्यों का त्यों साभार उद्धृत कर दिया है। रसास्वाद की चर्चा में लेखक का ध्यान आलंबन के साधारणीकरण पर नहीं, प्रत्युत आश्रय के साधारणीकरण पर है--"वह अपने आपको मनुष्य जाति से अलग व्यक्ति विशेष नहीं समझता वरन् मनुष्य मात्र होकर उसका अनुभव करता है।" मिश्रजी की व्याख्या से श्यामसुन्दरदास ने जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण नवम निष्कर्ष है :--

"इस प्रसंग में यह भ्रम न होना चाहिये कि जिन भावों के सहारे रस का स्वाद मिलता है वे हमारे लोक के नहीं हैं। वे भाव सर्वथा हमारे तथा हमारे लोक के हैं, वे अतीन्द्रिय, पारलौकिक अथवा लोकवाह्य नहीं होते। वे अलौकिक केवल इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि उनका अनुभव पर प्रत्यक्ष के लोक में--चित्त की मधुमती भूमिका में--होता है और उस अनुभव के कार्य-कारण साधारण और लौकिक नहीं होते। इसी से जो अंगरेजी वाले अनुवाद अलौकिक का Supernatural अथवा Extraordinary शब्दों से अनुवाद करते हैं वे सत्य तक नहीं पहुँच पाते। अलौकिक का इस प्रसंग में अर्थ होता है Supersensuous (पर-प्रत्यक्ष-गम्य)।"

'रस और साधारणीकरण' पर विचार करते हुये डॉक्टर महोदय ने कुछ भ्रमों का निवारण किया है, जिनमें से दो विशेषतः ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम है पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत कविकर्म की दृष्टि से साधारणीकरण की व्याख्या; विभाव, अनुभाव आदि का 'स्व-रूपतः सामान्य होना' जिस पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। इस आचार्य का मत है कि

"स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और शृंखलाबद्ध हो जायँगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायगी" यह बड़ा अद्भुत निष्कर्ष है। दूसरा भ्रम था कि 'रस और कला का सम्बन्ध योग से है', और लेखक ने योग का अर्थ "केवल वह चित्तवृत्ति का निरोध जिससे परप्रत्यक्ष और साधारणीकरण का संबंध है" बतलाकर उस भ्रम का निवारण किया है। डॉ. श्यामसुन्दर दास की व्याख्या में आचार्यत्व है परन्तु मौलिकता कम, किसी विषय को ग्रहण कर साधिकार स्पष्ट करने में वे सिद्धहस्त थे।

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धांत और अध्ययन' नामक कृति में 'भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों का प्रसादपूर्ण शैली में विवेचन' किया है; इस पुस्तक की सर्वमुख्य विशेषता अब तक उपलब्ध सामग्री का समुचित उपयोग तथा यथासम्भव सहृदयतापूर्ण विवेचन है। बाबूजी ने संस्कृत तथा अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी के आचार्यों को भी अध्ययन का विषय बनाया है। पुस्तक के नवें, दसवें, ग्यारहवें तथा सत्तरहवें अध्यायों में क्रमशः 'रस और मनोविज्ञान', 'रस-निष्पत्ति', 'साधारणीकरण', तथा 'अभिव्यंजनावाद एवं कलावाद' पर विचार किया गया है। पृष्ठभूमि में भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताएँ ही हैं, परन्तु पाश्चात्य शब्दावली में भी उनका स्पष्टीकरण है। साधारणीकरण के प्रसंग में पाश्चात्य समीक्षक विशेषतः क्रोचे पर तुलनात्मक विचार बाबूजी की मौलिकता है।

कवि-द्वय

अध्यापकों के अतिरिक्त इस युग में कुछ कलाकारों ने भी अपनी रचनाओं की आलोचना करते या आलोचनाओं का उत्तर देते हुए, भारतीय काव्यशास्त्र के कुछ सिद्धांतों पर विचार किया है; परन्तु ये आचार्य न थे इसलिये इनके सिद्धांतों में तार्किक निपुणता नहीं है और न सिद्धांतों पर न्यायपूर्ण निर्णय है, इनका प्रतिपादन स्वमत मात्र ही समझना चाहिये। दूसरी विशेषता यह है कि रस तथा अलंकार की चर्चा करते हुए भी ये कवि आदर्श-यथार्थ, कला और उपयोगिता आदि में उलझे रहे हैं और इनके सिद्धांत सर्वदा इनकी कविता पर भी अकाट्य रूप से लागू नहीं होते। जयशंकर प्रसाद तथा सुमित्रानन्दन के नाम इस क्षेत्र में प्रमुख हैं।

जयशंकर प्रसाद ने "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" नामक साहित्यिक निबन्धों के संग्रह में आठ साहित्यिक समस्याओं पर अपने विचार प्रकट किये हैं। प्रसादजी का दष्टिकोण ऐतिहासिक-दार्शनिक रहा है, शुद्ध आलोचनात्मक नहीं। 'काव्य और कला' में लेखक ने वैज्ञानिक शैली पर काव्य का नया लक्षण बतलाया है—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है, वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।" 'रहस्यवाद' तथा 'यथार्थवाद और छायावाद' इन वादों की भारतीय व्याख्याएँ हैं। 'आरम्भिक पाठ्य काव्य' में श्रव्य काव्य विषयक, और 'नाटकों में रस का प्रयोग', 'नाटकों का आरम्भ' तथा 'रंगमंच' शीर्षक लेखों में

दृश्य-काव्य-विषयक अनुसंधानात्मक विचार है। 'रस' नामक लेख में इसकी कोई नई व्याख्या नहीं है, और न पुराने सिद्धांतों में व्यर्थ की मीनमेख निकालकर पंडित बनने का प्रयत्न है; प्रसादजी का उद्देश्य ऐतिहासिक एवं अनुसंधानात्मक व्याख्या है, जिससे रस के महत्त्व को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

श्री सुमित्रानन्दन पंत के आलोचनात्मक लेखों का संग्रह 'गद्य-पथ' नाम से है, इसमें उनके 'काव्य-ग्रंथों की प्रस्तावनायें' तथा 'आकाशवाणी से प्रसारित वार्ताएँ संग्रहीत हैं। इन २१ लेखों में साहित्यिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार की सामग्री है; द्वितीय खंड के प्रायः सभी लेख सामान्य रुचि वालों के लिये है, परन्तु प्रथम खंड के पाँचों लेख आलोचनात्मक हैं। पंत जी के इन निबन्धों में रस, अलंकार पर विचार कम ही है, कला, यथार्थ, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, मार्क्सवाद, भौतिकवाद आदि का पर्यालोचन अधिक है। पंतजी की कुछ सामान्य मान्यतायें निम्नलिखित हैं:—

(क) अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं।

(ख) भिन्न-भिन्न छन्दों की भिन्न-भिन्न गति होती है, और तदनुसार वे रस-विशेष की सृष्टि करने में भी सहायता देते हैं।

(ग) ....संक्रान्ति युग की वाणी के विचार ही उनके अलंकार है।..... आने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणत्व से रसमयी होगी, नवीन विचारों के ऐश्वर्य से सालंकार और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौंदर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और सांकेतिक हो जायँगे।

(घ) छंदों की झंकृत वेशभूषा, शब्दों तथा अलंकारों का सौष्ठव, भाषा की चित्रमयी अभिव्यंजना, कल्पना की सतरंगी उड़ान तथा सौंदर्य-बोध आदि काव्य के बाह्य उपादान मात्र कहे जा सकते हैं। इन सबसे अधिक उपयोगी काव्य की वह अन्तश्चेतना है जो युग-विशेष के हृदय-मंथन तथा जीवन-संघर्ष को प्रतिबिम्बित करती हुई उस नवीन आलोक दिशा का इंगित देती है जिस ओर युग का जीवन प्रवाहित होता है।

(ड) किसी कलावृत्ति में मुख्यतः तीन गुणों का समावेश रहना चाहिए। (१) सौंदर्यबोध (२) व्यापक गम्भीर अनुभूति (३) उपयोगी सत्य। इनका रहस्य-मिश्रण ही कलावस्तु में लोकोत्तरानन्ददायी रस की परिपुष्टि करता है।

काव्यशास्त्र पर अन्य साहित्य

भारतीय काव्यशास्त्र पर समय-समय पर अन्य पुस्तकें भी हिन्दी में लिखी गई, जो किसी एक अंग या एक समस्या पर विचार करती हैं; परन्तु यह कार्य अपेक्षाकृत बहुत पीछे प्रारम्भ हुआ था। सबसे पहले श्री **लक्ष्मीनारायण सुधांशु एम.ए.** इस क्षेत्र में आये। इनकी प्रथम पस्तक 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' प्रथम बार सं. १९९३ में छपी थी,

इसमें संस्कृत साहित्य-शास्त्र का परिचय देने के उपरान्त नौ अध्याय सहजानुभूति का तत्व, अभिव्यंजना और कला, रसानुभूति का तत्व, अलंकार और प्रभाव, प्रतीक और उपमान, अमूर्त्त का मूर्त्त-विधान, मूर्त्त का अमूर्त्त विधान, अभिव्यंजना की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ तथा उपसंहार विषय में लगे हैं। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से तुलना भी साथ-साथ होती चलती है । सुधांशुजी की शैली गंभीर तथा प्रौढ़ है, उनका विवेचन सराहनीय है, यदि नवीन संस्करणों में सामग्री परिवर्द्धित हो जाती तो प्रस्तुत पुस्तक और भी आद्यवत् बन सकती थी। सुधांशुजी ने इस क्षेत्र में दूसरों के लिए पथ-प्रदर्शन किया है। आपकी दूसरी पुस्तक 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत' है, इसमें दश अध्याय हैं, विषय पर बड़ी व्यापकता तथा सूक्ष्मता से विचार किया गया है। सुधांशुजी ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि कवि का जीवन से निकटतम संबंध होना चाहिए, तभी उसकी अनुभूति में सचाई हो सकती है और अनुभूति में जितनी सचाई होगी काव्य उतना ही सफल होगा । वे जीवन से पलायन को कवि-जीवन की भी असफलता मानते हैं, छायावादियों की निराली अनुभूति उनको बिल्कुल पसन्द नहीं––"यह अनुभूति कोई भावकता जन्य स्फूर्ति नहीं, न कोई आध्यात्मिक कल्पना है बल्कि अखंड मानव जीवन के व्यक्तित्व की अनुभूति है"।

सं. २००५ में स्व. **पं० रामदहिन मिश्र** ने 'काव्य में अप्रस्तुत योजना' नाम की एक पुस्तक 'काव्यालोक' और 'काव्यदर्पण' की सामग्री से ही लिखी (दे. वक्तव्य, पृ. घ) । इस पुस्तक में मुख्यतः नवीन कवियों की अप्रस्तुत योजना पर विचार किया गया है––"नवीन कवियों की कविताओं को ही चुना है, उन्हीं कविताओं की अप्रस्तुत योजनाओं की समीक्षा की है" (वक्तव्य, पृ. क) । मिश्रजी का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा, उन्होंने नवीन कवियों को समझने का प्रयत्न नहीं किया, पृ. ३३ पर शब्द-प्रयोग के जो दोष समझे हैं वे वस्तुतः दोष नहीं है, पृ. १६६, पृ. १६७ आदि पर भी यही बात है। प्रसाद के 'आँसू' से ग़लत उद्धरण देकर पृ. २३० पर लेखक ने यह बतलाया है कि "मादकता से आये तुम, संज्ञा से चले गये थे" में 'उर्दू ढंग के उपमान' हैं––"इसमें दर्द है, इश्क है, अश्क नहीं है, फिर भी मादकता एक ऐसा शब्द है जो उर्दू ढंग की अप्रस्तुत योजना को सामने ला देता है।" लेखक यह नहीं जानता कि यहाँ 'से' के दोनों अर्थ हैं 'सहित' तथा 'समान'; प्रिय जब जीवन में आता है तो साथ ही मादकता भी आ जाती है और जब वह चला जाता है तो हम एक प्रकार से संज्ञाशून्य बन जाते हैं––प्रिय तथा मादकता का प्रवेश जीवन में साथ-साथ होता है और प्रियविरह तथा संज्ञाविरह (=मूर्च्छा) भी परस्पर सहचर हैं। प्रसाद की यह अप्रस्तुत-योजना हिन्दी में अभूतपूर्व है परन्तु इसको समझने में पांडित्य सहायक नहीं होता, सहृदयता की आवश्यकता होती है।

भारतीय काव्यशास्त्र के विशेष अध्ययन में **डॉ० नगेन्द्र** की विशेष रुचि रही है,

उनके प्रारम्भिक निबन्धों में भी रस-सिद्धांत के प्रति जिज्ञासा है; अपने डी० लिट्० के थीसिस के एक भाग 'रीतिकाल की भूमिका' में तो साधारणीकरण सम्बन्धी एक मौलिक सिद्धांत की स्थापना उन्होंने इस रूप में सबसे पहिले की थी। ये रस के भारतीय परम्परानुमोदित सिद्धांत को ही स्वीकार करते हैं, परन्तु मनोविज्ञान के आधार पर उनका निश्चित मत है कि साधारणीकरण कवि के साथ होता है, किसी अन्य के साथ नहीं। तदुपरान्त 'हिन्दी ध्वन्यालोक' तथा 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र' की भूमिका में क्रमशः ध्वनि-सिद्धांत तथा रीतिसिद्धांत का डॉक्टर महोदय ने विस्तृत विवेचन किया है; ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन के साथ-साथ पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से तुलना एवं हिन्दी में इन सिद्धांतों का अनुसंधानात्मक विवेचन इन भूमिकाओं की प्रमुख विशेषताएँ है। इस प्रकार एक ओर तो प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का पुनरध्ययन प्रारम्भ हो रहा है, दूसरी ओर पाश्चात्य काव्यशास्त्र की तुलना द्वारा भारतीय सिद्धांतों के देशकालातीतत्व पर भी ज़ोर दिया जा रहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी में इतना साधिकार, प्रौढ़ तथा व्यापक प्रयत्न प्रथम बार ही दिखाई पड़ रहा है।

संस्कृत ग्रन्थों पर हिन्दी टीका

संस्कृत के विद्वान् बहुत दिनों से यह अनुभव कर रहे थे कि जब तक काव्यशास्त्र के आधार-ग्रंथ हिन्दी माध्यम से सर्वसुलभ नहीं हो जाते तब तक शास्त्रीय आलोचना का पुनरुद्धार नहीं हो सकता। अस्तु, कुछ विद्वान् इस क्षेत्र में आगे आये, जिनमें से सर्वप्रथम तथा सर्वोपरि विद्यावाचस्पति **श्री शालिग्राम शास्त्री** साहित्याचार्य का नाम आता है। आप की 'विमलाख्या' साहित्यदर्पण पर हिन्दी व्याख्या सं. १९७४ में तैयार हो गई थी, परन्तु उसका प्रकाशन ४ वर्ष पश्चात् ही हो सका। विश्वनाथ कविराज ने 'काव्यप्रकाश' की शैली पर १४वीं शताब्दी में 'साहित्यदर्पण' नाम का ग्रंथ लिखा था, संस्कृत में इस पर रामचरण तर्कवागीश तथा जीवानन्द विद्यासागर की टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। शालिग्राम जी संस्कृत के प्रकांड पंडित तथा साहित्य-शास्त्र के अधिकारी अध्यापक थे, 'विमला' के द्वारा उन्होंने हिन्दी-जगत् को ही नहीं संस्कृत-संसार को भी एक नई चीज़ दी। विषय का जैसा निर्भ्रान्त ज्ञान तथा कठिन स्थलों का जैसा स्पष्टीकरण इस पुस्तक में है वैसा इस वर्ग की किसी दूसरी पुस्तक में न मिल सका, अनावश्यक का त्याग तथा आवश्यक का उचित समावेश शास्त्रीजी के संतुलित आचार्यत्व का द्योतक है।

सं. १९८० में विद्या-मार्त्तण्ड पंडित **सीताराम शास्त्री** ने अपने 'साहित्योद्देश' नामक संस्कृत ग्रंथ के आधार पर हिन्दी में 'साहित्य-सिद्धांत' नाम का ग्रंथ लिखा, जो किसी संस्कृत ग्रंथ की टीका तो नहीं है परन्तु प्रधानतः 'काव्यप्रकाश' के आधार पर लिखा गया है, विशेषता यह है कि उदाहरणों में संस्कृत के पद्य दे दिये हैं, फलस्वरूप यह पुस्तक संस्कृत-ज्ञान के बिना उपयोगी नहीं हो सकती। कुछ आलोचकों के मत में इस

पुस्तक के दो उद्देश्य हैं––साहित्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय तथा मूलग्रंथों के अध्ययन की प्रेरणा (दे. अंग्रेज़ी इंट्रोडक्शन); दोनों ही उद्देश्यों में यह सफल है। 'प्राक्कथन' में लेखक ने जो प्रतिज्ञा की थी (पृ. अ.) उसका निर्वाह ठीक हो सका है, संस्कृत के सामान्य ज्ञाता को भी इस पुस्तक से गंभीर तथा अथाह काव्य-शास्त्र में प्रवेश सुलभ हो सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में अलंकार, गुण, दोष आदि विषयों पर विचार न हो पाया, शब्द शक्ति तथा ध्वनि-रस तक ही समाप्ति हो जाती है––लेखक गंभीर विषय का प्रतिपादन ही करता है, लक्षण-उदाहरण वाले अंश पर नहीं रुकता।

डॉ. श्यामसुन्दरदास का 'रूपकरहस्य' सर्वप्रथम सं. १९८८ में छपा था, इसमें संस्कृत नहीं है फिर भी यह 'दशरूपकम्' के ही आधार पर लिखा गया है, इसलिए इसको टीका व अनुवाद के बीच की चीज़ कहा जायगा। पुस्तक ९अध्यायों में रूपक या नाटक के इतिहास, भेदोपभेद, वस्तु विन्यास, पात्र, वृत्ति, रूप-रचना, भेद, रस तथा प्रेक्षागृह पर सरल तथा स्पष्ट भाषा में विचार कर लेती है; तुलना के लिए यत्र-तत्र (मुख्यतः प्रथम अध्याय में) पाश्चात्य सिद्धांत भी दे दिये हैं, और आधुनिक समस्याओं का भी समावेश है।

पं. हरिमंगल मिश्र ने 'काव्यप्रकाश' पर हिंदी टीका लिखी जो हिन्दी-जगत् में 'काव्य प्रकाश के अध्ययन की रुचि को संतुष्ट करने के लिये थी, शालिग्राम शास्त्री की टीका के समान इसमें विषय का विवेचन तथा स्पष्टीकरण नहीं है, यह संक्षिप्त तथा कामचलाऊ है, 'काव्यप्रकाश' पर किसी अधिकारी विद्वान् द्वारा प्रौढ़ टीका की अभी आवश्यकता यथापूर्व बनी हुई है।

नागरी प्रचारिणी सभा ने **पं. पुरुषोत्तम शर्मा** चतुर्वेदी की 'हिन्दी-रस-गंगाधर' को प्रकाशित किया है, अपने विषय की प्रथम पुस्तक होने के साथ-साथ इसमें प्रौढ़ता भी है। यह हिन्दी के पाठक के लिए पंडितराज जगन्नाथ के विचारों को सुलभ बना देती है।

संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी माध्यम से सम्मान देख कर सं० २००५ में **प्रो० बलदेव उपाध्याय** एम० ए० ने दो भागों में 'भारतीय साहित्यशास्त्र' नामक १२०० पृष्ठ का ग्रन्थ लिखा जिसका मूल्य अठारह रुपये है। इसमें संस्कृत साहित्य-शास्त्र का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक परिचय देने का प्रयत्न है, डॉ० एस. के. दे ने अंग्रेज़ी माध्यम से इसी काम को अधिक सफलता से कर लिया था। क्या ही अच्छा होता यदि लेखक इतनी बड़ी पुस्तक में काव्यशास्त्र के आचार्य या उनकी रचनाओं का विश्लेषणात्मक परिचय ही दे पाता ?

इधर दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० नगेन्द्र के संपादकत्व में **आचार्य विश्वेश्वरजी** ने काव्यशास्त्र सम्बन्धी कुछ अमूल्य संस्कृत ग्रन्थों पर विस्तृत, प्रामाणिक तथा प्रौढ़ टीका लिखना प्रारम्भ किया है। आचार्यजी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं। साहित्य, दर्शन तथा व्याकरण में उनकी प्रतिभा असाधारण है, उनकी टीका की एक मुख्य विशेषता है प्रत्येक शास्त्रीय शब्द––प्रत्येक कठिन स्थल––प्रत्येक गंभीर

प्रसंग को पूर्णतया तथा स्पष्टतया समझा देना। इस योजना का प्रथम फल 'हिन्दी ध्वन्यालोक' है और दूसरा 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति'। डॉक्टर महोदय की भूमिका पुस्तक के महत्व को और भी बढ़ा देती है; काव्यशास्त्र के विविध सम्प्रदायों का ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा विवेचनात्मक अध्ययन शास्त्रीय आलोचना के लिए अत्यन्त आवश्यक है; अधिकारी विद्वान् के हाथ से इस कार्य का सम्पन्न होना इसकी ओर दूसरों को भी प्रोत्साहित करता है।

काव्यशास्त्र पर अनुसंधान-कार्य

भारतीय काव्यशास्त्र पर हिन्दी में अनुसन्धान कार्य सब से पहले डॉ० **रामशंकर शुक्ल 'रसाल'** ने पूरा किया था। उनके "हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास" (इव्योलूशन आफ़ हिन्दी पोइटिक्स) नामक थीसिस पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १९३७ में डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की थी। उनका यह थीसिस अंग्रेज़ी में लिखा गया था; यह न अंग्रेज़ी में छपा न हिन्दी में। इस थीसिस के कुछ पृष्ठों में तो हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास है, शेष भाग में भिन्न-भिन्न अलंकारों का विकास दिखलाया गया है। 'अलंकार-पीयूष' (दो भाग) इसी थीसिस का आधार लेकर प्रकाशित कराया गया था। 'रसाल' जी ने अलंकार शास्त्र के इतिहास, अलंकारों के वर्गीकरण, भेदोपभेद सहित अलंकारों की विवेचना तथा अन्य आचार्यो का विवेचनात्मक अध्ययन हिन्दी में सर्वप्रथम ही किया था। 'रसाल' जी की शैली सर्वथा आधुनिक है; इस पुस्तक में विश्लेषण को ही मुख्यता दी गई है लक्षण-उदाहरण को नहीं—यह पुस्तक अलंकारों का ज्ञान कराने के लिये नहीं लिखी गई, प्रत्युत उस प्रकार की पुस्तकों की परीक्षा का परिणाम है।

सन् १९४३ में **डॉ० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश'** को "आधनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन" विषय पर प्रयाग विश्वविद्यालय से ही डी० फिल० की उपाधि प्राप्त हुई। आप का थीसिस अंग्रेज़ी में ही छपा है। इसके दो भाग हैं—प्रथम में रस का आस्वाद रूप में तथा दूसरे में रस का भाव रूप में अध्ययन किया गया है। राकेश जी प्रमाण की अपेक्षा अनुभव में अधिक विश्वास रखते हैं, काव्य को इसी लोक का मानने के कारण वे रस को अलौकिक नहीं कहना चाहते और रस को आनन्द स्वरूप कहने वालों का उन्होंने खंडन किया है। इस अनुसंधान की मुख्य विशेषता वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा प्रयोग करके सत्य का पता लगाना है। विद्वान् लेखक की स्थापना से संस्कृत काव्यशास्त्र के पण्डित सहमत न हो सकेंगे।

लखनऊ विश्वविद्यालय ने **डॉ० भगीरथ मिश्र** को 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' विषय पर पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की; यह थीसिस सं० २००५ में उक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित भी हो चुका है; मिश्र जी आगे भी इसी विषय पर कार्य कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में प्रारंभ से अब तक के हिन्दी में लिखे गये काव्य-

शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक विवरण ४ अध्यायों में दिया हुआ है; पंचम अध्याय में कवियों का काव्यादर्श है और अन्तिम अध्याय में काव्यशास्त्र की आधुनिक समस्याएँ तथा आधुनिक 'वाद' हैं। हिन्दी काव्यशास्त्र पर ऐतिहासिक सामग्री जुटाने में इतना पूर्ण तथा सफल प्रयास किसी अन्य स्थल पर नहीं है।

डॉ० नगेन्द्र को आगरा विश्वविद्यालय ने १९४६ में 'देव और रीतिकालीन पृष्ठ-भूमि' विषय पर डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की; आपका थीसिस दो भागों में 'रीति-काव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' नाम से प्रकाशित हो गया है। पुस्तक (प्रथम भाग) में काव्यशास्त्र के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का बड़ा ही वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है और रीतिकाव्य की मुख्य प्रवृत्तियों का गंभीर विवेचन है। लेखक ने प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोणों से विवेच्य विषय पर प्रकाश डाला है। यह थीसिस सिद्धांतों का अध्ययन करता है, कृतियों का नहीं, साधारणीकरण के उलझे हुए विषय को वैज्ञानिक ढंग से मौलिक रूप में प्रथम बार डॉ० नगेन्द्र ने ही प्रस्तुत किया है; रस का शास्त्रीय विवेचन प्रौढ़ तथा व्यवस्थित है।

लेखक को 'हिन्दी साहित्य में अलंकार' विषय पर सन् १९५१ में आगरा विश्व-विद्यालय ने पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की; थीसिस के दो भाग हैं—एक में आदिकाल से आधुनिक युग तक के साहित्यिकों की अलंकरण-सामग्री का निरीक्षण है, और दूसरे में रीतिकाल से अब तक के अलंकार-आचार्यों का विवेचन है।

डॉ० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' को १९५२ में प्रयाग विश्वविद्यालय से 'नायक-नायिका भेद' पर डी. लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई है। सन् १९५३ में आगरा विश्वविद्या-लय से **डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी** को 'रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचन' विषय पर पी-एच० डी० की उपाधि मिली है। **आगरा** विश्वविद्यालय में 'हिन्दी कविता (१४००-१७००) में करुण रस' तथा 'भक्तियुगीन वात्सल्य रस' पर; **प्रयाग** विश्व-विद्यालय में 'भक्ति काव्य में श्रृंगार रस' और **दिल्ली** विश्वविद्यालय में 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य (केशव, चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसाहि)', 'हिन्दी काव्य में वात्सल्य रस,' तथा 'आधनिक हिन्दी काव्य में विरह-भावना' विषयों पर अनुसंधान कार्य हो रहा है।

: २० :

छायावादी कवियों की आलोचनात्मक उपलब्धि :

प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी

[नामवरसिंह]

छायावादी कवियों के आलोचनात्मक विचारों का विवरण और उद्धरण बहुत से लोगों ने दिया है, लेकिन हिंदी समीक्षा में उनके ऐतिहासिक महत्त्व और मौलिक देन के आकलन की कोशिश बहुत कम हुई है। यहाँ संक्षेप में इन्हीं बातों की ओर संकेत किया जा रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसाद, निराला और पंत ने आचार्य शुक्ल के साथ ही हिंदी-समीक्षा को प्रौढ़ बनाने में योग दिया है। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में हिंदी समीक्षा प्रौढ़तर प्रयोग की ओर अग्रसर हुई। इसी समय आचार्य शुक्ल ने तुलसी, जायसी और सूर पर अपनी आरंभिक स्थापनायें प्रस्तुत कीं। पंतजी के 'पल्लव' की ऐतिहासिक भूमिका आई, निरालाजी ने 'पंतजी और पल्लव' शीर्षक विस्तृत निबन्ध लिखा और प्रसादजी द्वारा 'काव्य और कला' का सूक्ष्म विवेचन हुआ। इन आलोचनाओं का वास्तविक महत्त्व समझने के लिए द्विवेदी-युग की समीक्षा-पीठिका को ध्यान में रखना आवश्यक है। भाषा-व्याकरण संबंधी गुण-दोष वाले काव्य-विवेचन, तारतमिक आलोचना, निर्णयात्मक रुचि, लेखकों और पुस्तक का सतही परिचय आदि की पृष्ठभूमि पर आचार्य शुक्ल तथा छायावादी कवियों के आलोचनात्मक निबन्ध एक नये विचार-लोक का दर्शन कराते हैं। यहीं से हिंदी समीक्षा संस्कृत काव्यशास्त्र तथा हिंदी के रीतिवादी रूढ़ मानदण्डों से ऊपर उठती है। समीक्षा के नये मान बनते हैं; 'भावों की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या' की ओर ध्यान जाता है; सुसंस्कृत सौन्दर्य-दृष्टि का आभास मिलता है; शिल्प-सौन्दर्य की सूक्ष्म परख आरंभ होती है। संक्षेप में पहली बार हिंदी समीक्षा में 'सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि' और 'मर्मग्राहिणी प्रज्ञा' के दर्शन हुए। छायावादी कवियों के प्रयत्न शुक्लजी की समीक्षा के पूरक बने।

उस युग में 'पल्लव' के प्रवेश ने ब्रजभाषा-काव्य के मूल्यांकन का संतुलित मान उपस्थित किया। जिस समय देव और बिहारी की चर्चा बाढ़ पर थी, पंतजी ने आगे बढ़कर रीति काव्य की सीमाओं पर प्रहार करने का साहस किया। 'तीन फुट के नख-शिख के संसार' में सीमित कवि-पुंगवों के भाव और भाषा-संबंधी 'शुक्ल-प्रयोग' का उद्घाटन कर पंतजी ने ऐतिहासिक कार्य किया। किन्तु खड़ी बोली के मुकाबले ब्रज-भाषा का विरोध करते हुए भी उन्होंने भक्ति काव्य की महिमा को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। उन्हीं के शब्दों में 'उस ब्रज की उर्वशी के दाहने हाथ में अमृत का पात्र और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है।' उस पुनरुत्थानवादी युग में भी पंतजी ने केवल विकासशील परंपरा को चुना

और उनकी विश्लेषणात्मक बुद्धि ने घोषणा की कि 'उस युग की वाणी में जो कुछ सुन्दर, सत्य तथा शाश्वत है उसका जीर्णोद्धार कर, उस पर प्रकाश डाल, तथा उसे हिंदी-प्रेमियों के लिए सुलभ तथा सुगम बना, हमें उसका **घर-घर** प्रचार करना चाहिये।' 'पल्लव' के 'प्रवेश' ने नूतन काव्य भाषा का शंख फूँका—"हमें भाषा नहीं, राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है; पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा; जिसमें हम हँसते-रोते, खेलते-कूदते, लड़ते, गले-मिलते, साँस लेते और रहते हैं, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श हो सके . . . .।" उत्तरार्द्ध में उस 'प्रवेश' ने उस भाषा के संगीत, छंद, प्रयोग तथा भेदोपभेद-द्योतक शब्दों पर विचार किया जिसका स्थायी महत्त्व है।

'पल्लव' की आलोचना करते हुए निरालाजी जहाँ अभिनिवेश मुक्त हो सके हैं, उनकी मर्मग्राहिणी प्रज्ञा ने काव्य की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं को पकड़ा है और यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि छायावादी कविता के लिए वैसा विदग्ध आलोचक उस युग में और कोई न मिल सका था। वह आलोचना उस समय के मूल्यांकन में अत्यन्त परिष्कृत रुचि का मान स्थापित करती है। इसी प्रकार 'परिमल' की भूमिका मुक्त छंद का घोषणापत्र बनकर गूँज उठी। मुक्त छंद का थोड़ा-सा संकेत उनके 'पल्लव' वाले निबन्ध में भी आया है। "मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमि में रह कर मुक्त है। . . . . मुक्त छंद का समर्थक उसका प्रवाह ही है।" यह निर्भ्रान्त वाक्य निरालाजी ने उसी युग में लिखा था।

प्रसादजी के 'काव्य और कला' निबन्ध की महत्ता समझने के लिए बा० श्यामसुंदर दास के 'साहित्यालोचन' वाले 'ललितकला' प्रकरण और शुक्लजी के कला-विरोधी विचारों को ध्यान में रखना ज़रूरी है। हिंदी में मूर्त और अमूर्त्त के आधार पर ललित कलाओं के तारतमिक भेद का उस समय चलन था। प्रसादजी पहले आदमी थे जिन्होंने इस भ्रम का निराकरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निदर्शन न करके केवल मूर्त्त और अमूर्त्त के भेद से साहित्य-कला की महत्ता स्थापित नही की जा सकती।' क्योंकि यह भेद भौतिक है और रूप दोनों में ही होता है। उनके अनुसार 'अमूर्त्त सौन्दर्यबोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं, क्योंकि सौन्दर्यबोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता।'

उस निबन्ध से प्रसादजी ने जो दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह है भारतीयता के नाम पर फैलाये जाने वाले भ्रम का निराकरण। उन दिनों छायावादी काव्य की अनेक विशेषताओं को अभारतीय कहकर समाज, साहित्य से बहरियाने की हवा थी। प्रसादजी ने बताया कि भारतीयता कोई 'एक' चीज़ नहीं है, उसमें अनेक 'रुचि-भेद' मिलते हैं। इसलिए जिन चीजों को एक व्यक्ति अभारतीय कहने का प्रमाण जुटा सकता है, उन्हें ही भारतीय सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाण स्वयं भारतीय वाङ्मय से दिखाये जा सकते हैं जैसे अचेतन में चेतनता का आरोप तथा दुःखान्त और तथ्यवादी साहित्य-रचना।

प्रसादजी ने तीसरा भ्रमोच्छेद 'कलावाद' के संबंध में किया। शुक्लजी को छायावाद में 'कलावाद' की गंध मिल रही थी। उसके कारण का पता लगाते हुए उन्हें सूझा कि यह सब पश्चिम की नकल पर काव्य को 'कला' के अन्तर्गत मानने के कारण ही हो रहा है। इसलिए उन्होंने चट भारतीयता का सहारा लिया और दिखाया कि हमारे यहाँ तो काव्य को चौंसठ कलाओं में कभी लिया ही नहीं गया। प्रसादजी ने इस 'हमारे यहाँ' की सीमा का उद्घाटन करते हुए शैवागम की कला-परंपरा को सामने रखा। लेकिन इसका प्रयोजन काम को 'कला' के अन्दर जगह दिलाना नहीं, बल्कि शुक्लजी की सीमित भारतीयता को व्यापक बनाना था; साथ ही शुक्लजी द्वारा अनादृत 'कला' को उपविद्या मे स्थान देना भी उद्देश्य था। लेकिन यह सब तो साधना मात्र था। साध्य तो यही था कि 'कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नहीं।' इसी सिलसिले में कहा हुआ प्रसादजी का यह कथन आर्ष वाक्य की गरिमा को छूता है : "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है।" इस वाक्य की व्याख्या करते हुए आगे उन्होंने कहा कि "सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते है। उस अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती संबंध को जोड़ने के लिये हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं।" 'अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता' मानते हुए भी उन्होंने अपना मत प्रकट किया कि "यह सब समय-समय की मान्यता और धारणायें हैं।"

इतना होते हुए भी प्रसादजी ने 'कलावाद' का समर्थन नही किया। उन्होंने स्वयं यह प्रश्न उठाया कि काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने उस समय जो स्थापना की वह आज के प्रयोगवादियों के लिए भी चुनौती है : "रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है वही तो प्रधान होगी।" प्रसादजी ने इस सत्य को ठोस उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने के लिए तुलसी और सूर के वात्सल्य-वर्णन की तुलना की और इस क्षेत्र में सूर की श्रेष्ठता का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा कि शब्द-विन्यास पटुता तथा कला में किसी प्रकार सूर से कम न होते हुए तुलसी राम के वात्सल्य की वैसी अभिव्यक्ति इसलिए नही कर सके कि उनमें इस विषय की आत्मानुभूति की प्रधानता न थी।

कुल मिलाकर प्रसादजी का 'काव्य और कला' निबन्ध उस समय के गिनेचुने युग-निर्माता निबंधों में से है।

क्रमशः प्रसाद, निराला और पन्त के हाथों और भी समीक्षायें सामने आईं और चौथे दशक के अधियाते-अधियाते अपने तुले हुए गुरु-गंभीर निबंधों के साथ महादेवीजी भी समीक्षा के मैदान में आ निकलीं। छायावादी समीक्षा समृद्ध हुई। उसका अपना स्थान हो गया।

'हंस' में अक्तूबर '३६ से अप्रैल '३७ तक थोड़े बहुत अंतर के साथ लगातार

प्रसादजी के रस, नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का आरंभ, रंगमंच, आरंभिक पाठ्य-काव्य तथा यथार्थवाद और छायावाद निबंध प्रकाशित हुए। 'नाटकों का आरंभ' शोध-पूर्ण निबंध है जिसमें प्रसादजी ने सप्रमाण दिखाया है कि भारत में नाटक का आरंभ कठ-पुतलियों से नहीं हुआ। उनका अनुमान था कि कठपुतलियों का प्रचार संभवतः पाठ्य-काव्य के लिए हुआ होगा। आधुनिक गीति नाट्यों के लिए उन्होंने प्राचीन काल में 'राग-काव्यों' की परंपरा खोज निकाली। 'रंगमंच' निबंध के द्वारा प्रसादजी ने 'रंगमंच' संबंधी प्राचीन पारिभाषिक शब्दों का सही-सही अर्थों में जीर्णोद्धार किया। उन्होंने जीवनिका, कांड-पट, तिरस्करिणी, प्रतिसीरा, ऊपटी आदि पदों के मूल अर्थों पर गंभीर विचार किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने नये नाटकों के अनुकूल नये रंगमंच की स्थापना के लिए शास्त्रीय संबल दिया। प्रसादजी के ये नाटक-संबंधी विचार इस क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अकेले हैं।

हिंदी समीक्षा को उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है रस-सिद्धान्त का विशदीकरण। शुक्लजी ने 'साधारणीकरण तथा व्यक्ति वैचित्र्यवाद' निबंध में योरपीय नाटकों के शील-वैचित्र्य को भारतीय रस-सिद्धान्त में सम्मिलित करने के लिए साधारणीकरण के अति-रिक्त एक निम्न कोटि की रसानुभूति की योजना की। प्रसादजी ने इस कल्पना का खंडन करते हुए कहा कि नाटक नें अत्याचारी का अत्याचार निम्नकोटि की रसानुभूति उत्पन्न नहीं करता क्योंकि वह तो बीच का व्यापार है, अंतिम नहीं और रस में फलयोग अर्थात् अन्तिम संधि मुख्य होती है। प्रसादजी ने योरपीय चरित्र-वैचित्र्य के सिद्धान्त को अपनाने के लिए निम्नकोटि की रसानुभूति की कल्पना नहीं की; बल्कि उसे रस के साधन-स्वरूप ग्रहण करने का प्रस्ताव किया जो शुक्लजी से कहीं अधिक वैज्ञानिक है। प्रसादजी के इस सिद्धान्त की पुष्टि उनके 'स्कंदगुप्त' नाटक से भली भाँति होती है।

प्रसादजी की तीसरी देन है छायावाद को यथार्थवाद के परिपार्श्व में रख कर देखना। अंग्रेजी समीक्षा में बहुत दिनों तक 'रोमैंटिसिज़्म' को 'क्लासीसिज़्म' के विपरीत समझते हुए विचार होता रहा, परन्तु पीछे विज्ञ समीक्षकों ने इस भूल का परिहार किया और 'रोमैंटिसिज़्म' को 'रियलिज़्म' के विपरीत मानकर देखने की चर्चा चलाई। हिंदी में 'छायावाद' के साथ यह दुर्घटना तो नहीं हुई, लेकिन इसे भी रीति काव्य और द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता की विपरीतता का दण्ड भोगना पड़ा। 'स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह' कहने की हवा सी चल पड़ी। प्रसादजी पहले आदमी हैं जिन्होंने 'छायावाद' को ठीक-ठीक समझने के लिए उसके विपरीत 'यथार्थवाद' को खड़ा किया और उन्होंने इन्हीं दोनों को युग की प्रधान प्रवृत्ति माना।

प्रसादजी ने जब श्री हरिश्चन्द्र को यथार्थवाद का प्रवर्त्तक क़हा तो एक बहुत बड़े सत्य को पहली बार मान्यता मिली जिसे आगे चलकर प्रगतिशील आलोचक डॉ० राम-विलास ही भाँप सके, अन्यथा उस समय तक और कोई समीक्षक भारतेंदु की इस विशेषता

को न पहचान सका था। इतना ही नहीं, प्रसादजी ने यह भी लक्षित किया कि श्री हरिश्चन्द्र का आरंभ किया हुआ यथार्थवाद आगे भी पल्लवित होता रहा। उन्होंने यथार्थवाद की जो परिभाषा दी वह अपने आधारभूत रूप में आज भी सही है : "महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।.... उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है।"

उन्होंने जहाँ इस यथार्थवाद की महिमा स्वीकार की, वहाँ मनोविश्लेषणवादी लेखकों की भर्त्सना भी की और उनके लिए यथार्थवाद से भिन्न 'तथ्यवाद' शब्द का प्रयोग किया। अंग्रेज़ी के 'नेचूरलिज़्म' के लिए हिंदी में आजकल चलने वाले 'प्रकृतवाद' शब्द से प्रसादजी का चलाया हुआ 'तथ्यवाद' शब्द कहीं अधिक उपयुक्त है।

जहाँ तक 'छायावाद' की व्याख्या का संबंध है, उसके विषय में यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने उसे अतीत परंपरा से जोड़ कर बहुत बड़ा काम किया। हाँ, उस खींचतान में कहीं-कहीं किंचित् अतिरेक भी हो गया है। 'अनुभूतिमय आत्मस्पर्श' को उन्होंने जो छायावाद की कुंजी बताई वह भी बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यह भी वस्तुतः 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' से ही जुड़ी है। प्रसादजी ने छायावाद के संबंध में फैले हुए एक बहुत बड़े भ्रम का खंडन किया। वह यह कि आचार्य शुक्ल जैसे पंडित भी प्रकृति-चित्रण मात्र को छायावादी काव्य का पर्याय समझने लगे थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'यद्यपि प्रकृति का आलंबन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से संबंध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।'

इन सब के पीछे प्रसादजी का एक जीवन-दर्शन है और यह उनकी समीक्षा की बहुत बड़ी विशेषता है। वे उन लोगों में नहीं थे जिनका मानदण्ड व्यक्ति और रचना के अनुसार बार-बार बदलता रहता है। जीवन-दर्शन की दृढ़ता ने उनके समस्त विचारों में एक-सूत्रता दे दी थी। शुक्ल जी के अतिरिक्त उस युग के किसी समीक्षक में यह एकसूत्रता नहीं मिलती।

निराला जी के आलोचनात्मक विचारों की विशिष्ट देन काव्य-भाषा तथा शिल्प-रचना के क्षेत्र में है। उन्होंने प्रसाद जी की तरह जमकर किसी विषय पर दूर तक विचार नहीं किया और मूल्यांकनों में भी प्रायः वे 'रुचि के राजा' रहे, इसीलिए उनके यहाँ इधर-उधर केवल चमकते हुए सूत्र ही मिलते हैं। 'प्रबन्ध-पद्म' में संकलित 'साहित्य और भाषा' निबंध में निराला जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से राष्ट्रभाषा, काव्य-भाषा तथा जन-भाषा का पारस्परिक संबंध दिखलाया है। उन्होंने उसमें बड़े पते की बात कही है कि 'ग़ैर लोगों को अपने में मिलाने का तरीक़ा भाषा को आसान करना नहीं, न मधुर करना, उसमें व्यापक भाव भरना और उसी के अनुसार चलना है।' छायावादी कवियों पर प्रायः

अस्पष्टता तथा सूक्ष्मता का आरोप लगाया जाता है परंतु निराला जी के शब्दों में मूर्ति-मत्ता का आग्रह देखिये। उसी पुस्तक के 'काव्य में रूप और अरूप' निबंध का आरंभ ही इस प्रकार होता है : "प्रायः सभी कलाओं के लिए मूर्ति आवश्यक है। अप्रतिहत मूर्ति-प्रेम ही कला की जन्मदात्री है, जो भावनापूर्ण सर्वांग सुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कृतविज्ञ है, वह उतना बडा कलाकार है।" इस उद्धरण को प्रसिद्ध रूसी विचारक वेलेंस्की के उस कथन के साथ रखकर देखना चाहिए जहाँ 'मूर्तियों में सोचने' को कला तथा 'चित्रमयी भाषा' को कविता कहा गया है। उसी निबंध में निराला जी ने काव्य में 'विराट भावनाओं' तथा 'विराट् चित्रों' की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट किया है।

'प्रबंध-प्रतिमा' का 'मेरे गीत और कला' निबंध हिंदी के नाद-संगीत का सूक्ष्म-विवेचन करने में अग्रणी है। अनेक उदाहरणों से निराला जी ने दिखलाया है कि हिंदी का व्यंजन-संगीत संस्कृत से मूलतः भिन्न है। इस तथ्य को उन्होंने 'श' 'ण' 'व' बनाम 'स' 'म' 'ब' प्रतीक-व्यंजनों से प्रभावित किया है। उसी में निराला जी ने कला-सौन्दर्य की कुंजी बतलाते हुए महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया है कि 'कला केवल वर्ण, शब्द, छंद, अनुप्रास, रस, अलं-कार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से संबद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है।' आगे अपने गीतों की विशेषता बतलाते हुए उन्होंने गीतों की अखण्डता तथा एकसूत्रता पर बल देकर गीतों के क्षेत्र में एक नया कदम उठाया। निस्सन्देह 'गीतों की कला इनके संपूर्ण रूप में है, खण्ड में नहीं। यह ऐसी रचना नहीं कि सूक्ति-रूप इसका एक अंश उद्धृत किया जा सके।' इसी प्रकार 'कला के विरह में जोशी बंधु' निबंध लिखकर निराला जी ने समूचे प्राचीन साहित्य की आध्यात्मिक व्याख्या करने वाले असीम-अनंत-वादी लोगों की अच्छी ख़बर ली है।

निराला जी के आलोचनात्मक प्रयत्न प्रसाद और पंत जी से इस मामले में भिन्न हैं कि उन्होंने साहित्य-विधायक सामाजिक समस्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया। इस लिए इनकी आलोचनओं में अक्सर अख़बारनवीसी तथा एकान्तिकता (पोलेमिक्स) का स्वाद मिलता है।

पंत जी ने आलोचनाएँ बहुत कम लिखी हैं। उनका प्रधान समीक्षा-कार्य 'पल्लव' 'आधुनिक कवि' माला सं० २ और 'उत्तरा' की भूमिकाएँ हैं। इधर उन्होंने रेडियो से कई वार्ताएँ भी प्रसारित की है, जिनमें 'प्रयोगशील कविता' संबंधी परिसंवाद की भूमिका तथा 'यदि मैं कामायनी लिखता' विशेष महत्त्वपूर्ण है।

'पल्लव' की भूमिका के ये कतिपय सूत्र हिंदी समीक्षा के अमूल्य रत्न हैं—

'कविता के लिये चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है।' 'भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र राग है।'

'हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छंदों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता है।'

'कवित्त को हम संलापोचित छंद कह सकते हैं ।'

'काव्य-संगीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यंजन ।'

'ध्वनि-चित्रण को छोड़कर अन्यत्र व्यंजन-संगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने में प्रायः गौण रूप से सहायता मात्र करता है ।'

'वाणी का राग तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लय-युक्त हो जाता है । इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भावों के अनुकूल छंद-निर्देश करने में पंत जी ने अद्भुत संगीत-मर्मज्ञता का परिचय दिया है । हिंदी-पिंगल के क्षेत्र में उनकी वह सर्वथा मौलिक देन है ।

'आधुनिक कवि' संग्रह का 'पर्यालोचन' एक छायावादी कवि के प्रगतिशील काव्य-धारा में ढलने वाली मनोदशा का सही चित्र है । उसमें आत्म-समीक्षा के साथ-साथ छायावाद के ह्रास के कारणों का भी वैज्ञानिक विवेचन मिलता है । 'इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भाव-प्रधान और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक और आवरण मात्र रह गया ।' परवर्ती छायावाद के लिए इससे अधिक उपयुक्त आलोचना और क्या हो सकती थी । उस निबन्ध में प्रगतिशील विचारधारा संबंधी स्थापनाएँ प्रायः कवि की अध्यात्मवादी मान्यताओं से आक्रान्त होने के कारण उस युग के प्रगतिशील चिन्तन की सीमाएँ ही अधिक बतलाती है । 'उत्तरा' की भूमिका भी इसी प्रकार के अभि-निवेश से ग्रस्त है । प्रायः दार्शनिक गुत्थियों में अवैज्ञानिक तथा कुछ उलझे हुए होने पर भी पंत जी ने काव्य-समीक्षा में बड़ी ही स्पष्ट और निर्भ्रान्त स्थापनाएँ की हैं ।

प्रयोगशील कविता वाले परिसंवाद में पंत जी ने हिंदी के 'क्लासिकल' तथा 'छाया-वादी' काव्य पर अत्यन्त संतुलित विचार दिया है । उनके अनुसार 'क्लासिकल' अथवा प्राचीन काव्य में हमें शाश्वत तथा उदात्त के प्रति गंभीर आकर्षण, चिरन्तन मान्यताओं के प्रति अटल विश्वास तथा सार्वलौकिकता के प्रति एक असंदिग्ध आग्रह मिलता है । 'उसमें एक ओर चरित्र की महत्ता और दूसरी ओर वस्तु-जगत् का स्थायित्व दृष्टिगोचर होता है ।' इसके विपरीत 'छायावाद में शाश्वत तथा उदात्त का स्थान रहस्य ने ले लिया, वस्तु-जगत् का स्थान भाव-जगत् और सार्वलौकिकता का स्थान वैयक्तिकता ने ग्रहण कर लिया । उसने वास्तविकता की उपेक्षा कर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि की और कल्पना का पट बुना । प्राचीन काव्य में भाव और वस्तु-जगत् में एक सन्तुलन तथा तादात्म्य मिलता है; 'छायावाद ने वस्तु-जगत् को अपनी भावना की तूली से रंग दिया है ।' इसी तरह उन्होंने प्रयोगशील कविता की अस्थिर वास्तविकता तथा रूपवादिता को भी पहचानने की चेष्टा की है ।

पंत जी की समीक्षाओं में निराला जी के विपरीत शुद्ध समीक्षक की सी विश्लेषण-क्षमता तथा संतुलन मिलता है । इस मामले में उनकी भाषा सभी छायावादी कवियों की आलोचनाओं से अधिक समीक्षोचित तथा कम काव्यात्मक है ।

'विवेचनात्मक गद्य' में महादेवी जी के जितने निबन्ध संगृहीत हैं उनका अधिकांश किसी न किसी कविता पुस्तक की भूमिका है। कुछ निबन्धों में दार्शनिक उड़ान अधिक है किन्तु प्रायः महादेवीजी की चिन्तन-गुरुता गहरी अनुभूति का परिणाम प्रतीत होती है। इनकी समीक्षा सभी छायावादियों से अधिक काव्यात्मक है; इसीलिए वह उतनी पैनी नहीं है जितनी चित्रात्मक और उदाहरणोपेत। छायावाद की स्वच्छंद भावना की पूर्व परंपरा दिखाने का जो कार्य प्रसाद जी ने आरंभ किया था, उसे महादेवी जी ने वैदिक और पालि प्राकृत काव्य के उदाहरणों से और भी समृद्ध कर दिया। छायावाद संबंधी सभी आलोचनाओं का उत्तर महादेवी जी को देना पड़ा। इसलिए उन्होंने बड़े विस्तार से छायावाद में प्रकृति, नारी-भावना, कल्पना, दुःखवाद, स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति, राष्ट्रीयता आदि का सोदाहरण विवेचन किया। कहना न होगा कि छायावाद संबंधी भ्रमों का उच्छेद करने में महादेवी जी ने सभी छायावादी कवियों से अधिक काम किया।

इसी तरह 'गीतिकाव्य' शीर्षक उनका निबन्ध इस विषय पर अपने ढंग का पहला महत्त्वपूर्ण निबन्ध है। उनके द्वारा दी हुई गीत की यह परिभाषा थोड़ी-सी परिभाषा-गत सीमाओं के बावजूद आर्षवाक्य बन गई है--'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।'

'यथार्थ और आदर्श' निबन्ध में संपूर्ण भारतीय काव्य-परम्परा इन दोनों प्रवृतियों का निरूपण करते हुए महादेवी जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'जिन युगों में हमारी यथार्थ-दृष्टि को स्वप्न-सृष्टि से आकार मिला है और स्वप्न-दृष्टि को यथार्थ-सृष्टि से सजीवता, उन्हीं युगों में हमारा सृजनात्मक विकास संभव हो सका है।' यह विशेषता आर्षकाव्यों में ही मिलती है। महादेवी जी ने इस सूत्र के द्वारा वर्तमान युग के एकांगी यथार्थवादियों के लिए बहुत बड़ी चेतावनी दी है। वे कवि के आदर्श का स्रोत बतलाते हुए आगे कहती हैं: 'जीवन के प्रति स्वयं आस्थावान होने के कारण कवि का विश्वास भी एक आदर्श बन कर उपस्थित होता है।' इस आदर्श की सीमा तथा असीमता बतलाते हुए उन्होंने बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है कि 'अपने युग-सीमित आदर्श को स्वीकार करके भी कवि उसे विस्तृत विविधता के साथ व्यक्त करते आ रहे हैं।'

'सामयिक समस्या' निबन्ध प्रगतिशील आन्दोलन द्वारा उत्पन्न साहित्यिक समस्याओं का उद्घाटन करता है। प्रसंगात् मनोविश्लेषणवादियों की भी आलोचना की गई है। इस निबन्ध में आरंभिक प्रगतिवादी साहित्यकारों की उग्र बुद्धि को रास्ते पर लाने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए गए हैं। जैसे **परंपरा** पर--

"विविध युगों की कला और काव्य का जो उत्कृष्ट रूप हमें मिलता है उससे हमारा विरोध नहीं हो सकता और न होना चाहिए। विरोध हमारा उस व्यवस्था से रहेगा जिसने इन मूल्यों को कुछ व्यक्तियों तक सीमित रखा।'

सनातन, चिरन्तम, शाश्वत जैसे शब्दों का उपहास करने वालों के लिए इन शब्दों

की यह व्याख्या—"सनातन से अस्तित्व मात्र का बोध होता है, चिरन्तन उसके बहुत काल से चले आने को सूचित करता है और शाश्वत में हमें जीवन की मूल चेतना की क्रम-बद्धता का संकेत मिलता है ।"

अंत में उन्होंने मध्यवर्गीय कलाकार की सामाजिक स्थिति का सहानुभूतिपूर्ण विश्लेषण करते हुए व्यापक मानवतावादी साहित्य-रचना की आवश्यकता पर बल दिया है। महादेवी जी के इन निबन्धों में प्रसंगात् अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र झलक मारते चलते हैं जिनका संग्रह अपने आप में बहुत बड़ा काम है ।

छायावादी कवियों की इन समीक्षाओं का महत्त्व इस बात में है कि ये उनके साहित्य-सृजन के अनुभवों से उत्पन्न हुई हैं। इसीलिए ऐसी समीक्षाएँ अधिक सृजनात्मक प्रभाव वाली होती हैं। इनका महत्त्व किसी विषय अथवा समस्या संबंधी-विवेचना की पूर्णता, व्यवस्था अथवा सांगोपांगता में नहीं बल्कि मौलिक संकेतों में है। इन समीक्षाओं ने अपने युग के साहित्य-सृजन का ही मार्ग नहीं प्रशस्त किया बल्कि अनेक आलोचकों को भी जन्म दिया। पं० नंददुलारे बाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र आदि समीक्षक छायावादी कवियों की समीक्षा की ही उपज हैं। इन्हीं कवियों से प्रभावित होकर हिंदी में ऐसी भी समीक्षायें आईं जिन्हें 'प्रभाववादी' कहा गया और आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में जिन की खूब ख़बर भी ली। लेकिन यह उसकी एक शाखा मात्र है। वस्तुतः छायावाद की मूल स्वच्छंद भावना जगत् के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण था जो केवल कविता में ही नहीं बल्कि उस युग के उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना आदि सभी साहित्य-रूपों में अभि-व्यक्त हुआ। इसलिए छायावादी समीक्षा छायावादी सांस्कृतिक चेतना का ही एक अंग है और छायावादी कविता से अंगांगि भाव से जुड़ी हुई है। यह विशेष दृष्टिकोण पीछे छूट सकता है लेकिन इससे प्रसूत समीक्षा ने निस्सन्देह हिंदी समीक्षा के मान निर्मित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, साथ ही उसने पाठकों की आलोचनात्मक रुचि को परिष्कृत किया है ।

: २१ :

हिन्दी के भाषा-वैज्ञानिक आलोचक

[हरप्रसाद शास्त्री]

भाषा-विज्ञान का उद्देश्य एवं क्षेत्र

भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध मानव-जाति के द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली विभिन्न भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन से है। इसका क्षेत्र उतना ही विस्तृत है जितना कि मानव का। किसी देश विशेष की भाषा के भिन्न-भिन्न अंगों, स्वरूपों एवं व्याकरण सम्बन्धी नियमों के जाति-विवेचन मात्र तक इसका उद्देश्य सीमित नहीं है वरन् सामान्य रूप से मानवी भाषा के उद्भव, रूप, विकास एवं व्युत्पत्ति का विवेचन एवं निरूपण इसका उद्देश्य है। भाषा का वैज्ञानिक केवल एक भाषा के ऊपरी ज्ञान से सन्तुष्ट नहीं होता वरन् वह विभिन्न देशों की भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं, विषमताओं एवं विशेषताओं का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है।

तुलनात्मक प्रक्रिया भाषा-विज्ञान का प्राण है। भिन्न-भिन्न कालों एवं देशों में बिखरी हुई भाषाओं को कुछ सामान्य वर्गों में विभक्त करके उनका वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक परिशीलन करना ही भाषा-विज्ञान है। भाषा-विज्ञान गणित, ज्योतिष आदि की भाँति निश्चयात्मक विज्ञान (exact science) नहीं है। इसमें निर्धारित किये गये नियम और सिद्धान्त शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय नहीं होते। देश-काल की परिस्थितियों एवं भाषा की परिवर्तनशीलता के साथ-साथ इसके नियमों एवं सिद्धान्तों में भी परिवर्त्तन होता रहता है।

भाषा-विज्ञान का इतिहास विशेष प्राचीन नहीं है। एक प्रकार से वह अभी तक अपनी शैशवावस्था में ही है। गत शताब्दी से ही उसका आधुनिक रूप प्रकाश में आया है। यों तो आधुनिक समस्त वैज्ञानिक आविष्कारों की भाँति भाषा-विज्ञान की उत्पत्ति का श्रेय पश्चिम को ही दिया जाता है, किन्तु इस विज्ञान का बीजारोपण भारत-भूमि में ही हुआ। यास्क मुनि का 'निरुक्त' भाषा-विज्ञान का आदि ग्रन्थ कहा जा सकता है, जिसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति एवं शब्द-स्वरूप विषयक खोज बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से की गई है। पाणिनि की 'शिक्षा' में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल आदि का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। पतंजलि के 'महाभाष्य' में तो स्पष्ट ही शिक्षा (भाषा-विज्ञान) का उद्देश्य निष्कारण ज्ञान की प्राप्ति बताया गया है।—"ब्राह्मणेन निष्कारणों धर्मः षडंगो वेदोध्येयो ज्ञेयश्च।" महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने एक ही शब्द के वास्तविक ज्ञान को स्वर्गप्रद बताया है:— "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ट प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।" इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि हमारे शास्त्रकार शिक्षा (भाषा-विज्ञान) का उद्देश्य सुलभ संदेहों की निवृत्ति एवं

स्वाभाविक ज्ञान-पिपासा की तृप्ति मानते रहे हैं। संस्कृत का प्रारम्भिक विद्यार्थी भी जब 'लघु-सिद्धान्त कौमुदी' का 'संज्ञा प्रकरण' पढ़ता है तो उसे वर्णों के आस्य उच्चारण-स्थान एवं प्रयत्नों का ज्ञान करा दिया जाता है। संस्कृत व्याकरण में उच्चारण स्थानों एवं प्रयत्नों का यह विवेचन बड़ा ही सूक्ष्म और वैज्ञानिक है। आश्चर्य होता है कि प्राचीन काल में जब कि अन्य देशवासी अशिक्षित एवं असभ्य अवस्था में थे, भारत ने भाषा वैज्ञानिक क्षेत्र में इतनी उन्नति कैसे कर ली थी।

पश्चिम की देन

यह बात निस्संदेह स्वीकार की जाएगी कि इस क्षेत्र में प्रारम्भिक अन्वेषणों के अतिरिक्त इतने सामूहिक रूप से भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयत्न भारत में नहीं हुआ, जितना कि आज के युग में पश्चिम ने किया है। भारतीय भाषा-शास्त्रियों का प्रयत्न केवल संस्कृत भाषा के अध्ययन तक ही सीमित रहा, दूसरे देशों की भाषाओं को तुलना में रख कर अपनी भाषा के मूल्यों का प्रयत्न उस समय नहीं हो पाया। इस विज्ञान को इतना व्यापक एवं उन्नत स्थान उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य देशों ने ही दिया। नई वैज्ञानिक प्रक्रियाओं को प्रयोग में लाकर एक नवीन शास्त्र एवं विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित कराने का श्रेय पश्चिम के ही भाषा-शास्त्रियों को है।

जर्मनी के फ्रेंज बॉप आधुनिक भाषा-विज्ञान के जन्म-दाता मानें जाते हैं। सन् १८१८ ई० में उन्होंने संस्कृत, जेंद, यूनानी, लैटिन, ट्यूटैनिक, लिथुआनियन, स्लेवानियन तथा केल्टिक भाषाओं का एक तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया जो कि भाषा-विज्ञान का आदि ग्रन्थ माना जाता है। डैनमार्क निवासी रैसमस रास्क ने ध्वनि-सम्बन्धी नियमों का पता लगाया और जेवक ग्रिम (१७८५-१८६३) ने वैज्ञानिक रीति से भिन्न-भिन्न भाषाओं और भाषा-परिवारों में विशेष वर्ण-परिवर्त्तन सम्बन्धी नियमों का स्पष्टीकरण किया। इसके बाद मैक्समूलर, व्हिटने, पाल ब्रुग मैन, डैलब्रुक आदि भाषा-शास्त्रियों ने भाषाओं के सम्बन्ध में नवीन बातों का पता लगाया। उन्नीसवीं सदी में भारतीय भाषाविदों में डॉ० भांडारकर ने भारतीय भाषाओं सम्बन्धी सात खोजपूर्ण व्याख्यान दिए। तत्पश्चात् सर ग्रियर्सन, ब्लॉख और प्रो० टर्नर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। सुप्रसिद्ध इटालियन विद्वान डॉ० तेस्सितोरो ने तुलनात्मक भाषाध्ययन द्वारा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के व्याकरण को सुलभ बनाया।

इस प्रकार भाषा-विज्ञान को तुलनात्मक कसौटी बना कर 'विज्ञान' नाम इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों ने दिया।

हिन्दी के भाषा-वैज्ञानिक

हिन्दी में भी भाषा-विज्ञान की ओर कुछ रुझान गत अर्ध शताब्दी से हुआ है। इससे पूर्व भाषा-विज्ञान हिन्दी के लिए नितान्त नवीन विषय था। विश्वविद्यालयों की हिन्दी की

उच्च कक्षाओं में भाषा-विज्ञान का सन्निवेश हुआ। धीरे-धीरे इस ओर छात्रवर्ग और विद्वन्मंडली की रुचि बढ़ी और इस विषय पर नये नये ग्रन्थ प्रकाश में आये। **डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री** का 'तुलनात्मक भाषा शास्त्र अथवा भाषा विज्ञान' ग्रन्थ इस क्षेत्र में हिन्दी का सबसे प्रथम प्रयास है। इसका प्रकाशन १९२५ में हुआ। इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के सिद्धान्तों का वैदुष्यपूर्ण ढंग से प्रतिपादन तथा संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्धों की सरल और सुबोध व्याख्या प्रस्तुत की है। इससे पूर्व भाषा विज्ञान पर जितने भी ग्रन्थ लिखे गये, वे अंग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओं में ही थे। उनमें किसी विषय को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण भी प्रायः ग्रीक, लैटिन आदि यूरोपीय भाषाओं से दिये जाते थे, जिन्हें समझना सामान्यतः भारतीय जिज्ञासुओं के लिए कठिन होता था। शास्त्री जी ने अपने इस ग्रन्थ में भाषा-विज्ञान विषयक सिद्धान्तों को यथासंभव भारतीय भाषाओं के उदाहरणों के द्वारा ही समझाने की चेष्टा की है। भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान एवं तत्कालीन ऑरियेण्टल कॉलिज लाहौर के प्रिंसिपल तथा पंजाब यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर स्व० प्रो० ए० सी० बुलनर एम० ए० (ऑक्सन) ने इस ग्रन्थ की भूरि-भरि प्रशंसा की थी। इसमें ग्यारह परिच्छेद तथा अन्त में एक उपयोगी परिशिष्ट भी है। प्रथम परिच्छेद में भाषा-विज्ञान के स्वरूप, विषय, उद्देश्य एवं उपयोग पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। शेष परिच्छेदों में भाषा के नानार्थों, उसके स्वरूप, रचना, परिवर्त्तनशीलता, उत्पत्ति, वर्ण-विज्ञान, भाषाओं के वर्गीकरण आदि पर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। 'परिशिष्ट' में पारिभाषिक तथा अन्य उपयोगी हिन्दी शब्दों के अंग्रेजी पर्याय प्रस्तुत करके विषय को सरल बनाने में सहायता की गयी है।

भाषा की परिवर्त्तनशीलता के विभिन्न पहलुओं का बड़े ही शास्त्रीय ढंग से शास्त्री जी ने प्रतिपादन किया है। ऋग्वेदकालीन भाषा से लेकर आधुनिक खड़ीबोली तक के साहित्य से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने बताया कि किस प्रकार प्राचीन संस्कृत संश्लेषणात्मक थी, धीरे-धीरे मध्यकालीन प्राकृत आदि भाषाओं में प्रातिपाद के एवं धातुओं के रूपों में कुछ कमी आती गई, व्याकरण की जटिलताओं का बन्धन शिथिल होता गया और आधुनिक भाषाएँ विश्लेषणात्मकता की ओर प्रवृत्त होती गईं। भाषा का यह परिवर्त्तन एकदेशीय नहीं। यदि अंग्रेजी, फ्रैंच, इटैलियन, जर्मनी आदि भाषाओं के पाँच सौ वर्षों का इतिहास उठाकर देखें तो पता चलेगा कि उनमें कितना परिवर्त्तन हो गया है।

'भाषा विज्ञान की प्रक्रिया' नामक छठे परिच्छेद में 'शब्द व्युत्पत्ति के साधारण नियम' शीर्षक प्रकरण में शास्त्री जी ने शब्दों की मनमानी कल्पना को दूषित बताकर ऐतिहासिक अनुसन्धान को ही श्रेयस्कर बताया है—"जैसे एक मनुष्य की वंशावलि के अनुसरण में मनमानी कल्पना का ज़रा सा भी अवकाश नहीं होता, इसी प्रकार शब्दों की व्युत्पत्ति करने में भी हमें मनमानी कल्पना करने का ज़रा सा अधिकार न होना चाहिये। जैसे दूसरे ऐतिहासिक अनुसन्धानों में प्रमाणों के साक्ष्य की आवश्यकता समझी जाती है, इसी प्रकार

शब्दों के इतिहास का पता लगाने में भी हमें प्रमाणों की आवश्यकता है।" उन्होंने शब्द व्युत्पत्ति को एक मनमाना खेल समझने की दूषित प्रवृत्ति से हमें सावधान रहने की सूचना दी है। उदाहरण के लिए उन्होंने किसी संस्कृत विधान के द्वारा अरबी, अंग्रेजी, आदि के कुछ शब्दों की संस्कृत के अनुसार कल्पित व्युत्पत्ति के नमूने पेश किये हैं:—

"अदबः—(आदाबः) —'सत्कारे' दव उपतातोऽसत्कार इति, न दवोऽसत्कार= अदबः सत्कारः।

हाज़िर—इहाजिरः। इह इहैवाजिरं निवासो यस्य सः। उपस्थिते।

विलायतः—(पुं०) एतन्नामा प्रसिद्धे देशे। लातीति लायः आदाता, तस्य भावो लायता, विशिष्टा लायता गुणग्राहता यत्र।"

इस प्रकार के सरस उदाहरणों से नीरस विषय भी खटकता नहीं है। हिन्दी में भाषा विज्ञान का सर्वप्रथम ग्रन्थ होन के कारण यद्यपि इसकी सामग्री पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों के मतों का ही अवगाहन मात्र है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि लेखक का दृष्टिकोण एकदम भारतीय रहा ह। उसने भारतीय भाषा-शास्त्र के चश्मे से ही विषय का निरीक्षण किया है। नवीन संस्करण में संस्कृत के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर तुलनात्मक दृष्टि से दी गई अनेक पाद टिप्पणियों ने इस ग्रन्थ को और भी उपयोगी बना दिया है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास

हिन्दी में भाषा-विज्ञान पर दूसरा ग्रन्थ आचार्य श्यामसुन्दर दास का है। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सं० १९८१ में निकला। इस ग्रन्थ में भाषा-विज्ञान के मुख्य-मुख्य अंगों और उपांगों का भारतीय दृष्टि से विवेचन एवं विवरण प्रस्तुत किया गया है। श्यामसुन्दर दास जी काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी के एम.ए. छात्रों का अध्यापन करते रहे हैं। अतः 'उन्हीं की शान्त एवं दृढ़ पुकार पर' यह ग्रंथ लिखा गया है। इस ग्रन्थ के लिखने में लेखक का उद्देश्य भाषा-विज्ञान के मूल सिद्धान्तों का दिग्दर्शन मात्र करा देना एवं भारतवर्ष की प्राचीन भाषाओं का आधुनिक आर्य भाषाओं तथा विशेषकर हिन्दी से जो कुछ सम्बन्ध है, उसे प्रकाश में ला देना रहा है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास का 'भाषा विज्ञान' सात प्रकरणों में विभक्त है। पहले प्रकरण में भाषा-शास्त्र की महत्ता, उसका विस्तार, अन्य शास्त्रों से उसका सम्बन्ध एवं संक्षेप में भाषा-विज्ञान के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। दूसरे प्रकरण में भाषा के विभिन्न अंग, उसकी उत्पत्ति एवं विकास,भाषा और भाषण का सम्बन्ध आदि वर्णित हैं। तीसरे प्रकरण में विश्व की भाषाओं का आकृतिमूलक तथा पारिवारिक वर्गीकरण किया गया है। चौथे में ध्वनि-विचार, पाँचवें में रूप-विचार तथा छठे में अर्थ-विचार का सन्निवेश है। सातवां प्रकरण उपसंहार के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसमें आर्यों के मूल निवासस्थान तथा संसार के विभिन्न भागों में उनके बसने का वर्णन है। डॉ० मंगलदेव शास्त्री के 'तुलनात्मक भाषा शास्त्र' ग्रन्थ में भाषा-विज्ञान के रूप-विचार और अर्थ-विचार इन दो

महत्त्वपूर्ण अंगों की नितान्त उपेक्षा की गई थी। इस कमी की पूर्ति आचार्य श्यामसुन्दर-दास के इस ग्रन्थ से हुई। उन्होंने रूप-विचार और अर्थ-विचार पर अलग-अलग प्रकरण लिख कर इनका विस्तृत और गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। रूप-विचार सामान्य व्यावहारिक रूप में व्याकरण का ही समानार्थी माना जाता है। शब्द-साधन और वाक्य विचार व्याकरण के दो मुख्य भाग माने गये हैं। शब्द-साधन में कारक, काल, अवस्था आदि के कारण शब्दों में होने वाले रूपान्तरों का विवेचन रहता है और वाक्य-विचार में सिद्ध रूपों की प्रयोगार्ह शब्दों की विवेचना होती है। आचार्य जी ने रूप-विचार के प्रकरण में शब्दों और शब्द-रूपों की सिद्धि अर्थात् कृत, तद्धित, समास, विभक्ति आदि का विवेचन, शब्द-रूपों की सामान्य समीक्षा, रूप-विकारों का विवेचन बड़े वैज्ञानिक ढंग से किया है। रूप-विचार के प्रमुख अंग:—प्रत्यय, आगम, द्वित्व, स्वर, अपश्रुति आदि पर पृथक्-पृथक् विचार इस प्रकरण में किया गया है। पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार किये गये शब्द-विभाजन—(संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, क्रिया विशेषण, समुच्चयबोधक और विस्मयादि बोधक)—पर भी यूनानी, लैटिन, संस्कृत आदि भाषाओं से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बड़े ही मौलिक विचार व्यक्त किये गये हैं।

अर्थ-विचार का मुख्य विषय शब्दों की व्युत्पत्ति और उनकी ऐतिहासिक व्याख्या मात्र नहीं है वरन् उसका विषय है भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन तथा सिद्धांत-प्रतिपादन। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने इस गूढ़ विषय को स्पष्ट करने के लिये दो नियमों—बुद्धिनियम और ध्वनि-नियम—का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि "जिस प्रकार ध्वनि-नियम देश और काल की सीमा के भीतर कार्य करते हैं, इसी प्रकार बुद्धि-नियम सीमा के भीतर नहीं रहते, वे स्वतन्त्र होकर चाहे जितनी भाषाओं और कालों में व्यापक रूप से लग सकते हैं। यदि विचार किया जाये तो नियम अथवा कानून शब्दों का सच्चा अर्थ यहाँ बौद्धिक नियमों में नहीं घटता है, क्योंकि ये नियम कोई अपवाद रहित सर्वव्यापी सदा सत्य निकलने वाले कानून नहीं होते। 'इन नियमों का अर्थ है कुछ व्यवहारों और व्यापारों में पाए जाने वाले स्थिर संबंध," बौद्धिक नियमों के अन्तर्गत विशेष भाव का नियम, भेद (भेदीकरण) का नियम, उद्योतन का नियम, विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम, मिथ्या प्रतीति उप-मान का नियम, नये लाभ तथा अनुपयोगी रूपों का विनाश—ये आठ नियम माने हैं।, आचार्य जी ने अर्थ में विकार निम्न कारणों से माना है:—(१) अर्थापकर्ष (२) अर्थापदेश (३) अर्थोत्कर्ष, (४) अर्थ का मूर्तीकरण अथवा अमूर्तीकरण, (५) अर्थ-संकोच, (६) अर्थ-विस्तार, (७) रूपक, (८) अनेकार्थता, (९) एकोच्चरित समूह, (१०) समास, (११) नामकरण।

इस प्रकार आचार्य श्यामसुन्दर दास जी ने भाषा-विज्ञान जैसे जटिल विषय को विद्यार्थियों की सुविधा के लिये क्रमबद्ध एवं सरल रूप में उपस्थित किया है।

श्री नलिनीमोहन सान्याल

'सान्याल' जी ने बंगाली होते हुए भी अपनी 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की उपक्रमणिका' नामक पुस्तक हिन्दी भाषा के माध्यम से ही लिखी है। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डॉ० आई० जे० एस० तारापूरवाला ने इस ग्रंथ में वर्णित कुछ मतों को अपने मतों से भिन्न होते हुए भी बहुत ही श्लाघनीय प्रयत्न बताया है। यह ग्रंथ मनस्तत्व के आधार पर लिखित होने के कारण हिन्दी में अपना विशेष स्थान रखता है। योरोपीय तथा भारतीय दोनों ही मतों का उपयोग करके लेखक ने ग्रंथ को बड़ा ही उपयोगी बनाया है। शारीरिक क्रियातत्वों एवं मनस्तत्वों का भाषा-विज्ञान से घनिष्ठ संबंध है। 'ज्ञान के निमित्त पहला प्रयोजन है मनःसंयोग। मनःसंयोग से भिन्नता की उपलब्धि होती है। वस्तुओं की भिन्नता की पहचान के साथ-साथ उनके सादृश्य का ज्ञान होता है। इसके बाद मेधा काम में आती है। मेधा के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुभव तथा चिन्ता मन में ठहरती है। सान्याल जी ने अपने इस ग्रंथ का निर्माण इसी मनोवैज्ञानिक प्रणाली पर किया है। मानसिक विकास के साथ भाषा के विकास का क्या संबंध है? इस बात की मीमांसा इस ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य है।

ध्वनि-विकार का कारण भी लेखक ने शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं को बताया है। उनका कहना है—"हर भाषा में हर घड़ी परिवर्त्तन होते ही रहते हैं। कुछ परिवर्त्तन शारीरिक कारणों से और कुछ मानसिक कारणों से होते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में शारीरिक तथा मानसिक विभिन्नता होती है। सभी की श्रवणेन्द्रिय तथा वाक्‌यन्त्र की क्रियाएँ एक सी नहीं होतीं। मानसिक क्रियाओं में भी विभिन्नता होती है।" परिवर्त्तन नाना प्रकार के होते हैं—(१) ध्वनियों का परिवर्त्तन (Phonetic changes), (२) शब्दों के गठन या रूप के परिवर्त्तन (Morphological changes) (३) शब्दों के अर्थों के परिवर्त्तन (Senatological changes) और (४) वाक्य के शब्दों के विन्यास का परिवर्त्तन (Syntactical changes)।

सान्याल जी ने ध्वनियों के परिवर्त्तनों के ये कारण माने हैं—(१) श्रवणेन्द्रिय तथा वाक्‌यंत्र विभिन्नता; (२) मनोयोग का अभाव; (३) मात्रा तथा बल (Accent) की विभिन्नता; (४) उपमान या सादृश्य (Arology); (५) निकट की ध्वनियों का प्रभाव।

इस प्रकार सान्याल जी ने भाषा-विज्ञान के प्रत्येक अंग की मनस्तत्वों एवं शारीरिक क्रियातत्वों के आधार पर व्याख्या करके भाषा-वैज्ञानिक क्षेत्र में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। मनोभावों के आधार पर लेखन-कला की उत्पत्ति एवं उसके क्रमिक विकास का इतिहास भी इस ग्रंथ में दिया गया है, जो सान्याल जी की हिन्दी को बिल्कुल नवीन मौलिक देन है।

डॉ० बाबूराम सक्सेना

डॉ० बाबूराम सक्सेना के 'सामान्य भाषा-विज्ञान' ने भाषा-विज्ञान जैसे सूखे और जटिल विषय को बड़े ही सरस और सरल रूप में पेश किया है। यह ग्रंथ सामान्य पाठक को विचार में रखकर लिखा गया है और विषय के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिये—इसके लिखने में 'बालानां सुख बोधाय' वाला ध्येय रहा है—यह स्वयं लेखक ने भूमिका में स्वीकार किया है। विषय का दर्शन लेखक ने पश्चिमी चश्मे से किया है। इसमें वर्त्तमान पश्चिमी अनुसंधान का पूर्ण प्रतिविम्ब है, कोई नई मौलिक देन नहीं। ग्रंथ दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में २० अध्याय हैं, जिनमें भाषा का उद्गम, उसका विकास, विकास के मूल कारण, ध्वनियंत्र, ध्वनियों का वर्गीकरण आदि भाषा-विज्ञान के सिद्धांत तथा भाषा-विज्ञान एवं लिपि का इतिहास आदि विषय सन्निविष्ट हैं। दूसरे खंड में संसार की भाषाओं का संक्षिप्त वर्णन है। 'अर्थ विज्ञान' का इसमें सामान्य कलेवर ही प्रस्तुत किया गया है।

यद्यपि सामग्री की दृष्टि से इस ग्रंथ में कोई नवीन विषय नहीं जोड़ा गया, न ही किसी अज्ञात मौलिक उदभावना का समावेश इसमें हुआ है, किन्तु इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता शैली की रोचकता और सरसता है। डॉ० आर्येन्द्र शर्मा के मतानुसार शैली की रोचकता में इसकी टक्कर का ग्रंथ आज तक जर्मन, फ्रेंच आदि समृद्ध भाषाओं में भी नहीं है। ग्रंथ को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई काव्य अथवा सरस उपन्यास पढ़ रहे हैं। काव्यानन्द के साथ-साथ विषय भी स्पष्ट होता जाता है। भाषा-शैली की एक बानगी देखिये:—"बेकार की डाट खाकर शिशु जब माँ की ओर टुकुर टुकुर निहारता है और कुछ बोलता नहीं, तब क्या माँ उस बच्चे के अन्तस्तल की बात नहीं समझ पाती? ··· पेड़ की सघन छाया में बैठे हुए पक्षियों में से यदि किसी को दूर से आती हुई बिल्ली दिखाई दे जाये तो उस पक्षी के शब्द करते ही उसके सारे साथी तुरंत उड़कर पेड़ पर क्यों बैठ जाते हैं, यदि उनको उस शब्द द्वारा भय की सूचना न मिल जाती ?" विषय की स्पष्टता के लिये हमारे दैनिक जीवन से संबंध रखने वाले सरस और रोचक उदाहरण इसमें दिये गये हैं, जिनसे नीरस विषय की उदासी के बादल फट जाते है। पाठक पुन: नवीन स्फूर्ति अनुभव करता है। भाषा के विकास में प्रयत्न लाघव को कारण बताते हुए लेखक कहता है:—"हिन्दू विश्वविद्यालय का आर्ट्स कॉलिज इक्के-तांगेवालों के मुख से 'आठ कालिज' हो गया और बाद को जो साईंस कॉलिज बना उसका नाम उच्चारण की शुद्धता स्वरूप 'आठ कालिज' के वज़न पर 'नौ-कालेज' बन गया। प्रयाग में युनिवर्सिटी को प्राय: तांगेवाले अनवरसिटी कहते हैं। ··· प्रयाग में कोई-कोई समझदार भिखमंगे आशीर्वाद देते समय 'बाबू लाट कमन्डल होइजा' कहते हैं: कमंडल शब्द स्पष्ट ही विदेशी कमांडर का स्वदेशी रूप है जिससे भिखारी पहले से ही परिचित हैं।"

निश्चित ही डॉ० बाबूराम ने भाषा-विज्ञान जैसे जटिल और बोझिल विषय का बोधगम्य और सरल बुद्धिग्राह्य बनाने में अभूतपूर्व कार्य किया है। इसके लिये वे धन्य-वाद के पात्र हैं।

भोलानाथ तिवारी

भोलानाथ तिवारी का 'भाषा विज्ञान' एम. ए., साहित्य रत्न आदि हिन्दी की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों तथा इस विषय में अभिरुचि रखने वाले सामान्य पाठकों के लिये उपयोगी ग्रंथ है। इस ग्रंथ की कोई नवीन मौलिक देन तो नहीं है, किन्तु इस विषय संबंधी परीक्षोपयोगी सामग्री का संचय करने तथा उसे क्रमबद्ध रूप से सजाने में पूर्ण परिश्रम किया गया है। साथ ही भाषा-विज्ञान संबंधी नवीन खोजों तथा दृष्टिकोणों का भी यथास्थान समावेश हुआ है। जैसा कि ग्रंथ के जैकेट के दूसरे पृष्ठ से स्पष्ट है, इस ग्रंथ की प्रधान तीन विशेषताएँ हैं— (१) विद्यार्थियों और सामान्य पाठकों के लिये उपेक्षित भाषा-विज्ञान की प्रत्येक शाखा का अच्छा और क्रमबद्ध प्रतिपादन, (२) विषय के शुष्क होते हुए भी यथासंभव सरल एवं मनोरंजक शैली, (३) भाषा-विज्ञान के सैद्धांतिक एवं प्रयोगात्मक पक्ष में होने वाली नवीन खोजों तथा नवीन दृष्टिकोणों का यथास्थान समावेश।

ग्रंथ ११ अध्यायों में विभक्त है। ११ वें अध्याय में भाषा-विज्ञान का इतिहास वर्णित है। संसार के विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न भाषाओं के संबंध में जिन भाषा-वैज्ञानिकों ने खोज की हैं, उनका संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है।

हिन्दी में भाषा-विज्ञान पर दो रूपों में कार्य हुआ है। एक तो भाषा-शास्त्र के सामान्य नियमों और सिद्धांतों की विवेचना के रूप में, दूसरे भारतीय आर्य भाषाओं तथा हिंदी के संबंध में नवीनतम खोजों के रूप में। सामान्य नियमों की विवेचना के रूप में जिन लेखकों ने कार्य किया है उनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। कुछ विद्वानों ने भारतीय आर्य भाषाओं तथा हिन्दी पर अन्वेषणात्मक कार्य किया है जिनका परिचय आगे दिया जाता है :

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

भाषा-विज्ञान के हिन्दी क्षेत्र में डॉ. धीरेंद्र वर्मा का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। उन्होंने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' नामक ग्रंथ लिखकर हिन्दी में एक विस्तृत तथा पूर्ण ग्रंथ की आवश्यकता की पूर्त्ति की है। विश्व की भाषाओं के विभिन्न वर्गों में हमारी भाषा का कहाँ और क्या स्थान है ? इस विषय पर वर्माजी का यह सर्वप्रथम प्रयास है। अब तक हिन्दी में भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों, उद्देश्यों एवं नियम-निरूपण संबंधी अनेक ग्रंथ प्रकाश में आ चुके थे, किन्तु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं एवं हिन्दी के संबंध में विशेष अन्वेषणात्मक पग नहीं उठाया गया था। यद्यपि भाषा-विज्ञान के सर्वसम्मत सिद्धांतों

को दृष्टि में रखकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन कुछ यूरोपीय विद्वानों ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आरंभ किया था, जिनमें बीम्स का 'कंपैरेटिव ग्रैमर ऑव दि मॉर्डन एरियेन लेंग्वेजेज़ ऑव इंडिया' (भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण), ईसाई मिशनरी केलॉग का' 'ग्रैमर ऑव दि हिन्दी लेंग्वेज' (हिन्दी भाषा का व्याकरण), बीम्स के समकालीन भाषा शास्त्री रूडल्फ हार्नेली का 'ग्रैमर ऑव दि ईस्टर्न हिन्दी' (पूर्वी हिन्दी का व्याकरण) तथा ग्रियर्सन का 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया' (भारतीय भाषाओं का परीक्षण) प्रमुख हैं। इन पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त कुछ भारतीय विद्वानों ने भी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की जिनमें श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का बंगाली भाषा की उत्पत्ति तथा विकास पर ' ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑव दि बेंगाली लेंग्वेज', डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'एवोल्यूशन ऑव अवधी 'तथा स्वयं डॉ. धीरेंद्र वर्मा का व्रजभाषा संबंधी ग्रंथ (फ्रांसीसी भाषा में) 'ला लॉग व्रज'— विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन सभी देशी-विदेशी विद्वानों ने अंग्रेजी अथवा फ्रांसीसी भाषा को ही माध्यम बनाया। अभी तक हिन्दी में इस प्रकार के ग्रंथ का नितांत अभाव था । यद्यपि हिन्दी में भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनाथ भट्ट आदि लेखकों ने पुस्तकाकार वर्णनात्मक निबंध लिखे थे, जिनमें हिन्दी साहित्य और भाषा दोनों का ही विवेचन है, किन्तु व्यापक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन की सामग्री देने वाला कोई ग्रंथ न था। केवल श्री. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'प्राचीन भारतीय लिपि माला' शीर्षक ग्रंथ असाधारण कहा जा सकता है, किन्तु इसमें देवनागरी लिपि और अंकों का इतिहास है, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति एवं विकास के संबंध में इसमें कुछ सामग्री नहीं दी गई। इस अभाव की पूर्ति डॉ. धीरेंद्र वर्मा के 'हिन्दी भाषा का इतिहास' नामक ग्रंथ ने की।

इस ग्रंथ के आदि में ५३ पृष्ठों की एक विशाल भूमिका है, जिसमें हिन्दी भाषा तथा उसकी समकालीन और पूर्ववर्ती भारतीय आर्यभाषाओं का वर्णनात्मक परिचय दिया गया है। 'भूमिका का मुख्य आधार ग्रियर्सन की भाषा सर्वे की भूमिका में पाई जाने वाली सामग्री है।' यह बात लेखक ने स्वयं स्वीकार की है। डॉ. वर्मा ने संसार की समस्त भाषाओं को कुलों, उपकुलों, शाखाओं, उपशाखाओं तथा समुदायों में विभक्त किया है। हिन्दी भाषा का संसार की भाषाओं में कहाँ स्थान है? यह बताने के लिये विद्वान् लेखक ने विश्व की भाषाओं को १२ कुलों में बाँटा है, जिन में भारोपीय कुल 'केन्टुम्-' 'शतम' इन दो समूहों में विभक्त है, प्रत्येक समूह में चार चार उपकुल हैं। इस प्रकार (१) आर्य या भारत-ईरानी, (२) आरमेनियन, (३) बाल्टो स्लेवोनिक, (४) अलबेनियन 'शत' समूह के अन्तर्गत आते हैं। (५) ग्रीक, (६) इटैलिक, (७) कैल्टिक (८) जर्मनिक या टयूटानिक 'केन्टुं' समूह के अन्तर्गत हैं। आर्य या भारत -ईरानी उपकुल की तीन शाखाएँ

हैं—१. ईरानी, २. दरद, ३. भारतीय आर्य भाषा। भारतीय आर्य भाषाएँ तीन कालों में विभक्त हैं—(i) प्राचीन, (ii) मध्य (iii) आधुनिक। आधुनिक काल के अन्तर्गत भारत की वर्त्तमान आर्य भाषाएँ हैं।

इस प्रकार संसार के भाषा-समूहों में भारतीय यूरोपीय कुल के भारत-ईरानी उपकुल में भारतीय आर्य-शाखा की आधुनिक भाषाओं में से एक मुख्य भाषा हिन्दी है।

यह ग्रंथ १० अध्यायों में समाप्त हुआ है। प्रथम अध्याय में हिन्दी भाषा के ध्वनि समूह का विस्तृत वर्णन है। हिन्दी ध्वनियों के वर्णन से पूर्व हिन्दी की पूर्ववर्ती वैदिक तथा संस्कृत एवं पाली तथा प्राकृत ध्वनि-समूह की अवस्था पर एक दृष्टि डाली गई है। दूसरे अध्याय में हिन्दी ध्वनियों का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। स्वर एवं व्यंजन परिवर्त्तन संबंधी कुछ नियम भी इसमें वर्णित हैं। तृतीय अध्याय में फ़ारसी, अरबी, अंग्रेजी आदि विदेशी शब्दों के हिन्दी में आने पर ध्वनि-परिवर्त्तन के संबंध में विचार किया गया है। चौथे अध्याय में भारतीय आर्य भाषाओं के स्वराघात का इतिहास है। पाँचवें में रचनात्मक उपसर्ग तथा प्रत्यय, छठे में संज्ञा के लिंग, कारक, वचन, कारक चिह्न आदि का मौलिक विवेचन है। ७,८,९,१० में क्रमशः संख्यावाचक विशेषण, सर्वनाम, क्रिया तथा अव्यय पर विचार किया गया है। इस सामग्री के अतिरिक्त इस ग्रंथ के कुछ प्रमुख आकर्षण ये हैं— (१) हिन्दी भाषा के क्षेत्र का द्योतक नवीन मानचित्र, (२) देवनागरी लिपि तथा अंक-संबंधी चित्रों का समावेश, (३) अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि-चिह्न संबंधी कोष्ठक, (४) परिशिष्ट के रूप में पारिभाषिक शब्दो का संग्रह एवं अनुक्रमणिका। यह ग्रंथ हिन्दी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये सर्वश्रेष्ठ है। डॉ. वर्मा ने हिन्दी स्वरों और व्यंजनों को क्रमशः संस्कृत स्वरों तथा व्यंजनों से निकला हुआ माना है। इसके लिये उन्होंने केवल संस्कृत एवं हिन्दी में ही उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। काश कि डॉ० साहब हिन्दी और संस्कृत की मध्यवर्ती भाषा प्राकृत के भी उदाहरण दे देते तो यह काम सोने में सुहागा होता।

हिन्दी भाषा तथा जनपदीय भाषाओं पर नवीन वैज्ञानिक खोजपूर्ण कार्य करने वालों में डॉ. वर्मा के अतिरिक्त अन्य बहुत से भारतीय विद्वान हैं, जिनमें डॉ सिद्धेश्वर वर्मा की गणना भारत के सुप्रसिद्ध भाषाविदों में है। विश्व की कितनी ही प्रमुख भाषाओं के ज्ञाता होने के कारण हिन्दी भाषा के विकास और ध्वनिशास्त्रीय खोजों का इन्होंने व्यापक अध्ययन किया है। दरदी भाषाओं के ये विशेषज्ञ हैं और इन्होंने उनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। भारत के प्राचीन संस्कृत वैयाकरणों के ध्वनिशास्त्र सम्बन्धी अनुसंधानों का गंभीर मनन करते हुए इन्होंने अमूल्य सामग्री दी है। आजकल केन्द्रीय शिक्षा-विभाग के शब्द-कोश-निर्माण में इनका भिन्न-भिन्न भाषा-विषयक तुलनात्मक अध्ययन अर्थ-निर्णय में बड़ी सहायता कर रहा है। श्री उदयनारायण तिवारी का 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' ग्रंथ बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें तिवारी जी ने भोजपुरी का भाषा और साहित्य

दोनों ही दृष्टियों से गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में भोजपुरी कविता, नाटक तथा कहानी आदि साहित्यांगों का सुव्यवस्थित परिचय है। डॉ. तिवारी ने भोजपुरी साहित्य का आरंभ कबीर आदि सन्तों की 'बानियों' से माना है। द्वितीय खंड में भोजपुरी का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से मौलिक विवेचन है। भोजपुरी स्वराघात, प्रत्यय, उपसर्ग, समास, संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम, क्रियापद, अव्यय आदि पर गवेषणात्मक सामग्री प्रस्तुत की गई है।

ग्रंथ के आदि में 'उपोद्घात' नाम से २२७ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका है जिसमें संसार की भाषाओं का वर्गीकरण, भारतीय आर्य भाषा, हिन्दी के विभिन्न स्वरूप, हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी का विवाद तथा हिन्दी की ग्रामीण बोलियों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। ग्रंथ के अन्त में 'परिशिष्ट' में जो प्राचीन भोजपुरी के 'सोहार गीत' तथा 'कागद पत्रों' में सुरक्षित भोजपुरी का गद्य एवं कहानियाँ दी गई हैं, वे भोजपुरी साहित्य की परम्परा पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं तथा जिज्ञासु पाठकों के मनोरंजन के साथ ज्ञान-वृद्धि भी करती हैं।

डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के 'Indo Aryan and Hindi' ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद 'भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी' नाम से प्रकाशित हुआ है। अनूदित ग्रंथ होते हुए भी भारतीय आर्य भाषाओं एवं हिन्दी के संबंध में यह ग्रंथ अतुलनीय है।

इनके अतिरिक्त जिन भारतीय विद्वानों ने हिन्दी की जनपदीय भाषाओं पर कार्य किया है, उनके प्रमुख नाम हैं—श्री वाचस्पति उपाध्याय (बनारसी), बाबूराम सक्सेना (अवधी), रामाज्ञा द्विवेदी (अवधी) श्याम परमार (मालवी), डॉ. सत्येंद्र (व्रज) मोतीलाल मिनारिया (राजस्थानी) सुभ झा (मैथिली), धीरेंद्रवर्मा (व्रज), कामताप्रसाद गुरु (हिन्दी), दुनीचन्द (हिन्दी-पंजाबी), डॉ. बनारसीदास जैन (पंजाबी), डॉ. बेनीकान्त काकती (आसामी), डॉ. कादरी (दक्खिनी), हरदेव बाहरी (हिन्दी-अर्थ-विचार) हरिशंकर जोशी (कुमायूँनी), सुनीति कुमार चाटुर्ज्या (राजस्थानी) और पृथ्वीनाथ 'पुष्प' (काश्मीरी)। श्री राकुमष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' का 'आर्य भाषा और संस्कृति' तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ भी विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकार हिन्दी में भाषा-विज्ञान के अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान तेजी से आकृष्ट हो रहा है। नई-नई पुस्तकें प्रकाश में आ रही हैं। हिन्दी साहित्य के इस क्षेत्र में नवीन मौलिक खोजों की आवश्यकता है।

: २२ :

मनोविश्लेषण शास्त्र और हिन्दी आलोचक

[रामेश्वर शर्मा]

शुक्लजी के बाद हिन्दी की भागीरथी में बहुस-सा पानी बह गया है और अनेक नये झरनों का जल आकर उसमें समाहित हो गया है। हिन्दी आलोचना की धारा में इन नवागत झरनों का जल अभी मिल कर एकरूप नहीं हो पाया है, और इसीलिए समीक्षा के एक मिले-जुले स्वरूप का प्रायः अभाव-सा है। समीक्षा की इस भागीरथी में इन झरनों के जल का स्वरूप स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ता है। अतः अपने मल रूप में यह धारा बहुत चौड़ी हो गई है तथा विस्तृत एवम् व्यापक रूप धारण कर गंगासागर-मिलन की भाँति सहस्राभिमुखी होकर बह रही है। निश्चय ही आज हिन्दी में इतने प्रकार की आलोचना-प्रणालियों का प्रचलित होना, उसके विकास, प्रगति, पुष्टता और उसके उज्ज्वल भविष्य का परिचायक है। आज हमारे साहित्य की समीक्षा की धारा समतल भूमि पर बह रही है और उसने सारे समतल मैदान पर बाढ़ की उर्वर मृत्तिका बिछा दी है, जिसमें नये साहित्य की पौध लहलहा कर उग रही है।

आलोचना की इस धारा में कुछ जल विदेशी प्रभाव से मुक्त भी है तो कुछ पूर्णतः विदेशी छाप तथा रंग लिए हुए भी। कारण स्पष्ट है। आज के युग में देशों की सीमाएँ एक झटके के साथ टूट रही हैं। विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप विश्व की सम्बद्धता बढ़ती जा रही है। और उसका प्रभाव हमारे वैचारिक जीवन पर अनिवार्य रूप से पड़ रहा है।

आज की हिन्दी समीक्षा पर जिन विचारकों का प्रभाव पड़ा उनमें कार्ल मार्क्स, सिग्मंड फ्रायड, आइ० ए० रिचार्डस और टी० एस० इलियट प्रमुख हैं। मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित होकर आगे बढ़ने वाली आलोचना की धारा को प्रगतिवादी नाम दिया गया है। इस पद्धति की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। अभी यह प्रणाली पथ में है, परन्तु कालान्तर में जैसे ही इसका स्वरूप व्यापक हुआ, यह स्पष्ट हो जायगा कि शुक्लजी की विरासत इस पद्धति के आलोचकों को प्राप्त हुई है।

फ्रायड की विचारधारा को लेकर हिन्दी में कोई आलोचना की धारा प्रवाहित नहीं हुई। परन्तु हिन्दी में मनोवैज्ञानिक आलोचना की जो धारा चल रही है, उसने आंशिक रूप में फ्रायड की विचारधारा को अपनाया है। केवल फ्रायडवादी आलोचना पद्धति को लेकर आलोचना करने वालों में अकेले डॉ० नगेन्द्र हैं, जो अपने आपको मनोविज्ञान के क्षेत्र में समन्वयवादी कहते हुए भी एकान्त रूप से फ्रायड की विचारधारा के अनुयायी हैं और शुद्ध मनोविज्ञान को ही कला-समीक्षा का मापदण्ड मानते हैं। फ्रायड की विचारधारा का प्रभाव

हिन्दी साहित्य के अन्य क्षेत्रों पर तो बड़े व्यापक पैमाने पर हुआ है और उपन्यास, कहानियों आदि में दिल भर कर अन्तर्मन का रहस्य दिखाया जाने लगा है। इस आलोचना-पद्धति का विश्लेषण करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम कला और साहित्य के सम्बन्ध में फ्रायड के दृष्टिकोण को समझ लें।

फ्रायड का साहित्यिक दृष्टिकोण

आधुनिक युग के महान् विचारकों में जिनकी कि विचारधारा का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है, फ्रायड भी एक है, यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान फ्रायड की विचार-धारा से काफ़ी आगे बढ़ चुका है और फ्रायड की विचारधारा को पूर्ण रूप से वैज्ञानिक स्वीकार नही करता। जीवन की मूल प्रेरणाओं के ही सम्बन्ध में एडलर और युंग, जो फ्रायड के शिष्य ही थे, की विचारधारा फ्रायड के सिद्धान्तों के विपरीत है। तथापि फ्रायड की विचारधारा का आधुनिक मनोविज्ञान पर भारी प्रभाव पड़ा है। मनोविज्ञान की वह शाखा जो फ्रायड की विचारधारा को लेकर चली है 'मनोविश्लेषण-शास्त्र' कहलाती है। अस्तु फ्रायडवादी आलोचना को ही केवल मनोवैज्ञानिक मानना एक भारी भ्रम है। फ्रायड का मनोविश्लेषण आधुनिक युग के व्यापक मनोविज्ञान का एक अंग मात्र है।

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि वह सामाजिक परिस्थिति आखिर किन तंतुओं की बनी हुई थी, जिसने कि फ्रायड, मार्क्स और डार्विन की विचारधारा को जन्म दिया और आगे बढ़ाया है। फ्रायड,मार्क्स और डार्विन तीनों ने ही अपने युग की चिन्तना को एक झटके के साथ एक दूस ी दिशा में मोड़ दिया है, जिससे पिछले युग की विचार-शृंखला एक साथ झंकृत हुई, टूटी और बिखर गई। यह युग बुद्धिवाद का था। विज्ञान विश्लेषण की प्रक्रिया को जन्म दे चुका था। विश्लेष्य के इस युग में मानव ऊपर की तहों पर विचार कर संतुष्ट नहीं रह सकता था। परतों की तहों के भीतर जाकर अन्वेषण करना विश्लेष्य युग की प्रथम विशेषता थी। इसीलिए मार्क्स जहाँ एक ओर पूँजीवाद की ऊपरी तह के नीचे होने वाले शोषण के अन्वेषण में संलग्न रहे,फ्रायड चेतन मन के नीचे दमित काम-कुण्ठाओं की खोज में। ढंग दोनों का एक है पर निष्कर्ष में जमीन-आसमान का अन्तर है। मार्क्स का निष्कर्ष आशा और विश्वास से पूर्ण है। उसने बतलाया कि पूँजीवाद का ऊपरी आवरण एक दिन सदा के लिए कट जायगा और मनुष्य के द्वारा मनुष्य के होने वाले शोषण का सदैव के लिए अन्त हो जायगा। वहीं फ्रायड के निष्कर्ष कहते हैं कि सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की अवचेतन स्थित कुण्ठाओं का दमन तीव्रतर होता जा रहा है और फलस्वरूप मनुष्य के विक्षिप्त होने की सम्भावनाएँ अधिक बढ़ती जा रही है। भारी अन्तर है। एक कहता है आगे का मनुष्य समाजवाद का मनुष्य होगा सभ्य, संस्कृत और खुशहाल। दूसरा कहता है आगे का मनुष्य सभ्यता के विकास के कारण विक्षिप्तता की ओर बढ़ेगा, उसके पागल होने की संभावनाएँ अधिक बढ़गी।

साम्यवाद, विकासवाद और मनोविश्लेषण शास्त्र की पृष्ठभूमि वह अभिजात्यवर्गीय प्रजातंत्र था, जो यूरोप की जनता को स्वर्ग का स्वप्न दिखा कर आर्थिक शोषण की नींव स्थापित कर रहा था। जनता स्वर्ग को धरती पर उतारने के काल्पनिक सुख में आत्म-विभोर थी। बुद्धिवाद—जिसने कि इस प्रजातंत्र को जन्म दिया था—इस काल्पनिक सुख की भावना का जनक था। फ्रांस की राज्य-क्रांति ने भी एक अर्से तक इस बुद्धिवाद के प्रसार में योग दिया। आम जनता का विश्वास था कि यह प्रजातंत्र जो कि उसने हाल ही प्राप्त किया था, उसके जीवन के लिए शाश्वत शान्ति का जनक होगा और सामन्त युग के बर्बर युद्धों से उसे त्राण मिलेगी। भौतिक विज्ञान की उन्नति ने वैसे ही मनुष्य को प्रकृति से अधिक शक्तिशाली सिद्ध किया था। फलस्वरूप इस युग का मानव शाश्वत शान्ति की कल्पना के सप्तरंगी आँचल में खोया-सा था। पूँजीवादी प्रतिनिधि तंत्र में धर्म का स्थान एक प्रकार से भौतिक विज्ञान ने ले लिया। अस्तु १९ वीं सदी की सभी समाजवादी क्रांतियाँ असफल हुई. उनका कारण आम जनता का इस प्रजातंत्र के प्रति मोह ही है। किन्तु फ्रायड और मार्क्स ने जो निष्कर्ष इस व्यवस्था के परिणाम के रूप में निकाले उनसे पिछली शताब्दी का कल्पना का नीड़ एक झटके के साथ नीचे आ गया। मार्क्स ने कहा था—पूँजीवाद की चरम परिणति साम्राज्यवाद में है और जिसका अनिवार्य परिणाम है भूख, अकाल, शोषण और बेकारी। फ्रायड की धारणा विचित्र थी, पर निर्णय निराशा से पूर्ण ही था।

फ्रायड का मानस-शास्त्र

फ्रायड ने मन के तीन स्तरों की कल्पना की है। ये हैं—(१) चेतन, (२) अर्ध-चेतन और (३) अवचेतन। साधारण सामाजिक जीवन में हमारा चेतन मन क्रियाशील रहता है। हमारे चेतन मन की क्रियाओं का हमें ज्ञान रहता है, परन्तु अवचेतन मन हमारे लिए अज्ञेय तथा रहस्यपूर्ण है। हमारे मन की यह पर्त्त अनेक अविवेकशील शक्तियों का पुज है। फ्रायड ने मनोवैज्ञानिकों का ध्यान मन की इस पर्त्त की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया। उनका कथन है कि हमारी ऐसी इच्छाएँ जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं हैं उन्हें हमारा चेतन मन सामाजिक प्रभाव के कारण दमन करता रहता है और फलतः वे मन की इस पर्त्त में आकर केन्द्रित हो जाती है। मन की इन दमित, अविवेकशील शक्तियों के कुछ निश्चित्त नियम भी हैं, जो प्रयत्न द्वारा बुद्धिगम्य किये जा सकते हैं।

मन की इन पर्त्तों की स्थिति का विश्लेषण करते हुए फ्रायड ने एक शिलाखंड का उदाहरण दिया है जो पानी में तैरता रहता है और जिसका केवल चतुर्थांश ही जल के ऊपर है तथा शेष जल के नीचे दृष्टि के क्षेत्र से बाहर रहता है। ठीक इसी प्रकार मन का चतुर्थांश के करीब अर्थात् बहुत छोटा-सा हिस्सा चेतन है तथा शेष अतल, अज्ञेय और रहस्यपूर्ण अवचेतन। अर्धचेतन इन दोनों के बीच की पर्त्त है। इसे फ्रायड ने द्वार कहा है। इसी में होकर अवचेतन की प्रवृत्तियाँ चेतन में प्रवेश करने का प्रयत्न करती हैं और उसके सुषुप्ति काल में

अभिव्यक्त होती हैं। यह स्वप्न या कला-सृजन की अवस्था है।

हमारे चेतन और अवचेतन मन में दो मूल अन्तर विद्यमान हैं। (१) अवचेतन मन हमारे चेतन मन की अपेक्षा वृहदाकार तथा शक्तिशाली है। (२) दोनों का स्वरूप पूर्णतः पृथक्-पृथक् है। अर्थात् दोनों में रहने वाली इच्छाएँ तथा मनोभावनाएँ परस्पर विपरीत तथा द्वंद्वात्मक है। इन्हीं के फलस्वरूप व्यक्ति के चेतन तथा अवचेतन मन में सदैव संघर्ष चलता रहता है। हमारे वाह्य जीवन का संघर्ष इसी आन्तरिक संघर्ष की छाया है। अपनी इसी बात को दर्शन के क्षेत्र में ले जाकर फ्रायड ने काण्ट के दर्शन की पुनरावृत्ति की और अवचेतन मन को काण्ट-प्रतिपादित 'प्रतीयमान' जग की सत्ता माना है।

चेतन मन में हमारी सभी इच्छाएँ नहीं रहतीं। इस स्तर पर हमारी वे ही इच्छाएँ रहती है जो प्रचलित सामाजिक नैतिकता की कसौटी पर खरी उतरती हैं और जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त है। किन्तु अवचेतन मन हमारी सभी दमित, निर्वासित एवम् अतृप्त इच्छाओं का कोष है। वे सभी इच्छाएँ यहाँ आकर एकत्र हो जाती हैं जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नही है। दूसरे शब्दों में अवचेतन मन व्यक्ति के जीवन का असामाजिक भाग है। सेंसर—अवचेतन मन में स्थित ये असामाजिक इच्छाएँ बार बार चेतन मन में आने का प्रयास करती है। इनकी रोकथाम के लिए फ्रायड ने एक 'प्रतिबंधक' की कल्पना की जो हमारी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है। इसे मनोविश्लेषकों ने 'लॉजिक' (तर्क) भी कहा है। यह हमारी दमित वासनाओं को चेतन में प्रवेश करने से रोकता है। इस प्रकार से अवचेतन की समस्त असामाजिक इच्छाओं का दमन निरन्तर होता रहता है। यही दमन आन्तरिक तथा वाह्य संघर्ष का प्रतीक है। इससे विभिन्न मानसिक ग्रंथियों की सृष्टि होती है जिनकी अन्तिम परिणति, व्यक्ति को न्यूरोसिस का शिकार बना देती है। परन्तु काला-बाज़ार और रिश्वतख़ोरी के विरुद्ध बनाये प्रतिबन्धों की भाँति ही यह प्रतिबंध नाम मात्र को रह जाता है और अवचेतन स्थित दमित इच्छाएँ अपने निकास का पथ खोज लेती हैं।

श्रेष्ठीकरण—इन दमित इच्छाओं को जब कि वे अवचेतन से अभिव्यक्त होना चाहती हैं अपने रूप में परिवर्त्तन करना अनिवार्य है। क्योंकि उनके मौलिक रूप में समाज उन्हें किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकता। इस रूप-परिवर्त्तन का कारण हमारे अवचेतन और चेतन मन का पारस्परिक समझौता है जिसमें हीन, घृणित तथा असामाजिक इच्छाएँ भी श्रेष्ठ रूप धारण करके आती हैं। फ्रायड के इच्छाओं के इस प्रकार के श्रेष्ठीकरण को नगेन्द्रजी ने आत्मसंस्कार कहा है। फ्रायड के अनुसार कला भी इसी श्रेष्ठीकरण का एक अंग है।

फ्रायड द्वारा की गई मन के अवचेतन स्तर की कल्पना मनोविज्ञान के क्षेत्र में कोई नई चीज़ नहीं है। फ्रायड से वर्षों पहिले हेनरी मोडस्ले आदि कई विद्वानों ने इंद्रियों-द्वारा प्राप्त सभी संस्कारों के मस्तिष्क में विलीन होने की बात कही थी और बतलाया था कि ये

विलीन संस्कार चेतना से तो एक साथ लुप्त हो जाते हैं किन्तु नष्ट नहीं होते। उनकी स्थिति वायुमंडल में वाष्प बन कर विलीन हुए पेट्रोल की तरह रहती है, जिन्हें कभी भी एक चिनगारी लगा कर प्रज्ज्वलित किया जा सकता है।

इसी प्रकार फ्रायड के इस दमित वासना के अवचेतन से चेतन में आने के मनोविज्ञान को क्रान्तिकारी नहीं माना जा सकता। क्योंकि एक ओर वह जहाँ नूतनता से रिक्त है वहीं दूसरी ओर वह ईसाइयत के सिद्धांतों की पुष्टि का प्रयत्न भी करता दिखाई देता है। फ्रायड के मतानुसार यद्यपि अवचेतन में रहने वाली इच्छाएँ असामाजिक हैं और उन्हें चेतन मन ने अपने क्षेत्र से निर्वासित कर दिया है तथापि वे उसकी सीमा में किसी न किसी प्रकार प्रवेश कर ही जाना चाहती हैं। यह धारणा ईसाइयत के शैतान के प्रसंग से मिलती है जिसे यहोवा ने अपने राज्य से निर्वासित कर दिया है, किन्तु फिर भी वह मौका पाते ही अपने पाप-कर्म पर उतारू हो ही जाता है।

फ्रायड इन्हीं असामाजिक प्रवृत्तियों को जीवन की मूल प्रेरणाप्रद शक्ति मानता है। और इस प्रकार व्यक्ति और समाज के पारस्परिक द्वंद्व पर अपने मनोविज्ञान को खड़ा करता है।

फ्रायड ने मन को तीन अन्य भागों में विभाजित किया है। ये इस प्रकार हैं। (१) अहं, (२) समष्टिगत नैतिक अहं, (३) इडःअवचेतन प्रवाह। अहं को फ्रायड ने चेतन की ही अभिव्यक्ति कहा है। अहं सदैव इस ओर प्रयत्नशील रहता है कि समष्टिगत नैतिक अहं से सामंजस्य स्थापित हो। इस प्रकार संतुलन स्थापित करने के लिए अवचेतन प्रवाह की प्रवृत्तियों का दमन आवश्यक हो जाता है। ये प्रवृत्तियाँ आदिम होती हैं। 'आदिम' शब्द यहाँ महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि फ्रायड मन के अवचेतन रूप को पूर्णतः अपरिवर्त्तनशील मानते हैं और आज भी उसकी प्रवृत्तियों को आदिम युग के ही प्रकार की मानते हैं। सबसे आश्चर्ययुक्त बात यह है कि सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की इन आदिकालीन प्रवृत्तियों का दमन तीव्रतर होता जा रहा है और फलस्वरूप आज के मानव के विक्षिप्त होने की संभावनाएँ अधिक बढ़ गई हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति की बर्बर तथा असामाजिक प्रवृत्तियों का दमन करना उसे पागल बनाने की सम्भावना की ओर अधिक बढ़ाना है और सभ्यता के विकास ने इन संभावनाओं को और अधिक विकसित कर दिया है। धन्य रे मनोविज्ञान और डॉ० नगेन्द्र जिन्होंने इसे इतनी श्रद्धा से पकड़ा। कला और संस्कृति के निर्माण के सम्बन्ध में फ्रायड का मत है कि कला और संस्कृति का निर्माण तब तक ही होता रहता है जब तक व्यक्ति अपने अवचेतन की असमाजिक दमित काम-कुण्ठाओं के श्रेष्ठीकरण में समर्थ रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कला और संस्कृति का निर्माण तब तक ही होता है जब तक कि व्यक्ति का अवचेतन स्थित असामाजिक अंश चोरी-चुपके विकास पाता रहे, फ्रायड की शब्दावली में उसका सब्लीमेशन होता रहे। अर्थात् कला और संस्कृति फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति की असामाजिकता की श्रेष्ठीकरण प्राप्त

अभिव्यक्ति है। कला और संस्कृति की इस कुत्सित व्याख्या को अपनाकर प्रगतिवाद के विरोधी फ्रायड भक्त बनकर भारतीयता की रक्षा का दम भरते हैं और आत्म-संस्कार शब्द के आवरण में दमित काम-कुण्ठाओं को ही कला और संस्कृति मानते हैं। गोया आज तक की संस्कृति, कला और साहित्य व्यक्ति की असामाजिकता की ही अभिव्यक्ति हो।

'काम' को फ्रायड ने जीवन की मूल प्रेरणा कहा है। जबकि सामाजिक नैतिक धर्म के क्षेत्र में यौन-वर्जनाएँ घनीभूत हैं, यह तो निश्चित ही है कि समाज व्यक्ति की इस प्रकार की यौन-वर्जनाओं की स्वच्छंदता को मान्यता नहीं देता है। फलतः व्यक्ति और समाज का द्वंद्व होता है। विकास के पथ में सामाजिक रूढ़ि की परम्परा अपने को परिवर्तित नहीं कर पाती और इसी कारण व्यक्ति की यौन-वर्जनाओं का उससे संघर्ष होता है। इस संघर्ष में व्यक्ति की पराजय निश्चित है।

'काम' की मूल ग्रंथि के विकास की तीन स्थितियाँ हैं। (१) आत्म सम्मोह, (२) मातृरति और (३) विजातीय रति। आत्म सम्मोह में व्यक्ति स्वयम् पर आसक्त रहता है। इस अवस्था के बाद लड़का अपनी माता से तथा लड़की पिता के प्रति आसक्त रहती है। यह मातृरति की अवस्था है। इसे फ्रायड ने एक ग्रीक योद्धा के नाम पर ओडीपस ग्रंथि कहा है। इसमें कभी-कभी विपर्यय के उदाहरण भी मिलते हैं। जब लड़का अपने पर नारीत्व का तथा लड़की पुरुषत्व का आरोप या उसकी भावना कर के पिता या माता से प्रेम तथा घृणा करते हैं।

फ्रायड स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार के यौन-संबंधों को सामाजिक नैतिकता मान्यता नहीं देती। अस्तु, ज्यों ही व्यक्ति की सामाजिक चेतना जागरूक हुई कि इस प्रकार की भावनाएँ नीचे के तल में अवचेतन में उतरना प्रारंभ कर देती हैं। यहाँ पर ये एक सीमा तक घुटती रहती हैं और उनकी यह घुटन उन्हें मानसिक ग्रंथियों के रूप में परिवर्त्तित कर देती हैं। इन मानसिक ग्रंथियों के प्रकटीकरण के लिए फ्रायड ने कुछ रास्तों की कल्पना की है। ये हैं—कला सृजन, स्वप्न, दैनिक जीवन की भूलें तथा विक्षेप आदि। फ्रायड के मतानुसार मातृरति की अवस्था से विजातीय रति की अवस्था तक पहुँचने के बीच में स्वर्गीय रति की स्थिति आती है।

फ्रायड के इसी मूल मनोविज्ञान को दृष्टि में रखते हुए हमें उसके कला-संबंधी विचारों को जानना है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है फ्रायड के अनुसार कला दमित तथा असामाजिक कुण्ठाओं का श्रेष्ठीकरण है। सामाजिक मान्यताओं के कारण हमारा चेतन मन हमारे मन की अविवेकशील काम-भावना को दबाता रहता है। यही दमित काम-वासना मानसिक ग्रंथियों का रूप धर अवचेतन में जम जाती है, और वहाँ से अपने निकास का अहर्निश प्रयत्न करती रहती है। इस प्रयत्न में से समष्टिगत नैतिक अहं से समझौता करना पड़ता है। फलस्वरूप उसके स्वरूप में काफ़ी अन्तर हो जाता है। अतः ग्रंथियाँ प्रतीक रूप में प्रकट होकर स्वप्न, छाया-चित्रों तथा कविता में भाव-चित्रों की सृष्टि करती हैं। हिन्दी के

महाकवि तुलसीदास जहाँ भी सौंदर्य का चित्रण करते हैं वे केवल भाव-चित्र प्रस्तुत करके रह जाते हैं—जैसे "छवि ग्रह दीप शिखा जनु बरई" या "शोभा रजु मंदर सिंगारू" वाला रूपक। फ्रायडवादी आलोचक इसे अतृप्त काम-ग्रंथि की ही अभिव्यक्ति कहेगा।

कला के उद्गम पर मनोविश्लेषक फ्रायड का दृष्टिकोण हम देख चुके हैं। उसके स्वरूप के संबंध में उनका मत है कि मानसिक ग्रंथियों की इस प्रकार की श्रेष्ठीकरणकृत अभिव्यक्ति मन का केवल एक झूठा आश्वासन है, कल्पना है, विभ्रम है, धोखा है। इस प्रकार का समझौता ग्रंथियों की अभिव्यक्ति का प्रकृत पथ न होकर एक प्रकार का भुलावा है। कारण यही है कि आखिर हम हैं तो सामाजिक प्राणी ही न ? अस्तु, अन्तर्प्रवृत्तियों का दमन होने पर भी हम उनसे विवशतापूर्ण समझौता बनाये रखना चाहते हैं। अतः मानसिक ग्रंथियों की इस प्रकार हुई श्रेष्ठीकरणकृत अभिव्यक्ति न तो उसकी वास्तविक और प्रकृत अभिव्यक्ति ही है और न उससे इन वृत्तियों को संतोष ही होगा, उपभोग ही। अस्तु, फ्रायड ने इसीलिए कला को एक विभ्रम कहा है—

"These illusions are derived from the life of phantasy which, at the time when the sense of reality developed, was expressly exempted from the demands of the reality test and set apart for the purpose of fulfilling wishes which would be very hard to realize. At the head of these fantasy pleasures stands the enjoyment of works of art which through the agency of artist is opened to those who cannot themselves create.

(Freud : Civilization and its Discontents P. P. 55)

इसी प्रकार कवि-द्वारा संयोजित विभ्रम को भी फ्रायड ने दिवास्वप्न कहा है। उनके मतानुसार कलाकार मूलतः एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसके राग-विराग विशेष तौर पर अन्य व्यक्तियों से तीव्र तथा असाधारण होते हैं। वह यथार्थ से पलायन कर कल्पना के छाया-चित्रों की सृष्टि करता है। इस संबंध में फ्रायड के निम्नांकित शब्द विचारणीय हैं—

"The artist is originally a man who turns from reality because he cannot come to terms with the demand for the renunciation of inshichual satisfaction as it is first made, and who then in phantasy-life allows full play to his erotic aud ambitious wishes. But he finds a way to return from this world phantasy back to reality ; with his special gifts he moulds his phantasy into a new kind of reality, and may concede them a justification at valuable reflections of actual life. Thus by a creation path he actully becomes the hero, king creator, favourite, he desired to be, without the circuitous path of creating real alterations in the outer world.

(Freud : The relation of the poet to day-dreaming :
Collected papers P. P. 183)

फ्रायड कला को अतिरिक्त धर्म के रूप में स्वीकार करत हैं। ये इसे हमारे जीवन की अभाव-प्रसूत सहज क्रिया स्वीकार करते हैं।

व्यक्ति द्वारा होने वाली प्रत्येक क्रिया का कुछ-न-कुछ मानसिक आधार होता है और उस क्रिया के पीछे कोई गूढ़ मनोभावना अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य कार्य करती है, जो एक तात्विक अर्थ रखती है। यहाँ तक कि हमारे दैनिक जीवन में होने वाली भूलें भी अवचेतन मन की किसी ग्रंथि के ही आग्रह का परिणाम हैं। अतः काव्य के क्षेत्र में प्रतीकों और अलंकारों का भी कोई निश्चित मनोवैज्ञानिक आधार रहता है, बशर्ते कि वे केवल रूढ़ि मात्र न हों। इस प्रकार प्रतीकों से कलाकार के अन्तर्जगत् का वृहद् संबंध रहता है।

इस विश्लेषण के आधार पर हम फ्रायड के कला-संबंधी विचारों को इस प्रकार रख सकते हैं—

मूलप्रेरणा—(१) जीवन की मूल प्रेरणा कामवासना है। वही दमित काम-कुण्ठाओं के रूप में कला की मूलप्रेरणा है।

स्वरूप—(२) कला दमित कामवासना का श्रेष्ठीकरण किया हुआ स्वरूप है जिस में इच्छाएँ समाज से समझौता करने के लिए रूप-परिवर्त्तन करके उपस्थित होती हैं।

शैली—(३) कला के क्षेत्र में दमित काम-चेतना प्रतीकों के सहारे अभिव्यक्त होती है। अतः कलासृजन में प्रतीकों का बहुत बड़ा भाग है।

जीवनदर्शन—(४) कलाकार जीवन-संघर्ष से पराङ्मुख होकर इस प्रकार छाया लोक की सृष्टि करता है और वहाँ पर अपनी कल्पना का सतरंगी ताना-बाना बुना करता है। कला जीवन-संघर्ष से पलायन है।

(५) कला का नैतिकता, धर्म आदि से कोई संबंध नहीं है।

संक्षेप में फ्रायड के कला-संबंधी यही विचार हैं जिनके आधार पर हिंदी में एक नूतन आलोचना-प्रणाली को विकसित किया जा रहा है। ये सिद्धांत कहाँ तक ठीक हैं और साहित्यालोचन के लिए किस सीमा तक उपयुक्त हैं यह यहाँ हमारा विश्लेष्य नहीं। क्योंकि अभी यह प्रणाली पथ में ही है और जब तक उसका पूर्ण विकास न हो जाय तब तक उसके संबंध में निर्णय देना उचित नहीं होगा।

हिन्दी में फ्रायड के इस सिद्धांत को आलोचना के क्षेत्र में व्यवहृत करने वाले आलोचकों में डॉ. नगेंद्र, इलाचंद्रजी, एक सीमा तक ही, तथा अज्ञेय जी प्रमुख हैं। इनमें डॉ. नगेंद्र फ्रायड के मनोविज्ञान मात्र को केवल शुद्ध मनोविज्ञान मानने वाले हैं। साहित्य की मूल प्रेरणा के संबंध में उनके विचार देखिए :

(१) साहित्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है।

(२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरंग, अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्मा व अनात्मा के संघर्ष से उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जानबूझ कर प्राप्त नहीं की जा सकती।

(३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें काम-वृत्ति का

प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काम है, और चूंकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में काम वृत्ति की मुख्यता असंदिग्ध ही है ।

यह स्मरण रखने की बात है कि डॉ. नगेंद्र ने फ्रायड के अवचेतन और चेतन के लिए आत्म और अनात्म की शब्दावली का प्रयोग किया है । और इस प्रकार आत्म (जिसको कि शुद्ध आत्मा माना जाता है) के परदे के पीछे डॉ. नगेंद्र फ्रायड के असामाजिक, दमित और निर्वासित काम-कुण्ठाओं के पुंज अवचेतन को छिपाने का प्रयत्न करते हैं । अवचेतन की असामाजिक काम-कुंठाओं के पुंज अवचेतन को पवित्र, शाश्वत, नित्य और निर्विकल्प रूप देने के लिए आत्म शब्द की उपयोगिता स्वयम् सिद्ध है । अस्तु, उनकी आलोचना में प्रयुक्त यह आत्म शब्द भारतीय दर्शन में व्यवहृत आत्मा का पर्याय न होकर फ्रायड के अवचेतन का पर्याय है, जैसा कि वे स्वयम् स्वीकार करते हैं—

"मैं जीवन को अहम् का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ।"

"और चूंकि आत्म के निर्माण में कामवृत्ति और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में—आत्माभिव्यक्ति—उनका विशेष महत्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ . ...."

"जिस व्यक्ति के अहम् और वातावरण में या वृत्ति और कर्त्तव्य में अथवा फ्रायड की शब्दावली में अंतर्चेतन और निरीक्षक चेतन के बीच जितना अधिक संघर्ष होगा, उसकी प्रतिभा उतनी ही प्रखर होगी ।"

इससे यह सरलता से स्पष्ट हो जाता है कि नगेंद्र जी का यह आत्म-तत्त्व फ्रायड का अंतर्चेतन मात्र है, जिसमें असामाजिक दमित और अतृप्त कामेच्छाएँ भरी पड़ी हैं । यहाँ यह विचारणीय है कि साहित्य की मूल प्रेरणा के संबंध में नगेंद्र जी के उक्त निष्कर्ष, जो पूर्णतः फ्रायडवादी आधार पर निकाले गये हैं कहाँ तक तथ्यपूर्ण, वैज्ञानिक और युक्तिसंगत है । क्या साहित्य अतृप्त कामवृत्तियों की ही अभिव्यक्ति है ? अथवा उसका कुछ सामाजिक आधार भी है ।

वस्तुतः इस प्रकार का निष्कर्ष पूर्णतः भ्रामक है । क्योंकि साहित्य एक सामूहिक चेतना है और उसका वास्तविक आधार कोई अन्तर्चेतन न होकर जन-मानस ही है । इसी आधार पर आज तक का साहित्य अपने आपको समाज का प्रतिबिम्ब कहता आया है, न कि अन्तर्चेतन की अभिव्यक्ति । साहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि साहित्य और समाज का अनिवार्य संबंध है और साहित्य समाज की चित्तवृत्ति को प्रतिबिम्बित करनेवाला दर्पण है । और भी एक प्रश्न है । क्या आज तक के साहित्य की विराट् संचित निधि को कुछ गिने-चुने व्यक्तियों की दमित काम-वासना की अभिव्यक्ति माना जा सकता है ?

व्यावहारिक रूप से तो इन सिद्धांतों को अपना लेने के कारण आलोचना विविध असंगतियों का कोष हो जाती है । नगेंद्रजी की आलोचना इसका तथ्यपूर्ण प्रमाण है । उन्होंने

एक ओर जहाँ प्रेमचंद को स्रष्टा कलाकारों की द्वितीय कोटि में बिठा दिया—('विचार और अनुभूति' के निबंध 'वाणी के न्याय मंदिर में') वहीं दूसरी ओर उन्हें तुलसीदास की समानता में भी रखा है ('विचार और विवेचन') और इस प्रकार तुलसीदास भी दूसरी कोटि के कलाकार हुए। इसी प्रकार प्रसादजी को 'गहरे जीवन-द्रष्टा' तथा 'आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को' देखने और सहने वाला मान कर भी पलायनवादी बनाया। इसी प्रकार वे प्रयोगवादी कविता को 'काव्य नहीं रह गई है' मान कर भी उसके अस्तित्व को साहित्यिक स्वीकार करते हैं।

यह तो हम पहिले ही कह आये हैं कि फ्रायड का मनोविश्लेषण शास्त्र आधुनिक युग के व्यापक मनोविज्ञान का एक अंग मात्र है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक आलोचना की जो धारा प्रचलित है उसमें श्री इलाचंद्र जी का स्थान अन्यतम है। इलाचंद्र जी इस दृष्टिकोण से समन्वयवादी रहे हैं। जहाँ डॉ. नगेंद्र केवल फ्रायड के मनोविश्लेषण को ही शुद्ध मनोविज्ञान मान कर केवल उसी को साहित्यालोचन का एक मात्र आधार मानने का आग्रह करते हैं वहाँ इलाचंद्र जी का दृष्टिकोण अधिक व्यापक तथा समन्यवकारी रहा है। फ्रायड के दृष्टिकोण की संकीर्णताएँ और उसके घातक प्रभाव से वे परिचित जान पड़ते हैं। इसी लिए आलोचना के क्षेत्र में भी वे फ्रायड और मार्क्स को मिलाने की बात करते हैं। उनका मत है कि——

"मार्क्स और फ्रायड ये दोनों महारथी एक ही मूल सत्य के दो छोरों के प्रतिनिधि हैं।"

कला के स्वरूप के संबंध में भी उनका दृष्टिकोण फ्रायड और मार्क्स, अन्तर्मन और चेतनमन के समन्वय को लेकर चला है।

"बिना सचेतन मन के विश्लेषण के अवचेतन मन के भीतर से अंधवेग से प्रस्फुटित हुई कला जितनी ही हानिकर है उतनी ही हानिकर वह कला है, जो वाह्य जगत् की विचारधारा के साथ केवल अचेतन मन की ऊपरी तह तक टकरा कर रह जाती है।"

इसी प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी वे केवल फ्रायडियन दृष्टिकोण मात्र को नहीं मानते। अपने इसी स्पष्ट दृष्टिकोण के कारण वे छायावादी कविता के, जो कि अंतर्मन की अतृप्त काम-भावना ही है, उतने ही घोर विरोधी बन गये थे जितने कि प्रगतिवादी आलोचक। यह दूसरी चीज़ है कि हम इलाचंद्र जी के दृष्टिकोण से सहमत न हों पर उनके दृष्टिकोण की ईमानदारी में अविश्वास नहीं किया जा सकता।

आलोचना के क्षेत्र में अज्ञेय जी का कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। उनका कोई विशेष दृष्टिकोण भी नहीं। यथावसर वे अपना दृष्टिकोण बदलते रहते हैं। वे हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्लेबैक की तरह हैं जो स्वयम् आगे न आकर, एकांगी रहते हुए भी हिन्दी के क्षेत्र में हलचल उत्पन्न करते रहते हैं। रूढ़ि-प्रेम और प्रयोगशीलता दोनों ही उनके व्यक्तित्व के दो अंग हैं। अपने यौन-संबंधी दृष्टिकोण में वे फ्रायड से प्रभावित हैं और सामा-

जिक रूढ़ि के विरोधी दिखाई देते हैं। वहीं अपने इतिहास-संबंधी दृष्टिकोण में इलियट के भक्त बनकर रूढ़ि की दुहाई देते नज़र आते हैं। हिन्दी में केशवदास को किसी ने सर्वाधिक महत्त्व दिया तो अज्ञेय ने। अज्ञेय को केशवदास की विविध छंदमयी रचना में जो प्रयोगशीलता जँची, कि वे बाग़-बाग़ हो गये। किन्तु यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय अपने आलोचनात्मक निबंधों में फ्रायड के मनोविज्ञान का उपयोग करने में प्रायः असफल रहे हैं, या उन्होंने किया ही नहीं। उनका महादेवी और मीरा पर लिखा गया तुलनामूलक निबंध 'त्रिशंकु' में संगृहीत इस तथ्य का साक्षी है।

उपर्युक्त विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि फ्रायड के मनोविज्ञान को लेकर हिन्दी में आलोचना की कोई सशक्त धारा प्रवाहित नहीं हुई है जिसने हिन्दी के संपूर्ण साहित्य को नापा हो। आंशिक रूप में भिन्न आलोचकों ने फ्रायड के मनोविज्ञान का उपयोग किया है। फ्रायडवादी आलोचना की चर्चा का कारण हिन्दी में प्रवाहित मनोवैज्ञानिक आलोचना की धारा है जिस पर फ्रायड का काफ़ी प्रभाव पड़ा है और कुछ हिन्दी वालों का भ्रम है जो मनोविज्ञान और फ्रायड के मनोविश्लेषण को एक मान कर चलते हैं। इसी नाते एक अर्से तक लोग अभी भी इलाचंद्र जी को फ्रायडवादी कहते हैं। केवल फ्रायड के मनोविज्ञान को आधार मान कर जो आलोचना अभी तक हिन्दी में हुई है वह अत्यन्त अल्प परिमाण में है। केवल डॉ. नगेंद्र ही ऐसे आलोचक हैं जो पूर्ण रूप से फ्रायड के अनुयायी हैं और उसके मनोविश्लेषण को शुद्ध मनोविज्ञान कह कर साहित्य के मूल्यांकन का प्रयत्न कर रहे हैं। और फिर डॉ. नगेंद्र फ्रायडवादी बने भी तो देर से। पहिले तो वे समन्वय की बात सोचते रहे। पर अब कल के रसवादी डॉ. नगेंद्र ने फ्रायड का पल्ला कसकर पकड़ लिया है। और अपनी नई आलोचनाओं में वे फ्रायड के मनोविज्ञान को अधिकाधिक लागू करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

: २३ :

हिन्दी के मनोविश्लेषक आलोचक

[मधुर गर्ग]

मनोविश्लेषण-शास्त्र का शास्त्रीय विवेचन

संसार के इतिहास में उस युग को बीते बहुत दिन नहीं हुए जब 'हिस्टीरिया' आदि मानसिक रोगों से पीड़ित रोगियों को उनके साधारण से भिन्न आचरण के कारण भूत-प्रेतादि से ग्रस्त मानकर जला दिया जाता था। भारत में अब भी उनको गरम लोहे से दाग़ने की प्रथा चली आती है। स्वयं अपनी मजबूरी से दुखी ये व्यक्ति इस तरह त्रास पाकर मारे न भी जाते हों, स्वयं मर जाते हैं।

इन असंख्य हत्भाग्य व्यक्तियों की व्यथा से पीड़ित होकर 'जोजेफ़ ब्रुअर्ट' नामक एक वियना के विद्वान ने इनकी पीड़ा का कारण मानसिक अ-संतुलन में खोजा था। वह इस परिणाम पर भी पहुँचा था कि मनोजगत् के व्यवस्थित होते ही ये साधारण स्वस्थ आदमियों की तरह जीवन-यापन करने में समर्थ हो गये थे। उसके बाद तो मनोजगत् संबंधी रहस्यपूर्ण खोजों की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। रहस्यपूर्ण तथ्यों के प्रकाश में आने पर अनेक मानसिक उलझनों के सुलझाव प्रस्तुत हुए। उन विविध रोगों, जिनका निदान चिकित्सक जगत की औषधियों के पास नहीं था, दूर करने का उपाय भी मनोजगत् की गुत्थियों को समझने वाले व्यक्तियों ने मानसिक सन्तुलन में खोजा और बहुत कुछ सफलता उन्हें इसमें उपलब्ध हुई।

इसके बाद इस विषय में महत्त्वपूर्ण खोजें ऑस्ट्रियन विद्वान सिग्ममंड फ्रायड ने कीं। फ्रायड के अनुसार विविध मानसिक रोगों का जन्म उन यौन इच्छाओं से होता है जो समाज स्वीकृति न पाने पर मन के निम्न-स्तर अवचेतन या अचेतन में पड़ जाती हैं ; वे दब अवश्य जाती हैं किन्तु नष्ट नहीं होतीं। वे समय पाकर अपनी अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल रहती हैं और स्वप्न आदि छद्म वेष धारण करके प्रकट होती हैं। अधिक दबाये जाने पर ये जैसे विद्रोह कर उठती हैं, असंतुलित होकर अनेक मानसिक रोगों को जन्म देती हैं।

फ्रायड के अनुसार साहित्य की जन्म-दात्री भी ये अतृप्त यौन-इच्छाएँ ही हैं। साहित्य स्वप्न के व्यक्त रूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। साहित्यिक की कल्पना उसके जीवन में कभी पूरी न होने वाले सपने ही हैं जिन्हें वह शब्दों की झिलमिल तूलिका से अंकित कर अमर कर देता है।

फ्रायड के एक शिष्य एड्लर नामक विद्वान ने यौन इच्छाओं को व्यक्ति की समस्त मानसिक प्रक्रियाओं के मल में मानना त्रुटिपूर्ण समझा। यौन-इच्छाएँ जीवन का अंग रूप

हो सकती हैं वह अंगी नहीं बन सकतीं।

एडलर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कोई न कोई अपूर्णता रहती है; वह अपूर्णता जो उसकी उन्नति में बाधक होकर अन्य व्यक्तियों के समक्ष उसे हीन रूप में प्रस्तुत करती है। अपने भीतर की यह अपूर्णता प्रत्येक व्यक्ति को कचोटती रहती है। हीन भाव की इस वेदनामयी अनुभति की दो प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति के जीवन पर पड़ सकती हैं। एक तो हीनता ग्रन्थि हैं जिसे एड्लर Inferiority Complex के नाम से पुकारता है। यह व्यक्ति को कर्तव्य-कर्म से पंगु बना कर उसकी उन्नति-प्रगति में बाधक होती है; इसी से मानसिक रुग्णता का जन्म भी होता है। हीन भाव की अनुभूति से उत्पन्न एक दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया को एड्लर हीन-भाव—Feeling of inferiority—कहता है। यह व्यक्ति को उसके हीन-भाव की अनुभूति की क्षतिपूर्ति की प्रेरणा देती है। बचपन में बीमार और दुबला-पतला कोई व्यक्ति स्वस्थ पहलवान बनने की लालसा रखता हुआ सतत प्रयत्नशील रहकर कभी-कभी वैसा बन भी सकता है। ऐसे ही अर्थ, रूप-लावण्य अथवा किसी और कारण से हीन-भाव का अनुभव करता हुआ व्यक्ति मान-वैभव और कल्पना-वैभव को प्राप्त करके सामाजिक जीवन में अपने लिये उचित स्थान बना लेता है। भाव और विचार-जगत् में वह साधारण से अधिक समृद्ध होकर औरों के आदर का पात्र बनता है, इस प्रकार उसकी हीनता की क्षतिपूर्ति हो जाती है। साहित्य भी इसी प्रकार की क्षति-पूर्ति का एक रूप है।

मनोविश्लेषक यूंग ने उपरोक्त दोनों विद्वानों के विवेचन को एकांगी बताया है। केवल यौन-इच्छाएँ अथवा हीन-भाव ही समस्त मानसिक जगत को आच्छादित नहीं किये रहता। जीवन में व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों से विविध सम्बन्ध, जीवन की विविध परिस्थितियाँ, उसके मानसिक जगत के समक्ष अनेक समस्याएँ और विषमताएँ प्रस्तुत करती हैं।

मानसिक जगत के चेतन और अचेतन भाग फ्रायड की तरह यूंग ने भी किये हैं* किंतु वे फ्रायड के चेतन और अचेतन नहीं हैं। उनका चेतन फ्रायड के चेतन की तरह कामेच्छा की सक्रिय अनुभूति नहीं है, वह Thought बुद्धि (विचार), Feeling अनुभूति, Sensation इन्द्रिय-जनित-ज्ञान, Intuition सहजानुभूति के असमान गुण वाले तत्त्वों से निर्मित हुआ है। यदि व्यक्ति अपने चेतन के इन तत्त्वों में से किसी एक को अपने जीवन में प्राधान्य दे देता है तो अन्य तत्त्व दमित होकर उसके मानसिक जगत के सूक्ष्मतर स्तर

---

*फ्रायड ने व्यक्ति के मानसिक जगत को दो स्तरों में विभाजित माना है चेतन और अचेतन। चेतन वह भाग है जिसका हमें सक्रिय ज्ञान रहता है और जो हमारी समस्त सामाजिक क्रियाओं को परिचालित करता है। अचेतन वह भाग है जिसका सक्रिय ज्ञान नहीं होता किन्तु वह व्यक्ति की उन अक्षय इच्छाओं का भंडार है जो अज्ञात रूप से उसकी प्रत्येक गतिविधि को नियंत्रित व परिचालित करती रहती हैं।

(अचेतन) में पड़ जाते हैं; किन्तु अधिक दबाये जाने पर वे विद्रोह कर उठते हैं क्योंकि उनका संतुलन ही मानसिक स्वास्थ्य का नियम है। एक का प्राधान्य और दूसरों की उपेक्षा मानसिक स्वास्थ्य के लिए अहितकर है। उसी के कारण विविध मानसिक रोगों का जन्म होता है।

अचेतन में दबी हुई अनेक व्यक्तिगत सुख-दुःखात्मक भावनाओं के अतिरिक्त अचेतन के सूक्ष्मतम गह्वर में, सामूहिक मानव-चेतना की अनेक कुंठित अनुभूतियों व आकांक्षाएँ भी पड़ी रहती हैं जो सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ चेतन से अवचेतन में चली गई और अब केवल संस्कार रूप में शेष रह गई है। इनमें से कुछ कभी-कभी स्पष्ट होती सी प्रतीत होती हैं किन्तु कुछ ऐसी हैं जो व्यक्ति की गति को परिचालित करती हुई भी कभी कहीं स्पष्ट नहीं होतीं कि अन्ततः उनका स्वरूप क्या है।

इस प्रकार यूंग के अनुसार अचेतन का विषय-क्षेत्र इस प्रकार है

व्यक्तिगत अचेतन	१. स्मृतियाँ २. दमित विषय ३. भावावेग
सामूहिक-संस्कारगत अचेतन	१. अचेतन के गंभीरतम गह्वर से कभी फूट पड़ने वाले अनुभव २. अचेतन का वह भाव जो कभी चेतना को कहीं स्पर्श नहीं करता*

यूंग के मतानुसार कलाओं का जन्म व्यक्तिगत अचेतन की अपेक्षा सामूहिक अथवा संस्कार-गत अनुभूतियों से अधिक होता है। कवि या कलाकार अपने अन्तर की प्यास बुझाने के लिए, अपने चेतन जगत में उसी पूर्णता को प्रत्यक्ष करने के लिए, जो उसके अचेत में विद्यमान है, कुछ सृजन करने को, कुछ निर्माण करने को, जब व्याकुल हो उठता है तो व्यक्तिगत अभावों की पूर्ति उसका लक्ष्य नहीं रहती। अपने अन्तर की हलचल को अभिव्यक्ति देने के लिए व्यक्तिगत रूप से सुख-दुःख देने वाले उपकरणों का भी वह त्याग कर देता है। उसका चेतन स्वयं दर्शक मात्र रह जाता है। इसीलिए कलाकार कभी-कभी स्वयं यह नहीं जानता कि उसने विशिष्ट प्रकार की कृति का निर्माण कैसे कर दिया। साहित्य में पौराणिक तथा आदिम मानव-समाज के चित्र भी अवचेतन के सामूहिक संस्कारगत रूप की ओर संकेत करते हैं।

मनुष्य के अवचेतन में मानव-जाति की संरक्षक सत्ता का आदर्श रूप सभ्यता के प्रभात काल से ही स्थित है। साधारणतः यह अचेतन में निष्क्रिय रहता है, किंतु मानव-जाति जब कोई बड़ी भूल कर बैठती है और कठिनाई में पड़ जाती है, जब उसका चेतन जीवन एकांगी होकर असत्यगामी बन जाता है तब उसके अचेतन का आदर्श सक्रिय होकर मनन-

*Page 30 Psychology of C. J. Jung by Dr. Jolan Jacopi.
Chapter 'Nature and Structure of Psyche,'

शील व्यक्तियों की कल्पना-जगत में सहज रूप से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार युग की चेतना का संतुलन नष्ट नहीं होने पाता।

अतः उपर्युक्त विद्वानों के मतों का ध्यान-पूर्वक अध्ययन करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य-सृजन का मूल प्रेरणास्रोत मानव का अवचेतन है, जो चेतन मन के अभावों की क्षति-पूर्ति के रूप में होता है, चाहे वे यौन इच्छाओं अथवा हीन-भावनाओं जैसे व्यक्तिगत अभाव हों, चाहे सामूहिक समाज के सभ्यतामूलक अभाव।

उपर्युक्त ये तीनों विद्वान व्यक्ति स्वस्थ जीवन यापन के लिये उसके वाह्य परिवेष्टन के अतिरिक्त अन्तर्जगत को अधिक प्राधान्य देते हैं। मानसिक विषमताओं में सन्तुलन, मानसिक उलझनों के रहस्य का सफल विश्लेषण और उद्घाटन इनकी दृष्टि में मानव को स्वस्थ जीवन का वरदान दे सकता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस विशिष्ट विचारधारा को मनोविश्लेषण शास्त्र कहते हैं; यद्यपि एक विशिष्ट अर्थ में केवल फ्रायड के सिद्धान्तों को मनोविश्लेषण कहा जाता है, एडलर और यूग की विचारधारा को क्रमशः ये विद्वान स्वयं 'व्यक्तिगत मनोविज्ञान'—Individual Psychology—और 'विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान'—Analytical Psychology—कहते हैं।

मनोविज्ञान की इस विचारधारा की पद्धति पर, जिसका विवेचन हमने ऊपर किया है, जो आलोचना हिन्दी में हुई है उसे मनोविश्लेषणात्मक आलोचना कहते हैं। इस प्रकार की आलोचना में दो दृष्टिकोण रह सकते हैं—१. जिसमें सिद्धान्त रूप से फ्रायड, एडलर और यूंग की विचारधाराओं का प्रयोग करके साहित्य-समीक्षा की गई हो: २. जिसमें स्वतन्त्र रूप से रचना व रचयिता के मानस को निरखने-परखने का प्रयत्न हो।

हिन्दी में इस ढंग की आलोचना यद्यपि काफ़ी ज़ोर शोर से सब तरफ़ हो रही है, प्रत्येक आलोचक किसी न किसी रूप में मनोविश्लेषण से परिचित और प्रभावित है, किन्तु इस क्षेत्र में विशेष रूप से काम करने वाले तीन प्रमुख व्यक्ति हैं—इलाचन्द्र जोशी,

---

We must grant that artist does not function in an official capacity—the very opposite is nearer the truth. He nevertheless resembles the types I have named in one respect, for the specifically artistic disposition involves an overweight of collective psychic life as against the personal. Art is a kind of innate drive that siezes a human being and makes him his instrument. Page 195,

Whenever the creative force predominates, human life is ruled and moulded by the unconscious as against the active will, and the conscious ego is then a helpless observer of events.

—Modern Man in Search of Soul : Chapt.

Psychology and Literature : Jung.

The archetypal image of the wiseman, the saviour or redeemer lies buried and dormant in man's unconscious since the dawn of culture. It is awakened whenever the times are out of joint and a human society is committed to a serious error....................These primordial images are numerous..........When conscious life is characterized by one sidedness and by a false attitude then they are activated—one might say instinctively—and come to light in the dreams of individuals and visions of artists and seers, thus restoring the psychic equilibrium of the epoch. Page 197; ibid.

वात्स्यायन और डॉ० नगेन्द्र ।

हिन्दी के मनोविश्लेषणात्मक आलोचक

सर्वप्रथम इलाचन्द्र जोशी को हम लेते हैं। जोशी जी मनोविश्लेषण के सिद्धांतों से पूर्णतः परिचित हैं। उनकी आलोचना मनोविश्लेषण के किसी एक आचार्य के सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर नहीं होती। स्थान-स्थान पर यथावश्यकता वे एडलर, यूंग और फ्रायड सबके सिद्धान्तों को अपनाते हुए अपनी समीक्षा में उनका प्रयोग करते चलते हैं।

मनोविश्लेषण शास्त्र के उपर्युक्त तीनों आचार्यों के मतों से अपने पाठकों को परिचित कराने के पश्चात् इलाचन्द्र जी साहित्य-समीक्षा में इस शास्त्र के प्रयोग का उपयोग बताते हुए कहते हैं।

"जिस प्रकार मनोविज्ञानवेत्ता गण किसी व्यक्ति के स्वप्नों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने पर उसके चरित्र की मूल बातों का पता लगा लेते हैं, उसी प्रकार किसी कलाकार की कृति से उसके मन के भीतर के द्वंद्व, उसकी अन्तश्चेतना में निहित पाशविक वृत्तियों के ताड़न अथवा स्वास्थ्यकर मानवीय भावनाओं के आलोड़न-विलोड़न का पता भी निश्चित रूप से लगाया जा सकता है।"

आज मनोविश्लेषण के प्रकाश में आने पर निश्चित रूप से वह प्राचीन धारणा कि काव्य लोकोत्तर प्रेरणा से प्रेरित होता है पानी की भित्ति पर खड़ी है। यद्यपि यूंग ने काव्य सृजन की प्रेरणा में सामूहिक अचेतन के गहनतम गह्वर का हाथ सब से अधिक माना है और व्यक्तिगत अचेतन की कुण्ठाओं से प्रेरित काव्य को निम्नतर स्थान दिया है तथापि दमित व्यक्तिगत यौन इच्छाओं और आहत अहं की हीन भावनाओं की अभिव्यक्ति को आप्त साहित्य के एक बड़े भाग में हम अस्वीकृत नहीं कर सकते। फ्रायड और एडलर का मत एक निश्चित सीमा तक ठीक ही है। यूंग की आदर्श वाली बात यदि वहाँ है और लेखक अथवा कवि की अनुभूति 'स्व' की सीमा तोड़ कर सामूहिक अवचेतन को पहचान चुकी है तब तो वह स्वस्थ मानवीय भावनाओं का आलोड़न-विलोड़न करेगी हो। हीन भावना पर भी विजय प्राप्त करेगी, और यदि नहीं है तो वह कुण्ठा की स्वप्नमय रंगीन अभिव्यक्ति मात्र रह जायगी जो लेखक के चेतन जीवन में उसकी उन पाशविक वृत्तियों के ताड़न का परिचय देगी जो कल्पना का सुनहला लोक पाकर निरंकुश हो अपने अस्तित्व का परिचय देने को फूट पड़ी हैं।

यूंग का विवेचन करते हुए हम ने पीछे देखा था कि उन्होंने कलाकार का उद्देश्य गहन आत्मानुभूति की अन्तर्प्रेरणा से युग में महती आदर्शों की स्थापना बताया था। आज के कवियों और लेखकों के विषय में असन्तोष प्रकट करते हुए जोशी जी का कहना है :

"जिन कवियों और लेखकों से यह आशा की जाती थी कि वे गहन आत्मानुभूति की अन्तर्प्रेरणा द्वारा चिर कल्याणकारी महत् आदर्शों की स्थापना करके नव-जीवनकारी भावों और रसों की ओर जनता को प्रेरित करेंगे वह स्वयं प्रेरक न बन कर प्रेरित बन गये।"

छायावाद के कवियों के विषय में जोशी जी का निश्चित मत है कि उन्होंने अपने जीवन की यौन कुण्ठाओं को 'आत्मा परमात्मा के मिलन' और असीम की प्राप्ति की आकांक्षा का मुलम्मा चढ़ा कर चमकाया है और इतना चमकाया है कि देखने वालों की आँखें चकाचौंध रह गई। छायावाद के सौंदर्य-चित्र "जीवन जर्जरित मानव को विश्व-कल्याणकारी स्वस्थ सौंदर्य से परिचित नहीं कराते।" अपनी विकृत भावनाओं को व्यक्त करते हैं जिससे वे अपने "स्वार्थ-क्लेश-युक्त फोड़ों को फोड़ सकें।"

जहाँ तक जोशीजी यह कहते हैं कि यौन इच्छाओं को ही आत्मा-परमात्मा के मिलन का रूपक दिया गया है वहाँ तक तो किसी भी समझदार व्यक्ति का मतभेद उनसे नहीं हो सकता क्योंकि छायावाद के प्रणय-चित्रों से यह स्पष्ट है कि वह लौकिक शृंगार भावनाओं का सूक्ष्म रोमानी रूप ही है, किसी आत्मा का परमात्मा के प्रति प्रणय-निवेदन नहीं। हमारे छायावादी चाहे जितनी दलीलें दें किन्तु अपने व्यक्ति को वह कभी भी भुला नहीं सके हैं और यदि वह ऐसा नहीं कर सके हैं तो शुद्ध आत्मा का परमात्मा के प्रति प्रणय-निवेदन कैसा ?

किन्तु जोशीजी की दूसरी बात से हम सहमत नहीं हैं। छायावाद के सौन्दर्य-चित्र "विश्व कल्याणकारी सौन्दर्य" से परिचित नहीं कराते, ऐसा जोशी जी कहते हैं। "विश्व कल्याणकारी सौन्दर्य" से जोशीजी का क्या तात्पर्य है यह समझ में नहीं आता। सौन्दर्य की मँजी से मँजी हुई दृष्टि में भी छायावाद के सौन्दर्य-चित्र उत्तम ठहरते हैं; वह विश्व की सौंदर्य-दृष्टि को और परिष्कृत करते हैं। हिन्दी की अपनी इस बहुमूल्य सम्पत्ति को यदि स्वयं हिन्दी जगत, हिन्दी काव्य-रत्नों के पारखी जौहरी, अस्वीकार करते हैं तो हमें कहना पड़ेगा कि हिन्दी के लिए उससे बड़े दुर्भाग्य की बात नहीं हो सकती।

सुन्दर और उपयोगी एक ही चीज़ के दो अलग-अलग पहलू हैं। उपयोगी नहीं है इसके माने यह नहीं कि सुन्दर भी नहीं है, हाँ, यदि उपयोगी को ही सुन्दर कहें तो बात दूसरी है। छायावादी कवियों ने जीवन-संघर्ष, युग समस्याओं से तटस्थ रहकर सौन्दर्य की उपासना की, ठीक वैसे ही जैसे अपने काल के अव्यवस्थित जीवन और सामाजिक विषमताओं से भाग कर बड़े-बड़े कलाकारों ने अजन्ता और एलोरा की गुफ़ाओं में सौन्दर्य को साकार किया। क्या कोई भी समझदार व्यक्ति उन जीवित प्रतिमाओं के सौन्दर्य को केवल इस लिए अस्वीकार कर देगा कि उनके निर्माताओं ने अपने युग की समस्याओं के उलझाने सुलझाने में सक्रिय योग नहीं दिया? छायावादी कवियों ने अपने युग की समस्याओं को काव्य में वाणी नहीं दी, न उनका समाधान किया—यह एक दूसरी बात है। यह उनकी कमी है इसे कोई नहीं भुला सकता। वह सुन्दर के साथ उपयोगी काव्य का निर्माण कर सकते थे जैसे स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया। अधिकांश छायावादी कवि अपने छायालोक के नन्दन कानन में विचरण करते-करते, सुख-दुःख के विविध अनुभवों को अपने अन्तर में समेटने वाली पृथ्वी को बिलकुल भूल गए हैं अतः उनका काव्य भी रवीन्द्र के काव्य के समकक्ष

नहीं ठहरता ।

छायावादी कवियों में प्रसाद ने अपने पाँव पृथ्वी के ऊपर ही टिकाये रखे तो उनका काव्य भी रवीन्द्र के काव्य से कहीं हीन नहीं है ।

यह सब कमियाँ होते हुए भी छायावाद ने युग-युग से सुप्त सौन्दर्य चेतना जगाकर अपने युग के सहृदय व्यक्तियों को रुचि को परिष्कृत किया है और इस प्रकार स्वस्थ सुरुचि पूर्ण मानव के निर्माण में योग दिया है, यह तथ्य हिन्दी आलोचना जगत को स्वीकार करना पड़ेगा । इस अर्थ में छायावादी कवि प्रेरित नहीं प्रेरक भी हैं । मनोविश्लेषण के सिद्धांतों की दृष्टि से देखें तो भी यह तथ्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि सामूहिक चेतन के जीवन संघर्ष में अत्यधिक संलग्न हो जाने से हर एक चीज़ को उपयोगिता की दृष्टि से देखने के कारण उसकी सहज सौन्दर्य-दृष्टि दमित हुई थी और शायद इतनी दबाई गई थी कि उसके अवचेतन से वह उपयोगिता निरपेक्ष होकर सहज रूप में फूट पड़ी । यह प्रतिक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक थी किन्तु पूर्ण स्वस्थ नहीं । छायावाद की सौन्दर्य और शृंगार-दृष्टि यदि युग की अन्य भावनाओं से निरपेक्ष न रह कर उन से समझौता कर सकती तो एक संतुलित काव्य-व्यक्तित्व प्रस्तुत कर सकती थी और तब सम्भवतः उसका मूल्य कहीं अधिक होता ।

एडलर के हीन भाव की क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त की दृष्टि से छायावादी कवियों की परख करते हुए इलाचन्द्रजी का कहना है कि इन कवियों ने वास्तविक जीवन में अपने को असमर्थ पाया और इसी कारण कल्पना के छायालोक पर आधिपत्य कर, साधारण जनता पर रौब जमा कर, उसका आदर और सम्मान प्राप्त करके अपनी हीनता की क्षति-पूर्ति की; तो इसमें तो कुछ अस्वाभाविक नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति कहीं न कहीं तो क्षति-पूर्ति करता ही है । इसके आगे जोशीजी कहते हैं, "अपनी छाया नयी कल्पना को क्षुधा-तृषा-पीड़ित मर्त्यलोक से दूर, और दूर और अधिक दूर ले जाने की होड़ आपस में लगाते रहे ...... इस प्रकार की अतिरिक्त क्षति-पूर्ति से न व्यक्ति को लाभ होता है न समाज को ।"

छायावादी काव्य से व्यक्ति को जो लाभ हुआ उसे तो जोशीजी भी स्वयं अस्वीकार नहीं कर सकते । समाज को जो सौन्दर्य-दृष्टि मिली उसका विवेचन भी हम ऊपर कर ही चुके हैं । कहना न होगा कि छायावाद के विषय में जोशीजी की दृष्टि एकांगी है; उन्होंने रोटी-कपड़े की उपयोगिता की दृष्टि से ही उसकी जाँच की है । मनोजगत् की विशेषताओं से परिचित प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि मन को रोटी कपड़े की स्थूल माँगों के अलावा और भी 'बहुत कुछ' चाहिए । रोटी-कपड़े की स्थूल और आवश्यक माँगों की छायावादी कवियों ने अवहेलना की, इसके लिए आप चाहे क्षमा न करें किन्तु और जो बहुत कुछ दिया उसके लिए क्या आप की उदार दृष्टि उनको श्रेय न देगी ? छायावाद ने जीवन की स्थूल आवश्यकताओं का तिरस्कार किया यह ठीक ही है । उस अत्यधिक तिरस्कार का सीधा परिणाम, उनका उद्दाम वेग प्रगतिवाद के रूप में प्रस्तुत हुआ; "उसकी प्रत्यक्ष तीव्रता

केवल स्नावयिक दौर्बल्य जनित हिस्टीरिया से ग्रस्त एक श्रेणी विशेष के प्रतिक्रिया-प्रकोप के सिवा कुछ भी नहीं है ।"

प्रगतिवाद के विषय में जोशीजी का उपर्युक्त मत ठीक ही है । हिस्टीरिया भी मानव अचेतन का विद्रोह ही होता है । वह एक विशेष वृत्ति को निर्बाध प्रवाह तो देता है किन्तु रुग्ण रूप में, भले-बुरे के विवेक से रहित होकर । आज के प्रगतिवाद ने भी भले-बुरे के विवेक को करने वाली स्वस्थ दृष्टि का त्याग कर दिया है; आज प्रगतिवाद के रूप में..... "जिस जीवनाकांक्षा का काव्य में आभास मिलने लगा है वह बहुत दिनों से भोजन से वंचित कंगाल की भूख की तरह है जो एक गंदे स्थान पर पड़े हुए बासी सड़े हुए अखाद्य टुकड़े पर भी झपट पड़ता है और बड़े चाव से उसे खाता हुआ यह सोचता है कि उसने जीवन पोषण के उपयुक्त मूल उपादान प्राप्त कर लिया ।"

हीन भावना की पूर्ति, मानव का हितैषी बनने का स्वाँग रचकर साधारण जनता पर रौब गाँठने के रूप में हो रही है । "आजकल हम लोग नये मतवाद के प्रचारकों की कविताओं में शोषित मानवता के प्रति जो सहानुभूतिमूलक साम्यवादी उक्तियाँ पढ़ते हैं.......वास्तविक मानव-हिताकांक्षा द्वारा प्रेरित होकर नहीं, बल्कि जनता पर सबसे अधिक प्रभाव डालने की भावना से लिखी गई है ।" मानव-हिताकांक्षा के महत् उद्देश्य को लेकर चलने वाली कोई विचारधारा किसी राजनीतिक वाद का अस्त्र नहीं बन सकती न वह मज़दूर की बाटिका को मिल-मालिक के खून से सींच सकती है ।

कथा और उपन्यास-साहित्य का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करते हुए इलाचन्द्र जी उपन्यासकारों के मानव-चरित्र की गुत्थियों और दुर्बलताओं को खोल-खोल कर दिखाने में तीन दृष्टिकोण मानते हैं। १. जेम्स जायस और डी.एच. लारेंस वाला दृष्टिकोण। इन उपन्यासकारों ने फ्रायड, एडलर, यंग आदि मनोविश्लेषकों के मनोविश्लेषण के उद्देश्य, मानव-मन की गुत्थियों के विश्लेषण से स्वस्थ आत्मोत्कर्ष का तिरस्कार करके मिथुनाचार को ही मानव-मन की एकमात्र वृत्ति समझा; उसको खोल-खोल कर दिखाया और उसमें रस लिया । इस प्रकार के उपन्यास उनके लेखकों की रुग्ण मनोदशा के परिचायक है । २. जिनमें मानव-चरित्र की दुर्बलताओं और प्रमुख पत्रों की चरित्रहीनता को महिमान्वित करके दिखाया जाता है । लेखक का दृष्टिकोण उन दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहता है और वैसा प्रभाव ही वह अपने पाठक पर भी डालना चाहता है । इस प्रकार के उपन्यास डास्टोइवस्की का 'पाप और दण्ड' (Crime And Punishment) तथा शरच्चन्द्र के लगभग सब उपन्यास हैं। डास्टोइवस्की के इस उपन्यास का प्रमुख पात्र दो निरपराध बुढ़ियाओंकी हत्या करके भी मासूम ही रहता है। शरच्चंद्र भी अपने प्रायः सभी उपन्यासों 'चरित्रहीन', 'श्रीकान्त' आदि के नायकों के दुर्बल चरित्रों को महिमान्वित करते हैं । उनकी नायिकाएँ भी रूढ़िवादी पुरातन की लकीर पीटने वाली ही हैं, कभी कहीं वह नायक की चारित्रिक दुर्बलता के विरुद्ध स्वस्थ विद्रोह नहीं करतीं । ऐसे जिन

उपन्यासों में चरित्रहीनता पर ही महिमा का आवरण चढ़ाया गया है उनकी दृष्टि को भी अस्वस्थ ही कहा जायगा। ३. तीसरे प्रकार के उपन्यास वे हैं जो जोशीजी के आदर्श हैं और वस्तुतः मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी स्वस्थ हैं। ऐसे उपन्यास का लेखक न अपने चरित्रों के मन का विश्लेषण करने में, उनकी दुर्बलताओं में रस लेता है न उनको महिमान्वित करता है। अत्यन्त तटस्थ भाव से मानव-मन की कमज़ोरियों को खोल-खोल कर दिखाता है। वह पाठक समाज के सम्मुख यह बता देना चाहता है कि इस प्रकार के भव्य पात्रों के प्रति सहानुभूति बरसाने से काम न चलेगा, न उससे समाज का कोई उद्धार ही होने वाला है। हिन्दी के जैनेंद्र, वात्स्यायन और स्वयं उपन्यासों को वे इसी के अन्तर्गत रखते हैं।

साहित्य की प्रमुख विचारधाराओं के मनोविश्लेषणात्मक आलोचना के अतिरिक्त जोशीजी ने तुलसी, सूर, 'साकेत' में उर्मिला के विरह, साहित्यकार प्रसाद और महादेवी का भी स्वतंत्र रूप से मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन किया है जिसको विस्तार भय से यहाँ देना अनुपयुक्त समझते हैं।

मनोविश्लेषण का उपयोग जीवन की स्वस्थता के लिए बताते हुए जोशीजी कहते हैं, "हम उन आदिम प्राथमिक वृत्तियों को दबाने की व्यर्थ चेष्टा करने की बजाय उन्हें सहज रूप में ग्रहण करें.......इस मूल शक्ति को हम मानवीय संस्कृति के विकास के मुन्दर से सुन्दरतर स्तरों की ओर प्रेरित और परिचालित करने में समर्थ हों।"

वात्स्यायन में, आलोचना-पद्धति में विश्लेषण के सिद्धांतों, तथा स्वतन्त्र रूप से रचयिता और रचना का, और साथ ही भावुक की मनःस्थिति के विश्लेषण का, अपूर्व सामंजस्य मिलता है। कला का मूल सर्जना-स्रोत वात्स्यायन एडलर के Feeling of Inferiority वाले सिद्धांत से मानते हैं। अर्थात् उन्होंने कला का मूल स्रोत हीन भावना की क्षति-पूर्त्ति को माना है।

ललित कलाओं और साहित्य-सर्जना का प्रारंभ वात्स्यायन ने उस काल से माना है जब मानव खेतीहर और संभवतः चरवाहा सभ्यता के स्तर तक भी नहीं पहुँचा था। मानव में उस समय भी यूथों में रहने की चलन थी। यूथ का प्रत्येक व्यक्ति अपने विशिष्ट यूथ के प्रति कुछ कर्त्तव्य-कर्मों का अनुभव करता था, अपने यूथ के प्रति किसी न किसी रूप में उपयोगी होने की प्रबल आकांक्षा उसके मन में थी। ऐसी स्थिति में कभी किसी पेड़ से गिर जाने या किसी आखेटक के चोट लग जाने पर जब वह किसी तरह अपने यूथ की रोज़ की जीवन-चर्या में अपना हाथ बँटाने में असमर्थ हो जाता था तब क्या "वह भी इस बोध से न तड़पता होगा कि वह अपात्र है, किसी तरह से घटिया है, क्षुद्र है।" उसकी यह मानसिक ग्लानि और क्षोभ से रूप दो ले सकते थे। एक यह कि वह आत्महत्या कर ले, मर जाय, दूसरा यह कि वह अपनी इस असमर्थता से संघर्ष करे; किसी न किसी रूप में अब भी अपने यूथ, अपने समाज के लिये उपयोगी सिद्ध हो सके। तब ऐसे

व्यक्ति ने जिसने आत्मघाती प्रतिक्रिया पर विजय प्राप्त कर आत्मबल एकत्रित किया था यह निश्चय किया कि, " यदि वह समाज का साधारण धर्म निबाहने में असमर्थ है तो वह विशेष धर्म की सृष्टि करे, यदि समाज के रूढ़िगत जीवन के अनुरूप नहीं चल सकता है तो उस जीवन को ही ऐसा अवयव दे जिसकी ताल पर वह चले।

तब हमारी कल्पना देखती है कि जब उस समाज के बलिष्ठ और समर्थ अहेरी अपने अपने अस्त्र सँभालते हे तब वे पाते है उनके शस्त्रों के हत्थों पर शिकार की मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं........तब वे विस्मय से भरकर कहते हैं अमुक है तो विचारा लेकिन उसके हाथ में हुनर है।"

उपर्युक्त व्याख्या मे स्वयं वात्स्यायन के शब्दों में यह व्याख्या निकलती है "कला सामाजिक अनुपयोगिता के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"

आज के कलाकार की स्थिति को वात्स्यायन उस प्रारम्भिक कलाकार की स्थिति से कुछ विभिन्न नही मानते और उनका यह दृष्टिकोण ठीक भी है "अपर्याप्तता का आधुनिक अर्थ भी इसी प्रकार समझना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति धन की, या किसी दूसरी सत्ता के कारण अपने को अपने अहं के सामने प्रमाणित कर लेता है तो उसमें अपर्याप्तता की भावना नहीं होगी, न उसके विरुद्ध विद्रोह करने की ललकार ही उसे मिलेगी। अन्तत: कन्दरावासी कलाकार और आधुनिक कलाकार में कोई भेद नहीं रहता, दोनो ही में एक अपर्याप्तता चीत्कार करती है।"

हीन भावना की क्षति-पूर्त्ति वाला एडलर का यह सिद्धांत वस्तुत: हीन भावना को अनुभव करने वाले व्यक्ति में क्षति-पूर्ति की प्रेरणा क्या है इस अन्तिम हल तक नही पहुँचता। हीन भावना से पीड़ित एक व्यक्ति आत्मघाती और दूसरा समाज का निर्माणकर्त्ता कैसे बन जाता है। यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है और इसके मूल तक हमें जाना पड़ेगा। प्रश्न का उत्तर पाना कठिन नहीं है; मनोविश्लेषक यूग इसका उत्तर दे चुके हैं; समाज का निर्माणकर्ता (कलाकार) वही व्यक्ति बन सकेगा जिसके अचेतन के सामाजिक आदर्श प्रबल होंगे, जो अपने चेतन की उन पूर्णताओं से रहित सामाजिक जीवन को पूर्णता प्रदान करने को जैसे विकल हो उठेंगे। सब कलाकारों और साहित्यकारों के जीवन-इतिहास पर दृष्टि डालने पर यह सत्य और भी निश्चित रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। संसार के इतिहास में कितने ऐसे साहित्यकार हैं जो जीवन के शाश्वत सत्यों, जीवन-आदर्शों की उच्चतम मान्यताओं और जीवन की विषम-से-विषम स्थितियों और समस्याओं की गंभीरतम व्याख्याएँ और समाधान प्रस्तुत करके भी अपने तत्कालीन समाज में उचित आदर प्राप्त न कर सके थे। उनकी हीनता की भावना स्वयं अपनी आत्म ग्लानि से जीवन भर तड़पती रही थी। तब हीन भावना की क्षतिपूर्ति साहित्य की मूल प्रेरणा कहाँ रही ? यूंग का कहना ठीक ही है ? श्रेष्ठ कलाकार समाज के सामने आत्म-

प्रतिष्ठा पाने की इच्छा से प्रेरित होकर नहीं, अपने अचेतन के सामाजिक आदर्शों से प्रति-क्षण प्रताड़ित हो रही अपनी आत्म-अभिव्यक्ति को साहित्य के रूप में प्रस्तुत करता है।

एडलर के सिद्धांतों को काव्य-सृजन का अन्तिम स्रोत मानने वाले व्यक्ति सामूहिक आदर्शों के साहित्य में समावेश के मूल में भी वही हीन भावना की क्षति-पूर्ति, अपने को समाज में प्रतिष्ठित करने का प्रयास ही मानते हैं। वात्स्यायन कहते हैं, "अपनी चेतना के गूढ़तम स्वर में वह स्वयं अपना आलोचक बन कर जाँचता रहता है कि जो उसके विद्रोह का फल है, जो समाज को उसकी देन है वह क्या सचमुच इतना आत्यन्तिक मूल्य रखती है कि उसे प्रमाणित कर सके, सिद्धि दे सके ?"

किन्तु वात्स्यायन भी सामूहिक आदर्शों और सामूहिक चेतना और उसकी ऐतिहासिक अनुभूति और परम्परा को काव्य-सर्जना के लिये अनिवार्य मानते हैं—"साहित्य-कार को कला की, साहित्य सृष्टि की मुख्य प्रवृत्ति से, साहित्य परम्परा की निरन्तर विकासशील प्रवाहमानता से परिचित होना ही होगा, अतीत में से निकट अतीत और उसमें से वर्त्तमान के विकास की भी परम्परा के प्रति ऐतिहासिक जागरूकता उसे पानी होगी। उसे अपने निजी व्यक्तिगत भिन्न अकेले मन के प्रति ही नहीं, अपने साहित्य के, अपने समाज के, अपनी सांस्कृतिक परिवृत्ति के, अपने समष्टिगत मन के यदि उसमें इतनी क्षमता है तो जन-मन विश्व-मन के प्रति भी सचेतन रहना होगा; क्योंकि उसे इसका भी अनुभव करना होगा कि यह विशालतर मन उसके निजी मन से कहीं अधिक गौरव रखता है और जितनी ही बड़े मन के साथ गहरी चेतना उसमें है उतना ही अपने युग के साथ उसका संबंध लाभप्रद है।"

अतः हम देखते हैं कि वात्स्यायन ने एक ओर साहित्यकार के लिये अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह किन्तु दूसरी ओर सामूहिक चेतना के प्रति जागरूकता की अनिवार्यता घोषित की है। इन दोनों विशेषताओं से संपन्न मन ही श्रेष्ठ कलाकार बन सकता है। उसके पास आत्मबल और समवेदना दोनों विद्यमान हैं, जिनसे वह एक पूर्ण समाज के निर्माण और विकास में अपना उचित योग दे सकता है।

कलाकार के मन का इस प्रकार विश्लेषण करने और उसकी उचित दिशा निर्देशित करने के बाद वात्स्यायन ने आज के हिन्दी साहित्य के कलाकारों की मनःस्थिति का विश्लेषण किया है।

यह ठीक है कि आज के जीवन में विषमता है, अतृप्ति है, यन्त्र-युग के मानव का जीवन भी यन्त्रवत् हो गया है जिसमें सृजन की कोई नवीनता नहीं है, स्फूर्त्ति नहीं है, "आज के श्रमिक के लिये जीवन का अर्थ है कि निरर्थक यांत्रिक क्रिया की बुद्धिहीन अनवरत आवृत्ति। पुराना दस्तकार निरक्षर होकर भी शिक्षित और संस्कृत होता था, आज का मजदूर जासूसी किस्से और सिनेमा पत्र पढ़कर भी घोर अशिक्षित है............ मशीन युग के मानव का जीवन दो अवस्थाओं में बँट जाता है एक जिसमें मेहनत है पर

जीवन स्थगित है दूसरा जिसमें जीवन की उत्कट प्यास है।"

युग की इस परिस्थिति में संवेदनशील मानव के मन में 'जीवन' के अभाव की पीड़ा होना अनिवार्य ही है और उसके अचेतन में उस पीड़ा से विरहित स्थिति को प्राप्त करने की उत्कट प्यास भी स्वाभाविक। अब देखना यह है कि क्या उस प्यास में सचमुच उस स्थिति को प्राप्त करने की प्रयत्नशीलता है जिससे वह प्यास बुझ सके, या केवल इच्छा-मात्र है, प्रयत्न रहित। यदि केवल इच्छा मात्र है तो क्या प्यासे होने की समस्या उससे सुलझ जायेगी ? स्वप्न की मृगमरीचिका में इच्छा की सुनहरी कल्पना से क्या उस वास्तविक जीवन की प्राप्ति हो सकेगी जिसके लिये आज का युग प्यासा है ?

"मान लीजिये कि व्यक्ति अपने को ऐसे सामाजिक दल में पाता है, या अनुभव करता है कि वह ऐसी परिवृत्ति में है जो रूढ़िग्रस्त और ह्रासोन्मुख है। ऐसे समाज से उसका संबंध पहले ही अनिच्छापूर्ण और शिथिल होगा, फिर ऐसे समाज की स्वीकृत और चालू मान्यताओं का खंडन और विरोध करने की, उसके मानदंडों को तोड़ने और पुनः गढ़ने की प्रेरणा भी बलवती होगी............लेकिन जो जीनियस से कुछ कम है उसके लिये ऐसी परिस्थिति का परिणाम केवल इतना ही होगा कि समाज द्वारा स्वीकृति पाने की जो मौलिक आवश्यकता है, व्यक्ति की व्यक्तिता की जो पहली माँग है वह छिप जाएगी, कुंठित हो जाएगी। इससे एक असंतोष उत्पन्न होगा, जो रचनाशील नहीं, केवल एक अतृप्ति, एक मूर्ख, एक अशक्त कामना भर होगी—एक दौहृद मात्र— जो ठीक 'घट की याद' के दौहृद जैसा होगा।"

आज के हिन्दी साहित्य के विषय में वात्स्यायन का कहना है कि वह "अधिकांश में अतृप्ति का, या कह लीजिये लालसा का, इच्छित विश्वास (wishful thinking) का साहित्य है।"

अपने इस कथन की पुष्टि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों के उदाहरण ले-लेकर उन्होंने की है। प्रेमचन्दजी के विषय में वात्स्यायन का कहना है कि उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में जीवन की समस्याओं के समाधान में 'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' की कल्पना लगभग ऐसी ही है जैसे अपरिचित को देख कर बच्चे का माँ के आँचल में दुबक जाना। "जिस अनुकूल सामाजिक परिवृत्ति की माँग की चर्चा की है, वह भी एक ऐसे ही 'माँ के आँचल की' माँग है। इस माँग की प्रतिक्रिया शिशु में और प्रौढ़ व्यक्ति में एक-सी नहीं होनी चाहिये....................यह चेष्टा वयस्क मानव के लिये अशोभन है।" गोदान तक आने पर उच्च वर्ग के चित्रण में जो दोष रह गया है वह टाइप रचने की प्रवृत्ति के कारण है। अन्यथा प्रेमचन्द वहाँ अपनी इस भूल को समझ गये हैं।

जैनेंद्र में भी हमें यही प्रतिक्रिया देखने को मिलती हैं। प्रारम्भ में 'परख' का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है। 'सुनीता' में लेखक यथार्थ की ओर उन्मुख होता है। अपने

पात्रों द्वारा जैनेंद्र "नीरस बुद्धिवाद के विरुद्ध आस्था के, विश्वास के, श्रद्धा के, विद्रोह के, अपने जीवन-दर्शन को भी प्रतिपादित करना चाहते हैं।" वात्स्यायन का कहना है कि यद्यपि इस प्रकार का विश्वास आज के युग का एकमात्र आशासूत्र है "किन्तु उनका बुना हुआ झिलमिल ताना सबका-सब आदर्शवाद नहीं है। अनेक स्थलों पर वहाँ आश्रय की माँग का मोहक आवरण है।" 'नीलम देश की राजकन्या' भी आश्रय की माँग का शुद्ध नमूना है। हाँ, 'त्याग पत्र' में "पर्याप्त तोपप्रद सामाजिक परिवृत्ति की माँग की कुंठा नहीं है।" वहाँ स्वीकृति का नहीं, सभवत: युयुत्सा का भाग लेखक में जागा है। कमला चौधरी की कहानियों में भी "सामाजिक परिवृत्ति से लड़ने और उसे बदलने की इच्छा प्राय: कहीं-कही झलकती है।" महादेवी में (दौहृद की) यह माँग स्पष्ट है परन्तु जैसे उसका समाधान वह कही कर चुकी है, रहस्यवाद में, पर उनकी अकारण व्यथा घर लौटने की माँग नहीं तो क्या है। बच्चन की कविता में तो अपनी विवशता की इस स्थिति की अभिव्यक्ति निरावरण हुई है। प्रसाद में किसी सरल जीवन की ओर लौट जाने की आकांक्षा है "एक सरल, आयासहीन जीवनचर्या की ओर जाने की (लालसा) आधुनिकता के दबाव से पलायन की चेष्टा से अनुप्राणित है..... ....इसकी मूल प्रेरणा यह नही है कि आगे चलकर मृत्यु का सामना किया जाय। मूल प्रेरणा यह है कि ऐसी अवस्था को लौटा जाय जहाँ प्रयास नही है 'तज कोलाहल की अवनी रे।'

वात्स्यायन ने प्रसाद के काव्य का मूल्यांकन करने मे 'कामायनी' के स्वस्थ जीवन दर्शन का उल्लेख नहीं किया है। प्रसाद के द्वारा समस्या के सुलझाव के प्रयत्न का संकेत भी नहीं किया है अत: हमें पता नही कि उसके विषय में वात्स्यायन का क्या दृष्टिकोण है।

सियारामशरण गुप्त के काव्य में अवश्य वात्स्यायन 'आत्मा की कर्मण्यता' पाते हैं। कुछ कविताओं में यद्यपि उन्होंने भी अनुकूल परिस्थिति की इच्छा प्रगट की है किन्तु ऐसी लालसाओं और मरीचिकाओं ने उन्हें भुलाया नहीं है। " उनके लिये आत्मा यात्री है पर उसे पथ पर चलना है, भागना नही, स्वप्नों का, आदर्शों का, पाथेय सच है तो पथ की धूल और काँटे भी झूठ नही है।"

इस प्रकार हम देखते है कि--वात्स्यायन ने अपने युग और साहित्य की जलती हुई समस्याओं का मनोविश्लेषण कर अपने पाठक को उनकी यथार्थता से परिचित कराया और एक ढंग से साहित्यकार के ठीक कर्त्तव्य-कर्म को भी निश्चित किया है।

डॉक्टर नगेंद्र---डॉ० नगेंद्र की आलोचना का आधार यद्यपि काव्य-शास्त्र और रस-सिद्धांत ही है तथापि यदि उनकी आलोचना-पद्धति का सूक्ष्म परीक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं काव्य-शास्त्र के अध्ययन और आलोचना का आधार उन्होंने मनोविश्लेषण बनाया है।

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अन्तर स्पष्ट करते हुए डॉ. नगेंद्र का कहना है कि जहाँ एक ओर भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य की परिभाषा करते हुए, सहृदय के ऊपर

पड़ने वाले उसके प्रभाव की ओर संकेत किया गया है, सहृदय की मन:स्थिति का निरीक्षण परीक्षण करके काव्य का लक्षण दिया गया है वहाँ पश्चिम में कवि की मन:स्थिति को ही काव्य का लक्षण निश्चित करने में वहाँ के काव्यशास्त्रियों ने प्रमुख माना है। इसीलिये भारत में काव्य का लक्षण 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' तथा 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द:' आदि कहा गया है। अर्थात् सहृदय के मन पर काव्य का प्रभाव रमणीय और रसयुक्त पड़ता है। ऐसी विवेचना की गई है। पश्चिम में काव्य का लक्षण जीवन की अनुकृति, भाव-स्मरण, अथवा जीवन का आलोचन दिया गया है जो रचयिता के मन पर वाह्य जगत की प्रतिक्रियास्वरूप पड़ने वाले प्रभाव की ओर तथा रचयिता के द्वारा उसको एक विशिष्ट रूप में ग्रहण करने की ओर संकेत करते हैं। पूर्व और पश्चिम के काव्यशास्त्र के बीच इस प्रकार का अन्तर नगेंद्र जी की सर्वथा मौलिक आलोचक दृष्टि का परिचायक है।

इन दोनों शास्त्रों की मौलिक विशेषताओं का विवेचन करने के पश्चात् डॉ. नगेंद्र मनोविश्लेषक की स्वस्थ सूक्ष्म दृष्टि की परख से यह भी संकेत कर देते हैं कि कवि और भावुक दोनों के मनोविज्ञान को दृष्टि में रखकर यदि कोई काव्यशास्त्र तैयार किया जाय तो उसे पूर्ण काव्यशास्त्र कहा जा सकेगा।

साधारणत: डॉ. नगेंद्र की आलोचना को फ्रायड के सिद्धांतों पर आधारित समझा जाता है; किन्तु स्वयं दिल्ली से प्रसारित अपनी एक रेडियो वार्ता में उन्होंने इसका निषेध किया है, "मेरे सहयोगी और समसामयिक मुझे फ्रायडवादी समझते हैं किन्तु उनकी यह धारणा ग़लत है।" परन्तु फिर भी सके आगे ही डॉ. नगेंद्र अपने ऊपर पड़ने वाले फ्रायड के प्रभाव को ईमानदारी से छिपा नहीं सके हैं, " फिर भी इसमें संदेह नहीं कि आज के विचार-जगत में फ्रायड ने भारी क्रांति की है और हमारे युग की जीवन-दृष्टि पर जाने अनजाने उनका गहरा प्रभाव पड़ा है।"

डॉ. नगेंद्र की मनोविश्लेषणात्मक आलोचना पर फ्रायड के सिद्धांतों का गंभीर प्रभाव होने पर भी उन्हें निरा फ्रायडवादी कहना ठीक नहीं है। साहित्य-सर्जना के मूल में उन्होंने फ्रायड, एडलर और युग, मनोविश्लेषण शास्त्र के तीनों आचार्यो के सिद्धांतों को स्वीकार किया है। फ्रायड ने कामेच्छाओं की अतृप्ति से और अचेतन मन पर उनके दमन की प्रतिक्रिया से उत्पन्न स्थिति में साहित्य-सृजन के मूल स्रोत को खोज निकाला था। डॉ. नगेंद्र साहित्यगत कुछ प्रवृत्तियों में इस प्रकार के प्रभाव को मानते हैं। क्योंकि डॉ. नगेंद्र की विचारधारा पर इसका प्रभाव काफ़ी गंभीर और व्यापक है अत: उनके द्वारा गृहीत अन्य मनोविश्लेषण शास्त्रियों के सिद्धांतों की समीक्षा करके इसका विवेचन अन्त में करेंगे। एडलर के अनुसार कवि की मूल प्रेरणा हीन भाव की क्षतिपूर्त्ति है। डॉ. नगेंद्र ने इसे भी स्वीकार किया है। नगेंद्र जी हीन भावना की क्षति-पूर्त्ति से केवल यह अर्थ नहीं लेते कि लेखक व्यक्तिगत जीवन में हीनता का अनुभव करता हुआ विचार के क्षेत्र में अन्य व्यक्तियों से समृद्ध बनकर आदर और प्रतिष्ठा की प्राप्ति की आकांक्षा से काव्य

साहित्य की मूल प्रेरणा के विषय में अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रकट किया है : "यह तो मैं तुम से पहले ही कह दूँ कि मेरा मन्तव्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र मन्तव्य नहीं है—उपर्युक्त सिद्धांतों से पृथक् उसका आस्तित्व नहीं है और न हो ही सकता है। मैं जीवन को अहं का जगत से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूं। इस संघर्ष की सफलता सुख है और विफलता दुःख। साहित्य इसी संघर्ष के मानस रूप की अभिव्यक्ति है।........मानस रूप की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें दुःख का अभाव होता है क्योंकि संघर्ष की घोरतम विफलता भी मानसरूप धारण करते-करते अपना दंश खो देती है।"

इस प्रकार डॉ. नगेंद्र साहित्य के मूल में आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा को ही मानते हैं जो आत्म के अनात्म के साथ संघर्ष से उत्पन्न होती है और क्योंकि आत्म के निर्माण में काम-वृत्ति का प्राधान्य है " अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला संघर्ष मुख्यतः काम-मय है, और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है अतः उसकी प्रेरणा में काम वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध ह।"

नगेंद्र जी की मनोविश्लेषणात्मक आलोचना के विषय में इतना विवेचन करने के पश्चात् फ्रायड के सिद्धांत पर आधारित उनकी आलोचना-सामग्री का संक्षिप्त परिचय देना भी असंगत न होगा।

डॉक्टर नगेंद्र ने शृंगार-भावना का व उसके स्थायी भाव रति का सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इस भाव की केंद्रीय चेतना के विषय में उन्होंने तीन तथ्य विचारणीय कहे हैं—" भाव का कारण व्यक्ति, वस्तु व परिस्थिति जिसे साहित्य-शास्त्र का आलम्बन कहते हैं। भाव का अनुभूत्यात्मक रूप जो सुखमय-दुखमय अथवा भिन्न हो सकता है; विभिन्न भावरूप जो उसके विकास का संचारण करते हैं; ये ही वास्तव में साहित्य के संचारी हैं।"

काव्य-शास्त्र में विहित शृंगार रस के विभिन्न अंगों को नगेंद्र जी ने मनोवैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया है।

भक्ति-साहित्य के शुद्ध शृंगारिक पक्ष का विश्लेषण कर डॉक्टर साहब ने स्पष्ट किया है कि भक्ति राग से भिन्न भाव नहीं है, आलम्बन अपार्थिव व अप्राप्य होने से अतीन्द्रियता व अतृप्ति तथा बौद्धिक तत्त्व का समावेश होने से विश्वास की भावना का मिश्रण भी अवश्य उसके साथ हो गया है। और जहाँ "मीरा झुरमुट में कृष्ण से मिल चुकी है......आलम्बन सर्वथा स्थूल और इंद्रियगम्य बन जाता है और भक्त उसकी सर्वथा उसी रूप में भावना करता है जिस रूप में किसी लौकिक व्यक्ति की ; ऐसी दशा में उसकी भक्ति या अपार्थिव प्रेम किसी प्रकार पार्थिव प्रेम से भिन्न नहीं है........मनः स्थित होने के कारण अतृप्त है बस।"

छायावाद का मूल स्रोत तो उन्होंने युग की कुंठित काम-चेतना से माना ही है।

प्रेमचन्द के साहित्य के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए डॉ. नगेंद्र

कहते हैं :

"जीवन की काम-मूलक ग्रंथियाँ कहीं अधिक विषम और सूक्ष्म गहन होती हैं। फ्रायड के सिद्धांत को अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नही किया जा सकता कि मानव मन की अधिकांश ग्रंथियों का आधार काम है। साहित्य में भी कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूं विश्व-साहित्य का वृहदांश इन्ही काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में संवर्धन प्राप्त करता है....हिन्दी में जैनेंद्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और बहुत अंशों में यशपाल का साहित्य काम-लिप्त है........(प्रेमचन्द में) मुख्य प्रतिपाद्य जीवन धर्म होता है। उनमें शृंगार की महत्त्वास्वीकृति निस्संदेह होती है परन्तु वह कही भी अपने मे स्वतन्त्र होकर प्रतिपाद्य नही बन जाती।"

उपर्युक्त साहित्य-संबंधी डॉक्टर नगेंद्र के विवेचन मे स्पष्ट हो जाता है कि वह काम-कुंठाओं का हाथ ही साहित्य-सर्जना में मुख्य रूप से मानते है। प्रेमचन्देतर लगभग सारे उपन्यास साहित्य को वह 'कामलिप्त' ही मानते है। प्रेमचन्द का साहित्य अवश्य 'जीवन धर्म' सामूहिक चेतना के महत् आदर्शों से अनुप्राणित है।

अंचल, दिनकर और नरेंद्र की कविता के विषय मे नगेंद्र जी ने क्रमशः इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये है— "अंचल की सेक्स प्रतिक्रिया तो ऐसे व्यक्ति की है जिसकी भूख खाना खाने पर भी नहीं मिटती। स्पष्टतः यह भी एक अस्वास्थ्य का ही लक्षण है।"

"दिनकर ने अपने मन को संघर्ष-पथ का पथिक मानते हुए शृगार को मुखद विराम स्थल माना है।"

"नरेंद्र ने अहं का समाजीकरण किया है।"

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी आलोचना मे मननशील आलोचक मनोविश्लेषण के सिद्धांतों के आधार पर नवीन तथ्यों का उद्घाटन कर रहे है जो हिन्दी की समीक्षा-पद्धति में अत्यन्त स्वास्थ्यकर लक्षण है। मनोविश्लेषण की पद्धति का समावेश होने से और साहित्यिक विचारधाराओं का यथार्थ रूप सामने आ रहा है जो किसी भी साहित्य के अध्ययन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। उपर्युक्त तीन प्रमुख आलोचकों के अतिरिक्त और भी कई आलोचक इस क्षेत्र मे आगे बढ़ रहे है जैसे नलिन विलोचन शर्मा, डॉ. देवराज आदि।

: २४ :

हिन्दी के आलोचक इतिहासकार

[गोपालकृष्ण कौल]

इतिहास को यदि केवल शास्त्र न माना जाय तो वह जीवन और काल के व्यापक अध्ययन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से ज्ञान के विकास के वैविध्यपूर्ण स्तरों—(भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के काल-सापेक्ष्य चेतना—के विभिन्न रूपों) की छानबीन करके जीवन-विकास के मार्ग को नई संभावनाओं के आधार पर और अधिक प्रशस्त किया जाता है। आज इतिहास को भूत की कहानी मात्र मानकर उसको उसके दायित्त्व से मुक्त नही किया जा सकता; क्योंकि बुद्धि और विज्ञान के विकास ने इतिहास को केवल भूत का पर्याय मानने से इन्कार कर दिया है। वर्त्तमान बीत कर भूत बनता है, और आगामी वर्त्तमान ही भविष्य और जो वर्त्तमान है—वह अस्तित्त्व है, जीवन है, जगत है और काल की वह सत्ता है जिसमें चेतना जागती है। इसलिए इतिहास त्रिकाल का लेखाजोखा भी करता है और इतिहास को अस्तित्त्व का त्रिकालद्रष्टा बनाने की दृष्टि वह सजग चेतना देती है जो मानव-जीवन के ऐतिहासिक विकास का स्वयं एक परिणाम होती है। इतिहास की यह प्रक्रिया साहित्य पर लागू होते ही जटिल बन जाती है। साहित्य मानवीय चेतना की सर्वाधिक सबल अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति ऊपर से जितनी सहज और सरल प्रतीत होती है, अन्दर से उतनी ही जटिल होती है; क्योंकि इस अभिव्यक्ति के मानसिक कारण सामाजिक जीवन की जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों के विकास-क्रम से संचालित होते है, वे अन्तर-विरोधों से पूर्ण जटिल होते हैं। साहित्य के उद्भव और विकास का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करने में उसके तमाम संश्लिष्ट संबंधों का सूक्ष्म विवेचन करना अनिवार्य हो जाता। है। इसलिए साहित्य का इतिहास दूसरे विषयों के इतिहास की तरह सरल नहीं होता। वह केवल गणना और संकलन तथा अनुसंधान के बल पर नहीं लिखा जा सकता है। यही कारण है, प्रत्येक इतिहासकार साहित्य का इतिहासकार बनने में समर्थ नहीं हो पाता। साहित्य का इतिहासकार बनने में जिस रसग्राही सूक्ष्म विवेचन बुद्धिपरक ऐतिहासिक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है, वह आलोचक में ही संभव है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है साहित्य का आलोचक ही साहित्य का इतिहासकार बन सकता है यद्यपि यह ज़रूरी नही है कि प्रत्येक अलोचक साहित्य का इतिहासकार हो।

यदि हिन्दी-साहित्य के प्राप्त इतिहासों के क्रमिक विकास को देखा जाय तो पता चलता है कि वे हिन्दी-साहित्य के मूल्यांकन और समीक्षण का क्रमिक विकास हैं। ज्यों-ज्यों साहित्य के मानदंडों एवं आलोचना के स्तरों में दृष्टिकोण की सजगता पैदा होती गई

त्यों-त्यों इतिहास को देखने की दृष्टि भी बदलती गई। प्रारम्भ के प्राप्त इतिहासों में संकलन और गणना ही अधिक है—कवि का नाम और पता, उसकी रचनाओं का परिचय देने का प्रयत्न—यही उनकी विशेषता है; न कोई दृष्टिकोण और न साहित्य के प्रवाह को समझने का प्रयत्न। ऐसे सूची-पत्र इतिहासों को आज इतिहास मानना असंभव है। हिन्दी-साहित्य के प्रथम इतिहास-लेखक गास द तासी (जो फ्रांसीसी था और जिसने 'इस्त्वार द ला लिते रात्यूर एन्दुई ऐन्दुस्तानी' नामक हिन्दी-साहित्य के इतिहास को फ्रेंच में लिखा था) से डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य-इतिहास तक इतिहास-लेखन के जो प्रयत्न हुए वे साहित्य के प्रति आलोचक के दष्टिकोण के ऐतिहासिक विकास की कहानी कहते है। फ्रेंच में लिखित इस पहले इतिहास के तीन भागों में १८३४ पृष्ठ है, जो सन् १८३९ में लिखा गया था, इसमें अंग्रेजी वर्णक्रम के अनुसार हिन्दी कवियों की जो सूची-सी प्रस्तुत की गई है उसमें कवियों की संख्या ७०-८० के बीच में है। उसके बाद 'शिवसिंह सरोज' में कवियों की संख्या को एक हज़ार तक पहुँचा दिया गया —इसमें कवियों की रचनाओं के उदाहरण विशेष दिये गये। 'शिवसिह सरोज' के आधार पर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव़ हिन्दुस्तान' लिखा। अन्तर केवल इतना है कि इसमें प्रवृत्तियों की ओर संकेत के साथ काल-विभाजन का प्रयत्न किया गया है। 'मिश्रबन्धु विनोद' में साहित्य के मूल्यांकन की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हो जाता है। 'विनोद' के चार भागों के २२५० पृष्ठों में लगभग ५००० कवियों का विवरण मिलता है। इसमें साहित्य-शास्त्र के रीतिवादी प्राचीन आदर्शों के आधार पर जो साहित्य के मूल्यांकन का लघु प्रयत्न है वह इस इतिहास के इतिवृत्तात्मक विस्तृत कलेवर में नगण्य सा हो जाता है। शायद इसीलिए मिश्रबन्धुओं को नौ कवियों को छांट कर उनका अलग मूल्यांकन या अध्ययन प्रस्तुत करना पड़ा—उनका 'हिन्दी नवरत्न' हिन्दी की प्रारम्भिक रस-अलंकारवादी आलोचना का एक नमूना है। नौ कवियों के चुनाव में उन्होंने सूझ से काम लिया; यद्यपि उनमें अपनी रस-अलंकारवादी रुचि के अनुसार किसी कवि को एकदम श्रेष्ठ और किसी को निकृष्ट प्रतिपादित करने की समीक्षा-विरोधी प्रवृत्ति भी थी, जिसने उन्हें देव-स्तवन पर मजबूर कर दिया। मिश्रबन्धुओं की इस प्रवृत्ति के विरोध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा :

"मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ निकाला जिसमें सबसे बढ़कर नई बात यह थी कि देव हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं।.....उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है।"

मिश्रबन्धुओं द्वारा किया गया काल-विभाजन प्रवृत्ति-परक नहीं है और इसीलिए अवैज्ञानिक है। उन्हें आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर आदि विशेषण के साथ एक अज्ञात काल की भी कल्पना करनी पड़ी जो इतिहास की दृष्टि से हास्यास्पद प्रतीत होता है। संकलन और विस्तार की वृत्ति से लिखित इस इतिहास का मूल्य आलोचना के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बिल्कुल अछूता है। 'मिश्रबन्धु-विनोद' का चौथा भाग आधुनिक काल से

संबंधित है जिसमें न कोई तारतम्य है और न शृंखला। फिर भी 'मिश्रबन्धु-विनोद' में अनुसंधान है और समालोचना की एक प्रारंभिक प्रवृत्ति है जो आगे लिखे जाने वाले इतिहासों में समय के साथ विकसित होती गई।

'मिश्रबन्धु-विनोद' के बाद रामचन्द्र शुक्ल ने महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रंथ प्रस्तुत किया। उसके बाद यद्यपि अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं फिर भी शुक्लजी का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' आज तक प्रमुख स्थान रखता है। इस इतिहास की प्रमुख विशेषता शुक्लजी का वह समीक्षात्मक जागरूक दृष्टिकोण है, जो पूर्ववर्त्ती किसी इतिहासकार में नही था और परवर्त्ती किसी आलोचक इतिहासकार का नहीं बन पाया है। शुक्लजी ने सर्वप्रथम साहित्य को जीवन के परिपार्श्व और सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में रखकर परखने का प्रयत्न किया। उन्होंने लोक-मंगल की भावना को विशेष महत्त्व दिया जो साहित्य के बदलते हुए मानदंडों के अनुकूल था। यद्यपि उनका 'लोकमंगल' और 'लोकादर्श' एक विशेष आदर्श-वाद से अनुप्राणित था इसीलिए उन्हें कबीर में 'लोकधर्म' की उपेक्षा दिखाई दी और तुलसी की अपेक्षा में वह कबीर का समुचित मूल्यांकन न कर सके; जबकि कबीर भारत के मध्ययुगीन सांस्कृतिक नव-जागरण के अग्रदूत थे। शुक्लजी ने इतिहास के आदि, मध्य और आधुनिक कालों को वीर-गाथाकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल और गद्यकाल में निरूपित करके उस आलोचक दृष्टिकोण का ही परिचय दिया है जो साहित्य-प्रवाह का मूल्यांकन करके प्रवृत्तियों का निर्धारण करता है। शुक्लजी का दृष्टिकोण सामाजिक था और साहित्य के सामाजिक जीवन के गर्भस्थ सूत्रों तक पहुँचने का उन्होंने अपने ढंग से प्रयास किया; लेकिन राजनीतिक परिस्थितियों को साहित्य की प्रवृत्तियों के साथ घटित करने में उनका ढंग कहीं कहीं यान्त्रिक हो गया है। जैसे भक्ति-काव्य का कारण एक सामाजिक निराशा का भाव बताने के लिए उन्होंने मुसलमानों के आक्रमण से पैदा हुई निराशा का राजनीतिक प्रतिपादन किया है। जबकि भक्ति-काव्य के मूल स्रोत दक्षिण भारत में पहले से ही सुरक्षित थे, और वहाँ विदेशी आक्रमण बाद में हुआ था। इसी तरह, आधुनिक कविता के प्रति उनके मन में इतना आदर नहीं था जितना मध्यकाल की कविता के प्रति। इसीलिए उन्होंने आधुनिक काल को गद्यकाल का नाम दिया और कविता को पद्य-धारा के अन्तर्गत रखकर मूल्यांकन किया। यद्यपि शुक्लजी ने काल-विभाजन को मिश्रबन्धुओं की तरह किसी कवि के नाम के साथ नत्थी नहीं किया है, फिर भी उस युग की प्रवृत्ति के परिचायक एक कवि को शीर्ष पर रखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार उस काल की प्रवृत्ति की विशेषताएँ भी उस कवि के कृतित्व में स्पष्ट कर दी गई हैं, जैसे रामभक्त कवियों में तुलसी और कृष्णभक्त कवियों में सूर का उन्होंने विशद विवेचन किया। आधुनिक काल के लेखकों के प्रति इतनी व्यापकता और उदारता से उन्होंने विचार नहीं किया जितना मध्यकाल के कवियों के प्रति। तीव्र गति से होनेवाले साहित्य-रूप और विषय-वस्तु के वर्त्तमान विकास को 'उत्थानों' में विभाजित करके शुक्लजी ने वर्त्तमान तीव्रता को बाँधने का प्रयत्न किया, किन्तु उससे युग की भाव और

विचार-धारा का ऐतिहासिक विवेचन नहीं हो पाया है; फिर भी उनका दृष्टिकोण सजग और निर्भीक है, उसमें मौलिकता और आत्मनिर्भरता है और उनके सामाजिक दृष्टिकोण ने नई समीक्षा के द्वार खोलने का ऐतिहासिक कार्य किया है। जिस सिद्धान्त या प्रवृत्ति को वह ठीक नही समझते थे उस पर निर्मम होकर व्यंग-प्रहार करते थे। नये आलोचकों की फ़ैशनपरस्त आलोचना पर उनकी यह उक्ति कितनी सही उतरती है :

"कहीं-कही तो अंग्रेजी कवि के संबंध में की हुई समीक्षा का कोई खंड ज्यों का त्यों उठाकर किसी हिन्दी-कवि पर भिड़ा दिया जाता है। पद्य का आशय या भाव कुछ और है, आलोचक जी उसे उदधृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे है।"

इस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि एक सजग आलोचक ही साहित्य का श्रेष्ठ इतिहासकार बन सकता है। लेकिन शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचकों के सामने साहित्य के इतिहास को परखने की जिस परम्परा को प्रस्तुत किया उसका समुचित विकास अभी नही हो पाया है। जो अन्तर-विरोध उनमें थे, उससे जिन आवश्यकताओं की माँग इतिहास कर रहा है वे अभी पूरी होनी बाकी है। केवल शुक्ल जी का अनुकरण भी आज पर्याप्त नही है, क्योंकि अनुकरण से नया मार्ग नही खुलता और न अनुसंधान के महानिबन्ध (थीसिस) अभावों की क्षतिपूर्ति करने मे समर्थ है।

शुक्ल जी के बाद के आलोचक इतिहासकारों में बा. श्यामसुन्दर दास,अयोध्यासिह उपाध्याय, सूर्यकान्त शास्त्री, रामशंकर शुक्ल 'रसाल', कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ. रामकुमार वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री और कुछ महानिबन्ध लेखक नए अनुसंधानकर्त्ता आलोचक-विद्यार्थी आदि आते है। साहित्य के इतिहास की एक शुक्ल-निर्धारित रूपरेखा के आसपास ही ये इतिहास अपनी परिधि का विस्तार करते है। पांडित्य और अनुसंधान की दृष्टि से भी ये अपना महत्त्व कुछ-न-कुछ रखते ही है। हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की नई दिशा की ओर अभी जो कदम उठाना बाकी है उसकी सहायता मे इनकी सामग्री काम आयेगी।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने समीक्षक की दृष्टि से इतिहास को एक सांस्कृतिक भूमिका मे देखने का कार्य किया है, जो नए इतिहास की रचना की ओर संकेत करता है। 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' और 'आदिकाल' दोनों इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अध्ययन है। उन्होंने मध्यकालीन भक्ति और सन्त-काव्य-धारा का सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि में मूल्यांकन करके साहित्य को व्यापक आधार पर परखने की भूमिका शुरू की है। किन्तु 'हिन्दी-साहित्य' नामक इतिहास-ग्रन्थ में आधुनिक-काल का विवेचन इतना अपर्याप्त-सा है कि लगता नही कि वह 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' और 'आदिकाल' के आलोचक इतिहासकार की लेखनी से मनन पूर्वक लिखा गया है। इस 'हिन्दी-साहित्य' को पढ़कर एक दूसरे आलोचक शान्तिप्रिय जी द्विवेदी ने लिखा :

"द्विवेदी जी के 'हिन्दी-साहित्य' में आधुनिक काल का विवेचन उतना व्यवस्थित

नहीं है जितना आदिकाल और मध्यकाल का। इसका कारण यह है कि प्राचीन साहित्य के लिए तो उन्हें पर्याप्त पथ-प्रदर्शन प्राप्त था, आधुनिक साहित्य के लिए अपने अध्ययन पर ही निर्भर रहना पड़ा।"

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के इतिहास के साथ प्रायः ऐसा ही होता है। वर्त्तमान की कोई न कोई प्रवृत्ति या वाद आलोचक की दृष्टि को तटस्थ नही रहने देता; साथ ही आलोचक का 'अहं' जीवित लेखकों के कृतित्व का मूल्यांकन करने में पीड़ित होता है। मध्यकाल के कुछ कवित्त-सवैया लिखने वाले एक अदना-से कवि के नाम-पते की खोज को वह अनुसंधान मानने को तैयार है किन्तु जीवित प्रतिभा की महानता स्वीकार करने की उसे फुर्सत नही। और जीवित लेखकों में उन्ही का मूल्यांकन आज का आलोचक इतिहासकार करता है जो उसके 'अहं' के शाही दरबार की शोभा बनाने को तैयार है या जिनमे उसका 'अहं' एक दूसरे को प्रभावित करने के मानसिक मल्लयुद्ध में हार जाता है।

आधुनिक साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए जो समीक्षक दृष्टि अपेक्षित है, उसके अभाव में भी ऐसी भूल-चूक सम्भव है। लगता है, इतिहास को शास्त्रीय निरूपण में आबद्ध करने के लिए आलोचकों की सुनिश्चित शब्दावली और फार्म बन गया है जिसके ऊपर उठ कर वह साहित्य-व्यक्तित्व के समग्र जीवन को एतिहासिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि मे देखने का प्रयास नही करते। प्रयास दृष्टिकोण का परिचायक है। जब दृष्टिकोण ऐतिहासिक समीक्षा-प्रधान नहीं तब आधुनिक क्या—मध्य और आदि—सब काल के साहित्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन एकांगी और शिथिल होंगे। वे शास्त्र बन सकते है, इतिहास नही। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से साहित्य की समीक्षा के आधार पर लिखित शिवदानसिंह चौहान का 'हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष' महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है।

देखना यह है कि साहित्य एक शास्त्र नही है। वह मानव-जीवन के संघर्ष की सबलतम अभिव्यक्ति है, प्राणवन्त रचना है। क्या उसका मूल्यांकन रूप-विधान के केवल शास्त्रीय नियमों से संभव है ? जीवन की समग्र वास्तविकता में रखे बिना साहित्य के ऐतिहासिक विकास की परख असंभव है। जीवन की जो सजग शक्तियाँ परम्परा, संस्कृति और समाज की रचना करती रहती है, बिना उन्हें समझे साहित्य के ऐतिहासिक विकास को समझना निरा शब्दजाल और तर्कजाल है। उत्पादन और प्रत्युत्पादन की मानवीय ऐतिहासिक शक्तियों के जीवन-संघर्षों की अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों में साहित्य के रूप बनते जाते है और ये साहित्य के रूप ही आलोचना और इतिहास के मानदंड निर्धारित करते है। 'उत्पादन' और 'प्रत्युत्पादन' से अभिप्राय साहित्य की न तो केवल आर्थिक व्याख्या से है और न समाजशास्त्रीय समीक्षा से; क्योंकि प्रतिकूल आर्थिक परिस्थितियों और विषम सामाजिक अवस्थाओं में भी महान साहित्य की रचना हुई है। ऐसी संकुचित दृष्टि से तो साहित्य की विषय-वस्तु-परक एकांगी समीक्षा को ही प्रोत्साहन मिलता है जो निकृष्ट रचना को भी अपने मन-पसन्द विषय के प्रतिपादन के कारण श्रेष्ठ बता सकता है। लेकिन साहित्य विषय

के साथ अभिव्यक्ति भी है और अभिव्यक्ति ही कला है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रतिष्ठाता कार्ल मार्क्स ने भी लिखा है :—

"My property is form, it is only spiritual individuality. The style is the man." (अर्थात—शैली मेरी सम्पत्ति है, यह मेरा आध्यात्मिक व्यक्तित्व है। शैली मनुष्य है)

इसलिए देखना तो यह है कि भौतिक जीवन में उत्पादन के जो प्रकार और तरीके हैं वे बौद्धिक जीवन को कितना नियन्त्रित करते हैं। जिन सामाजिक परिस्थितियों में मनष्य की चेतना विकसित है,उन्हीं में साहित्य विकसित होता है। जब उत्पादन की शक्तियाँ अपनी विकास की सीमा तक पहुँच कर अन्तर्विरोधपूर्ण वर्त्तमान संबंधों को तोड़ कर संघर्षतर होती हैं तो क्रान्ति की भावना उन उत्पादन शक्तियों की चेतना को परिवर्त्तन के लिए अग्रसर करती है। परिवर्त्तन की अपेक्षा का यह स्वर सर्वप्रथम साहित्य में मुखरित होता है। इस स्वर में परिवर्त्तन-कालीन अन्तर्विरोध के साथ भविष्य की संभावना भी सन्निहित होती है। समस्याएँ या संभावनाएँ तभी उगती हैं जब उनका समाधान या उनकी उपलब्धि करने वाली भौतिक परिस्थितियाँ जन्म ले लेती हैं। साहित्य की इस ऐतिहासिक व्याख्या को संकुचित रूप में ग्रहण करने वाला आलोचक कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की कसौटी पर शेक्सपीयर से भारतेन्दु को एवं गोर्की और टाल्सटाय से प्रेमचन्द को श्रेष्ठ साबित करने के लिए उन्हें भले ही निकृष्ट साबित करने का बेतुका प्रयास करे, लेकिन वह विश्व-साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका में रख कर अपने साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन नहीं कर सकता। ऐसे आलोचकों को ऐंजिल्स ने सावधान किया था :

"इतिहास के भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास का निर्णयकारी तत्त्व अन्ततः वास्तविक जीवन में उत्पादन और प्रत्युत्पादन है। मार्क्स ने या मैंने इससे अधिक का दावा कभी नहीं किया। इसलिए अगर कोई इसको तोड़-मरोड़ कर यह कहता ह कि आर्थिक तत्त्व ही एकमात्र निर्णयकारी तत्त्व है तो वह इस वक्तव्य को अर्थ-हीन, अमूर्त्त और हास्यास्पद बना देता है।"

हिन्दी में ऐतिहासिक भौतिकवाद का समर्थन करनेवाले आज कई आलोचक हैं; किन्तु अपनी इस दृष्टि से साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन करने में उनमें से कितने समर्थ हो पाए हैं? आज आवश्यकता है कि :

—समीक्षा के नए जागरूक दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन किया जाय।

—इतिहास रचना के लिए समीक्षा का नया दृष्टिकोण ऐतिहासिक भौतिकवादी है; कुत्सित समाज-शास्त्रीय नहीं।

—साहित्य की ऐतिहासिक कसौटी धर्म, दर्शन और राजनीति की एकांगी कसौटियाँ नहीं हैं; वह समाज-निर्माण की रचनात्मक मानवजीवन की परिस्थितियों के विकास

की कसौटी पर ही कसा जा सकता है।

—साहित्य को समग्र भारतीय जीवन के वैविध्यपूर्ण सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठ-भूमि में परखना चाहिए, केवल क्षेत्रीय आधारों की सीमा में भारतीय-साहित्य की विशाल आत्मा की खोज करना असंभव है।

—कलारूपों का समुचित मूल्यांकन विश्व-साहित्य के कला-विकास के ऐतिहासिक अध्ययन की पृष्ठभूमि में ही हो सकता है।

—जनवादी सौंदर्य-दृष्टि की नवीन रचना की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है कि हिन्दी-साहित्य का पुनर्मूल्यांकन किया जाय और हिन्दी-क्षेत्र की जनपदीय बोलियों के आधुनिक साहित्यों के विकास का अध्ययनपूर्ण इतिहास लिखा जाय।

: २५ :

तुलनात्मक समालोचक

[वीरेन्द्र त्रिपाठी]

प्रतिक्रिया मानव-स्वभाव का अभिन्न प्रकाशन है । एतदर्थ किसी वस्तु, किसी ध्वनि, किसी कृति के बारे में विचार प्रकट करना स्वाभाविक है । इन विचारों के संसर्ग-प्राण एकत्रीकरण को धारणा के नाम से बोधित किया जाता है । धारणा आगे बढ़े हुए रूप में सिद्धान्तों का रूप ग्रहण कर लेती है । सिद्धान्तों का समन्वय शास्त्र का और शास्त्र तद्विषयक गुण-दोष विवेचन का आधार बन जाता है ।

कला एवं साहित्य के मूल्यांकन के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के अनेक मतों का प्रतिपादन होता है । इन मतों के प्रसार व प्रकटीकरण की पद्धतियों को समालोचना की शैली से सम्बोधित किया जाता है ।

समालोचना की इन अनेक शैलियों में तुलनात्मक शैली का एक विशिष्ट स्थान है । तुलनात्मक समालोचना दो या दो से अधिक कलाकारों या रचियताओं में समान भाव, विचार, शैली आदि के सम्बन्ध में संतुलित अथवा छुटाई-बड़ाई सम्बन्धी प्रतिक्रियायें एकबद्ध की जाती है ।

साहित्य समाज का चैतन्य मार्ग-द्रष्टा होता है, इसलिये उसके रूप और भाव के प्रति समालोचक का कर्त्तव्य भी एक चैतन्य प्रतिक्रिया के रूप में ही होना चाहिए; इसीलिये तुलनात्मक समालोचक जो अच्छा होता है (सत्य, शिव एवं सुन्दर होता है) उसकी प्रशंसा करता है और नकारात्मक, पतनोन्मुख रूपों और विचारों को निम्न ठहराता है ।

तुलना में जब दो कृतियाँ सामने आती है, तो यह अपने आप ही एक बात स्पष्ट करती है कि किन्ही गुणों के कारण या तो समकालीन होने के कारण, अथवा भावभूमि की साम्यता के कारण अथवा शैली के एकरूप होने के कारण अथवा इसी प्रकार की ही किसी ऐतिहासिक व शैलीगत साम्यता के कारण उन दोनों के प्रति तुलनात्मक प्रतिक्रिया सँजोयी जा सकती है । दो विरोधी गुणों के होते भी तुलनात्मक अध्ययन संभव है, पर बहुधा यही देखा गया है कि कुछ न कुछ एकता या साम्यता के भाव के अभाव में तुलनात्मक समालोचनायें कम लिखी गई है ।

हिंदी में समालोचना का उदय भारतेन्दु के काल से ही मानते हैं । पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन व पुस्तकों के संस्करण तथा लेखकों में एक दूसरे की रचनाओं को प्रचारित करने की सुविधा के लिए ही विज्ञप्ति रूप में कुछ न कुछ लिखा जाना प्रारम्भ हुआ ।

पत्रों के सम्पादकीयों में भी इस प्रकार के परिचयात्मक, प्रशंसात्मक या मतभेदात्मक विचार प्रकट किये जाने लगे। इन विचारों को जब विस्तत रूप में प्रकट किया जाने लगा तो समालोचना का अंग भी परिपुष्ट होने लगा।

तुलनात्मक समालोचना द्विवेदी युग की विशिष्टता है—कालिदास-शेक्सपीयर, देव-बिहारी, भूषण-मतिराम, तुलसी-जायसी आदि अनेकों मूर्धन्य कवियों की रचनाओं के संबंध में सांगोपांग तुलनात्मक अध्ययन लिखे गये : पहिले पत्रिकाओं में, बाद में पुस्तकाकार। द्विवेदी युग में ही इस प्रकार की रचनायें भी प्रकाशित होने लगी थी जिनमें विदेशी साहित्य का परिचयात्मक विवरण भी होता था और साथ ही कुछ तुलनात्मक अध्ययन की ओर भी रुचि प्रकट की जाती थी।

तुलनात्मक समालोचना का क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं हो पाया था और अब भी इस आधुनिक काल में भी इस दिशा की ओर कम ही प्रशंसनीय कार्य होता है, तथापि तुलनात्मक अध्ययन सांस्कृतिक आदान-प्रदान का एक बहुत बड़ा मार्ग प्रशस्त करता है। प्रारम्भ में इस सांस्कृतिक विरासत के पहलू की ओर दृष्टि कम थी, अधिक दृष्टि अपने चहेते साहित्यकार को उछालने की ओर लगी रहती थी ; इसी कारण शैली में एक विशेष प्रकार का मज़लिसीपन या महफ़िलीपन भी कभी-कदा मुखर हो जाता था।

हिंदी में तुलनात्मक समालोचना के प्रतिष्ठापक के रूप में पंडित पद्मसिंह शर्मा का नाम सभी साहित्य-इतिहासकारों को मान्य है। उन्होंने ही सबसे पहिले एक पद्धति-रूप में इस प्रकार के अध्ययन का रूप हिन्दी संसार के सामने रखा।

पंडित पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक समालोचना के उस आधार को स्वरूप दिया, जिसकी व्याख्या आज के आलोचक इस प्रकार करते है : "इस नये वर्ग के आलोचकों ने शरीर शास्त्र, लोकगाथा, भाषा-विज्ञान तथा शब्द व्युत्पत्तिशास्त्र से इसका सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। इसका प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक प्रभावों का अनुसन्धान है...." ('आलोचना' : इतिहास तथा सिद्धान्त; पृष्ठ ४४९)

मिश्रबन्धुओं की समालोचना में जिस प्रकार की एकरसता थी और पक्षपात-प्रदर्शन करने की गन्ध आती थी और यही कारण है कि उनके विचारों और छुटाई-बड़े के रवैये ने और सिद्ध कर देने की हठधर्मी ने हिन्दी जगत् में एक लम्बे समय तक तहलक़ा मचाये रखा। देव और बिहारी के कारण न जाने कितने लेख लिखे गये; फ़ब्तियाँ कसी गई और कई ग्रन्थ मैदान में आ गये। इन सभी ग्रन्थों में जिन ग्रंथकारों के नाम तुलनात्मक समालोचना के अन्तर्गत लिए जा सकते है उनमें सर्वश्री पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, भगवानदीन 'दीन' प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

अन्तराय से 'मिश्रबन्धु' लिखित 'हिंदी नवरत्न' हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना का सूत्रधार बना। इस पुस्तक में 'मिश्रबन्धु' ने देव को बिहारी के मुक़ाबले ऊँचा ठहराते हुए देव की प्रशंसा के पुल बाँधे। उनके इस प्रतिष्ठा-निर्धारण की आचार्य

महावीर प्रसाद द्विवेदी तक ने कड़ी आलोचना की। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने भी उसी काल 'सतसई संहार' लेख "सरस्वती" में छपाया। तभी हिन्दी जगत् को सूचना मिली कि पंडित पद्मसिंह बिहारी पर एक विस्तृत ग्रंथ व उनके दोहों की टीका प्रकाशित करायेंगे।

पंडित पद्मसिंह शर्मा के 'संजीवन भाष्य' से देव को उच्च समझने वाले छोटे मिश्र बन्धुओं में से एक पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव बिहारी' नामक ग्रंथ की रचना कर डाली। इसी के उलट लाला भगवान दीन 'दीन' ने 'बिहारी देव' पुस्तक छपाई।

बिहारी का एक प्रसिद्ध दोहा है—

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल;
अली कली सों ही बिन्ध्यो, आगे कउन हवाल।'

इस दोहे पर तुलनात्मक टिप्पणी करते हुए पंडित पद्मसिंह शर्मा लिखते है : "....विषयासक्त मित्र के भावी अनर्थ की चिन्ता से व्याकुल सुहृदजन की चिन्तोक्ति क्या ही सुन्दर चित्र है। कहने वाले की एकान्त हितैषिता, परिणामदर्शिता, विषयासक्त मित्र के उद्धार की गम्भीर चिन्ता के भाव इससे अच्छे ढंग पर किसी प्रकार प्रकट नहीं किये जा सकते।" इसी सम्बन्ध में 'गाथा सप्तशती' व 'आर्या सप्तशती' के उद्धरणों की व्याख्या करके शर्मा जी कहते है—"...इन सबकी अपेक्षा भौंरे के लिये बिहारी की हित-चिन्ता बहुत ही गम्भीर, मधुर और हृदयस्पर्शी है। न इसमें तटस्थता की झलक है, न रस-पान का प्रकारोपदेश है। न एक अधखिली कली को छोड़कर खिली क्यारियों में खुल-खेलने की छुट्टी है। वाह !. . . . . "

इस प्रकार पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के बारे में यह कहा है कि "बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है उतनी ही गहरी, गूढ़ और गम्भीर है।" उसकी चमत्कृति पर पंडित जी फ़िदा थे और इसीलिये उन्होंने सभी को उसी प्रकार माना।

बिहारी पर भावापहरण का दोष लगाया जाता है। कहा गया है कि उन्होंने 'आय सप्तशती' व 'गाथा सप्तशती' के छंदों का उल्था अपने दोहों में प्रस्तुत किया है, परन्तु पंडित पद्मसिंह शर्मा इस मत का बड़े ज़ोर-शोर से खंडन करने में सदैव तत्पर रहे। उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस बात की प्रतिष्ठापना की कि बिहारी चोर नहीं थे।

बिहारी से देव को श्रेष्ठ मानने की अभिरुचि से पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने अपना 'देवबिहारी' ग्रंथ हिंदी के सम्मुख प्रस्तुत किया। उन्होंने भूमिका में यह लिखा,"यदि हिंदी संसार को हमारी नेकनीयती पर विश्वास हो, तो हम एक बार यह बात फिर स्पष्ट रूप से कह देना चाहते हैं कि हमें देव का पक्षपात नहीं है और बिहारी का विरोध भी नहीं। हमने इन दोनों कवियों की रचनाओं को जैसा कुछ समझा है, उससे यही राय क़ायम कर सके कि देवजी बिहारीलालजी की अपेक्षा अच्छे कवि हैं, देव-बिहारी की इस तुलनात्मक समालोचना की शैली की यह बानगी ही पाठकों पर यह स्पष्ट करेगी कि श्री. कृष्णबिहारी मिश्र की नेकनीयती पर हिंदी साहित्य-संसार विश्वास करे या नहीं :

एक गोपी ने कृष्णचन्द्र की मुरली इस कारण छिपाकर रख दी कि जब मनमोहन इसे न पाकर ढूंढ़ने लगेंगे, तो मुझ से भी पूछेंगे। उस समय मुझसे-उनसे बातचीत हो सकेगी, और मेरी बात करने की लालसा भी पूरी हो जायगी। मनमोहन ने मुरली खोई हुई जानकर इस गोपी से पूछा, तो पहिले तो इसने सौगंध खाई, फिर भ्रू-संकोच द्वारा हास्य प्रकट किया, तत्पश्चात् देने का वादा किया, पर अन्त में फिर इन्कार कर गई। मनमोहन को इस प्रकार उलझाकर वह उनकी रसीली वाणी सुनने में समर्थ हुई। इस अभिप्राय को बिहारीलाल ने निम्नलिखित दोहे में प्रकट किया है—

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय;
सौंह करै, भौंहन हँसे, देन कहे, नटि जाय।

जान पड़ता है, कविवर देवजी को बिहारीलाल की इस गोपी की ढिठाई अच्छी नहीं लगी। अपने मनमोहन को इस तरह तंग होते देखकर उनको बदले की सूझी। बदला भी उन्होंने बड़ा ही बेढब लिया। घोर शीत पड़ रहा है। सूर्योदय के पूर्व ही गोपियाँ नदी में स्नान करने को घुसी हैं। वस्त्र उतार कर तट पर रख दिये है। देव के मनमोहन को बदला लेने का उत्तम अवसर मिल गया। एक गोपी की शरारत का फल अनेक गोपियों को भोगना पड़ा। चीर-हरण के इस चमत्कार-पूर्ण चित्र का चित्रण देवजी ने नीचे लिखे पद्य में, अनोखे ढंग से किया है। दोहे के 'बतरस' शब्द को छंद में जिस प्रकार अमली जीता-जागता रूप प्राप्त हुआ है, वह भी अपूर्व है। प्रश्नोत्तर का ढंग बड़ी ही मार्मिकता से 'बतरस' को सजीव करके दिखला रहा है :—

कंपत हियो, न हियो कंपत हमारो; यों
हँसी तुम्हें अनोखी नेकु सीत मैं. ससन देहु;
अंबर हरैया, हरि, अंबर उजेरो होतु,
हेरि कै हँसे न कोई; हँसे तो हँसन देहु।
'देव' दुति देखिबे को लोयन में लागी रहै,
लोयन में लाज लागै, लोयन लसन देहु ;
हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अजहू बसन देहु, ब्रज मैं बसन देहु।

गोपियाँ कहती हैं—"हमारा हृदय काँप रहा है (कंपित हिया)।" उत्तर में कृष्ण चन्द्र कहते हैं—"पर हमारा हृदय तो नहीं काँपता है (न हियो कंपत हमारो)।" फिर गोपियाँ कहती हैं —"अरे चीर-हरण करने वाले (अंबर हरैया)! देखो आसमान में सफ़ेदी छाती जाती है (अंबर उजेरो होत)। लोग देखकर हँसेगे।" कृष्ण चन्द्र कहते हैं— "हँसेंगे तो हँसने दो, हमें क्या ?" इत्यादि। अंत में कितनी दीन वाणी है "हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह, अजहूँ बसन देहु, ब्रज में बसन देहु।" गर्व का सम्पूर्ण खर्व होने के बाद

एकमात्र शरण में आए हुए की कैसी करुण, दीन वाणी है ! "सौंह करै, भौंहन हँसे,देत कहै, नटि जाय" का कैसा भरपूर बदला है। वास्तव में बिहारी के 'लाल' को जिसने इस प्रकार खिझाया था, उसको देव के 'अंबर हरैया कान्ह' ने खूब ही छकाया ! बिहारी लाल के दुर्गम 'बतरस' दुर्ग पर देव को जैसी विजय प्राप्त हुई है, क्या वह कुछ कम है ?......देवजी, कौन कह सकता है कि तुम बिहारीलाल से किसी बात में कम हो ?"

'दीन' जी की शैली का अनुमान केवल इस वाक्य से हो जायगा : "पंडित कृष्णबिहारी मिश्र अपने 'देव और बिहारी' के २४९वें पृष्ठ पर लिखते हैं—"सीतल जैसे बड़े कवियों को देवजी के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक देवजी की भावोत्कृष्टता का अन्दाज़ कर सकते है, हम इस वाक्य को इस प्रकार लिखते है। "देव-जैसे महाकवि बिहारी के भाव अपनाने में लालायित होते देखकर पाठक बिहारी की भावोत्कृष्टता का अन्दाज़ सहज में कर सकते है।" (हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास से उद्धृत, पृष्ठ ३३०)

द्विवेदी काल के बाद आधुनिक काल में तुलनात्मक समालोचना की दृष्टि से उल्लेखनीय ग्रंथ श्रीमती शचीरानी गुर्टू का 'साहित्य दर्शन' है। इस ग्रंथ में हिन्दी के साहित्यों का विदेशी साहित्यों से तुलनात्मक किंवा परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। श्रीमती गुर्टू की शैली आधुनिक काल के अध्येता की समर्थ किन्तु जिज्ञासा मूलक शैली है। उन्होंने प्रेमचन्द और गोर्की या गेटे और प्रसाद तथा रवीन्द्र, पन्त और कीट्स आदि अध्ययन 'साहित्य दर्शन' में प्रस्तुत किये हैं।

उन्होंने जिन साहित्यिकों को चुना है उसी से उनकी तुलनात्मक समालोचना के व्यास का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। पर उनके अध्ययन में जो एक अन्तराय से आई हुई सामग्री है, उसका एकत्रीकरण ही इस पुस्तक के लिए काफ़ी है। श्रीमती शचीरानी की समालोचना-शैली अत्यधिक अर्वाचीन और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रभावित है। तुलनात्मक समालोचना की इस उन्नति पर हिंदी की समालोचना ने निश्चय ही अपना एक अंग दृढ़ किया है।

कालिदास और शेक्सपीयर की तुलनात्मक समालोचना में श्रीमती गुर्टू की शैली देखिये :

"शेक्सपीयर ने अपने को फैलाया है, कालिदास ने अपने को केन्द्रित किया है।"

क्रिस्टीना रोज़ेटी और महादेवी में :

"क्रिस्टीना की कृतियों में अमल, धवल पावनता, भोली सरलता और यत्किंचित अल्हड़पन भी है जिसमें विराग की धूमिल अरुणिमा यत्र-तत्र बिखरी हुई है और महादेवी के काव्य में नारीत्व का क्रन्दन, असफल पत्नीत्व की खीज और द्विविधाग्रस्त अभावजन्य उपराम है जिसमें नारी-सुलभ समर्पण-भावना और जीवन की गुत्थी न सुलझने के कारण दुर्भेद्य सघनता व्याप्त हो गयी है।"

तुलनात्मक समालोचना के क्षेत्र में हिंदी अब सँवर रही है यह इसी से प्रकट है

कि अब पत्र-पत्रिकाओं में काफ़ी इस प्रकार के लेख होते हैं जिनमें देशी-विदेशी और अन्तर्देशीय कलाकारों के कृतित्व का (परिचयात्मक ही सही) विवरण और उल्लेख किया जाता है। त्रैमासिक 'समालोचक' से यह कार्य "आलोचना" त्रैमासिक तक बढ़ आया है।

विदेशी साहित्यकारों या साहित्य-सम्बन्धी दिशा का निर्देशन सबसे पहिले 'सरस्वती' सम्पादक पदुमलाल पन्नालाल बख्शी ने "विश्व साहित्य" पुस्तक लिखकर किया था। फिर विनोद शंकर व्यास की एक कृति प्रकाशित हुई। इलाचन्द्र जोशी, धर्मवीर भारती, डॉ० देवराज, प्रभाकर माचवे, नलिन विलोचन शर्मा, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने अपने स्फुट निबन्धों द्वारा और 'हंस' व 'नया साहित्य' मासिक ने इस दिशा में बड़ा कार्य किया। बँगला से हिन्दी में अनुवाद भी हुए है, जिनमें द्विजेन्द्रलाल राय की तुलनात्मक पुस्तक 'कालिदास और भवभूति' जिसका अनुवाद रूपनारायण पाण्डेय द्वारा और पूर्णचन्द्र वसु की पुस्तक 'साहित्य चिन्ता', जिसका छायानुवाद पं० रामदहिन मिश्र द्वारा 'साहित्य मीमांसा' नाम से हुआ है—उल्लेखनीय पुस्तकें ह। डॉ० एस. पी. खत्री की 'आलोचना : इतिहास और सिद्धांत', लीलाधर गुप्त की 'पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्त' और सीताराम चतुर्वेदी की 'समीक्षा शास्त्र' ये तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी हिन्दी में इधर प्रकाशित हुई ह जिनमें भारतीय और पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तों पर तुलनात्मक प्रकाश पड़ता है।

परन्तु अब, इस दिशा में हमारा दायित्व बढ़ता ही जा रहा है। जैसे-जैसे हमारे सांस्कृतिक सम्बन्ध विदेशों से बढ़ेंगे, तुलनात्मक समालोचना का क्षेत्र बढ़ेगा और उस ओर व्यापक कार्य भी होगा।

: ३० :

हिन्दी में शोध कार्य

[डॉ. धीरेन्द्र वर्मा]

हिन्दी साहित्य से संबंधित शोध-कार्य का प्रारंभ एक प्रकार से १६वीं शताब्दी में ही हो गया था । प्रसिद्ध भक्त नाभादास ने जब 'भक्तमाल' में हिन्दी के भक्त कवियों की जीवनी और आलोचना का समावेश करने का यत्न किया होगा, तव उन्हें पर्याप्त खोज करनी पडी होगी । इस समस्त परिश्रम का सार हमें उनकी सुन्दर कृति के रूप में आज भी उपलब्ध है । इसी प्रकार ८४ तथा २५२ वार्ताओं तथा इन पर लिखी गई हरिरामजी की भावना नाम की महत्त्वपूर्ण टीका में खोज द्वारा उपलब्ध प्रचुर सामग्री सुरक्षित है । किन्तु हिन्दी-साहित्य के इतिहास से संबंधित नियमित खोज १९वीं शताब्दी में शिवसिंह सेंगर ने प्रारम्भ की थी, जिसका परिणाम उनका सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवसिह सरोज' है । इस परम्परा को ग्रियर्सन ने अग्रसर किया । इस क्षेत्र से सबंधित सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' तथा चार भागों में प्रकाशित 'मिश्रबन्धुविनोद' हैं । 'विनोद' की सामग्री का आधार पूर्ववर्त्ती लेखकों की कृतियों के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किया गया हिन्दी हस्तलिखित पोथियों की खोज का कार्य था, जिसकी त्रैवार्षिक तथा वार्षिक रिपोर्टें १९०० ई. से ही प्रकाशित होने लगी थीं ।

विश्वविद्यालयों में हिन्दी-शोध संबंधी कार्य प्रारंभ होने के पूर्व की पृष्ठभूमि का यह साहित्यिक पहलू है । हिन्दी भाषा से संबंधित शोध कार्य यूरोपीय विद्वानों की प्रेरणा से १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारंभ हो सका था । इस क्षेत्र में कीथ का 'आधनिक भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण', हार्नली का 'पूर्वी हिन्दी का व्याकरण', जो वास्तव में भोजपुरी तथा पूर्वी अवधी का व्याकरण है, ग्रियर्सन का 'मैथिली व्याकरण' तथा उसके बाद 'उनकी भारतीय भाषा सर्वे की रिपोर्ट', जो ११ भागों में धीरे धीरे प्रकाशित हुई, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं ।

देवनागरी लिपि संबंधी सबसे महत्त्वपूर्ण शोध कार्य गौरीशंकर हीराचन्द ओझा की अमर कृति 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' के रूप में है । इसके उपरान्त इस क्षेत्र के कार्य को किसी अन्य विद्वान ने विशेष अग्रसर नहीं किया ।

हिन्दी भाषा तथा साहित्य के क्षेत्रों में शोध की नियमित परम्परा भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी के पठन-पाठन के इतिहास से प्रारंभ हुई । यों तो कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रथम भारतीय विश्वविद्यालय है, जिसने बंगला, हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं को एम. ए. की परीक्षाओं के लिए पहले पहल स्वीकृत किया,

किन्तु बी. ए. तथा एम. ए. में हिन्दी के पठन-पाठन का प्रबंध पहली बार बनारस हिन्दू-यूनिर्वासिटी में कदाचित १९२२ में तथा दो वर्ष बाद १९२४ में प्रयाग विश्वविद्यालय में हुआ। डॉ. श्यामसुन्दर दास के पथप्रदर्शन में पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'हिन्दी काव्य में निर्गुणधारा' विषय पर डी. लिट० के लिये हिन्दी का प्रथम 'थीसिस' प्रस्तुत किया था, जिस पर उन्होंने डॉक्टरेट की उपाधि पाई थी। इसी प्रकार कुछ वर्ष बाद प्रयाग विश्व-विद्यालय से रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने हिन्दी अलंकार शास्त्र पर प्रथम खोज संबंधी 'थीसिस' प्रस्तुत करके डी. लिट. की उपाधि ली थी। इसके बाद तो इस मार्ग के पथिकों की संख्या दिन-दिन बढ़ती गई। अकेले प्रयाग विश्वविद्यालय से अब तक ७ विद्यार्थी डी० लिट० तथा २१ विद्यार्थी डी. फिल० की उपाधियाँ ले चुके है तथा लगभग ६० विद्यार्थी खोज कार्य में लगे हुए हैं। बनारस, लखनऊ, आगरा, पटना, दिल्ली, राज-स्थान, सागर, नागपुर, कलकत्ता आदि अन्य विश्वविद्यालयों से शोध कार्य करने वाले विद्यार्थियों की यदि गणना की जावे, तो यह संख्या सैंकड़ों तक पहुँचेगी। कुछ विश्व-विद्यालयों में एम. ए. की परीक्षा में भी 'थीसिस' दिया जा सकता है। फिर इसके अति-रिक्त अन्य विषयों के विभागों में जैसे अंग्रेजी, इतिहास आदि के विभागों में भी हिन्दी से संबंधित कार्य होता रहा है तथा लंदन, पेरिस, रोम आदि विदेशी केंद्रों में भी महत्त्व-पूर्ण कार्य हुआ है, और आज भी हो रहा है। हिन्दी शोध-संबंधी इस बढ़ते हुए कार्य ने अनेक समस्याएँ पैदा कर दी हैं।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है हिन्दी खोज सम्बन्धी कार्य दो मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है (क) साहित्य सम्बन्धी तथा (ख) भाषा सम्बन्धी। साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने वाले कार्यों से प्रारम्भ कर के हिन्दी के भिन्न-भि न कालों के इतिहास, धाराओं तथा कवियों से सम्बन्ध रखने वाली खोज का समावेश किया जा सकता है। यद्यपि यह कार्य किसी निश्चित आयो-जन के आधार पर केन्द्रों में बाँट कर नही प्रारम्भ किया गया था, कि तु तो भी फुटकर ढंग से बहुत कुछ कार्य स पन्न हो गया है।

हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि से संबंध रखने वाले कार्यो में "संस्कृत साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव" (सरनामसिह, जयपुर, अप्रकाशित) तथा "प्राकृत तथा अप-भ्रंश का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव" (रामसिंह तोमर, प्रयाग अ.) उल्लेखनीय हैं। इस सिलसिले में "अंग्रेजी भाषा और साहित्य का हिन्दी पर प्रभाव" (विश्वनाथ मिश्र, प्रयाग अ०) शीर्षक विषय पर भी कार्य हो चुका है। फ़ारसी तथा उर्दू भाषाओं और साहित्यों के हिन्दी पर प्रभावों की परीक्षा अभी होने को शेष है।

हिन्दी साहित्य के आदि काल से संबंधित चन्द तथा उनके 'पृथ्वीराजरासो', का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा चुका है (विपिनबिहारी त्रिवेदी, कलकत्ता, प्रकाशित)।

इसी सिलसिले में मध्यकालीन हिन्दी वीरकाव्य का साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अध्ययन भी हो चका है (टीकमसिंह तोमर, प्रयाग अ०)। वीरकाव्य से संबंधित व्यक्तिगत कवियों का विस्तृत अध्ययन अवश्य शेष है।

"नाथ सम्प्रदाय" (हजारीप्रसाद द्विवेदी, शांतिनिकेतन प्र०)--तथा "गुरु गोरखनाथ और उनका समय" (टी एन. बी. आचार्य--रांगेयराघव, आगरा अ०) पर इधर सौभाग्य से अच्छा प्रकाश पड़ चका है। "हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय" (पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, काशी प्र०) का अध्ययन प्रारंभ में ही हो चुका था। अभी हाल में श्री परशुराम चतुर्वेदी ने "उत्तरी भारत की संत परम्परा" शीर्षक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किया है। यह एक प्रकार से हिन्दी संत-परम्परा का विश्वकोष सा है। चतुर्वेदी जी ने 'संत मत' पर दो ग्रंथ भविष्य में उपस्थित करने का वचन दिया है। यदि ये ग्रंथ भी प्रकाशित हो गए तो हिन्दी संत साहित्य का सांगोपांग अध्ययन उपलब्ध हो जायेगा। व्यक्तिगत संतों में "कबीर और उनके अनुयायी" (के, लन्दन प्र०) तथा "बिहार वाले दरिया साहब" (धर्मेन्द्र, पटना अ०) का अध्ययन हो चुका है। मलूकदास, त्रिलोकी नारायण दीक्षित, लखनऊ, दादू का अध्ययन श्री क्षितिमोहन सेन द्वारा पहले ही हो चुका था। इसी प्रकार शेष प्रमुख संतों के अध्ययन की भी आवश्यकता है। कुछ पर कार्य हो रहा है।

हिन्दी की कृष्णकाव्य धारा की ओर भी हिन्दी के विद्यार्थियों का ध्यान गया "ब्रज से संबंधित वैष्णव सम्प्रदाय और उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव" (हरिमोहनदास टंडन, प्रयाग अ०) इस उपयोगी विषय पर अभी हाल में ही अध्ययन पूरा हुआ है। "अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय" (दीनदयाल गुप्त, प्रयाग प्र०) की वैज्ञानिक परीक्षा पहले ही हो चुकी है। " भारतीय साधना और सूर साहित्य' (मुंशीराम शर्मा, आगरा अ०) पर भी पृष्ठभूमि संबंधी कार्य परा हो चुका। अष्टछाप के प्रमुख कवि "सूरदास" पर भी कई अध्ययन उपस्थित हो चके हैं (जनार्दन मिश्र, जर्मनी प्र०; ब्रजेश्वर वर्मा, प्रयाग प्र०)। इस संबंध में नन्ददास, परमानन्ददास, नागरीदास आदि प्रमुख कृष्णभक्त कवियों का विस्तृत पृथक् अध्ययन और होना चाहिए।

हिन्दी की राम साहित्य धारा की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान गया। "राम कथा की उत्पत्ति और विकास" (कामिल बुल्के, प्रयाग प्र०) पर हिन्दी में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथ में रामकथा के समस्त भारतीय तथा विदेशी उद्गमों की परीक्षा की गई है और उसके फलस्वरूप परिणाम दिए गए हैं। अभी हाल में ही एक फ्रांसीसी महिला ने "रामचरितमानस के गठन तथा कथानकों के उद्गम" पर एक अत्यन्त वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित किया है (वोदवील, पेरिस अ०)। दुर्भाग्यवश यह फ्रच भाषा में है और अभी अप्रकाशित है, अतः इसका पूर्ण उपयोग अपने देश में शीघ्र नहीं हो सकेगा। यों गोस्वामी तुलसीदास और उनके रामचरितमानस का पर्याप्त अध्ययन हो चुका है और अभी चल भी रहा है। इस सिलसिले में निम्नलिखित कार्य विशेष

उल्लेखनीय हैं:—"तुलसीदास-जीवनी तथा कृतियों का वैज्ञानिक अध्ययन" (माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग प्र०), "तुलसीदर्शन" (बलदेव प्रसाद मिश्र, नागपुर प्र०), "तुलसीदास और उनका युग" (राजपति दीक्षित, काशी अ०) और "रामचरितमानस में तुलसीदास की कला का विश्लेषण" (हरिहरनाथ हुक्कू, आगरा अ०)।

"हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य की धारा" की भी उपेक्षा नही हुई है। (पृथ्वीनाथ कुल-श्रेष्ठ, प्रयाग अ०)। इस सिलसिले में "जायसी और उनकी कला और दर्शन" का भी विशेष अध्ययन हुआ है (जे. डी. कुलश्रेष्ठ, आगरा अ०)।

हिन्दी रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों के पृथक् पृथक् पूर्ण अध्ययन तो अभी उपलब्ध नहीं हैं—कुछ के हो रहे हैं— किन्तु इससे संबद्ध हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रमुख अंगों की परीक्षा अवश्य हो चुकी है। 'हिन्दी अलंकारशास्त्र के विकास का अध्ययन' (रामशंकर शुक्ल, प्रयाग अ०) बहुत पहले हुआ था। "हिन्दी छन्दशास्त्र" का इतिहास भी समझा जा चुका है(जानकीनाथ सिह, प्रयाग अ०)। "रस तथा आधुनिक मनोविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है (छैल बिहारी लाल गुप्त, प्रयाग प्र०)। इस सिलसिले में नायक-नायिका भेद का वैज्ञानिक अध्ययन उपर्युक्त ग्रंथ के लेखक द्वारा हो रहा है। "रीतिकाव्य की भूमिका" तथा रीतिकाल के एक प्रमुख कवि "देव और उनकी कविता" इन दोनों विषयों को सुलझाया जा चुका है (नगेंद्र नगाइच, आगरा प्र०)। "हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास" (भगीरथ मिश्र, लखनऊ प्र०) भी लिखा जा चुका है।

यह स्वाभाविक है कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के अध्ययन की ओर इधर विद्वानों और विद्यार्थियों का ध्यान अधिकाधिक जा रहा है। आधुनिक काल का क्रमबद्ध विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन निम्नलिखित अध्ययनों के रूप में उपस्थित किया जा चुका है:— "हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि" (१७५७-१८५१ ई०) (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रयाग अ०), "आधुनिक हिन्दी साहित्य" (१८५०-१९००) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रयाग प्र०)' "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, (१९००-२५) (श्री कृष्णलाल, प्रयाग प्र०) तथा "आधुनिक हिन्दी साहित्य" (१९२६-२७) (भोलानाथ, प्रयाग अ०) अन्तिम ग्रंथ लगभग तैयार है। समस्त आधुनिक हिन्दी साहित्य का विहंगम पर्यवेक्षण भी हुआ है (इंद्रनाथ मदान, लाहौर, प्र०)। "आधुनिक काव्यधारा" (केसरी नारायण शुक्ल, काशी प्र०) तथा "हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास" (सोमनाथ गुप्त, आगरा प्र०) शीर्षक विषयों पर भी लिखा जा चुका है। आधुनिक हिन्दी काव्य में से संबद्ध अन्य विशेष अध्ययनों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :— "प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन" (जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, काशी प्र०), "आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना" (१९००-१९४५) (शैलकुमारी, प्रयाग प्र०) तथा "हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास" (रामरतन भटनागर, प्रयाग प्र०)। भारतेंदु, प्रसाद, प्रेमचन्द, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि प्रसिद्ध आधुनिक लेखकों के पृथक्-पृथक् पूर्ण अध्ययनों

की ओर हिन्दी विद्यार्थियों का ध्यान जा रहा है और इस प्रकार के निबंध शीघ्र ही बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हो सकेंगे——इसकी पूर्ण आशा है।

नीचे कुछ फुटकर ढंग के विषयों का उल्लेख किया जा रहा है। "प्रकृति और हिंदी काव्य" (रघुवंश सहाय वर्मा, प्रयाग प्र०) तथा "हिन्दी काव्य में प्रकृति" (किरण कुमारी गुप्त, आगरा प्र०) इस विषय का अध्ययन दो भिन्न पहलुओं से हो चुका है। "हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ" (ब्रजमोहन गप्त, प्रयाग अ०), "हिन्दी साहित्य में आलोचना का उद्गम तथा विकास" (भगवतस्वरूप मिश्र, आगरा अ०) तथा "गीति-काव्य का उद्गम, विकास और हिन्दी साहित्य में उसकी परम्परा" (शिव मंगलसिह, काशी अ०) इन तीनों समस्याओं को समझा जा चुका है। "हिन्दी साहित्य में महाकाव्य" परम्परा पर भी काम हो गया है (हरिश्चन्द्र राय, लन्दन अ०) ।

ऊपर हिन्दी के नागरिक साहित्य की चर्चा हुई। हिन्दी की जनपदी बोलियों में सुरक्षित मौखिक साहित्यिक परम्परा की ओर भी ध्यान गया है। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम उल्लेखनीय कार्य "ब्रजलोक साहित्य" (गौरीशंकर 'सत्येंद्र', आगरा, प्र०) पर है। इसी प्रकार "भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन" (कृष्णदेव उपाध्याय, लखनऊ अ०) भी पूरा हो चुका है। हिन्दी के शेष प्रमुख जनपदी लोकसाहित्यों का अध्ययन भी शीघ्र हो सकेगा इसकी पूर्ण संभावना है।

साहित्य-क्षेत्र के अतिरिक्त भाषा के क्षेत्र में भी कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:——"अवधी का विकास" (बाबूराम सकसेना, प्रयाग, प्र०) "ब्रजभाषा" (धीरेंद्र वर्मा, पेरिस प्र०) "भोजपुरी का विकास" (उदय नारायण तिवारी, प्रयाग प्र०) "भोजपुरी की ध्वनियों का अध्ययन" (विश्वनाथ प्रसाद, लन्दन प्र०) "बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास" (नलिनीमोहन सान्याल, कलकत्ता), "सोलहवीं शताब्दी की अवधी का अध्ययन" (लक्ष्मीधर, लन्दन), "परसर्गों के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन" (रामचन्द्र, काशी अ०) तथा "हिन्दी शब्दार्थ विज्ञान" (हरदेव बाहरी, प्रयाग अ०)। भाषा-संबंधी विशेष अध्ययनों में निम्नलिखित उल्लेखनीय है:——"मुहावरा मीमांसा" (ओमप्रकाश गुप्त, काशी अ०) "भारतीय ग्रामोद्योगों की शब्दावली का अध्ययन" (हरिहर प्रसाद गुप्त, प्रयाग अ०) तथा "हिन्दी प्रदेश के हिन्दू पुरुषों का वैज्ञानिक विवेचन" (विद्याभूषण विभु, प्रयाग अ०) । यह अश्चर्यजनक है कि हिन्दी का प्रधान जनपदी रूप खड़ीबोली वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अभी तक उपेक्षित है। नामों के अध्ययन के सिलसिले में मोहल्ला, ग्राम, नगर, नदी, पहाड़ आदि से सम्बद्ध स्थानवाचक तथा अन्य हिन्दी नामों का भी शीघ्र अध्ययन होना चाहिए। प्रयोगशालाओं के अभाव में प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान पर अपने देश में कार्य अभी आरंभ भी नहीं हो सका है। अपने विद्वानों ने विदेश में अवधी तथा भोजपुरी पर कुछ कार्य अवश्य किया है।

प्राचीन कवियों के ग्रंथों के वैज्ञानिक संपादन की ओर भी ध्यान गया है। इस दृष्टि से बिहारी "सतसई" (जगन्नाथ दास रत्नाकर) तथा "सूरसागर" (रत्नाकर तथा बाजपेयी) पर सब से पहले कार्य हुआ था। इधर सेनापति का "कवित्त रत्नाकर" (उमाशंकर शुक्ल, प्रयाग प्र०), नन्ददास ग्रंथावली (उमाशंकर शुक्ल, प्रयाग प्र०) जायसी ग्रंथावली (माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग प्र०) तथा रामचरितमानस (शभुनारायण चौबे काशी प्र०; माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग प्र०) के वैज्ञानिक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। "केशव ग्रंथावली" (विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काशी अ०) भी संपादित रूप में तैयार है। यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य शेष हैं। इस संबंध में सबसे बड़ी कठिनाई हस्तलिखित पुस्तकों के केन्द्रीय संग्रहों का अभाव है।

खोज के कार्य में अच्छे पुस्तकालयों के अतिरिक्त 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' (१८६७-१९४२) (माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग अ०) जैसे ग्रंथों से विशेष सहायता मिलती है। इसी ढंग की एक अन्य सहायक पुस्तक की भी अत्यन्त आवश्यकता है जिसमें हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित खोज-संबंधी लेखों की पूर्ण सूची मिल सके। हिन्दी भाषा और साहित्य विषयक खोज संबंधी लेख यों तो अनेक मासिक पत्रिकाओं तथा कभी-कभी साप्ताहिक और दैनिक पत्रों तक में बिखरे पड़े हैं, किन्तु इस प्रकार की विशेष त्रैमासिक पत्रिकाओं में "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" (काशी), "हिन्दुस्तानी" (प्रयाग), "हिन्दी अनुशीलन" (प्रयाग) विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में गत बीस वर्षों में होने वाले कार्य की जो संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर दी गई है वह पूर्ण नहीं है। इसका उद्देश्य केवल यह विश्वास दिलाना मात्र है कि हिन्दी खोज के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य हुआ है। इससे भी कई गुना अधिक कार्य हो रहा है जिसका उल्लेख नहीं किया गया है। इस संबंध में कुछ बातें विचारणीय हैं। उपर्युक्त कार्य में से एक महत्त्वपूर्ण अंश अंग्रेजी तथा फ्रेंच में होने वाले कार्य का है। इसके हिन्दी रूपांतर शीघ्र तैयार होने की आवश्यकता है। बहुत सा कार्य अभी अप्रकाशित है। हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों में खोज-संबंधी निबंधों तथा ग्रंथों के प्रकाशन का कोई भी संतोषजनक प्रबंध अभी तक नहीं है, यह अत्यन्त खेद का विषय है। इसके अभाव में इस परिश्रम का समुचित उपयोग नहीं हो पा रहा है। प्रकाशित ग्रंथों तथा हस्तलिखित पोथियों के पूर्ण संग्रहों का अभाव भी बहुत खटकता है। अन्वेषक विद्यार्थियों के लिए आर्थिक साधनों का भी अभाव है जिससे कि वे कम से कम दो चार वर्ष निश्चित रूप से कार्य में संलग्न रह सकें।

हिन्दी शोध संबंधी कार्य करने वालों के सामने पहली समस्या अब तक हो चुकने वाले अथवा इस समय चलने वाले खोज-कार्य की जानकारी की है। पुनरावृत्ति अथवा पिष्टपेषण को बचाने के लिये तथा शोध कार्य को उचित मार्ग पर अग्रसर करने के लिये

इस प्रकार की जानकारी नितांत आवश्यक है। इंटर-यूनीवर्सिटी बोर्ड की रिपोर्टों में इस प्रकार के कार्य का संक्षिप्त उल्लेख रहता है। इसके अतिरिक्त भारतीय हिन्दी परिषद की त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दी अनुशीलन' में भी खोज कार्य की सूचियाँ जब तब प्रकाशित होती रहती है, किन्तु ये इतिवृत्त न पूर्ण है और न साधारण विद्यार्थी को सुलभ ही है। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि १९५० तक के हिन्दी शोध-कार्य का पूर्ण विवरण पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हो जावे, तथा उसके बाद त्रैवार्षिक विवरण नियमित रूप से निकलते रहें। शोध के महत्त्व को समझने वाली हिन्दी की किसी मान्य संस्था को अथवा किसी भारतीय विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को यह कार्य शीघ्र संपन्न कर डालना चाहिये।

इसी कार्य का उत्तरार्द्ध हिन्दी में हो चुकने वाले समस्त शोध कार्य को भावी कार्यकर्त्ताओं के लिये सुलभ करना है। अधिकांश स्वीकृत हिन्दी 'थीसिस' अभी भी अप्रकाशित है। इन अप्रकाशित 'थीसिसों' में से बहुत से तो विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में भी सुरक्षित नहीं हैं। कुछ तो रजिस्ट्रारों के दफ़्तरों की पुरानी फाइलों और कागज़ों की अलमारियों मे पड़े सड़ रहे है, और कुछ बिलकुल ही लुप्त हो गये हों तो कोई आश्चर्य नही। अतः उपर्युक्त खोज-विवरण के अतिरिक्त तीन-चार जिल्दों में अब तक के स्वीकृत 'थीसिसों' का संक्षिप्त परिचय निकल जाना चाहिये जिसमे कोई भी शोध-प्रेमी इनकी जानकारी आसानी से प्राप्त कर सके। यदि प्रत्येक विश्वविद्यालय वार्षिक खोज का परिचय प्रकाशित करता रहे तथा महत्त्वपूर्ण 'थीसिसों' को भी प्रकाशित कराने के संबंध में सहायता देता रहे तो भविष्य में यह कठिनाई बहुत कुछ सुलझ सकती है।

लगभग पचास वर्ष पूर्व प्रारंभ किए गए हिन्दी हस्तलिखित पोथियों के खोज के कार्य को भी पूर्ण करना तथा महत्त्वपूर्ण पोथियों अथवा उनकी प्रतिलिपियों को कुछ केंद्रीय पुस्तकालयों में संग्रह करने का कार्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अपने देश में कोई भी पुस्तकालय ऐसा नहीं है, जो हिन्दी खोज-सामग्री की दृष्टि से पूर्ण अथवा साधारणतया संतोषजनक कहा जा सके। सच तो यह है कि आप इंडिया ऑफिस लन्दन अथवा बिब्लियो-थेक नाशियोनाल पेरिस में बैठकर अनेक हिन्दी ग्रंथों पर खोज संबंधी कार्य अधिक सुचारु रूप से कर सकते हैं। यह स्थिति अपने देश के लिए संतोषजनक अथवा गौरवपूर्ण नहीं कही जा सकती।

भारतीय भाषाओं तथा साहित्यों के क्षेत्र में तुलनात्मक शोध सबधी कार्य करने के लिए अन्य भारतीय भाषाओं की जानकारी आवश्यक है। भारत में किसी विश्वविद्यालय में देश की प्रमुख भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के साधन अभी तक नहीं हैं। कम से कम पाँच छः आधुनिक प्रतिनिधि भारतीय भाषाओं के पठन-पाठन का सुचारु प्रबंध प्रत्येक विश्वविद्यालय में होना चाहिए। हमारे विश्वविद्यालयों में प्रायः जर्मन, फ्रेंच, रूसी, चीनी आदि विदेशी भाषाओं के सिखलाने का प्रबंध तो रहता है, किन्तु तमिल, गुजराती, बंगाली, मराठी आदि देशी भाषाओं के सिखलाने का प्रबंध नहीं है। अब समय आ गया

है जब ऐसा प्रबंध प्रत्येक भारतीय विश्वविद्यालय में होना चाहिए।

इसी के साथ-साथ भारत की प्राचीन भाषाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था की आवश्यकता है। संस्कृत के अध्ययन का तो प्रबंध प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय में है, किन्तु पाली, प्राकृतों तथा अपभ्रंशों के पठन-पाठन की व्यवस्था संतोषजनक नहीं है। यदि बी. ए. में संस्कृत के अतिरिक्त पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भी वैकल्पिक विषय हो जावें, तो भविष्य में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारतीय भाषाओं और साहित्यों के संबंध में शोध-कार्य करने वाले विद्यार्थियों की संख्या काफ़ी बढ़ सकती है।

भाषा के क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए उत्तर भारत में कही भी प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान के प्रयोगों के लिए कोई प्रयोगशाला नहीं है। हिन्दी की बोलियों की ध्वनियों के अध्ययन के लिए आज भी विद्यार्थियों को लन्दन या पेरिस जाना पड़ता है। विदेशों में जाकर जो इस प्रकार का कार्य होता है, वह केवल कुछ पढ़े-लिखे हिन्दी भाषियों की बोली पर ही हो सकता है। ग्रामीण जनता की बोलियों पर कार्य तो तभी संभव हो सकेगा जब ये प्रयोगशालायें हिन्दी प्रदेश में लखनऊ, प्रयाग, काशी, पटना, जयपुर जैसे केंद्रों में हों, किन्तु अभी तक ज्ञान के इस महत्त्वपूर्ण अंग की ओर शिक्षा-संचालकों का ध्यान नहीं जा सका है।

पिछले वर्षों में हिन्दी लोक-वार्ता तथा लोक-साहित्य के क्षेत्रों में कुछ बहुत अच्छा कार्य हुआ है, और इधर अनेक विद्यार्थी इस कार्य में लगे भी हुए हैं। इस कार्य के लिए गाँवों में घमने तथा मौखिक सामग्री को लिपिबद्ध करने की आवश्यकता पड़ती है। ये यात्रायें विद्यार्थियों को निजी व्यय करके करनी पड़ती हैं, तथा हाथ से सामग्री को लिपिबद्ध करना पड़ता है। यदि शोध-केंद्रों में सामग्री एकत्रित करने के लिए कुछ धन सुरक्षित रहे, तथा रिकॉर्डिंग मशीन का प्रबंध हो सके, तो यह कार्य अधिक सुचारु रूप से आगे बढ़ सकता है, और अधिक वैज्ञानिक रूप भी ग्रहण कर सकता है।

हिन्दी पोथियों के वैज्ञानिक संपादन के कार्य को भी कुछ हिन्दी विद्वानों ने उठाया हुआ है, और धीरे धीरे संपादन एक विज्ञान होता जा रहा है। इस कार्य के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता प्राचीन हिन्दी पोथियों के माइको-फिल्मिग के सुभीते की है। यह सुभीता भी अभी किसी भी हिन्दी के शोध-केंद्र को प्राप्त नहीं है। हाथ द्वारा कराई गई प्राचीन पोथियों की प्रतिलिपियाँ व्ययसाध्य तो होती ही है, इसके अतिरिक्त पूर्ण रूप से प्रामाणिक भी नहीं होती, फिर माइको-फिल्मिग से अनेक प्रतियाँ बहुत थोड़े व्यय से तैयार की जा सकती हैं।

हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास गत सात-आठ सौ वर्षों में बिना किसी शासन अथवा विद्यापीठ की संरक्षकता प्राप्त किए हुआ है। हिन्दी-शोध-कार्य का पौधा भी इसी प्रकार स्वतन्त्र रूप से लगा और धीरे-धीरे पनपा। इस कार्य को आज भी वैसी संरक्षकता प्राप्त नहीं है, जैसी १५-१६ करोड़ जनता की भाषा को मिलनी चाहिए।

आश्चर्य तो यह है कि उपेक्षा के इस वातावरण में इतना कार्य भी हो सका है। वर्त्तमान प्रगति हिन्दी भाषा और साहित्य की आंतरिक शक्ति तथा कार्यकर्त्ताओं के त्याग, तपस्या और सच्ची लगन की द्योतक है। समुचित सुभीता प्राप्त होने पर निकट भविष्य में हिंदी-शोध-कार्य अनेक दिशाओं में विकसित और पल्लवित होगा तथा अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक रूप धारण कर सकेगा, इसकी पूर्ण आशा है।

: ३१ :

प्रगतिशील आलोचक

प्रकाशचन्द्र गुप्त

प्रकाशचन्द्र गुप्त की लेखनी साहित्य और कला की आलोचना की ओर उस समय में प्रवृत्त हुई जिस समय हमारे साहित्य और समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हो रहे थे। यह सन् १९३६ ई. के आसपास का समय था। इस शताब्दि के आरंभ काल से ही जो विचारधाराएँ हमारे साहित्य में चल रही थीं उनमें एक प्रकार का विघटन होने लगा था—उनके रूप स्थिर, उनकी अव्यक्त शक्ति निश्चित और उनकी रूप-रेखाएँ स्पष्ट होने लगी थीं। 'प्रेमचन्द' की लेखनी साहित्य के लिए नये मार्गो को खोलती हुई काफ़ी दूर तक आगे बढ़ चुकी थी। 'छायावाद' प्रकृति की असीमता और विशिष्टता, व्यक्ति की आशा और निराशा को छोड़कर गाँवों के गलियारों के किनारे रहती हुई युगों पुरानी मानवता में'यथार्थ'देखने का प्रयास करने लगा था। वादों के लोक में सामाजिक क्रियाशीलता 'आदर्शवाद' को और भी मिथ्या तथा जर्जर प्रमाणित कर रही थी। मार्क्सवाद का अध्ययन और सामाजिक क्रियाशीलताओं को उस अध्ययन के प्रकाश में देखने की प्रवृत्ति का आगमन हो रहा था। एक वाक्य में बहुरूपी आदर्शवादी प्रवृत्तियों के विरोध में यह यथार्थवाद के उठान का युग था। इसी समय में गुप्तजी ने साहित्यिक आलोचना की ओर अपना क़दम उठाया।

उस समय में साहित्यिक आलोचना का अर्थ था उस संघर्ष अथवा द्वंद्व में भाग लेना जो तत्कालीन चेतना के अनुसार साहित्य के लोक में परस्पर-विरोधी विचारधाराओं में चल रहा था। हमारे साहित्य में जो नए रूप और तत्त्व विकसित हो रहे थे, जो नये छंदों और नई भाषा का प्रवाह उमड़ रहा था, साहित्य पर जो सामान्य जनों की चेतना अपनी छाप छोड़ रही थी—उसका प्रमाण, उसकी सत्यता का आधार क्या था? कौन सा ऐसा शास्त्र था जो नूतनता पर आक्रमण करने के लिए तुल गया था? और उसे कभी छिछला, कभी विदेशी, कभी परंपरा-विरुद्ध, कभी क्षणिक, कभी उच्छृंखल और कभी अनैतिक साबित करने की कोशिश कर रहा था। गुप्तजी की दृष्टि साहित्य की प्रगतिमूलक प्रवृत्ति के साथ थी। वह उस प्रवृत्ति के अनुमोदन और समर्थन में उठ कर खड़ी हुई जो समाज और साहित्य को प्राणवान और सबल बना रही थी। इसका अर्थ यह भी है कि उनकी दृष्टि साहित्य की उन विचारधाराओं के विरोध में भी खड़ी हुई जो इस 'प्रगति 'को लांछित और कुत्सित प्रमाणित कर रही थीं।

इस लेख में हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि गुप्तजी की 'दृष्टि' का यह समर्थन और यह विरोध कितनी सबलता से किन प्रवृत्तियों में होकर व्यक्त हुआ है?

गुप्तजी के आलोचनात्मक निबन्धों को अगर आकार और शैली की दृष्टि से देखा जाय तो प्रथम दृष्टि में ही यह लगेगा कि इन निबन्धों का आकार अन्य अलोचकों के आलोचनात्मक निबंधों से छोटा और शैली सरल है। छोटे छोटे वाक्य स्वयंप्रमाणित मान्यताओं का विवरण देते हुए बड़ी सरलता से आगे बढ़ते जाते हैं। बहुत कम ऐसा होता है कि उनकी इस सरल गति में कभी कोई बाधा आ खड़ी हो। उस शैली में किसी रागात्मकता की छाया नहीं, किसी तर्क का द्वंद्व नहीं और भाषा का कोई अलंकारपूर्ण व्यंग नहीं। हमारे आलोचकों में 'पांडित्य प्रदर्शन' की जो प्रवृत्ति प्रायः पाई जाती है गुप्तजी की शैली में उसका पूरा अभाव है। 'विवरणात्मक' आलोचना की दृष्टि से उनके ये लेख उदाहरण-स्वरूप हैं। 'विवरण' के सब गुण उसकी स्पष्टता और सरलता में निहित होते हैं। विवरण जितना सरल होगा, वस्तुगत प्रमुख रेखाएँ जितनी स्पष्ट होंगी, व्यर्थ के पांडित्य-प्रदर्शन का जितना अभाव होगा, उतना ही वह प्रभावशाली होता है। इसलिए गुप्तजी ने अपने आलोचनात्मक निबंधों द्वारा जो सब से महत्त्वपूर्ण काम किया वह यह था कि उसको 'पांडित्य' की ऊँची कुरसी पर से उतार कर सामान्य और सरल धरातल पर खड़ा किया। आलोचना किसी भी विषय की हो, उसको 'पांडित्य' के हाथों से छीन कर सरल और सीधे रूप में खड़ा करना स्वयं में एक प्रगतिशील क्रियाशीलता है। आलोचना का सामान्यीकरण जनवाद की ओर उठता हुआ पहला ठीक क़दम है। उसमें चाहे सूक्ष्म अर्थों का आभास न हो, उसमें चाहे सिद्धान्तों की सूक्ष्मता और उलझा हुआ तर्कवाद अथवा बुद्धिवाद न हो—पर अगर उसमें सरलता और विज्ञान की सी स्पष्टता है तो उसके प्रभाव की महत्ता से इंकार नहीं किया जा सकता। प्रगतिशील साहित्यकार जहाँ पर साहित्य और कला को सामान्य जनता के पास ले जाने के लिए उसे सुबोध और सुगम बनाने की बात करते हैं—वहाँ पर इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि साहित्यिक आलोचना को भी सरल और सुगम होना चाहिए—जिससे साधारण पाठक को आलोचना का अधिकार प्राप्त हो। इसके विपरीत प्रायः सभी प्रतिक्रिया-परक आलोचक 'आलोचनाओं' को इने-गिने साहित्यिक पुरोहितों का ही अधिकार समझते हैं। वे कहते हैं कि साहित्य की आलोचना का अधिकार उन्हीं के करों में होना चाहिए जिन्होंने वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, माघ, गेटे, होमर, आदि महासाहित्यकारों का अध्ययन सहृदयतापूर्वक किया हो, जिनकी दृष्टि समाज के सामान्य आर्थिक, राजनीतिक आदि विचारों से मलिन न हो गई हो, जिन्होंने अपनी रस-संवेदना को शिक्षित और विकसित कर लिया हो, जिन्होंने अनेक नये-पुराने कलाकारों के चरणों में बैठ कर अपनी रस-संवेदना का परिष्कार कर लिया हो और जो साहित्य के मर्म को साहित्य के रूप में ही देखता हो—वह साहित्य का असली पारखी है। अगर साहित्य की सीमा साहित्यकारों तक ही सीमित होती तो शायद उसकी आलोचना का यही एकमात्र सत्य होता।

किन्तु साहित्य अपने प्रखर रूप में सामाजिक मनुष्य की संवेदनाओं का यथार्थ रूप उपस्थित करता है—इसलिए उसकी आलोचना का अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त

है—क्योंकि सामान्य जनता की संवेदनाओं को यथार्थ रूप में प्रकट करने की चेष्टा में वह लगा रहता है—इसलिए उसकी सत्यता और प्रभावशालीनता की कसौटी भी सामान्य जनों का भावना-लोक है। साहित्य के विकास के लिए यह आवश्यक है कि 'साहित्यिक-आलोचना' को पांडित्य के वृथा बुद्धिवाद से बचाया जाय—क्योंकि अपने को अवरुद्ध करने के साथ-साथ वह साहित्य की गति को भी अवरुद्ध कर देता है। इसके अलावा ये पांडित्यपूर्ण बुद्धिवादी आलोचनाएँ प्रायः उन साहित्यिक प्रवृत्तियों का समर्थन करती हुई पाई जाती हैं जो अपने मूल में ही जन-विरोधी और प्रगतिविरोधी होती हैं—इसलिए वे स्वभाव से ही अपनी इस कुत्सित क्रियाशीलता को कभी सूक्ष्म तर्कवाद और कभी भाषा के पांडित्य से ढक कर आगे बढ़ती हैं। स्पष्ट है कि इनके द्वारा 'साहित्यिक पौरहित्य' की नींव पड़ती है। वे आलोचनाएँ यह सहन नहीं कर सकतीं कि हर सामान्य पाठक को साहित्य के प्रभाव के विषय में कहने का अधिकार प्राप्त है। इसलिए साहित्य के अन्दर चलती हुई जन-विरोधी और समाज-विरोधी प्रवृत्तियों को निर्मूल करने की दृष्टि से भी यह अत्यंत आवश्यक है कि साहित्य की आलोचना का अधिकार सामान्य लोगों के हाथ में दिया जाय।

गुप्तजी ने यह काम अपनी सुगम आलोचनाओं के द्वारा और भी सुगम कर दिया है। हमारे साहित्य में प्रकाशचन्द्र गुप्त और डॉक्टर रामविलास शर्मा ही दो ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने प्रगतिशील आन्दोलन के प्रारम्भ में ही इस सच को ठीक तरह से आत्मसात् कर लिया था कि साहित्य की पतनशील प्रवृत्तियों के विरोध में उस समय तक सफलता-पूर्वक संघर्ष नहीं किया जा सकता जब तक इस अधिकार को सामान्य पाठकों के हाथों तक पहुँचाया नहीं जाता। पतनशील प्रवृत्तियों का साहित्यकार सहम जाता है जिस समय वह यह कल्पना करता है कि उसके साहित्य का मूल्यांकन एक दिन देश और समाज की साधारण जनता अपनी प्रगति के आलोक में करेगी। दूसरी ओर आज का प्रगतिमूलक साहित्यकार इसी एक भावी सत्य से अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एकाग्र करने में सफल होता है।

साहित्य और कला की आलोचना के अधिकार को सामान्य लोगों के हाथों में दे देने से क्या उसकी हत्या तो नहीं हो जायगी ? ऐसी शंका का उठना अनिवार्य है। इस शंका को आश्वासन देने के लिए गुप्तजी कहते हैं :—

"प्रगतिशील आलोचना के कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं, जिन्हें सभी प्रगतिशील साहित्यकार स्वीकार करते हैं। पहला तो यह कि इन सिद्धान्तों की वाह्य परीक्षा संभव है, और उनका वैज्ञानिक विश्लेषण होना चाहिए। इस सौन्दर्य-विज्ञान की स्थापनाएँ निरंतर स्पष्ट होती जा रही हैं।"[१]

आलोचना के सिद्धान्तों की कसौटी स्वयं सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं जो कला के माध्यम से साहित्य में व्यक्त होती हैं। इसलिए उनकी वाह्य और वैज्ञानिक समीक्षा संभव है। इसके

---

१. **आधुनिक हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि। पृष्ठ ३४**

विपरीत साहित्य की आलोचना का मापदण्ड जो लोग किसी ख़ास व्यक्ति के अन्तर्चक्षु की दृष्टि को मानते हैं वे ही आलोचना क्षेत्र में एक प्रकार की अराजकता का बीज बोते हैं जो साहित्य की आलोचना का स्तर 'निन्दा' अथवा 'अभिनन्दन' तक ही सीमित रखते हुए संतोष लाभ करने की चेष्टा करते हैं। लेकिन हमारे 'प्रगतिशील' क्षेत्र की आलोचना-परिपाटी में भी 'निन्दा' और 'अभिनन्दन' की प्रवृत्ति भी अनेक रूपों मे चलती रही है--जो इस बात का द्योतक है कि वैज्ञानिक और वाह्य-परक आलोचना की ओर प्रवृत्त होना कितना मुश्किल काम है? वास्तव में आलोचना की वैज्ञानिकता और वाह्यपरकता का क्या अर्थ है?[1]

गुप्त जी कहते हैः--

"सभी प्रगतिवादी आलोचक एकमत है कि साहित्य का तत्त्व सजीव और विकासोन्मुख होना चाहिए। क्या सजीव और विकासोन्मुख है, इसकी वैज्ञानिक कसौटियाँ हैं, और उन पर साहित्य कसा जा सकता है। उदाहरण के लिये आज हमारे देश की भयानक आर्थिक कठिनाइयों का हल शासन-व्यवस्था के पास नहीं है, इसका निराकरण नया जनवादी भारत ही कर सकता है। अस्तु, इस समाज-व्यवस्था का समर्थक कोई लेखक वैज्ञानिक दृष्टि से प्रगतिशील नही कहा जा सकता। आज वही लेखक प्रगतिशील है, जो इस जर्जर समाज-व्यवस्था पर निर्मम प्रहार करता है, जैसा अगणित लेखक कर रहे हैं।"

अगर इस कथन में किसी को कुछ भी अवैज्ञानिक लग सकता है तो इतना ही कि साहित्य मे चलती हुई प्रवृत्तियों के स्थान पर व्यक्तिगत साहित्यकारों की बात उठाई गई है, और 'जर्जर समाज-व्यवस्था पर निर्मम प्रहार' की और भी अधिक गहरी व्याख्या नही की गई है।

वास्तव मे साहित्य के अन्दर चलती हुई परस्पर संघर्षण द्वारा आगे बढ़ती हुई अथवा पीछे हटती हुई प्रवृत्तियाँ वैज्ञानिक अध्ययन के लिये साहित्यकारों के व्यक्तित्वों के अध्ययन से अधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री है। इसका अर्थ यह नही है कि साहित्यकारों के व्यक्तित्वों का अध्ययन किया ही न जाय। लेकिन वह 'जीवन-चरित' लिखने वालों का अपना विशिष्ट काम है। वह अपनी कला द्वारा किसी भी महान साहित्यकार के व्यक्ति के विकास को, उसकी प्रतिभा की सामाजिक-सत्य के प्रति जागरूकता को, उस व्यक्तित्व के परिवर्त्तनों को ऐतिहासिक महत्ता देता हुआ चित्रित कर सकता है। लेकिन एक साहित्यालोचक के लिए साहित्यिक प्रवृत्तियों का मूल्य अधिक है। साहित्य में चलती हुई प्रवृत्तियों का अध्ययन अगर सामाजिक क्रियाशीलता के आलोक में न किया जाय तो भी उनकी अध्ययन की वैज्ञानिकता नष्ट हो जाती है। इसलिए मुख्य रूप में प्रत्येक वैज्ञानिक आलोचना यह प्रश्न उठाती है कि कोई विशेष प्रवृत्ति क्यों जागती है?--वह प्रवृत्ति अपना जीवन-रस किस सामाजिक यथार्थ से लेती है? और उसकी सीमाएँ क्या हैं?

---

१. उपर्युक्त। पृष्ठ ३६।

लेकिन सामान्य व्यावहारिक लोक में हम किसी भी प्रवृत्ति को शुद्ध रूप मे नहीं पाते। इन प्रवृत्तियों की प्रकृति कुछ ऐसी है कि अन्य प्रवृत्तियों के साथ वे मिली-जुली रहती हैं। प्रायः आत्मविरोधी प्रवृत्तियाँ एक में घुली-मिली पाई जाती है। प्रवृत्तियों की यह जटिलता और अनेकरूपता——उनको एक साथ समग्र रूप में ग्रहण करने की क्षमता आलोचना को आदर्शवाद अथवा अध्यात्मवाद की एकांगिता से निकाल कर सामाजिक क्रियाशीलताओं के विशाल और वैचित्र्यपूर्ण धरातल पर रखती है। इसीलिए स्वयं प्रगतिवादी प्रवृत्ति के अन्दर उसके आरम्भ काल में जहाँ हम एक ओर आलोचना को साहित्य की यथार्थवादी प्रवृत्तियों का समर्थन करते हुए पाते है उसी के साथ-साथ व्यक्तिपरकता की प्रवृत्ति भी पाते है।

मध्यकालीन संत साहित्य में प्रायः यथार्थवाद की प्रवृत्ति को हम गम्भीर रहस्यवादी प्रवृत्ति के साथ मिला-जुला पाते है, वर्त्तमान साहित्य मे यथार्थवाद की प्रवृत्ति को व्यक्तिगत रोमांटिक प्रवृत्ति के साथ जुड़ा हुआ देखते है और आगे चल कर यह संभव है कि यथार्थवाद की प्रवृत्ति, समाजवादी प्रवृत्ति के साथ उतनी ही जटिलता से मिल जाय जितनी जटिलता में वह एक दिन रहस्यवाद से मिली हुई थी। कौन सा ऐसा गतिशील सामाजिक यथार्थ था जो यथार्थवादी प्रवृत्ति को इन विविध प्रवृत्तियों के साथ जुड़ने के लिए वाध्य कर रहा था? और कौन सी ऐसी सामाजिक क्रियाशीलता थी जो साहित्य की यथार्थवादी प्रवृत्ति का विकास रहस्यवाद आदि प्रवृत्तियों का खण्डन करती हुई उसका सबंध अन्य प्रवृत्तियों के साथ जोड़ रही थी। एक विशिष्ट युग में प्रवृत्तियों का यह एकीकरण और संघर्षण क्यों एक विशिष्ट रूप में प्रकट होता है?——और इन संबंधों का अपना इतिहास क्या है? क्या सामाजिक क्रियाशीलताओं से भी अथवा समाज के परिवर्त्तनों से इन प्रवृत्तियों का कोई भी संबंध जोड़ा जा सकता है? आधुनिक वैज्ञानिक आलोचना इन प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान करने की कोशिश करती है

इसलिए वैज्ञानिक आलोचना की तुलना में प्रत्येक आलोचना पद्धति एकांगी और संकीर्ण साबित होती है।

गुप्त जी ने जब साहित्य की आलोचना की ओर अपना ध्यान दिया उस समय 'प्रगतिवाद' और 'वैज्ञानिक' आलोचना की उतनी रेखाएँ स्पष्ट नहीं थीं जितना कि वे आज है——अथवा आगे होंगी। इसलिए उनकी आलोचनाओं में हम एक निरंतर विकास पाते हैं। अपने आरंभ काल में गुप्त जी 'कला' की व्याख्या को इस तरह से शुरू करते है।

"मनुष्य निरन्तर अपने वातावरण से युद्ध करता है और प्रकृति की विराट् शक्तियों के विरोधी मूल में अपने में नया बल अनुभव करता है। **इस संघर्ष में उत्पन्न हुई अनुभूतियों को वह कला से सजाता है।** इस प्रकार काव्य, संगीत, चित्रकला आदि का जन्म होता है। भारत के कृषि प्रधान आर्यों ने अपने अनुभव को वेदों की ऋचाओं में बन्दी बनाया; दूर अमरीका के 'रेड इंडयन्स' ने अपने आखेट-जीवन के चित्र अपनी गुफ़ाओं की दीवारों पर

बनाए; किन्तु उनकी मूल प्रेरणा एक ही थी; स्थूल जीवन से संघर्ष का अनुभूतिरंजित वर्णन।"[१]

लेकिन बाद में चलकर गुप्त जी साहित्य और कला के विषय में यह कहते हैं—

"**साहित्य मनुष्य की प्राचीनतम अभिव्यक्तियों में से एक है।** इसने दीर्घ काल से अपनी रूप-रेखा में एक स्थिरता रक्खी है। **शब्दों द्वारा साहित्य मानवी अनुभूति और विचार अभिव्यक्त करता है, जो मनुष्य ने प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष में विकसित किये हैं।** फिर भी यथार्थ से टक्कर खाकर मनुष्य की चेतना तीव्र हुई है और बदली है, साहित्य के रूप-रंग में भी अनेक परिवर्त्तन हुए है, और हुआ करते हैं।[२]

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि कला और साहित्य मानव के लिए उतनी ही पुरानी चीज़ें है जितना कि प्रकृति के साथ उसका संघर्ष। लेकिन पहले उद्धरण में जहाँ पर 'कला' अनुभूतियों को सजाने का साधन बनाती है—वहाँ पर दूसरे उद्धरण में वह विचार और अनुभवों को अभिव्यक्त करने वाली एक शक्ति बनती है। कला और साहित्य का जन्म तथा उसका विकास मानव के संघर्ष के साथ-साथ हुआ है।

इसलिये उसका एक सामाजिक दायित्व है। मानवीय संघर्षों के अनुभवों तथा विचारों की भूमिका में पनप कर कला और साहित्य उन अनुभवों एवं विचारों को और भी अधिक विकसित करते आ रहे हैं। नहीं तो 'कला और साहित्य' के सामाजिक उत्तरदायित्व का कोई अर्थ संभव नहीं हो सकता। इसलिए साहित्य की वैज्ञानिक आलोचना में इतना ही बताना ज़रूरी नहीं है कि उसमें व्यक्त भावनाएँ और विचार किस विशिष्ट सामाजिक संघर्ष से उत्पन्न हुए हैं—बल्कि यह भी स्पष्ट करना जरूरी होता है कि उत्पन्न होकर उन्होंने मानव की कौन सी भावनाओं और विचारों का परिष्कार किया है? कौन सी भावनाओं को दुर्बलता सौंपी है? और कौन सी भावनाओं को दृढ़ बनाया है?

समाज वर्गों में बँटा हुआ है इसलिए कला की सामाजिक भूमिका की छानबीन ही नहीं वरन् कला की वर्ग-भूमिका का भी विश्लेषण करना गुप्त जी आवश्यक समझते हैं। अपने प्रारंभिक लेखों में ही उन्होंने लिखा था :—

"शताब्दियों से कला शासक-वर्गों की भावनाओं का प्रतिबिंब रही है; क्योंकि शासित वर्ग के पास अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के साधन न थे। शासित वर्ग की भावनाएँ लोक-गीतों में और अन्य रास्तों पर प्रसार पाती रहीं। लेकिन यह कला दबी-दबी जीवन-यापन करती रही।"[३]

कला और साहित्य की प्रवृत्तियाँ सामाजिक व्यवस्था की जटिलता के साथ-साथ और भी जटिल होती जाती है। गुप्त जी ने यहाँ पर अत्यंत स्थूल वर्गीकरण किया है।

---

१. **नया साहित्य—एक दृष्टि, पृष्ठ ९।**
२. **आधुनिक साहित्य—एक दृष्टि, पृष्ठ ३।**
३. **नया हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि, पृष्ठ ९।**

कभी-कभी एक ही वर्ग में—एक महाव्यक्ति (साहित्यकार, दार्शनिक, कलाकार, वैज्ञानिक) में दो आत्म-विरोधी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। इसलिए आगे चल कर गुप्त जी **पतनशील, ह्रासमूलक, व्यक्तिवादी, आदर्शवादी प्रवृत्ति** तथा **प्रगतिशील, यथार्थवादी और समाजवादी प्रवृत्ति** का वर्गीकरण करते हैं। कला का संबंध एक ओर पूरे सामाजिक संघर्ष से होता है, और दूसरी ओर उसका संबंध वर्ग-संघर्ष से, पुरातन और नूतनता से संघर्ष के भी होता है। इन संघर्षों के बीच में से ही साहित्य अपना विकास करते हुए समाज का विकास करता है।

किसी भी विशिष्ट युग में कला और साहित्य के क्षेत्र में दो प्रमुख धाराएँ होती हैं क्योंकि समाज दो प्रमुख वर्गों में बँटा हुआ है। इनमें से एक प्रवृत्ति समाज की प्रगति का द्योतक होती है और दूसरी उसके ह्रास और पतन का प्रतिनिधित्व करती है। सामाजिक संघर्ष किसी एक व्यक्ति की इच्छा, कल्पना अथवा संकल्प से उत्पन्न नहीं होता, और न उसकी गति का नियंत्रण ही किसी एक महा प्रतिभा की जागरूकता से होता है। अन्य वाह्य वस्तुओं की भाँति वह भी एक सामाजिक यथार्थ है। व्यक्तियों की इच्छा-शक्ति के अनुरूप उसकी गति नहीं होती। इसीलिए जहाँ हम एक ओर व्यक्तिवादी आध्यात्मिक साधकों को इस यथार्थमूलक संघर्ष को अपनी कल्पना, हृदयगत उदारता अथवा जटिल तार्किक बुद्धिवाद से ढँकने की या उसे अस्वीकार करने की प्रवृत्तियों का इतिहास पाते हैं वहीं पर हम दूसरी ओर इन प्रवृत्तियों की विफलताओं का भी इतिहास देखते हैं। सामाजिक क्रियाशीलताएँ इन सब समन्वयवादी प्रवृत्तियों को क्रूर अनुभवों द्वारा मिथ्या कल्पनाओं में बदल देती हैं। आदर्शवाद एक मिथ्या दर्शन हो जाता है जब वह यथार्थ की गति को भ्रान्ति और वस्तुगत परिवर्त्तन को किसी शाश्वत को स्वीकार कर मिथ्या घोषित करता है। किसी प्रकार से समन्वय के कोनों में अपने त्राण को खोजता हुआ वह गतिशील (?) रहता है।

इसलिए प्रारम्भ से ही गुप्त जी इस अध्यात्मवादी प्रवृत्ति का खण्डन और यथार्थवादी प्रवृत्ति का—परिवर्त्तन जिसका मूल-स्रोत है, संघर्ष जिसका जीवन है, सामाजिक उत्तरदायित्व जिसका संकल्प है और वर्ग-संघर्ष जिसकी भूमिका है—समर्थन अपनी आलोचना में नए-नए रूपों में करते आए हैं।

"सत्य, शिव और सुन्दर की आराधना को शाश्वत कहा जाता है—यानी जीवन में इनका रूप अपरिवर्त्तित है। हम जीवन को गतिशील और विकासमान समझते हैं। जड़, स्थावर नहीं। सत्य और सुन्दर के भी अधिकाधिक विकसित मान हमें समाज और कला में मिलते हैं।"[१]

सत्य के मान अथवा प्रमाण किस प्रकार से विकसित हुए हैं ?—यह दर्शन-शास्त्र के इतिहासों के अध्ययन का विषय है। 'श्रेय' अथवा 'शिव' का विकास कैसे संभव हुआ है

१. **नया हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि, पृष्ठ ७१।**

इसका अध्ययन व्यावहारिक आचार-शास्त्र करते है और सौंदर्य की भावना का विकास अथवा उसके मानों में परिवर्त्तन किस तरह से संभव हुआ है यह साहित्य और कला की आलोचना का विषय है ।

गुप्त जी ने समाज और साहित्य के विषय में प्रारम्भ से ही मार्क्सवाद की मान्यताओं को अपनाया है । वैसे तो किसी विशिष्ट युग में कोई भी विचारधारा जिसका संबंध सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ हो बिल्कुल पूर्ण, शत-प्रतिशत निराक्रान्त नहीं हो सकती । विकासशील विचारधारा की पूर्णता, उसकी गति तथा सामाजिक गति के नेतृत्व के रूप में प्रकट होती है । वह स्पष्ट होती हुई भी गंभीर होती है । वह व्यवहार और ज्ञान में एकरूपता का निर्माण करती है । समाज के अन्दर विकासशील क्रान्तिकारी तत्त्वों को वह एक करने की क्षमता रखती है––और उनको अपनी ओर खींचती है । सामान्य रूप से वैज्ञानिक विचारधारा के ये गुण हैं । मार्क्सवादी विचारधारा में इन गुणों की अतिशयता है। अतएव, आज के समाज में जितनी भी दूसरी विचारधारायें चल रहीं हैं उनमें से 'मार्क्सवाद' सबसे अधिक सक्षम और स्पष्ट विचारधारा है । सामाजिक क्रान्तियों की प्रयोगशाला में उसका विश्वव्यापी विकास गतिमान है । राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक क्रियाशीलताओं के लोक में इस विचारधारा की देन क्रान्तिपरक रही है ।

इसलिए गुप्त जी जब अन्य विचारधाराओं के तर्क-जाल, अथवा रूप-जाल से भ्रमित न होकर अपने युग की सर्वाधिक वैज्ञानिक विचारधारा को मान्यता के रूप में स्वीकार करते है, तभी उनकी आलोचनाओं का स्तर और रूप, तत्त्व और व्यक्तित्व अन्य साहित्यिक आलोचकों से भिन्न हो जाता है ।

गुप्त जी के आलोचनात्मक निबंधों को वस्तु के दृष्टिकोण से हम तीन भागों में बाँट सकते है । कुछ लेख सिद्धान्त विषयक है, कुछ प्रवृत्तियों को अध्ययन करने का प्रयास करते है और कुछ लेखों में साहित्य की विशेष प्रतिभाओं का मूल्यांकन किया गया है । सिद्धान्तमूलक, प्रवृत्तिमूलक तथा व्यक्तिमूलक इन तीन रूपों के लेखों में गुप्त जी की साहित्यिक आलोचना व्यक्त तो हुई है, पर उसका नियंत्रण एक ओर से मार्क्सवादी सिद्धांतों के द्वारा और दूसरी ओर से सामाजिक क्रियाशीलता के द्वारा निरन्तर होता रहा है । उन की सिद्धान्त-मूलक प्रवृत्ति मार्क्सवाद के विज्ञानवाद की ओर है और उनकी प्रवृत्ति-मूलक प्रवृत्ति 'द्वंद्ववाद' का समर्थन साहित्य और सांस्कृतिक लोक में करती है––इसका आभास सामान्य रूप से इस लेख के पूर्वार्ध में हमने दिया है । लेख के इस भाग में हम इन प्रवृत्तियों की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे ।

गुप्त जी की आलोचना शैली विवरणात्मक है––इस तथ्य की ओर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं । और शायद यह भी हम कह चुके हैं कि विवरण का मूल्य उसकी 'विशिष्ट-वर्णना' में ही है । जितने सूक्ष्म और विशिष्ट तत्त्वों को विवरण आत्मसात् करने की स्पष्टता से कोशिश करेगा उतना ही वह पूर्ण होगा । सामान्य और स्थूल सत्यों का

विवरण अधिक हृदयग्राही नहीं होता ।

गुप्त जी की प्रारंभिक आलोचनाओं में इस प्रकार की वाक्यावली अनेक स्थलों पर मिलती है—

"आँसू" में कवि के हृदय की प्रणय-भावना **भी** व्यक्त हुई है । इन पंक्तियों में हिन्दी के आधुनिक रहस्यवाद की **कुछ** झलक है । **कहीं कहीं** 'प्रसाद' की विलास-प्रियता **भी** दीख पड़ी है ।"[1]

अथवा—

"अनामिका" में हमें प्रकृति का अभिनव दर्शन **भी** मिलता है । **रूप माधुरी** हमें 'निराला' जी के काव्य में मिलती है, किन्तु आप उसके स्वामी हैं, दास नही । आप के कण्ठ में **मीठे गीत उमड़ते हैं**, किन्तु आपको उनके प्रति **कोई मोह नहीं ।**[2]

अथवा–

"सूरसागर मे कवि ने **प्रकृति का भी अपूर्व चित्रण** किया है । इन चित्रों में वर्षा का, रात का, अंधेरे का, **बादलों का प्राधान्य है ।** सूरसागर में वियोग शृंगार की प्रमुखता है, इसलिए आँसुओं के पावस की भी प्रचुरता है । प्रकृति का यह चित्रण अनुभूति मे **अतिरंजित** है । कवि ने रूढ़ि का, परम्परा का अनुगमन अपने वर्णनों में **बहुत कम** किया है । **सूर की प्रेरणा हमें ब्रज के कुँजों में पहुँचाती है, जहाँ यमुना अवसाद में डूबी उदासीन बह रही है, और कृष्ण की मुरली की प्रतिध्वनि अब भी निनादित है ।**[3]

ऊपर दिये गये उद्धरणों मे रेखांकित शब्दों का प्रयोग विवरण की विशिष्टता अथवा निश्चितता किंवा वाह्य-परकता को नष्ट करता है और आलोचना को एक ऐसी दुर्बलता सौंपता है जिसका परिहार करना आसान नही है । भाव-मूलक आलोचना में ही इस प्रकार की मान्यताओं का कोई मूल्य संभव हो सकता है—जैसे "कितना गहरा और व्यापक 'आँधरे सूर' का अनुभव था और कैसी तल-दर्शिनी दृष्टि उनकी थी । ऐसी महान प्रतिभा के सामने आलोचक और पाठक केवल अपना शीश ही झुका सकते हैं ।[1]

कुछ भी हो यथार्थ परम आलोचना की यह शैली नही है । तब फिर यथार्थवादी आलोचना की क्या शैली और कौन-सा तत्त्व है ? ऐसा लगता है कि जिस समय **'साहित्य के लिये साहित्य'** के आलोचक साहित्य का अध्ययन पुरातन-साहित्य, अथवा विदेशी साहित्यकारों की तुलना करते हुए उसकी आलोचना में प्रवृत्त होते है अथवा साहित्य और कला को व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक गहराइयों से निकला हुआ तत्त्व समझ कर जब कुछ

१—नया हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि । पृष्ठ ३१

२—उपर्युक्त—पृष्ठ १३३

३—'आलोचना' अंक २ पृष्ठ २७

१—आलोचना—अंक २—पृष्ठ २७ ।

आलोचक साहित्य की आलोचना व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक चेतन तथा उपचेतन के आलोक में करते हैं—उस समय 'जनवाद' का समर्थक यथार्थवादी आलोचक साहित्य और कला का विवरण समाज की जनवादी प्रवृत्तियों के संघर्ष के आलोक में करते हैं। 'साहित्य के लिए साहित्य' के आलोचकों के लिये प्राचीन और आधुनिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है—बिना उसके वे अपनी आलोचना को शास्त्र का गाम्भीर्य नहीं सौंप सकते। मनोवैज्ञानिक आलोचक के लिए 'मनोविज्ञान' का ज्ञान आवश्यक है—चेतन और उपचेतन की वाह्य व्याख्या करने की क्षमता उनमें होनी चाहिये, बिना उसके वे साहित्यिक वासना और विकृति का समर्थन नहीं कर सकते। तब जनवादी यथार्थवादी आलोचक के लिये सामाजिक प्रगति के तत्त्वों और उसकी गति का प्रत्यक्ष ज्ञान होना ज़रूरी होता है। बिना इसके उनकी आलोचना नुकीली और ग्राह्य नहीं हो पाती।

गुप्त जी की आलोचनाओं में जहाँ सामान्य तथ्यों का विवरण मिलता है—वहाँ पर सामाजिक क्रियाशीलता का सूक्ष्म अथवा गम्भीर विवरण नहीं मिलता। इसलिए उन साहित्यिक प्रवृत्तियों की सीमाएँ नहीं मालूम हो पातीं जिनका विवरण वे अपनी आलोचनाओं में देते हैं। सामान्य सत्य अथवा तत्त्व हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा पाते। कुछ दिन पहले हमारे साहित्यकारों में और विशेषकर कवियों में सामाजिक परिवर्त्तन को चित्रित करने का एक आकर्षण हुआ था। वे परिवर्त्तन की हुंकार से जड़ सृष्टि (?) को चैतन्य (?) कर देने की कल्याणकारी भावना से ओत-प्रोत थे। देश की साधारण जनता के दैन्य, वैषम्य, दारिद्र्य पर वे द्रवित भी होते थे। किसी भी प्रकार से उनके उन्नत, सुखी और संपन्न देखने की कल्पना से अपने साहित्य और कला का शृंगार वे करते थे—इसको आशा, विप्लव और जनता का भावी साहित्य माना जाता था। लेकिन ज्यों-ज्यों हमारे देश की सामान्य जनता अपनी दीनता, विषमता और विपन्नता के मूल स्रोत शोषणकारी व्यवस्था पर चोट करने की राहों को ढूँढ़ने लगी, और कहीं-कहीं पर जहाँ उससे सामाजिक बलात्कार नहीं सहा गया वहाँ पर मनुष्योचित वीरता से इन बलात्कारकारियों के विरोध में खड़ी होने लगी तो उन्हीं साहित्यकारों ने उसे 'कुरूप सामूहिकता', 'कुत्सित समाज शास्त्रीयता', 'हिंसा की असामाजिक प्रवृत्तियाँ', 'कला की हत्या' आदि कह कर पुकारना शुरू कर दिया। उन्होंने यह नहीं देखा कि जीवन और उसकी मर्यादा की रक्षा के लिये साधारण लोगों को किन क्रूर शक्तियों के विरोध में उठने के लिये वास्तविकता वाध्य कर रही है। तब इनकी करुणा, दया, ममता, परिवर्त्तन-प्रियता, मानवता के मान कहाँ विलीन होने लगे थे? त्रिशंकु बनने की साधना में वे क्यों लीन हो गये थे? त्रिशंकु की बेबसी और लाचारी को लेकर वे कौन से सामाजिक सत्य के प्रहरी बनने की कोशिश कर रहे थे?

गुप्त जी यह ठीक कहते हैं कि यह मध्यमवर्ग की प्रतिगामिता (?) का पतन का अपना विशिष्ट रूप है। "आज का कलाकार त्रिशंकु के समान, अधर में लटका हुआ है। उसके लिए न देवताओं के स्वर्ग में स्थान है, न पृथ्वी पर। समाज की सृजनात्मक

और प्रेरक शक्तियों से कट कर वह अलग हो गया है, और अभिजात वर्ग भी उसका स्वागत करने के लिए तैयार नहीं है।"[१]

प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि कौन सी सामाजिक वास्तविकता ने उस साहित्यकार और कलाकार को त्रिशंकु बनने पर वाध्य कर दिया जो स्वभाव से ही सत्यप्रेमी और सौन्दर्य का अभिव्यक्तकर्त्ता था ? जान-बूझ कर कोई दलदल में जाकर नहीं फँसता। सामान्य ज्ञान की कमी भी उन लोगों पर आरोपित नहीं की जा सकती। तब फिर जीवन के प्रति किस दृष्टिकोण को लेकर वे त्रिशंकु की विडम्बना के ग्रास होते गये ?

कुंठा, निराशा, सामाजिक बलात्कार से व्यक्तिगत रूप में बचने की लालसा—ये सब मनोवृत्तियाँ मध्यमवर्ग के प्रतिनिधि कलाकारों में ही क्यों फूट निकलीं। जो लोग इस सत्य को स्वीकार कर चुके हैं कि व्यक्ति की चेतना का नियंत्रण समाज में उसकी वर्ग स्थिति द्वारा होता है वे व्यक्तिगत कारणों की खोज न कर समाज के वर्ग-संबंधों की शक्तियों के परिवर्त्तन में इसके कारणों को देखने की कोशिश करेंगे।

लेकिन इस प्रकार की किसी प्रवृत्ति का आभास हमें गुप्त जी की आलोचनाओं में स्पष्ट दिखाई नहीं देता। अधिक से अधिक भारतीय स्वतंत्रता के उन संग्रामों के उठान और पतन का एक प्रभाव साहित्य पर वे दिखाते हैं जिनका अंत आज की तथाकथित आज़ादी में हुआ है। इसके अलावा सामान्य लोगों की उस चिन्तना का आभास हमें उनकी आलोचनाओं में नहीं मिलता जिसके द्वारा उनकी क्रियाशीलता का नियंत्रण होता है और जिसकी तुलना में ही साहित्य के अन्दर चलती हुई विचारधाराओं को प्रतिगामी अथवा प्रगतिशील प्रमाणित किया जा सकता है। हम विचारते हैं कि इस एक प्रवृत्ति के अभाव में ही 'प्रगतिशील आलोचना' को कई झटके खाने पड़े हैं। सामान्य मान्यताओं के लोक को छोड़ कर सामान्य जीवन की क्रियाशीलता के लोक में अभी उसका प्रवेश नहीं हो सका है—इसीलिए जिस एकांगिता का आरोपण उस पर किया जाता है उसका परिहार भी नहीं हो सका है। गुप्त जी एक स्थान पर यह कहते तो हैं कि—

"मार्क्सवादी आलोचक कला को सम्पूर्ण सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था और उसके विकास का एक अंग मानते हैं। वे कला को उसके ऐतिहासिक ढाँचे में रख कर देखते हैं। व्यक्ति की प्रतिभा को स्वीकार करते हुए वे उन परिस्थितियों की विवेचना करते हैं जो कलाकार के व्यक्तित्व को अनुप्राणित करती हैं, अथवा कुंठित करती हैं। साहित्य को सामाजिक विकास-क्रम का दर्पण मानते हुए, वे यह भी स्वीकार करते हैं कि कला समाज और राजनीति को प्रभावित कर सकती है। अतएव वे कला को समाज की प्रगतिगामी शक्तियों में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इस "ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टिकोण से मार्क्सवादी आलोचकों ने निरंतर मूल्यांकन किया है।"[२]

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य–एक दृष्टि—१६६।
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य–एक दृष्टि। पृष्ठ ६९।

लेकिन प्रश्न यह है क्या वास्तव में यह सब किया गया है ? डॉक्टर रामविलास के लम्बे आलोचनात्मक निबंधों में उन परिस्थितियों की विवेचना करने का हम एक प्रयास देखते हैं जिससे साहित्यकार की प्रतिभा अनुप्राणित होती है अथवा कुंठित होती है, एक प्रकार की ऐतिहासिकता को ग्रहण करने की चेष्टा भी उनमें मिलती है—लेकिन गुप्त जी की आलोचनाओं में ये प्रवृत्तियाँ अपने विशिष्ट रूप में अधिकतर प्रच्छन्न ही रह रही है । अगर गुप्त जी की 'व्यक्ति-मूल्यांकन' मूलक छोटी-छोटी आलोचनाओं को ध्यान से पढ़ें तो वे एक अध्ययनशील व्यक्ति की पार्श्व में अंकित टिप्पणियों के समान लगती हैं। पिछले कुछ दिनों मे उनकी आलोचना प्रणाली में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हो रहा है जिस की अनेक रेखाएँ उनके उन तीन निबन्धों में व्यक्त हुई है जिनको 'कबीर', 'सूर' और 'तुलसी' के विषय में लिखा गया है ।[1] इन लेखों में वे इन महा साहित्यकारों की प्रवृत्तियों (जनवादी और जनविरोधी) का विश्लेषण करते हैं । वे कहते हैं—"तुलसी के 'विचार-दर्शन' में **अनेक अन्तर्विरोध** है । यह युग की परिस्थितियों में स्वाभाविक था । किन्तु कुल मिलाकर तुलसी का जनवादी रूप ही इनके साहित्य का प्रधान रूप है ।"[2]

कोई भी पाठक तुलसी के 'विचार-दर्शन' के **अनेक अन्तर्विरोधों को** स्पष्ट भाषा मे जानना चाहेगा । लेकिन इन अन्तर्विरोधों को तब तक स्पष्ट नहीं किया जा सकता जब तक कि तत्कालीन सांस्कृतिक-व्यवहारिक प्रवृत्तियों को जानने की यथेष्ट सामग्री हमारे पास न हो और उसका सम्यक् अध्ययन न किया गया हो ।

प्रगतिवादी आलोचना के प्रारम्भ से ही उसमें एक प्रकार की बुद्धिवादी प्रवृत्ति का संयोग हम पाते हैं । इस प्रवृत्ति की एक विशेषता यह है कि ऊपर से एक मिथ्या गाम्भीर्य धारण कर भीतर से निस्सार होती है । इस प्रवृत्ति की चेष्टा यह होती है कि किसी विशेष साहित्यकार को किसी विशेष समय में प्रगतिशील और प्रतिगामी साबित करना है । और यह कहना सबसे अधिक सरल होता है—'कि वह प्रतिभामान है । प्रतिभामान है इसलिए स्वभाव से ही यथार्थपरक है । क्योंकि प्रतिभा स्वभाव से ही यथार्थवादिनी होती है । इसलिये उसका साहित्य मूलतः प्रगतिवादी है ।' अथवा यह कहते पाए जाते हैं । 'प्रगति साहित्य का स्वभाव है । यानी जो साहित्य होगा वह अनिवार्य रूप से प्रगतिशील होगा । जिसके विषय में आलोचना की जा रही है वह साहित्य है । इसलिए प्रगतिशील है—समाज से इसका अविच्छेद्य संबंध है, आदि, आदि ।[3]

अगर आप हमारे ऊपर क्रोधित न हों तो हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि वैज्ञानिक आलोचना का यह बुद्धिवाद विकास नहीं करता वरन् उसका हनन करता है । वास्तव में जो साध्य है उसको किसी भी प्रकार से यह प्रवृत्ति सिद्ध मान लेती है । गुप्त जी की आ-

---

१. ये लेख 'आलोचना' के प्रथम तीन अङ्कों में प्रकाशित हुए हैं ।
२. आलोचना-संख्या १, पृष्ठ २७ ।
३. आलोचना—अंक १—पृष्ठ ३१ ।

लोचनाओं में इस प्रवृत्ति का प्रभाव कहीं-कही पर स्पष्ट हो उठता है। नहीं तो इस कथन का क्या सार है ?

"किन्तु इतिहास उन्हे (तुलसी) एक महाकवि के रूप में स्वीकार कर चुका है। इस सत्य को सभी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करेंगे। भारतीय संस्कृति की परंपरा मे तुलसी एक अनमोल कड़ी हैं। इस उत्तराधिकार को अपना कर ही हम विकास के पथ पर चल सकते हैं। तुलसी-साहित्य का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विश्लेषण उसके अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करता है, किन्तु उन्हें हमारी जनवादी परपरा के एक महान् कवि के रूप में भी प्रकट करता है।" जहाँ तक मार्क्सवाद का प्रश्न है वह 'अन्तर्विरोध' को किसी भी वस्तु के अस्तित्व और उसकी गति की पहली शर्त मानता है। सांस्कृतिक विचारधाराओं में सामाजिक विकास के आधारभूत अन्तर्विरोधों की छाया स्पष्ट अथवा अस्पष्ट, पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से पड़ती ही है। इस अन्तर्विरोध से सर्वथा मुक्त होने का वही अर्थ है जो 'शून्य' अथवा 'अस्तित्वहीनता' का है। लेकिन यहीं पर आकर कलाकार अथवा दार्शनिक की पूरी प्रक्रिया रुक नहीं जाती। वह इन सामाजिक अन्तर्विरोधों को, जो उसकी कला में अनिवार्य रूप से प्रवेश कर गये है, किसी एक ऐसी विचारधारा मे ढँकने की कोशिश करते है, जो उन आत्मविरोधों को ऊपरी, मिथ्या आदि साबित कर देती है। यह समन्वयकारी प्रवृत्ति ही कला तथा अन्य सांस्कृतिक चेष्टाओं को सामाजिक अन्तर्विरोधों से अलग और ऊपर प्रतिष्ठित करती है। ऐसा लगता है कि जिस प्रकार से समाज मे ही जन्म लेकर सामाजिक द्वंद्वों मे अपने को ऊपर स्थापित कर शासन-सत्ता शोषक-वर्ग के पक्ष का समर्थन अपनी क्रियाशीलताओं द्वारा करती आ रही है, उसी प्रकार से विचारधाराओं के लोक में कला, दर्शन, साहित्य आदि सामाजिक क्रियाशीलताओं से अपना सम्पूर्ण तत्त्व लेते हुए भी अपनी समन्वयवादी प्रवृत्तियों के द्वारा उसी एक वर्ग की क्रियाशीलताओं को सांस्कृतिक गौरव से भी अलंकृत करते रहे हैं जिनके हितों का समर्थन शासन सत्ता करती थी। यही कला और सैद्धान्तिक लोक का वर्ग-पक्ष था। अगर कला और दर्शन आदि की इन समन्वयकारी सैद्धान्तिक प्रवृत्तियों को वर्ग-पक्षता से विलग कर उनके अन्दर व्याप्त संघर्षशील आत्मविरोधों का विकसित संबंध आज के संघर्षों से नही जोड़ा जाता तो प्रगतिशील आलोचना का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है।

वास्तव में अगर सम्पूर्ण साहित्य प्रत्येक अवस्था में समाज की प्रगतिशील शक्तियों का एक उल्लासात्मक और सैद्धान्तिक अस्त्र ही होता तो उसकी वैज्ञानिक आलोचना का जन्म ही नहीं हो सकता था। अगर 'प्रतिभा' अपने स्वभाव से ही त्रिकालज्ञ होती हुई समाज की प्रगतिकारिणी एकमात्र शक्ति होती तो भी उसकी आलोचना नहीं हो सकती थी। यथार्थ की गति और उसकी क्रियाशीलता परिवर्त्तन द्वारा एक प्रवृत्ति को ह्रासमूलक, पतनशील आदि प्रमाणित करती है और दूसरी प्रवृत्ति को प्रगतिशील और कल्याणकारी साबित करती है। वैज्ञानिक आलोचना का काम यह है कि यथार्थ की इस गति को प्रमाण

है,' तब वे ठीक कहते हैं। लेकिन जब वे यह कहते हैं कि 'हमारा मत है कि कबीर का समाज विद्रोही व्यक्तित्व भारतीय साहित्य के इतिहास में दूसरा नहीं हुआ' तो अनायास ही यह प्रश्न उठता है कि उनके साहित्य के विद्रोह और उनके गुरुत्व में पनपे हुए कबीरपंथियों की रहस्यवादी साधनाओं में क्या सामंजस्य और क्या विरोध था ? मध्यकालीन सन्तों की वाणी के ये विद्रोह किस सामाजिक यथार्थ की चट्टान से टकरा कर रहस्योन्मुखी हो उठते थे, इसकी चरचा भी करना आवश्यक था। इस मध्यकाल में भारतीय साहित्य और दर्शन के लोक में एक लम्बी संत गुरुओं की परंपरा चली है जो यथार्थवादी और रहस्यवादी साथ-साथ रहे हैं। उनका भाव-पक्ष सदैव समाज के कल्याण में लगा रहता था और उनका बुद्धि-पक्ष इस सामाजिकता का खण्डन करता हुआ कभी निर्गुण और कभी सगुण, कभी ज्ञान और कभी भक्ति, कभी कल्याण और कभी वैराग्य की शरण में शान्ति पाने का प्रयास करता था। होता यह था कि अपने व्यक्तित्व के विद्रोह का विष तो उनको अकेले ही पीना पड़ता था—पर उनके रहस्यवाद के पथ पर चलने वाले अपने गुरु के बताए हुए 'रहस्य' का भोग स्वयं करते थे।

इस स्थान पर हम एक प्रश्न उठाना और भी आवश्यक समझते हैं। वह प्रश्न यह है कि क्या यह संभव है कि कबीर के विद्रोह को उनके रहस्यवाद से, तुलसी की सामाजिक मर्यादा को राम की भक्ति से, सूर के सौन्दर्य को कृष्ण की लीलाओं के शृंगार-वियोग से पृथक् करते हुए एक को त्याज्य और दूसरे को ग्राह्य ठहराया जा सकता है ? और अगर ठहराया जा सकता है तो प्रमाण क्या है ? क्या यह प्रमाण सामाजिक क्रियाशीलता से उद्भूत होता है ? अधिक से अधिक वैज्ञानिक आलोचना यह कर सकती है कि इन संत कवियों की काव्य-गत और विचारगत प्रवृत्तियों का विवरण देते हुए जिस सामाजिक यथार्थ से टकरा करके वे विफल हो गई हैं उसका भी निरूपण साथ-साथ करें। परंपराओं का विकास सामाजिक क्रियाशीलताओं में होता है। संकलनवाद उसके लिए ठीक उत्तर नहीं है। वास्तव में यह संकलनवाद एक यांत्रिक प्रवृत्ति है जो विश्व भर की महान् विभूतियों की प्रगतिशीलताओं को एक स्थान पर जमा कर देने के बाद भी एक क़दम आगे उठाने में अपने को अक्षम पाया करती है।

इसलिए ऐसा लगता है कि प्रगतिवादी साहित्य और उसकी आलोचना स्वयं अनेक प्रवृत्तियों को अपनाती हुई और छोड़ती हुई अपना विकास करती हैं। लेकिन उनकी दिशा और लक्ष्य सामाजिक प्रगतिशील क्रियाशीलता से निर्धारित अथवा नियंत्रित होती हैं इसीलिए उसका विकास निरन्तर होता रहता है। उसकी गति सामान्य से विशिष्ट की ओर और विशिष्ट से सामान्य की ओर होती है। समाज, वर्ग-संघर्ष, परंपरा आदि से संबंधित करते हुए वह साहित्य का सृजन और उसकी आलोचना करती रहती है। इस प्रकार से सामाजिक संघर्षों के अनुभवों के आधार पर स्वयं उसने अपनी एक परंपरा का भी निर्माण

कर लिया है, जिसका स्पष्टीकरण देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार किया जा सकता है ।

गुप्तजी की साहित्य-संबंधी आलोचनाओं की प्रवृत्तियां अभी विकासमान हैं और उनकी भावी सम्भावनाओं की ओर संकेत करना आसान काम नहीं है। सतत रूप से अध्ययनशील होने और सामाजिक संघर्षो के प्रति सचेत रहने के कारण उनमें परिवर्तन और विकास होना स्वाभाविक है। इधर कुछ दिनों से गुप्तजी की आलोचना एक नया रूप ले रही है जिसका संक्षिप्त आभास हम ऊपर दे चुके हैं। गुप्तजी की आलोचना का यह नया रूप इस बात का द्योतक है कि साहित्य और कला की प्रगतिवादी आलोचना सामान्य सैद्धान्तिक लोक को छोड़कर जनवादी संघर्षो की विशिष्ट समस्याओं की ओर उन्मुख हो रही है। गुप्तजी प्रगतिवादी आलोचना के एक प्रतिनिधि आलोचक रहे हैं इसलिए उनकी आलोचनाओं में यह प्रवृत्ति सब से पहले अपना एक रूप ले रही है।

साहित्यालोचन के संबंध मे गुप्तजी ने कुछ ऐसे भी लेख लिखे हैं जिनका प्रत्यक्ष संबंध साहित्य के आन्दोलनों से जुड़ा हुआ है। 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा', 'साहित्य और राजनीति' तथा 'साहित्य और जनता' इसी कोटि के लेख है।[१] ये लेख केवल विवरणात्मक न होकर विधि-निषेधात्मक भी हैं। समाजगत यथार्थमूलक संघर्ष मे साहित्य की क्या भूमिका है ? और किस प्रकार से वह जनचेतना का एक तीव्र शस्त्र बन सकता है ? इसकी सम्यक् विवेचना की गई है। प्रगतिशील साहित्य की भूमिका के विषय में वे कहते है कि :

"आज हमारे जीवन में सत्साहित्य का भारी महत्त्व है। नृशंस, बर्बर शक्तियों का सामना करने के लिए वह एक महान् अस्त्र हमारे पास है। एक तीसरे युद्ध का ख़तरा, अणुबम की धमकी; एशिया के देशों में साम्राज्यवाद का नग्न नर्तन, स्वदेशी शासक-वर्ग का उसके साथ गठ-बन्धन, बढ़ती बेकारी, आर्थिक महामारी और अन्न-संकट––इन सभी के साथ संघर्ष करने में प्रगतिशील साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।" ("साहित्य और राजनीति") प्रगतिशील साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका यह है कि वह विश्व भर की शोषित, दलित और जीवन की प्रगति के लिए आतुर सामान्य मेहनतकशों को एक सूत्र मे बाँधता है। शोषित और दलित सामान्य जनता, साम्राज्यवादियों और उनके खरीदे हुए रक्षकों के खिलाफ़ सर्वत्र उठने की राह देख रही है––इन अत्याचारी शक्तियों को बिना पंगु किये हुए साधारण ईमानदारी का जीवन दुर्लभ और असंभव होता जा रहा है। प्रगतिशील साहित्य की यह महत्त्वपूर्ण भूमिका है कि सामन्ती और साम्राज्यवादी दीवालों को तोड़ते हुए सम्पूर्ण विश्व की जनता को इस मानवीय संघर्ष के आधार पर एक करे।

---

१. ये तीनों लेख 'आधुनिक हिन्दी साहित्य––एक दृष्टि' के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुए हैं।

भावनाओं के लोक की अभिव्यक्ति साहित्य करता आ रहा है––इसलिए इतिहास ने आधुनिक काल में साहित्य को यही महत्त्वपूर्ण भूमिका सौंपी है।

लेकिन साहित्य सामाजिक संघर्षो में अपनी यह क्लिष्ट भूमिका उसी समय सफलतापूर्वक हल कर सकता है जब एक ओर उसका प्रत्यक्ष संबंध साधारण जीवन के भावनालोक से हो और दूसरी ओर उसके पास एक विशिष्ट वैज्ञानिक विचारधारा हो। गुप्तजी इस तथ्य को बहुत ही सरल भाषा में कहते हैं।

"एक और भी बात है। केवल जीवन से निकट सम्पर्क कलाकार के लिए काफ़ी नहीं। उसका एक जीवन-दर्शन भी होता है। यह जीवन-दर्शन उसे दिव्य दृष्टि दे सकता है, यदि वह सही दर्शन है। ग़लत दर्शन उसे पथभ्रष्ट करेगा। आज की परिस्थिति में सामन्ती विचार-दर्शन हमारा उद्धार नहीं कर सकता। अनजाने में भी हमारा कुछ-न-कुछ जीवन दर्शन होता है चाहे उसकी रेखायें अस्पष्ट हों। आधुनिक युग का सामाजिक प्राणी यह ज़रूर चाहेगा कि उसका जीवन-दर्शन सचेत हो, और विज्ञान की दृष्टि से परखा हुआ हो।" (साहित्य और राजनीति)

कहना न होगा कि गुप्तजी के लिये यह जीवन-दर्शन मार्क्सवाद है––जो अनेक सामाजिक क्रान्तियों में परखा जा चुका है––और ठीक निकला है। कार्ल मार्क्स की आलोचनाओं से ही वैज्ञानिक सामाजिक आलोचनाओं का युग शुरू होता है और उनकी आलोचनाओं की यह प्रखरता और महत्ता रही है कि अनेक गतिशील प्रवृत्तियों में से उन प्रवृत्तियों का पक्ष उन्होंने लिया जिनके द्वारा एक नवीन मानव-समाज की प्रतिष्ठा और रचना होने वाली थी। मार्क्सवाद एक वर्ग-परक दर्शन है। वह समाज के असामाजिक-शोषक वर्गो का कल्याण करने के लिये वचनबद्ध नहीं है। उसकी चिन्तना और क्रियाशीलता उस कर्मठ वर्ग के विकास और उन्नति में लगी हुई है जिसके हाथों में समाज का भावी निर्माण है––चाहे वह निर्माण भौतिक के नाम से पुकारा जाय, अथवा, मानवता की नई सभ्यता के नाम से अभिहित किया जाय।

इसलिए यह कहना ठीक ही होगा कि गुप्तजी साहित्यिक प्रवृत्तियों के सरल, गंभीर और सौम्य आलोचक ही नहीं हैं वरन् साहित्य के जनवादी संगठन के एक सफल और सुयोग्य निर्माणकर्त्ता भी हैं। हमारे वर्त्तमान साहित्य में गुप्तजी के व्यक्तित्व की यह एक अपनी महत्ता है।

आदित्य मिश्र

* * *

डॉ० रामविलास शर्मा

"हम आप के साथ ७० फीसदी तो आ गये है, बस ३० फीसदी शेष है" एक साथी पत्रकार ने कुछ मुस्कुराते हुए कहा।

"७० फीसदी तो क्या, यदि कोई हमारे साथ १ फीसदी भी आये तो वह हमारे साथ है। शांति और जनतंत्र में विश्वास करने वाला हमारा साथी है।" इस क्षणिक वार्ता

के पहिले दौर में कुछ मुस्कुराते और दूसरे दौर में कुछ गंभीरता धारण किये एक अधिकृत वाणी निकली !

मैंने ग़ौर से उस वाणी के प्रवाह-स्रोत को देखा: उन्नत ललाट, भरा चेहरा, सफ़ेद गेहुआँ रंग, चमकती आँखें जो प्रतिभा की प्रतीक, हृष्ट पुष्ट शरीर ! वेष भूषा सरल—एक कमीज आधी बाहों की और सफ़ेद पतलून । महसूस हुआ बुद्धि के वैभव से संपन्न है और उस पर हल्की हँसी जैसे सहृदयता की छाप ! साथ ही मुस्कराहट से आने वाला गांभीर्य इस बात की सूचना देता था—व्यक्ति गहरा भी है !

यह उस एक मिनट की प्रतिक्रिया थी जो पहले साक्षात्कार से पड़ी ।

दिल्ली क्षेत्रीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का अवसर था—वही व्यक्ति मंच का सूत्रधार था । यह बात गौण है किन्तु प्रमुख उसके भाषण सीधी स्पष्ट और सरल शैली में कहे गए । वक्तृत्व-कला की कृत्रिमता का उनमें अभाव किन्तु भाव गुंफित । साथ में व्यंग्यों के पुट ! भाषण जैसे वातावरण को बाँधे चलता था !

फिर कई बार उस व्यक्ति को देखा, भाषण सुने ! विद्वान् की अहम्मन्यता उसमें पाई नहीं । एकदम घुल-मिल जाने वाला ! किन्तु एक ख़ासियत और, व्यक्ति पेंचीला ! अच्छे पहलवान की तरह दाँव खाँ । और सचमुच वह कसरती है, अखाड़ों की मिट्टी में जिस्म को मज़बूत किया है !

व्यक्ति की अदाएँ हैं, और अदाएँ किसे आकर्षित नहीं करतीं ?

दुनिया में पहले नाम रख दिया जाता है, इसलिए अनेक व्यक्तियों के साथ जैसे वह फिट नहीं बैठता ! इसलिये ही शायद बहुत से रंगीन मिजाज़ अपना नामकरण याने कि उपनाम बाद को रखते हैं । किन्तु हमारे इस नायक का नाम बेमौजूँ नहीं ! इन्हें कहते हैं डॉ. रामविलास शर्मा ।

डॉक्टर में जो डकार और टकार हैं, वह उन में पूरी तह रमा है, साथ ही शब्द की सार्थकता अर्थात् विद्वत्ता । और रामविलास शर्मा—जैसे सरल सहज काव्य हो ! इसीलिए वह आलोचक और कवि साथ साथ हैं । स्वयं एक जगह कहते हैं "मैंने अपना साहित्यिक जीवन कविता लिखने से प्रारंभ किया था । कहा जाता है कि असफल कवि सफल समालोचक बन जाता है । यह संशयात्मक है कि कवि के रूप में मैं बिल्कुल असफल रहा हूँ । इसलिए आलोचना की सफलता भी मेरे निकट संशयात्मक है ।" इस उद्धरण के अतिरिक्त साधारण बातचीत में भी आप उनसे कहिये कि आप सफल समालोचक हैं तो वह यह ज़रूर प्रकट करेंगे कि वह एक कवि भी हैं ! राम विलास (मेरी दृष्टि में काव्य) से उन्हें सहज स्नेह है किन्तु 'डॉक्टर' ने जैसे औरों को व्याप्त किया है । मतलब यह कि आप साहित्य-जगत् में एक समालोचक की भाँति अधिक प्रसिद्ध हैं, यद्यपि आपकी जनवादी कविताएँ भी कम प्रभावशाली नहीं !

डॉक्टर राम विलास शर्मा को अच्छी तरह समझने के लिए यह समझ लेना आवश्यक

है कि वह कम्युनिस्ट हैं कुल से इति तक। विशाल अध्ययन और जनता से लगाव के कारण दृष्टिकोण में एक सही समझ प्रतिभासित होती है। किन्हीं भ्रांत धारणाओं के कारण प्रगतिवादियों पर यह आरोप कि वे नयेपन में इतने डूबे हैं कि पुराने अच्छे के प्रति भी उनमें दुर्भाव है उनके सही नज़रिये ने खंड-खंड किया है। 'संस्कृति और साहित्य' की भूमिका में आपने कहा है, "नये साहित्य और विशेषकर नयी समालोचना पर यह अभियोग लगाया जाता है कि वह पिछले साहित्य की परम्पराओं से तटस्थ और उनके प्रति उदासीन है। पुरानी परम्परा का उल्लख करने पर यह भी घोषित किया जाता है कि प्रगतिशील आलोचक तुलसीदास या भारतेंदु को ज़बर्दस्ती प्रगतिशील बना रहे हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परम्पराओं से परिचित हों। परिचित होने के साथ-साथ हमें उनके श्रेष्ठ तत्त्वों को ग्रहण भी करना चाहिए। ...."किन्तु साहित्य में समाज-हित की भावना उनके साथ-साथ रहती है: "मेरा उन लोगों से मतभेद है जो साहित्य को समाज-हित या अहित से परे मान कर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की इति कर देते है। उनके लिए बिहारी और तुलसीदास दोनों ही समान रूप से वंदनीय हैं और दोनों की ही परम्परा समान रूप से वाँछनीय है। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए मेरी दृष्टि में समाज के हित और अहित को भूल नहीं जाना चाहिए। यदि दरबारों में राजाओं की चाटुकारिता करते हुए भी श्रेष्ठ साहित्य रचा जा सकता था तो इसे संत कवियों की सनक ही माननी चाहिए कि वे दरबारों में आनन्द पूर्वक समय न बिता कर चिमटा बजाते हुए रूढ़िवादियों का विरोध सहन करते रहे।...." इस तरह हमने देखा डॉ. राम विलास शर्मा पुरानी संद् परम्परा के प्रति कितने आग्रहशील हैं? यह भूमिका आपने १ अक्तूबर '४७ को लिखी है, किन्तु यह दृष्टिकोण आपका उससे भी पहला है। अगस्त '४३ में साप्ताहिक नवयुग में आपने तुलसी के प्रगतिशील पहलू पर लेख लिखा था जब कि कई प्रतिष्ठित प्रगतिवादी साहित्यिक तुलसी को प्रगतिशील नहीं मानते थे। आपके इस दृष्टिकोण ने प्रगतिशील लेखकों को काफ़ी लाभ पहुँचाया है। नये की सनक में अच्छे पुराने को भूलना 'मूर्खता' से अधिक कुछ नही कहलाया जा सकता!

यह सही मार्क्सवादी दृष्टिकोण उनकी रचनाओं में उनकी सरल किन्तु चुभती शैली से और सजीव हो जाता है। 'हिन्दी साहित्य की परम्परा' लेख में हिन्दी की प्रगति के संबंध में आप लिखते हैं, "हिन्दी के प्रगति-पथ में बहुत-सी बाधाएँ हैं। प्रगति के विरोधी पहले से अब ज्यादा चौकन्ने हैं परन्तु उनका विरोध बहुत निर्बल है। नये या पुराने लेखकों में एक भी ऐसा नहीं है जो समर्थ भाव से उनकी हिमायत कर सके। हिन्दी के ९९ फीसदी अच्छे लेखकों की सहानुभूति नई धारा के साथ है। १ फी सदी में वे लोग हैं जिनकी कहीं पूछ नहीं है और जो विरोध द्वारा अपना जीवन सफल करना चाहते हैं, या वे लोग हैं जो अपनी जीविका-वृत्ति के लिए दूसरों की देहरी पर माथा रगड़ रहे हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो खब्तुल हवास हैं और प्रगति से बाँधे हुए १९ वीं सदी के कफ़स में

चहचहा रहे हैं और अपने चहचहान पर फ़िदा हो कर कभी कभी जोरों से पर भी फड़-फड़ाने लगते हैं। तभी इनकी ओर ध्यान आकर्षित होता है।''......देखिये, प्रतिक्रिया-वादी आलोचकों पर कैसी चुटकी ली है !

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नगेंद्र की पुस्तक 'विचार और अनुभूति'' पर फ़ब्ती कसते हुए आपने 'अहं का विस्फोट' लेख में लिखा है : ''नगेंद्र जी के विचार उन्हें एक क़दम आगे ढकेलते हैं तो उनकी अनुभूति उन्हें चार क़दम पीछे घसीट ले जाती है। इस किताब का नाम 'एक क़दम आगे तो चार क़दम पीछे' भी हो सकता था ।''

और भी :

''नगेंद्र जी के यहाँ हर चीज़ शुद्ध है। बानगी देखिये :

(१) साहित्य के क्षेत्र में तो शुद्ध मनोविज्ञान......का ही अधिक विश्वास करना उचित होगा ।

(२) ''लोक प्रचलित अस्थायी वादों के द्वारा साहित्य का रस शुद्ध हो जाता है।''

(३) ''छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है।'' हम अपनी तरफ़ से यही कह सकते हैं कि नगेंद्र जी की आलोचना बिल्कुल शुद्ध आलोचना होती है।''

आवश्यकता के अनुसार कही भारी, कही हल्की, चिकौटी भरने में रामविलास काफ़ी चतुर हैं। कहीं कहीं आप की आलोचनात्मक टिप्पणियाँ स्वर्गीय साहित्याचार्य पंडित पद्मसिह शर्मा की शैली की चुभन का मज़ा देती हैं। आपने बहुत कम ऐसे लेख लिखे हैं जिनमें हास्य तथा व्यंग्य का पुट न होता हो । भाषा की प्रवाहशीलता और उसमें यत्र-तत्र प्रयुक्त मुहावरे उन व्यंग्यों में बहुत ही रस भर देते हैं। एक सामाजिक नाटक की भाषा की आलोचना करते हुए आपने 'हिंदी गद्य शैली पर कुछ विचार' नामक लेख में लिखा है, ''......'सामाजिक पानी की तह' से ऊपर उठाना कमाल है। एक वाक्य में नीतिराज सर्वनामों का प्रयोग भूल गया है, इसलिए 'जो धर्म प्रचलित है, उस धर्म के भय से'––बारबार धर्म की दुहाई देने लगता है 'समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करना' आदि ऐसे टुकड़े हैं जो नाटक की वाक्य रचना में ठूँठ जैसे खड़े है। नीतिराज ने डारविन और कार्लमार्क्स को ही पानी नहीं दिया, बोलचाल की हिन्दी पर भी पानी फेर दिया है ।''

आप की गद्य-शैली के विषय में जो मान्यता है, वही इनकी अपनी गद्य-रचनाओं में शब्दश: चरितार्थ होती है। आपका विचार है, ''....हिन्दी की गद्य-शैली को सँवारने के लिए वाक्य-रचना पर ध्यान देना सबसे ज़्यादा जरूरी है। लिखते समय हम वाक्यों को सुनते भी जाए या लिख लेने पर उन्हें ज़ोर से पढ़कर सुनें-सुनायें जिससे कि उनका अस्वाभाविक प्रवाह तुरंत मालूम हो जाय और हम उनमें आवश्यक सुधार कर सकें । इसके अलावा संसार की हर भाषा के पुष्ट गद्य का आधार आम जनता की बोलचाल की

भाषा रही है। हमें अपनी गद्य-शैली को सबल और समर्थ बनाने के लिए फिर यही आधार क़ायम करना है--"

आपकी लेखन-शैली की एक विशेषता यह भी है कि आप प्रमाण और उदाहरण देते चलते है । यही कारण है कि आपकी आलोचना बड़ी वज़नी होती है, वज़नी इस अर्थ में कि उसको आसानी से परे नहीं हटाया जाता । आपने महापंडित राहुल सांकृत्यायन की विचारधारा की आलोचना की, तो हिन्दी साहित्य में जैसे एक बवंडर खड़ा हो गया है। प्रतिक्रियावादी और प्रगतिवादी दोनों आप मे बिगड़ गए किन्तु डॉ. रामविलास शर्मा की लेखनी की मार गामा के कर-दंड प्रहार से भी कड़ी है। अपने आलोचकों से कहते हैं कि हम भी सप्रमाण बात करते है और आप भी ऐसा ही करिए। इस संबंध में 'हंस' के संपादक श्री अमृत राय को उत्तर देते हुए आपने प्रमाणों की मांग की थी और कहा था कि उनके "अभाव में इस तरह के आरोपों पर गंभीरता से विचार करना वह "आवश्यक नहीं" समझते।

आप की विद्वत्ता, पैनी सूझ, धाराप्रवाह भाषा, सप्रमाण बात कहने की आदत, वैज्ञानिक दृष्टि, तथा किसी के साथ भी रियायत न करने की प्रवृत्ति आपको एक सबल समर्थ आलोचक बनाने में समर्थ हुई है। किन्तु इससे आप में अहम्मन्यता नही आ पाई। बड़े-बड़े लेखक तथा समालोचक जिस प्रकार अपने समकक्ष या अपने से छोटे लेखकों तथा कवियों का अपनी रचनाओं में ज़िक्र करते हुए झिझकते है किन्तु आप है कि बड़ी उदारतापूर्वक अपने से छोटे लेखकों के भी उद्धरण अपनी रचनाओं में देते है और आदर पूर्वक देते है । चीज़ पसन्द आई और उसका ज़िक्र आया । यह हिन्दी की एक स्वस्थ परम्परा है जिसे कुछ अहंवादियों ने तिलांजलि दे रखी है, किन्तु डॉ. रामविलास उसे जैसे आगे बढ़ाने के लिए कटिबद्ध हैं। एक ओर जहाँ जनवाद से दूर हटने पर राहुल-सांकृत्यायन जैसे महापंडित और सुमित्रानन्दन पंत जैसे महाकवि को भी नहीं बख्शते दूसरी ओर छोटे-छोटे स्वस्थ रचनाकारों की प्रशंसा करने से नहीं चूकते ।

बहुत-से लोग आपकी कटु आलोचनाओं से खिन्न हो जाते हैं और उन्होंने आपको पहलवान गामा या ऐसे ही अनेक ओज-बल पूर्ण विशेषणों से 'सम्मानित' कर रखा है किन्तु यह लगभग सभी को स्वीकार करना पड़ता है कि आपकी अपनी एक अच्छी तरह से सोची-विचारी राह है जिस पर आप कड़ा विरोध और आलोचनाओं की चिन्ता किये बिना चलते हैं। एक कुशल कारीग़र की तरह से जैसे सब कुछ नापजोख़ कर करते हैं। हिन्दी में संत साहित्य, भारतेंदु युग, छायावाद आदि विवादास्पद प्रश्नों पर आपके सुलझे हुए विचार मिलते हैं । पुरातनता का नाम आने पर वह किसी चीज़ को एकदम प्रतिक्रियावादी नहीं कह देते और नवीनता का नाम आने पर प्रगतिशील। दरबारी संस्कृति के विद्रोही संत कवियों के प्रति आपकी आस्था है। उस युग की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का भलीभाँति बिवेचन करके आपने संत-साहित्य की परख

की है और उसको रससिक्त कर देने की शक्ति की सराहना : "सदियों के सामंती शासन की शिला के नीचे जन-साधारण की सहृदयता का जल सिमट रहा था; संत कवियों की बानी के रूप में वह अचानक फूट पड़ा और उसने समूचे भारत को रससिक्त कर दिया । ....(संत कवि और रवीन्द्रनाथ); "........गाँव के किसानों को आये दिन के व्यवहार में तुलसी, रहीम, सूर, गिरधर आदि की उक्तियाँ उद्धृत करते सुनिये, तो पता चलेगा कि वे साहित्यकारों के शब्दों को किस तरह अपने जीवन में परखते चलते हैं। जो साहित्य इस तरह उनके जीवन में घुलमिल जाता है, वही टिकाऊ होता है, दूसरा नही । ....इसलिए यह मानना पड़ेगा कि मध्यकालीन और विशेष रूप से संत कवियों की लोकप्रियता का मुख्य कारण जनता का अंधविश्वास या धर्म के प्रति आसक्ति नहीं है। यह आसक्ति मिट जायगी, अंधविश्वास दूर हो जायेंगे, फिर भी यह दावा कौन करेगा कि हिन्दी साहित्य से तुलसी, सूर, मीरा और, रसखान की लोकप्रियता कम हो जायगी ? इस लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यह है कि धार्मिक ताने-बाने के बावजूद जाति का वास्तविक तथ्य धार्मिक नही, सामाजिक है और सामाजिक भी ऐसा जो सामंतशाही का पोषक नहीं है।" (मध्यकालीन हिन्दी कविता में गेयता)

इसी प्रकार आप भारतेंदु और उनके युग के लेखकों के साम्राज्यवाद-विरोध, जनसंपर्क, सहज स्वाभाविक साहित्य-रचना, स्पष्टवादिता आदि गुणों से प्रभावित है, किन्तु उस युग के सीमा-संकोच, राग-द्वेष और विश्वास भी उनकी दृष्टि से नहीं चूकते। इस युग के साहित्य के बारे में आपने कहा है, ".... भारतेंदु युग के साहित्य का वह भाग, जिसका संबंध राजनीति से है, और भी महत्त्वपूर्ण है। कुछ कविताओं में महारानी विक्टोरिया का गुण गान है और ब्रिटिश सरकार के प्रति भक्ति का प्रदर्शन है । परन्तु देश के दुर्भिक्ष, महामारी, टैक्स आदि ने लेखक की आँखें खोल दीं और इनको लेकर उन्होंने जनता को चौकन्ना करने में अपनी ओर से कुछ भी नहीं उठा रखा । यह नवीन राजनीतिक चेतना पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक प्रकट हुई । उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में इस तरह की रचनाएँ भरी पड़ी हैं। व्यंग्य और हास्य इस साहित्य की विशेषताएँ हैं और कोई भी लेखक अपनी रचनाओं को इनसे निर्लिप्त नहीं रख सका ....अनेक कठिनाइयों का सामना करने पर भी इन लेखकों ने वर्षों तक अपनी पत्रिकाओं को भी जीवित रखा । बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पुस्तक प्रकाशन से लाभ उठाने वालों की संख्या बढ़ गई । इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा । खरी बात कहने के लिये अब गुंजाइश थी । ......" ('हिन्दी साहित्य की परम्परा लेख') आपने भारतेंदु युग पर एक खोजपूर्ण पुस्तक भी लिखी है ।

भारतेंदु युग के बाद आपने प्रेमचन्द के साहित्य की जनवादी परम्परा की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है,कारण : "प्रेमचन्द किसानों के बहुत निकट थे, उन्हें बहुत अच्छी

तरह जानते-पहिचानते थे; विचारों में नर्म होते हुए भी परिस्थितियों का चित्रण उन्हें एक क्रांतिकारी लेखक की सतह तक खींच लाता था। अपने उपन्यासों में उन्होंने महत्त्व-पूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का चित्रण किया था । भारतीय कथा साहित्य में यह एक महत्त्वपूर्ण परम्परा का आरंभ था । 'रंगभूमि' में उन्होंने नये उद्योग धंधों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर प्रकाश डाला। 'कर्मभूमि' में अछूत आन्दोलन और लगान बंदी तथा 'प्रेमाश्रम' में किसान-जमींदार संघर्ष के विभिन्न पहलुओं को चित्रित किया । 'गोदान' में उन्होंने किसान-ज़मींदार संघर्ष के विभिन्न पहलुओं को चित्रित किया । 'गोदान' में उन्होंने किसान-महाजन संघर्ष की कहानी पूर्ण विस्तार के साथ उसकी करुणा और भयानकता पर पर्दा डाले बिना कही। हिन्दुस्तान के किसानों को प्रेमचन्द की रचनाओं में जो आत्माभिव्यंजन मिला, वह भारतीय साहित्य में बेजोड़ है।"

प्रेमचन्द और मैथिलीशरण के युग के साथ ही साथ एक नये युग का सूत्रपात हो रहा था । यह युग हिन्दी में छायावादी युग के नाम से प्रसिद्ध है। इसके मुख्य स्तंभों में स्व. प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी वर्मा के नाम लिये जाते हैं। इस युग का प्रारंभ से हो बड़ा विरोध हुआ । स्व. श्री महावीर प्रसाद जी द्विवेदी, स्व. साहित्याचार्य पं. पद्मसिंह शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, स्व. पं. रामचंद्र शुक्ल तथा रघुपति सहाय फिराक़ आदि ने अपने कलम-कुठारों से छायावादी साहित्यिकों और साहित्य पर अनवरत आक्रमण किये । आज भी छायावादी साहित्य बड़ा विवाद का विषय है। डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी साहित्य की प्रगति में इस युग का अभिनंदन किया है और विरोधियों की व्यंग्यपूर्ण शैली में खिल्ली उड़ाई है। आपने नयी रोमांटिक कविता को दाद दी और विशेषकर इसलिए "रीतिकालीन परम्परा को इसने पूरी तरह ख़त्म कर दिया । ....नयी रोमांटिक कविता ने नायक-नायिकाओं की क्रीड़ा के स्थान पर व्यक्ति और उसके भावों-विचारों को प्रतिष्ठित किया । निष्प्राण प्रतीकों के बदले सजीव भावों की व्यंजना के द्वारा वे साहित्य को जीवन के निकट लाए।" डॉ. रामविलास ने छायावादी साहित्य का मूल्यांकन राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि से भी किया है और उसकी 'व्यक्ति-वाद' संबंधी कमजोरी को भाँपने से भी वह नहीं चूके हैं। इसीलिए नये प्रगतिवादी साहित्य के सामने छायावादी साहित्य की प्रतिगामिता को पूरी तरह खोलते हैं। छाया-वादी युग के गद्य-साहित्य में जो जीवन का अधिक स्पष्ट और यथार्थवादी दर्शन है, उसकी आपने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

भौतिकवाद या कहना चाहिए द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, मार्क्सवाद में आस्थाशील होने के कारण डॉक्टर महोदय प्रसाद, पंत, निराला तथा महादेवी की आध्यात्मिक बारी-कियों को कहीं भी दृष्टि से ओझल नहीं कर पाये हैं। पंत पर उनकी आज की बड़ी आ-लोचना एक दम नयी तथा अचानक नहीं है बल्कि आज से ८, ९ वर्ष से ही वह यह कहते आ रहे हैं। 'ग्राम्या' की उन्होंने प्रशंसा की थी किन्तु एक सीमा में। वह पंत जी के स्वभाव

से परिचित थे : "मुझे ऐसा लगता है कि वह स्वप्न-सौंदर्य से काफ़ी दूर चले जाना चाहते हैं परन्तु वह उन्हें अपनी ओर घसीट ही लाता है। फिर भी 'ग्राम्या' में उन्होंने एक प्रयत्न किया है। यह प्रयास उस व्यक्ति का है जो कि स्वभाव से दुनिया की भीड़भाड़ से दूर रहने वाला था। ......" 'हिन्दी साहित्य की परम्परा'--लेख--मार्च ४३ ।

डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना पर यह आरोप कि विरोध होने पर वह अचानक ही हमला कर देते है अधिकांशतः ग़लत है। वह पूर्ण अध्ययन करने के बाद अपनी राय क़ायम करते है, हाँ यह बात सही है कि उनका दृष्टिकोण अपना है। इतना तय है कि डॉ. रामविलास साम्राज्यवाद, सामंतवाद, पूंजीवाद और संप्रदायवाद के कट्टर शत्रु हैं और जिन रचनाओं से इन वादों को बल मिलता है--थोड़ा ही सही--उनकी वह कटु आलोचना करने से नही चूकते, फिर चाहे आलोच्य वाल्मीकि हों, रवीन्द्र हों, शरत् हों, राहुल हों, पंत हों या कोई और। आलोचना क्षेत्र में प्रगतिशील लेखकों की भी उन्होंने अपने ढग से ही आलोचना की है। यशपाल, प्रभाकर माचवे, रांगेय राघव आदि साहित्यिकों की जहाँ उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वहाँ उन्होंने उन्हें आड़े हाथों भी लिया है। तुलसी और अवध के किसानों के प्रबल तरफ़दार डॉ. रामविलास शर्मा तुलसी और अवधी किसानों जैसे ही संघर्षशील है। इन दोनों की हेकड़ प्रवृत्तियों का वह अपनी रचनाओं और भाषणों या पारस्परिक बातचीत में बड़े हुलास के साथ ज़िक्र करते है। यह हेकड़ी उनका दुर्गुण हो जाता यदि जनवादी परम्परा की सही समझ और वैज्ञानिक दृष्टिकोण उनके पास न होता ।

आप तुलसी की भाँति हिन्दी साहित्य में निराला के प्रशंसक है। अवध और बैसवाड़ा से उनका संबंध जोडकर जैसे उनके प्रति उनमें अपनापन आ जाता है। 'निराला' की भूमिका में उन्होंने ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है : "बारह वर्ष तक इतने निकट संपर्क में रहने के कारण उन पर पूर्ण तटस्थता से लिखना मेरे लिए प्रायः असम्भव है।" किन्तु निराला पर जो कुछ और जिस ढंग से उन्होंने लिखा है, उसमे उनका यह दावा बहुतांश में सत्य ठहरता है : "साहित्य के हित को ध्यान में रखते हुए मैंने यही प्रयास किया कि कहीं उसकी अनुचित प्रशंसा न हो और कही भी उनके साहित्य की कमज़ोरियों पर पर्दा डालने से हमारी नई साहित्यिक प्रवृत्तियों का अनहित न हो। यह कहने की ज़रूरत नही कि उनकी रचनाओं का उचित स्थान निर्देश करने में मेरा हृदय निःशंक रहा है।"

निराला जी ने तुलसी की भाँति अनेक विकट विरोधों और अपराधों का सामना किया है और सफलतापूर्वक उनका सामना करने मे जो उनमें अपने प्रति एक बड़प्पन की भावना आ गई उसकी ओर बहुत से व्यक्ति इशारा करते है। डॉ. रामविलास ने जैसे इस चीज़ को समझा है और उन्होंने काफ़ी विस्तार से महाकवि की सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन किया है और उनके प्रति सहानुभूतिपरक होने की प्रेरणा दी है। ऐसा करना हमारे विचार से आलोचक के दायरे की चीज़ नही है। निराला जी पर उनकी

पुस्तक 'निराला' अपने प्रकार की पुस्तक है और पुरस्कार प्राप्त 'महाप्राण निराला,' 'क्रांतिकारी कवि निराला' आदि पुस्तकों से इसे उपयोगी पाया है। डॉ० रामविलास ने अपनी आलोचना में महाकवि के 'व्यक्तित्ववादी' पहलू का भी अच्छी तरह निरूपण किया है। इसके साथ ही आपने निराला की प्रगतिशीलता की सीमा-मर्यादा और विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख किया है। 'हिन्दी साहित्य की परम्परा' लेख में आपने लिखा है : "निराला जी छायावादी कवियों में सबसे अधिक प्रगतिशील है और अपनी उस प्रगतिशीलता को याद करके ही वह मानों छायावाद से नाता नहीं तोड़ना चाहते। छायावाद को उन्होंने ही भारतीय अद्वैतवाद का दार्शनिक आधार दिया था। इसलिए छायावाद उनके लिए रोमांटिक विद्रोह-मात्र नहीं रहा। यह उनका जीवन-दर्शन था। वह कर्ममय जीवन की ओर ढकेलता है, संघर्ष से बच कर किसी कोने में छिप रहने का बहाना नहीं है।"

इसके साथ ही साथ एक अन्य विवादास्पद प्रश्न पर कुछ और कह देना ठीक होगा। निरालाजी ने अपनी कविताएँ मुक्त छंद में की है और रामविलास शर्मा ने उनकी प्रशंसा की है जब कि वह अधिकतर गेय तथा छंदोबद्ध कविता के हामी है। मुक्त छन्द के विषय में शर्माजी को तब शिकायत होती है जब कि वह कोरा गद्य हो जाय। आपकी शिकायत है, "आज कल मुक्त छन्द में रचनाएँ होती है, उनमें प्रवाह की धीरता, गंभीरता के स्थान में पंगुता, गतिहीनता अधिक रहती है।" निराला जी की कविता में गेयता, ध्वनि साम्य, शब्दावृत्ति, उचित अनुप्रास, तथा काव्य-गुण होते है जिससे मुक्त छन्द कण-कटु नही हो पाता है या इस स्थिति तक नही आ पाता : " श्री सोहन लाल द्विवेदी ने मुक्त छंद को सुगठित बनाने के लिए जिन तरक़ीबों से काम लिया है, वे इतनी सस्ती है कि वे मुक्त छंद को पैरोडी मालूम पड़ती हैं। अनधिकार चेष्टा से मुक्त छंद बहुत जल्दी ही बकवास में बदल जाता है।.................................श्री प्रभाकर माचवे के मुक्त छंद गद्यात्मक सीमा को लांघ गए हैं।" (निराला और मुक्त छंद—लेख १९४४)

डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचनाओं में, यह कहने की आवश्यकता नही, रस-वादियों की भाँति रस-विवेचन और अलंकारादि चयन को कोई स्थान नही। आपने 'ब्रह्मा-नंद सहोदर' और उसके आधार पर आलोचना करने वालों के प्रति बडा चुहल किया है और उसकी आज के युग में निस्सारता सिद्ध की है। किन्तु जैसा कि हमने पहले लिखा, इसका यह अर्थ नही कि आप अच्छे-पुराने के भी विरुद्ध है। 'प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न' नामक लेख में आपने मार्क्स का हवाला देते हुए लिखा है, "हिन्दुस्तान के बारे में जो अपने प्रसिद्ध पत्र उन्होंने लिखे थे, उनमें भारत की संस्कृति को यूरुप के धर्मो और संस्कृतियों की जननी कहा था। इसमें कोई सन्देह नही रह जाता कि मार्क्सवाद वास्तव में सांस्कृतिक निधि की भी परम्परा का पोषक है और मनुष्य की अर्जित सांस्कृतिक निधि को भी कभी भी खोना नही चाहता।" यह आधार शर्माजी के सामने सदा रहता है। इसके साथ वह यह भी ध्यान में रखते है, "जो पूँजीवाद या साम्राज्यवाद की खुशामद करे, उन्हें स्थायी

बनाने में मदद करे, प्रगति के मार्ग में काँटे बिछाए, वह देश का शत्रु है और हिन्दी का शत्रु है, धर्म और संस्कृति के नाम पर जनता का गला घोंट कर वह पूँजीवाद के दानव को मोटा करना चाहता है। उससे सभी लेखकों और पाठकों को सावधान रहना चाहिए।"

आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा को समझने के लिए हम यह बात और ध्यान में रखते हैं कि वह एक कवि हैं, अध्यापक हैं और साथ में पत्रकार ! पत्रकारिता की प्रवृत्ति उनमें काफ़ी मात्रा में विद्यमान है। यही कारण है कि वह साहित्य को सामयिक घटना-प्रवाह से जोड़ते चलते हैं। मैं तो यह कहना चाहूँगा कि उनके अधिकांश लेखों में पत्रकारिता की प्रवृत्ति रहती है जिसे वह पसन्द भी करते हैं। भारतेन्दु युग के लेखकों तथा बाद के बड़े लेखकों में पत्रपटुता के गुण की उन्होंने प्रशंसा की है। पत्रकारिता में 'मनोरंजन' और प्रचार भी रहते हैं, इसलिए ये तो प्रवृत्तियाँ डॉ० रामविलास की अपनी हैं। इसी संदर्भ में यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि डा० रामविलास शर्मा साहित्यकारों और पत्रकारों के संगठन के पक्षपाती भी हैं।

यह है आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा जो किन्हीं के लिए खुशी और किन्हीं के लिए सरदर्द हैं और यही इस बात का प्रमाण है कि वह हिन्दी के साहित्य में एक बेजोड़ जगह बना चुके हैं। और इसलिए लोगों को चिढ़कर उन्हें 'गामा' कहना एकदम ठीक है।

हरिदत्त शर्मा

*　　*　　*

शिवदानसिंह चौहान

"नवीन क्रांतिकारी दृष्टिकोण के कारण जो नवीन प्रभाव इस समय विश्वसाहित्य में आये हैं उनको भारतीय समीक्षा-पद्धति में अवतरित करना शुक्लजी द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को सम्पूर्ति देना है, उनकी विरासत को आगे ले जाने का जो दायित्व हमारे कमज़ोर कन्धों पर आ पड़ा है, उसके गुरुत्व का हम अनुभव कर रहे हैं।"

(साहित्य की परख, पृ. ७०)

आचार्य शुक्ल के निधन पर लिखे गये इन वाक्यों में चौहान जी की आलोचनात्मक चेतना ही बोल पड़ी है,। शुक्ल जी की 'विरासत' को 'आगे ले जाने' का दायित्व निभाने के लिये वे पिछले पंद्रह वर्ष से निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं और बड़ी सजगता से हिन्दी साहित्य की गतिविधि का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते आये हैं।

शुक्ल जी की 'पैनी' समीक्षा-पद्धति और भारतीय संस्कृति तथा साहित्य में उनकी 'गहरी पैठ' की चर्चा करते हुये उन्होंने उनके अभिनव दृष्टिकोण को सराहा है और मुक्त-कंठ से स्वीकारा है कि कवियों के समकालीन समाज का विशद वर्णन करके उन्होंने 'पहली बार' प्रतिपादित किया कि 'कवि या कलाकार अपने समाज से अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है।"[१]

---

१. दे०—सा० प०, पृ० ६७.

पर कुछ ही वर्ष बाद उन्होंने शुक्ल जी की साहित्य-मीमांसा में एक 'अवैज्ञानिक आस्थामूलक नीतिमत्ता और वर्णाश्रम धर्म की आदर्शवादिता' की अपेक्षा के साथ साथ प्रवृत्ति-निरूपक मनोविज्ञान के आसरे आधुनिकता की पुट देने का प्रयत्न देखा। यद्यपि शुक्ल जी पर उनका यह दोषारोपण युक्तियुक्त नहीं 'कि अपनी तर्कशून्यता और दुराग्रह को ढाँकने के लिये उन्होंने अनपेक्षित पाण्डित्य प्रदर्शन का रूपक रचा[1]; फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि शुक्लजी ने क्रोचे के सौंदर्य्य-सिद्धांतों की मनोऽनुकूल व्याख्या की और आई. ए. रिचार्ड्स के वाक्यों द्वारा भारतीय लक्षण ग्रन्थों की स्थापनाओं का ही समर्थन करवाया।[2] सच तो यह है कि शुक्लजी ने हिन्दी आलोचना को प्राचीन और नवीन के समन्वय से व्यापक बनाने की जो चेष्टा की थी उसका परिणाम सन्तोषजनक नहीं हो सका, क्योंकि इसके सहारे वे हिन्दी के आधुनिक काल की विवेचना करने में तो असफल रहे ही थे, रीतिकाल के पर्यालोचन में भी वे लड़खड़ाए। भक्तिकाल की जिस 'लोकमंगल' भावना का उन्होंने प्रतिपादन किया था, वह वास्तव में उतनी आधिभौतिक नहीं थी जितनी आध्यात्मिक; और इसीलिये वह प्रगतिवादियों के समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण को संतुष्ट नहीं कर सकी।

शुक्ल जी के पश्चात् जहाँ एक ओर रसवादी आलोचकों की सैद्धांतिक विवेचना ने मनोविश्लेषण की उपपत्तियों का आसारा ढूँढा, वहाँ दूसरी तरफ़ पश्चिमी आलोचना से प्रभावित विद्वान समाज-शास्त्र के दर्पण में हिन्दी साहित्य की परछाइयां खोजते खोजते अपने ही मन का प्रतिबिम्ब देखने लगे। इन दोनों के बीच में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे स्वस्थ दृष्टिकोण वाले आलोचकों का नितान्त अभाव तो था नहीं; पर अधिक संख्या उन्हीं की थी जो नवीनता की सनक में आलोचना को आधा तीतर आधा बटेर ही बना रहे थे।

ऐसी परिस्थिति में जब मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक भौतिकवाद को आधार बनाकर साहित्य और संस्कृति की व्याख्या होने लगी तो हिन्दी के रूढिवादी ही नहीं, मनोविश्लेषणवादी, प्रभाववादी तथा अभिव्यंजनावादी समीक्षकों ने भी इस नई विचारधारा का विरोध किया। एक प्रसिद्ध अभिव्यंजनावादी ने अपनी मार्मिक शैली में तो यहाँ तक लिख डाला कि—"निःसन्देह प्रगतिवाद 'भाव' को नहीं 'अभाव' को लेकर चला है; फलतः वह भावुक नहीं विचारक है।"[3]

'भाव और अभाव' का यह मार्मिक शब्द-गुम्फन जिस दृष्टिकोण से आसूत्रित है उसकी असंगतियों को प्रकाश में लाना प्रगतिवाद का एक मुख्य काम रहा है। अतः चौहान जी ने शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति के साथ ही साथ उस समय के दूसरे आलोचकों की पद्धतियों

---

१. दे०—वही, पृ० ६.
२. वही.
३. साहित्य-संदेश, जून, ४४, पृ० ६७

पर भी दृष्टिपात किया और परिस्थिति को जाँचने की कोशिश की। यद्यपि वे अपने अध्ययन और अनुशीलन को किसी सुसम्बद्ध और सर्वांगीण ग्रंथ के रूप में उपस्थित नहीं कर पाये है, फिर भी उनके आलोचनात्मक लेखों के जो दो संग्रह अब तक प्रकाशित हुये है, उनमें उनके कृतित्व की महत्त्वपूर्ण पूँजी भरी पड़ी है। 'प्रगतिवाद' (१९४६) में संग्रहीत लेख 'हंस' 'साहित्य-संदेश' 'नया साहित्य', 'साधना' और 'कहानी' आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित हुये थे, और कविता, कहानी, नाटक, आलोचना, रेखाचित्र, रिपोर्ताज़, जनपदीय भाषायें, राष्ट्रभाषा और साहित्य की व्यापक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न प्रश्नों पर "प्रगतिवाद का दृष्टिकोण निर्दिष्ट करने तथा आधुनिक साहित्य के नये मान-मूल्यों की व्याख्या-स्थापना करने के उद्देश्य से लिखे गये थे।"[१] 'साहित्य की परख' में संकलित अधिकांश लेख 'हंस' के सम्पादन कार्य को दृष्टि में रख कर ही लिखे गये है, अतः उन्हीं के शब्दों में 'पूर्णता का आग्रह नहीं किया जा सकता।'[२]

कुछ भी हो; १९४७ ई. मे पहले लिखे गये चौहानजी के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण लेख इन दो संग्रहों मे मिलते है। १९४७-५१ ई. तक वे हिन्दी साहित्य के क्षेत्र से कुछ दूर रह कर कशमीर के सांस्कृतिक आन्दोलन में सहयोग देते रहे, और 'कश्मीर देश व संस्कृति' इसी सहयोग का साहित्यिक प्रतिफलन है। १९५१ के अन्तिम दिनों उन्होंने 'नई चेतना' मे 'मानव आत्मा के शिल्पियों के नाम' एक सन्देश-लेख भी लिखा, और उसके कुछ ही समय बाद दिल्ली लौट कर उन्होंने 'त्रैमासिक आलोचना' का सम्पादन शुरू किया। 'आलोचना' का जन्म, उन्ही के शब्दों में–'इस (संघर्षपूर्ण संक्रातियुग में हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक जगत् के) गतिरोध को तोड़ने का संकल्प लेकर' ही हुआ है, और इसके सम्पादकीयों मे उन्होंने अपने कई उन मन्तव्यों और सिद्धांतों को एक नई स्फूर्ति और विशदता के साथ फिर से व्यक्त किया है जो उनके दो संग्रहों में प्रतिपादित हुये है; और साथ ही इनमे नई प्रगतियों के प्रभाव का भी स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिलता है।

'हंस' के सम्पादन काल में उन्होंने जब हिन्दी आलोचना को प्रगतिवाद की डगर पर चलाने का आन्दोलन किया तो उनके विरुद्ध हूहल्ला मचाया गया। अधिकांश विरोधियों ने तो भारतीय संस्कृति और साहित्य की सनातन मर्यादा की ही दुहाई दी और प्रगतिवाद को विदेशी कुसंस्कारों का परिणाम ठहरा कर धिक्कारा। ऐसी परिस्थिति में इस बात की प्रबल आवश्यकता थी कि प्रगतिवाद के आधारभूत तत्त्वों का विवेचन करके इसके मान-मूल्यों की स्थापना और व्याख्या की जाय। इस विधायक कार्य मे अधिकांश जागरूक आलोचकों को संलग्न देखकर उन्हे सन्तोष हुआ कि प्रगतिवाद का दृष्टिकोण 'उत्तरोत्तर विकसित और पुष्ट' होता जा रहा है। मान-मूल्यों की विवादग्रस्तता से वे विक्षुब्ध नहीं हुए; उन्होंने इसे 'वैज्ञानिक शोधवृत्ति का स्वस्थ चिह्न समझा कि प्रगतिवादियों के निकट

---

१. **प्रगतिवाद, निवेदन**

२. **सा० पं०, सूचना**

कुछ भी रूढ़ नहीं है और इस दिशा में अविरत गम्भीर प्रयत्न ही अभीष्ट है।'[१]

प्रगतिवादी दृष्टिकोण की चरितार्थता वे इसी में समझने लगे कि इसमें 'युगों के रूढ़ संस्कारों और रागद्वेषों की अस्वस्थ, निर्जीव परम्पराओं के स्थान पर नये भावमूल्यों, नये सौंदर्य-मानों और साहित्य और समाज के नये सम्बन्धों की स्थापना ऐसे व्यापक आधार पर करना है जिसमें प्राचीन की स्वस्थ प्राणदायक परम्पराओं का भी नये वस्तु-सत्य के स्पर्श से नित्य नूतन संस्कार होता चले और इस प्रकार वे अपने को अक्षुण्ण रख सकें, और हमारे वर्तमान और भावी जीवन को प्राचीन ज्ञान और भावसौंदर्य की निधि से निरन्तर समृद्ध करती चलें।'[२]

परन्तु उन दिनों प्रगतिवाद के नाम पर कई भ्रांतियाँ फैली हुई थीं और किसी भी प्रकार की नवीन साहित्यिक प्रवृत्ति को प्रगतिवादी 'लेबल' देने का फ़ैशन चल पड़ा था। कई साहित्यिक तो परम्परा से नितान्त ही सम्बन्ध-विच्छेद कर के मनमानी में ही प्रगतिशीलता को चरितार्थ समझते थे, और ऐसे विद्वानों की भी कमी नहीं थी जो पाश्चात्य साहित्य की नई हलचलों को हिन्दी साहित्य में भी बिल्कुल उसी रूप में अवतरित करना चाहते थे। कुछ एक ने भारतीय आदर्शवाद को ही नई प्रगतियों से सम्पृक्त करने का बीड़ा उठाया था, और कुछ समीक्षक प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद और प्रकृतिवाद के यांत्रिक समर्थन में ही हिन्दी आलोचना की उन्नति का रहस्य समझने लगे थे। ऐसे आलोचक भी उभर रहे थे जो इन सब प्रवृत्तियों के समुच्चय को ही समन्वय का नाम देकर प्रगतिवाद की एक व्यापक रूपरेखा तैयार करने में ही हिन्दी आलोचना का भविष्य उज्ज्वल बताते। उनकी दृष्टि में सच्ची प्रगतिवादिता इसी में थी कि आलोचना में किसी भी वाद-विशेष का पूर्वाग्रह न आने पाये।

अतः चौहान जी ने पूरे ज़ोर से इन प्रवृत्तियों का प्रतिवाद किया और स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि 'यह कोई नई बात नही है कि जब कि साहित्य की विचारधारा का आधार किसी दार्शनिक सिद्धान्त को बताया गया हो', क्योंकि 'हिन्दी के भक्तिकाव्य के दार्शनिक आधार पर अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और समन्वयवाद आदि रहे हैं--इसे तो पुराने आलोचक भी स्वीकार करते आये हैं।'[३] अन्तर केवल इतना है कि प्रगतिवाद ने पहली बार आदर्शवाद को साहित्य का ठोस आधार बनाने के अयोग्य ठहरा कर सामाजिक यथार्थवाद को ही सच्चे जनसाहित्य का असली उद्भावक प्रमाणित किया।

इस विषय में चौहान जी का सब से पहला महत्त्वपूर्ण लेख १९४१ ई. का है जिसमें उन्होंने प्रगतिवाद को स्पष्ट शब्दों में 'साहित्य की वह धारा' जतलाया जो 'पूँजीवाद' के

---

१. **प्रगतिवाद, निवेदन**

२. **वही**

३. **प्रगतिवाद, पृ० १.**

अन्तिम काल में उत्पन्न होकर एक नये जनसाहित्य का निर्माण करती है।[१] ऐसा करने में यह धारा तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक यह पूँजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयाबियों और सजीव परम्पराओं को ग्रहण न करे। इस ग्राहक शक्ति के कारण यह नई धारा मनुष्य के सम्पूर्ण अनुभव का समन्वित रूप है; और इसीलिए आदर्शवाद का भी यथार्थ तत्त्व इसमें समाहित है। परन्तु आदर्शवाद से यह नई धारा सर्वथा भिन्न है। आदर्शवाद तो प्रतिगामी है, क्योंकि वह आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं को चेतना न देकर उनके प्रति हमें अनभिज्ञ कर देता है। अतः यह आदर्शवाद साहित्य को प्रगतिशील नहीं बना सकता। साहित्य का सौंदर्य-मूल्य तो किसी कार्य-विशेष के लिए सामाजिक शक्ति का संगठन करने में ही है, क्योंकि 'सामाजिक सम्बन्ध ही कला में सौंदर्य का गुण प्रदान करते हैं, और इन संबंधों में एक आन्तरिक संघर्ष और आन्तरिक विरोध है, जिन्हें कला के अन्दर ही शान्त किया जा सकता है। परन्तु आदर्शवाद में सौंदर्य-तत्त्व एक निरपेक्ष गुण बन जाता है।'[२]

इससे चौहान जी का यह अभिप्राय भी नहीं कि सामाजिक वास्तविकता का यान्त्रिक चित्रण ही प्रगतिवाद को स्वीकार है। इस प्रकार के सीधे स्पष्ट चित्रण पर ही जो कलाकार किसी रचना के सौंदर्य या मूल्य को निर्भर समझते हैं उन्हें चौहान जी कुत्सित-समाजशास्त्रीय पुकार कर फटकारते आए हैं।[३]

अभिव्यंजनावाद, रीतिवाद अथवा फोटोग्रैफ़िक यथार्थवाद तो प्रगतिवाद की शैली नहीं; प्रगतिवाद का आधार तो सामाजिक यथार्थवाद और सामाजिक रोमैण्टिसिज़्म ही है जो 'साहित्य की विचार और भाव-वस्तु और उसके अनुरूप ही वस्तु प्रकाशन की विधि, रूप-विधान या शैली दोनों पर समान रूप से ज़ोर देता है।'[४]

इस प्रकार प्रगतिवाद रोमैण्टिक आलोचना की सफलताओं को स्वीकार कर के उसका विकास करता है और उसे एक सामाजिक-भौतिक आधार प्रदान करता है। रोमैण्टिक आलोचना जिस 'हम' से साहित्य का सम्बन्ध जोड़ती है, वह प्रगतिवाद में संघर्षरत शोषित जनता का 'हम' बन जाता है।[५]

इस दृष्टि से उन्होंने काडवेल के 'इल्यूज़न एण्ड रिएलिटी' (Illusion & Reality) के आधार पर कविता की जो आधुनिक व्याख्या की उसमें उन्होंने कविता को 'सामाजिक जीवन के समान ही 'स्वतन्त्रता का अस्त्र' स्वीकार किया, क्योंकि कविता 'वर्तमान परि-

---

१. वही, पृ० १.
२. प्रगतिवाद, पृ० ५
३. वही, पृ० ५
४. वही, पृ० ६
५. वही, पृ० ४.

स्थितियों के प्रति' उसे बदलनें के लिए एक नये दृष्टिकोण से मनुष्य के भावजगत् का संगठन करने का प्रयत्न करती है, ।[1] इसके द्वारा सामाजिक जगत से सामाजिक 'अहं' का जन्म होता है, और व्यक्तिगत अनुभव सामाजिक अनुभव में सम्मिलित कर दिया जाता है। कविता आत्माभिव्यक्ति नहीं; बल्कि आत्मसमाजीकरण है, और 'कला कला के लिए' की रट लगाने वालों के अनुसार वास्तव में कला कलाकार के लिए ही महत्व रखती है, क्योंकि कलाकार उस समाज से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता जो उसे यन्त्रणाएँ देता है।[2]

इस प्रकार कविता की मूलभूत प्रेरणा को स्पष्ट करके चौहान जी ने चित्र कल्पनावाद और अतिवस्तुवाद के उस 'स्वच्छन्द संबंध' विषयक भ्रम को भी दूर किया जो 'आवश्यकता की अज्ञानता' को ही स्वतन्त्रता समझता है।

आधुनिक हिन्दी कविता में इन गुणों की पृष्ठभूमि को चौहान जी ने बड़ी सफ़ाई से यों प्रस्तुत किया---रीतिकालीन सीमाबन्धनों को तोड़कर इस नई कविता ने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की और एक नवोत्थित वर्ग के भ्रमों की सृष्टि हुई। रीति-नीति के रूढ़ बंधनों से उन्मुक्त होकर इसने नये समाज की नई विडम्बनाओं, नई विफलताओं और नई सीमाओं के प्रति भी असन्तोष की भावना प्रकट की। व्यक्तिवाद की प्रबलता ने 'निराशा, पराजय और आत्मसमर्पण के भाव' मुखरित किए हैं तो 'सामाजिक जीवन से कविता का क्षेत्र अलग होने लगा और अव्यक्त तथा अमूर्त्त भावनाओं की अभिव्यक्ति फूट पड़ी।'

'छायावाद में असन्तोष भावना', तथा पंत, अंचल और अश्क सम्बन्धी लेखों में चौहान जी ने नई समालोचना और समीक्षा का जो ठोस रूप पेश किया उसके सहारे उनका नाम हिन्दी आलोचकों में बहुत महत्वपूर्ण हो पाया है।

'साहित्य की परख' लेख में चौहान जी ने इन समस्याओं की और भी विस्तृत विवेचना की और साहित्य की परख के लिए एक वैज्ञानिक कसौटी निर्धारित करने की प्रबल आवश्यकता को दुहराया। प्रगतिवाद की विशेषता यही है कि इसने 'साहित्यालोचन को एक व्यापक जीवन-दर्शन का आधार दिया है, और द्वन्द्वात्मक पद्धति से सौंदर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण का विकास करने की प्रेरणा की है। द्वन्द्वात्मक विचारप्रणाली के अनुसार सारसंचय का समुच्चय ही समन्विति नहीं है, समन्विति तो किसी 'दार्शनिक विचार-संयोग-सूत्र में गुथकर ही संभव है।'[3]

कसौटी की वैज्ञानिकता के संबंध में चौहान जी ने महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया कि इससे न केवल आधुनिक साहित्य को ही परखा जाय बल्कि प्राचीन साहित्य का भी सही मूल्यांकन संभव हो। नहीं तो जैसा कि उन्होंने कुछ कथित प्रगतिवादियों के बारे में लिखा

---

१. **वही, पृ०** १००--१०४.
२. **वही पृ०** ८८.
३. **साहित्य की परख**, **पृ०** २७, २७

है, "प्राचीन लेखकों के सम्बन्ध में लिखते है तब उनके मानदण्ड कुछ होते हैं, जब जीवित लेखकों के सम्बन्ध में लिखते है तब कुछ और, और फिर लेखक-दर-लेखक ये मानदण्ड बदलते रहते है।'[१] परिणाम यह होता है कि साहित्य की कसौटी अवसरवादी बनती जाती है। इस अवसरवादिता के मूल में साहित्य के 'कलापक्ष' और 'सामाजिक पक्ष' से सम्बद्ध वह द्वैतभावना है जो प्रगतिवादी समीक्षकों में काम करती रहती है। इसी द्वैतभावना के कारण कुछ आलोचक 'पौराणिक त्रिशंकु' ही बने रहते है, और कलाकार और समाज के बीच किसी सक्रिय सामंजस्य का अनुमान नही कर पाते, प्रत्युत कुत्सित मनोवैज्ञानिकता के शिकार होकर विज्ञान की मान्यताओं को साहित्य पर ज्यों का त्यों घटित करने लगते है।

दूसरी ओर सारसंचय का दामन पकड़ कर चलने वाली 'मात्र सापेक्षता-मूलक सामाजिक दृष्टि ही' फूहड़ और कुत्सित समाजशास्त्रीयता को जन्म देती है, और 'नूतन रहस्यवाद' की ओर आकृष्ट होकर, कला की परख के लिए एक प्रबुद्ध अभिजात वर्ग की कल्पना करने वाले आलोचक प्रगतिवाद का विरोध करने लगते हैं।

अतः प्रगतिवादी समालोचकों के लिए आवश्यक बन जाता है कि वे कला-समीक्षा को 'नीर-क्षीर विवेचन' तक ही सीमित न रहने दें, बल्कि इसे कला के 'मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़ताल' करने के योग्य बना कर उसके 'सौदर्य-मूल्यों का निरूपण' करें। साहित्य की परख का यही प्रगतिवादी उद्देश्य है।[२]

कला की सार्थकता के सम्बन्ध में विचार करते हुए चौहान जी ने एक गंभीर समस्या उठाई है कि क्या कलाकार या उसकी कृति के लिए प्रगतिवादी होना ज़रूरी है? उनका मन्तव्य है कि 'कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी सृजन-चेष्टा बाह्य जीवन के अनुभव और सौदर्यमूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्याख्या, सामंजस्य और मुक्तिकामी निसर्ग-चेष्टा से उत्प्रेरित होती है।' और 'अपने संस्कृति-विधायक रूप में कला या साहित्य भी स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अतः यह ज़रूरी नही है कि कलाकार प्रगतिवाद के सिद्धान्त को सामने रखकर रचना करे और अपनी रचना को उनका दृष्टान्त बना दे।'[३]

चौहान जी के इस मन्तव्य की तह में उनकी यह धारणा है कि जो प्रत्यक्ष (obvious) और बोधगम्य है वह कला या कविता नहीं हो सकती। उसकी सार्थकता इसी में है कि वह मनुष्य मात्र की चेतना को अधिक संश्लिष्ट और समृद्ध बनाती है।[४] 'साहित्य या कला तो अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र प्रस्तुत नहीं करती, प्रत्युत समाज के 'अहं' का परिष्कार भी करती रहती है। अतः प्रगतिवाद और उससे प्रेरित

१. **साहित्य की परख**, पृ० १८.
२. ,, पृ० ५.
३. ,, पृ० २५
४. ,, पृ० ७.

साहित्य यदि 'कोरा सामयिक साहित्यिक आन्दोलन' है तो चौहान जी साहित्य की दृष्टि से उसका मूल्य नगण्य ही समझते है।[१] बंगाल के 'फ़ासिस्ट विरोधी लेखक और कलाकार संघ' के द्वितीय वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर भाषण करते हुए उन्होंने अर्थगम्भीर शब्दों में पूछा था --'हमें प्रचार की चीज़ें नहीं लिखनी हैं, साहित्य लिखना है--क्या इस साहित्यिक **प्रवंचना** में पड़ कर हम अपने कर्त्तव्य को भुला सकते है ? साहित्यकार की विशेषता यही है कि उसके अनुभूत की अभिव्यक्ति कलात्मक होती है . . . फिर हमारे मन में प्रचार और साहित्य का प्रश्न उठकर द्वन्द्व क्यों मचाता है ? और जब हम अपनी लेखनी के अस्त्र से लड़ने की घोषणा करते है तो क्या हमारा आशय अपनी रचनात्मक शक्ति और कला-नैपुण्य से नहीं होता ?[२]

ठीक है; प्रगतिवादी होने के लिए साहित्य को पहले साहित्य तो होना ही पड़ेगा; पर यह बात किसी रहस्यवादी की सी लगती है कि कलाकार **स्वभावतः** प्रगतिशील होता है ! क्या उसका स्वभाव अपने समाज के वास्तव से प्रभावित और निर्धारित नही होता ? और क्या चौहानजी के दृष्टिकोण मे कही-कही वैसी ही विसंगति नहीं पाई जाती जैसी उन्होंने 'त्रिशंकु' में खोज निकाली है ?

कहीं पर तो वे **प्रगतिवाद** को **साहित्य** की वह[३] धारा मानते हैं 'जो पूँजीवाद के अन्तिम काल में उत्पन्न होती है।" और कहीं पर वे स्पष्ट करना चाहते है कि 'प्रगतिवाद **साहित्य** की **धारा** नही, साहित्य का मार्क्सवादी **दृष्टिकोण** है।[४] वैसे ही जैसे रससिद्धान्त साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का प्राचीन आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। कही पर तो वे कविता और कला को सामाजिक प्रभाव का एक (स्वयंसिद्ध) अस्त्र मानते है और काडवेल की तरह 'मनुष्य की स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक साधन' बतलाते हैं,[५] और कहीं पर वे चेतना के विभिन्न धरातलों के समान ही साहित्य की कोटि में भी ऊँचे और नीचे धरातल स्वीकार करके आधुनिक प्रगतिवाद को उस मार्क्ससवाद की ही साहित्यिक परिणति ठहराते है जो मानव चेतना की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मंज़िलों की प्रेरक विचारधाराओं में सुधारवाद, राष्ट्रीयता और मानववाद के बाद विकसित हुई है।[६] और आज वे 'इस साधारण पर अब तक अनदेखे भेद को समझ लेना' लाभदायक समझते हैं कि 'प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवाद, ये दोनों एकार्थ नहीं है, और न प्रगतिशील लेखक का प्रगतिवादी होना ही ज़रूरी है।'[७]

आख़िर प्रगतिशीलता और प्रगतिवादिता का द्वन्द्व खड़ा करने की आवश्यकता ही

---

१. **सा० प० पृ० १६.**
२. **हंस, जन०, फ० ४४; पृ० २४५.**
३. **प्रगतिवाद, पृ० १.**
४. **आलोचना, अ०४, पृ० ४०.**
५. **सा० प०. पृ २४**
६. **हंस, जन० फ०, ४४. पृ० २४५.**
७. **आलोचना, ४ पृ० ४**

क्या है ? क्या उनके 'प्रगतिवाद' लेख में इस द्वन्द्व की वह कल्पना सोई पड़ी थी, जो अब 'आलोचना' में जाग उठी है ?

इस द्वन्द्व से व्यथित होकर ही चौहानजी की आलोचनात्मक चेतना कुछ विसंगतियों का शिकार हो रही हैं। यदि वह प्रगतिशील साहित्य को 'आज' की, किसी विशेष 'युग', 'वर्ग' या 'देश' की चीज़ नहीं मानना चाहते, भले ही न मानें, पर जब वे प्रगतिशील साहित्य को सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास' मानने में अपने एक सहयोगी से असहमत होकर इसे 'स्वयं सांस्कृतिक विरासत' मानने पर ज़ोर देते हैं तो साहित्य के आगे 'प्रगतिशील' विशेषण[४] लगाने की आवश्यकता ही क्या ? उनका यह समाधान कि ऐसा करने का उपयोग केवल तब है जब हम कला या साहित्य के **आनन्ददायी** मूल्यों का नहीं, बल्कि विशेष रूप से चेतना-विकासी **नैतिक** मूल्यों का ही निर्देश करना चाहें' कुछ हल्का लगता है, क्योंकि मार्क्सीय सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से आनन्ददायी मूल्यों और नैतिक मूल्यों में समन्वय का अभाव कलागत दोष ही ठहरता है।

'यथार्थ और साहित्य' की चर्चा करते हुए चौहान जी इस तथ्य को "रेखांकित' करना ज़रूरी समझते है कि 'महान साहित्य और कला **सदा निर्विकल्प** रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिविम्बित करती है, अतः उसकी एकमात्र कसौटी भी उसका यथार्थवाद ही है।"[१] भला अगर कलाकार **स्वभावतः** प्रगतिशील होता है तो यथार्थवाद ही उसकी कला की एकमात्र कसौटी कैसे ठहराई जा सके ? और चौहानजी के इन विचारों की क्या व्याख्या की जाय कि 'चिरजीवी प्राणवान् साहित्य की विरासत प्रगतिशील है, क्योंकि उसने मनुष्य की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति में योग दिया है, दे रही है, और इस युग में भी जो साहित्य **जीवन** के **यथार्थों** को गहराई और कलात्मक सच्चाई से प्रतिबिम्बित करता है, वह **भी** प्रगतिशील है, **चाहे उसकी रचना करन वाले लेखकों का व्यक्तिगत दृष्टिकोण आदर्शवादी हो या मार्क्सवादी।'** [२]

सत्य की सरलतम व्याख्या चौहानजी ने यह की है कि 'जो अपनी उपयोगिता समाप्त कर के मिट रहा है, वह असत्य है, और जो उभर रहा है, वही सत्य है।'[३] क्योंकि परिवर्त्तन ही शाश्वत सत्य है। अतः जीवन-वास्तव का सत्य भी परिवर्त्तनशील और युगसापेक्ष होता है और इस सत्य के चित्रण के कारण ही महान लेखकों की रचनाओं के 'अपने अपने काल की सामाजिक विचारधाराएँ व्यक्त हुई हैं, और उनकी कृतियाँ अपने समय के ऐतिहासिक वास्तव से पूर्णतः सम्बद्ध हैं।... उन्होंने मनुष्य को ही प्रमाण और

---

१. **वही, पृ०** ३.
२. **आलोचना** ३, **पृ०** ३.
३. **वही** ४, **पृ०** ३
४. **आलोचना,** ३ **पृ०** ४

प्रतिमान माना, जिससे उनकी सहानुभूतियाँ मानवमात्र तक प्रसारित हुई—विश्वजनीन बनी।" पर सत्य की यह व्याख्या तो आदर्शवादी नहीं। अतः कलाकार को इस सत्य का चित्रण करने के लिए कोरे आदर्शवाद के धुंधलकों से बाहर निकलना ही पड़ेगा।

परंतु चौहानजी के विचार में इतिहास ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है जिनसे साबित होता है कि अनेक श्रेष्ठ और प्राणवन्त रचनाओं के लेखकों का 'सचेत **दृष्टिकोण** अत्यन्त **पिछड़ा** हुआ और अपने युग की प्रगतिशील विचारधाराओं की सापेक्षिता में **प्रतिक्रियावादी** भी रहा है।'[1]

चौहानजी इस असाधारण अवस्थिति की विवेचना भी करते तो अच्छा होता। उन्होंने इतना बताने पर ही बस किया कि 'श्रेष्ठ प्रतिभा के लेखक इन (एकता, समानता, भाईचारा, न्याय, आबादी, प्रजातंत्र और समाजवादी आदि) विचारों को सिद्धान्त रूप से **ग्रहण किये बिना ही** केवल **सहज** भावना से ही रचना में व्यक्त कर सकता है।[2] पर क्या **सहज भावना** कहलाने वाली विचारधारा भी समाज-निरपेक्ष हो सकती है? और जब चौहानजी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि 'कोई लेखक जितनी **मूर्तिमत्ता** और **मार्मिकता** के साथ अपनी रचना में अपने युग के **प्रगति-विधायक महान् विचारों** को प्रतिविम्बित करता है, उसकी रचना **उतनी** ही **सारपूर्ण** और उत्प्रेरक होती है, तो वे भूल जाते हैं कि रचना को युग के प्रति विधायक महान् विचारों का मूर्त्तिमान रूप बनाने के लिए उनमें निश्छल आस्था अनिवार्य है और उन्हें अपना कर ही सहज सुदर अभिव्यक्ति दी जा सकती है। इस अनिवार्यता की ओर चौहानजी संकेत करते अवश्य दिखाई देते हैं जब वे लेखकों और कलाकारों से संघर्षशील जनता की इस **माँग** की चर्चा करते हैं कि 'वह जीवन-वास्तव को सही, मूर्त्त, सम्पूर्ण, सक्रिय रूप से प्रतिबिम्बित करें।'[3] तो सही चित्रण के लिए **सचेत** दृष्टिकोण की आवश्यकता से इनकार क्यों?

सच तो यह है कि चौहानजी स्वयं भी कुछ वैसी ही सार-संचय-भावना के वश में होते जा रहे हैं जिसका वे प्रतिवाद करते आये हैं, 'को-मो-जो' ने 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' का जो नया नारा लगाया उसने हिन्दी समालोचना में भी एक हलचल मचाई, और चौहानजी ने भी उसकी ग्राहिता से आकृष्ट होकर साहित्य की ऐसी व्यापक व्याख्या करना आवश्यक समझा जो इस संयुक्त मोर्चे को संभव बनाये। पर अपने प्रतिस्पर्धियों से खीझ कर उन्होंने 'कुत्सित समाजशास्त्रियों' को नीचा दिखाने के लिए कुछ और ही प्रसंग छेड़ा। 'मानव आत्मा के शिल्पियों के नाम' लेख में इसीलिए आलोचनात्मक विवेचना उतनी नहीं जितनी जली-कटी सुनाने का आवेश मुखरित हो उठा है। निःसन्देह

---

१. **नई चेतना**, अंक ४, पृ ३७.

२. **नई चेतना**, पृ० ३६.

३. वही, पृ० ३६.

इसे 'अपील' के रूप में पेश किया गया है; पर इससे प्रगतिशील लेखकों को कोई नई राह नहीं सुझाई जा सकी है। हाँ, उनका यह आत्मनिवेदन अभिप्रायगर्भित अवश्य है कि—

"पन्द्रह साल हो गये जब से मार्क्सवाद, कम्युनिस्ट पार्टी और जनता का सक्रिय कार्यकर्त्ता रहा हूँ, आजीवन रहूँगा। यही मेरा जीवन है, यही मेरा वस्तुदर्शन और विज्ञान है, केवल पढ़-लिख कर पाया हुआ ही नहीं, वरन् **उपचेतना** में आत्मसात् होकर रक्तमांस में घुलमिल कर हृदय में पुनः जन्मा। वस्तुज्ञान के इन्द्रियज बोध के साथ-साथ मन में सतत् पनपा, वृत्तियों, संवेदनों, मनोवेगों और सहज भाव प्रतिक्रियाओं के सहारे चेतना में विकास पाया—**मार्क्सवाद** मेरे जीवन का श्वास है।'[1]

और उनकी इस घोषणा के नाते हम उनसे अनुरोध करते हैं कि वे अपने नये मन्तव्यों पर कुछ और मनन कर के हिन्दी में सचमुच 'गंभीर' सिद्धान्तपरक, स्थायी मूल्य के 'आलोचना साहित्य'[2] के निर्माण में ठोस प्रोत्साहन दें।

—**पृथ्वीनाथ पुष्प**

* * *

रामधारीसिंह दिनकर

विगत चार दशकों के राष्ट्रीय इतिहास का यदि हम अवलोकन करें तो एक दो अभूतपूर्व घटनाओं की ओर हमारी दृष्टि जाती है। ये घटनाएँ हैं—सन्' २० के लगभग महात्मा गांधी का भारत के राजनैतिक व सांस्कृतिक जीवन में पदार्पण करना, और सन् '३९ के लगभग द्वितीय महायुद्ध का आरंभ। राष्ट्रपिता ने जहाँ तक एक ओर भारत के प्राचीन गौरव की ओर तथा अपने खोये हुए नैतिक व आत्मबल की ओर भारतवासियों को सजग किया, वहाँ द्वितीय महायुद्ध ने श्रमिक वर्ग को अपने आर्थिक व सामाजिक अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया। महात्मा गांधी ने जीवन की समस्याओं का समाधान अन्तर्मुखी एवं आध्यात्मिक उपायों द्वारा बतलाया तो द्वितीय महायुद्ध की भयावह परिस्थितियों ने हमें वहिर्मुखी और वैज्ञानिक भौतिकवाद का दृष्टिकोण प्रदान किया। सारे एशियाई जगत में उपनिवेश-विरोधी आन्दोलन हुए—चीन, भारत-चीन, बर्मा, हिन्देशिया, बर्मा, सिलोन आदि—उनकी भीषण ज्वाला से भला भारतवर्ष कैसे अछूता रह सकता था? इस राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व नैतिक उथल-पुथल से भारतीय जीवन में एक विचित्र क्रान्ति पैदा हुई, उसमें एक नया मोड़ आया, जीवन में विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हुई और उन पर एक नवीन दृष्टिकोण से विचार किया गया। राष्ट्र की प्राचीन व गौरवपूर्ण संस्कृति एवं उसके पुण्य संस्कारों से इस दृष्टिकोण की टक्कर हुई जिससे सारे देश में क्रान्ति की लहर पैदा हो गई। ठीक ऐसी ही प्रतिक्रिया साहित्य के क्षेत्र में हुई। राष्ट्र-

१. **वही**, ४, पृ० ३४.
२. **आलोचना**, ४, पृ० ६.

वाणी (हिन्दी) की काव्य-वीणा के तार इस क्रान्ति से झनझना उठे। 'पल्लव' की स्वप्निल कल्पना में विचरण करने वाली कविता-कामिनी मिट्टी पर उतर आई। जिन कारणों से यूरोप के देशों के महान कलाकारों—रोम्याँ रोलाँ, बर्नार्ड शा और गोर्की ने शोषितों के पक्ष में कलम उठाई, भारत के लेखकों और कवियों को भी उनसे प्रेरणा प्राप्त हुई। राष्ट्र के इस गायन में काव्य-वीणा से उठने वाली सबसे प्रखर और ऊँची स्वर-लहरी जो इस संक्रांति-काल के कोलाहल में 'हुंकार' मचाती हुई प्रकट हुई, वह वर्त्तमान संसद सदस्य प्रगतिवादी एवं राष्ट्रीय कवि श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की थी।

कतिपय भारतीय कवियों के काव्य विषयक सिद्धान्तों को जानने के लिए हमें उनके समकालीन ग्रंथों और अन्य संबंधित सामग्री के पृष्ठों को यत्र तत्र उलटना आवश्यक हो जाता है कारण कि उस सम्बन्ध की पूर्ण सामग्री एक स्थान पर सँजोयी हुई समुचित रूप से प्राप्य नहीं होती। यह एक सौभाग्य का विषय है कि 'दिनकर' जी के सम्बन्ध में इस प्रकार की कठिनाई नहीं है। उनके द्वारा रचित 'मिट्टी की ओर' और 'अर्द्धनारीश्वर' पुस्तकों से हम उनके काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं विचारों को समझने का प्रयास कर सकते हैं। 'मिट्टी की ओर' में 'दिनकर' जी के वे निबन्ध या अभिभाषण हैं जो उन्होंने समय समय पर आयोजित सभा-सम्मेलनों के अवसर पर प्रायः अध्यक्ष-पद से पढ़े हैं। 'अर्द्धनारीश्वर' में उनके चिन्तन-प्रधान एवं विश्लेषण प्रधान काव्य संबंधी निबन्ध संकलित हैं। उनके निजी शब्दों में ये निबन्ध "मन-बहलाव में लिखे जाने के कारण कविता की चौहद्दी के पास पड़ते हैं।" इन दोनों संग्रहों से कवि के निजी काव्य-सिद्धान्त स्वतः प्रकट हैं।

'दिनकर' जी हिन्दी-काव्य में प्रगतिवादी पक्ष के अग्रणीय उन्नायक हैं। सन् १९२० से द्वितीय महायुद्ध के आरंभ तक हिन्दी कविता-धारा एक विचित्र मार्ग से बह रही थी। हिन्दी-जगत में ऐसे कवियों का बोलबाला था जो जीवन की गहराई से हटकर अलग अपने निजी स्वप्न-लोक में गुनगुनाते थे। अकारण रोना, अकारण गाना, हास्य में आँसुओं का आभास और आँसुओं में स्मि त की झाँकी देखना आदि अपनी अतिशयोक्ति की सीमा पर जा चुके थे। न तो इन कविताओं का जीवन से कोई संपर्क ही था, और न निजी मन-बहलाव के अतिरिक्त उनका कुछ उद्देश्य ही प्रतीत होता था। काव्य-कला, ऐसा मालूम होने लगा, लक्ष्यभ्रष्ट होकर गगन की शून्यता में निरुद्देश्य विचरण कर रही है। वह सामाजिक जीवन के प्रति अपने परम्परागत उत्तरदायित्व को भूल बैठी है और उसने व्यक्ति की निजी स्वप्न क्रीड़ा में अपने आपको खो दिया है। वस्तुस्थिति यह थी कि जीवन और काव्य में एक बहुत बड़ा व्यवधान दिखाई देने लगा था।

इस काव्य-धारा के अतिरिक्त एक अन्य राष्ट्रीय-धारा युग-प्रवर्त्तक बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से चली आ रही थी जिसने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की संरक्षणता में परम पूजनीय 'गुप्तजी' और 'हरिऔधजी' को जन्म दिया। इस राष्ट्रीय धारा ने अतीत के प्रति श्रद्धा-भावना तथा वर्त्तमान दारिद्रय के प्रति हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित किया,

परन्तु उसने देश तथा समाज के लिए कोई ठोस एवं वैज्ञानिक मार्ग प्रशस्त नहीं किया। व्यावहारिक रूप में जहाँ इन कविताओं में मार्ग-प्रदर्शन करने का अभाव था, वहाँ काव्य की दृष्टि से वे इतिवृत्तात्मकता के बोझ से दबी हुई थी। इस बीच गांधीवाद का उदय हुआ जिसने सारे साहित्य की काया पलट ही कर दी।

हमने आरंभ में यह स्वीकार किया है कि महात्मा गांधी के राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण (१९२०-४०) करने से सारे देश को एक अभूतपूर्व नैतिक व आत्मबल प्राप्त हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में जो युग-परिवर्त्तन केशवचन्द्रसेन, राजा राममोहन राय तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कर दिखाया और जिससे भारतीय जीवन में 'रिनाँसा' अर्थात् पुनर्जागरण आरंभ हुआ, ठीक वही क्रान्तिकारी कार्य २० वीं शताब्दी में तिलक और महात्मा गांधी और टैगोर के पावन सिद्धान्तों से हुआ। (Freedom is my birth-right) कहकर 'तिलक' ने समस्त भारतवासियों को राजनैतिक जाग्रति से अनुप्राणित कर दिया। परन्तु महात्मा गांधी ने आदर्श और व्यवहार का, नीति और आचार का सम्मिश्रण करके एक विचित्र आदर्शमय जीवन की कल्पना की थी। ये सिद्धान्त साहित्य पर भी समुचित रूप से प्रभावशाली हुए, और इसका एक परिणाम यह हुआ कि एक गाधीवादी दल कवियों में पैदा हो गया जो इन्हीं सिद्धान्तों, सत्य, अहिसा, प्रेम आदि का प्रचार करने लगा। द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मक साहित्य जिस प्रकार प्रचारवादी होने लगा, भारतेन्दु-काल से परंपरा-गत रूप से चली आने वाली राष्ट्रवादी धारा ने भी ठीक वही राह पकड़ी।

परन्तु गांधीवाद जितना आत्मबल प्रदान करने वाला था, उतना ही वह अस्पष्ट था। जितना वह आदर्श था, उतना ही वह धूमिल और संदिग्ध था। उस तक साधारण पुरुष की पहुँच नहीं हो सकती थी। वास्तव में भारत के गिरते आर्थिक स्तर और यहाँ के जर्जर सामाजिक व नैतिक खंडहरों के जीर्णोद्धार के लिए गांधीवादी दर्शन का उदय हुआ था। हिन्दी साहित्य में इसकी प्रतिक्रिया विचित्र रूप में हुई। भारतेन्दुकालीन राष्ट्रवादी धारा एवं द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक शैली दोनों अपने को समकालीन परिस्थितियों से मिलकर निराशावादी, पलायनवादी, रहस्यवादी, वीतरागी व आध्यात्मिक भावनाओं में व्यक्त करने लगी। छायावाद और रहस्यवाद इसी गांधी-युग में अवतरित हुए। उन तक साधारण व्यक्ति की कल्पना (१९२०-४०) नहीं पहुँच सकती थी; जैसे :

मैं फलों में रोती, वे बालारुण में मुस्काते।
मैं पथ में बिछ जाती, वे सौरभ से उड़ जाते॥

यह चाहे कितना ही सरस और सुन्दर लगे, साधारण मनुष्य उसका आनन्द नहीं ले सकता।

जिस समय 'दिनकर' जी का हिन्दी-साहित्य-गगनांगण में उदय हुआ, उस समय इन कविताओं का बहुत ही प्राचुर्य था। उन्होंने काव्य की इस धारा का बहुत गहन अध्ययन

किया और उसे इतिहास के आलोक में भी देखा। शायद उस समय उन्होंने समाज और राष्ट्र के भविष्य की ओर भी दृष्टि दौड़ाई। उन्होंने कहा—"युगों के दर्पण में कविता-कामिनी का अपार्थिव रूप देखकर शून्य में पंख खोलकर उड़ने की इच्छा ज़रूर हुई, परन्तु .... कल्पना के नन्दन कानन में भी मिट्टी की गंध मेरा पीछा नहीं छोड़ सकी। जब तक सत्य का आधार नहीं मिला, स्वप्न के पैर डगमगाते रहे।... देशमाता का शस्यश्यामल अंचल सिर्फ़ इसलिए सुन्दर नहीं लगा चूँकि उसमें प्राकृतिक सुषमा निखर रही है, वरन् इसलिए भी कि उसके साथ भारतीय किसानों का श्रम, उनकी आशा और अभिलाषाएँ लिपटी हुई है।"

'दिनकर' जी छायावाद शैली की कविताओं के विरोधी हों, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने छायावाद द्वारा हिन्दी को दी गई देन की महत्ता को यत्र तत्र अपने निबन्धों में स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि इन कविताओं से हिन्दी साहित्य में सुकुमार शब्द-योजनाओं और चित्र-व्यंजनाओं का सुन्दर प्रतिष्ठान हुआ है। द्विवेदीकालीन उखड़ी-पुखड़ी भाषा को सरसता और कोमलता प्रदान हुई है। खड़ीबोली का अक्खड़पन दूर हुआ है। वास्तव में देखा जाय तो छायावाद ने हिन्दी काव्य की एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की है। यह थी साहित्य में व्यक्तिवाद का जन्म। जिस प्रकार गांधीवाद प्रगति के लिए व्यक्ति की इकाई को प्रधान मानता था, उसी प्रकार छायावादी कवि अपने निजी व्यक्तित्व तक सीमित रहते थे। उनकी कल्पनाएँ स्वच्छन्द परन्तु 'निजी अनुभूति' की सीमा में होती थी। उनके गीत रूढ़ियों की अवहेलना करके 'स्वाधीन चिन्तन' में तन्मय होते थे। 'दिनकर' जी ने स्वीकार किया है कि इस साहित्य ने "समाज और साहित्य के कृत्रिम बन्धनों के विपरीत प्रतिक्रिया को जन्म देकर मनुष्य को धारा के विरुद्ध सोचने की प्रेरणा दी, रूढ़ि से ग्रसित मनुष्य को अपनी शक्ति का ध्यान दिलाया तथा व्यक्ति के जीवन-रस से समाज को अनुप्राणित किया। .... उन्होंने बाहर विचरने वाली कल्पना को अन्तर्मुखी किया। अपने ही भीतर की दुनिया में अनुसन्धान करते हुए सुन्दर और कभी कभी अत्यन्त तीखे स्वप्नों के चित्र उतारे तथा आत्मकथा के रूप में अच्छी से अच्छी कविताएँ दीं। प्रेम और विरह के नये आदर्शों की सृष्टि की।"

छायावाद की इस प्रकार महत्ता स्वीकार करने वाले 'दिनकर' जी को फिर उससे क्या आपत्ति हो सकती है।

साहित्य में व्यक्तिवादी (छायावादी) काव्यधारा के साथ-साथ एक और कल्पना साथ साथ चलती है। यह है रोमांसवाद की प्रवृत्ति और कल्पना। यह प्रवृत्ति किसी बन्धन को स्वीकार नहीं करती। राजनैतिक क्षेत्र में जिस प्रकार क्रान्तिकारी कोई बन्धन नहीं स्वीकार करते थे, ठीक उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में रोमांसवादी कवियों को उसी प्रकार का बन्धन मान्य नहीं था। इससे कला को एक नवीन शक्ति तो प्राप्त हुई परन्तु उसका दूषित प्रभाव यह हुआ कि कला और कलाकार शनैः शनैः जनता से अलग हो गये। बनिस्बत समाज और राष्ट्र की दयनीय व असन्तोषजनक परिस्थितियों के विरुद्ध कार्य करने के वे स्वप्नलोक में अपना

आश्रय ढूँढ़ने लगे। जिस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में विप्लववादियों और अन्य क्रान्तिकारियों ने एक विचित्र प्रकार की कल्पना राष्ट्र व समाज के विषय में की थी, और उसके लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने को हर समय तैयार रहते थे, ठीक उसी प्रकार हिन्दी के छायावादियों ने अपना निजी स्वप्नलोक बनाया, 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त की सृष्टि की, जिसे 'दिनकर' जी ने 'निन्दित सिद्धान्त' कहा है। उनके विचार से कवि को गगन से उठने के पहले धरती पर अपनी नज़र पूरी तरह से दौड़ा लेनी चाहिए जिससे किसी दुर्घटना की आशंका न रहे। उसे जीवन-संघर्ष में तप लेना चाहिए जिससे वह विशुद्ध हो जाय। उन्होंने स्वयं कहा है—"कला के लिए कला का आराधन या शून्य में गाने वाले गीत-विहग की स्थिति से ऊपर उठने के पहले कवि को संघर्ष और दु:ख की अग्नि में शुद्ध होना पड़ता है। बिना इस शुद्धि के कवि अपनी प्रतिभा को केन्द्रित और ठोस नहीं बना सकता और न सत्य तथा मानवता की उच्च-सेवा का बीड़ा ही उठा सकता है।"

इस प्रकार निश्चित विचारधारा 'दिनकर' जी के मस्तिष्क में परिपक्व होरही थी कि द्वितीय महायुद्ध के काले बादल पश्चिम में मँडराने लगे। युद्ध के आरम्भ से और तत्पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न देशों के भावों और विचारों के आदान-प्रदान से एक और परिवर्त्तन हमारे साहित्य में हुआ. जिससे 'दिनकर' जी भी प्रभावित हुए बिना न रह सके; और इससे उनकी यह विचारधारा ठोस सिद्धान्तों का रूप धारण करने लगी। यह परिवर्त्तन था—हमारे साहित्य में व्यक्तिवादी परम्परा के स्थान पर समाजवादी विचारधारा का जन्म; गांधीवादी दर्शन के स्थान पर मार्क्सवादी दर्शन का उद्भव। यों तो सन् '३४ में जर्मनी में हिटलर के सत्तारूढ़ होने और अपना एकच्छत्र शासन कायम करने के पश्चात् घनीभूत पूंजीवादी वर्ग एवं सर्वहारा वर्ग में संघर्ष होना, अप्रत्याशित रूप से परिलक्षित हो रहा था, परन्तु इसका उज्ज्वल रूप तब निखर आया, जबकि सन् '४१ में फ्यूरर् ने पूँजीवादी और साम्राज्यवादी देशों के विरुद्ध युद्ध न छेड़कर श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधि व समाजवादी सिद्धान्त के पोषणकर्त्ता रूस पर आक्रमण किया। युद्धकालीन विचारधारा बाढ़ की तरह सारे विश्व में फैल गई। इस झंझावात में व्यक्तिवादी, गांधीवादी दर्शन पीछे रह गया और समाजवादी धारणाएँ आगे आ गई। समाज के पास स्वप्नों के गीत सुनने का समय नहीं था, उसे रोटी और वस्त्र की समस्या खाये डाल रही थी। उसे एक विशिष्ट प्रकार के साहित्य और काव्य की आवश्यकता थी। इस अभाव को प्रगतिवादी-धारा ने पूर्ण किया। इसमें व्यक्तिवाद के 'सुन्दर और सुकुमार स्वप्न' नहीं थे; वरन् 'सामूहिक चेतना से प्रेरित राजनीति का गूँजने वाला नाद था।' उसमें व्यक्तिगत 'मधुर रुनझुन' नहीं थी; वरन् राष्ट्र और समाज की जर्जर आर्थिक व्यवस्था की आर्द्र परन्तु ओज पूर्ण पुकार थी। छायावादी काव्य-ज्ञात के क्षेत्र में भावना का आरोपण करना जानता था, प्रगतिवाद ने कर्म-क्षेत्र में भावना को आरोपित करने का बीड़ा उठाया। एक शब्द में यूरोप से आने वाली समाजवादी विचारधारा ने हमारे समाज और साहित्य में मौलिक परिवर्त्तन

करकें एक भौतिक मापदंड स्थिर किया जिसके सहारे क्या काव्य और क्या अन्य कलाएँ सभी तो ली जाने लगीं।

देश भर में, विशेष कर हिन्दी-जगत में जो यह नयी चेतना का विस्तार हुआ, उसका सफल नेतृत्व शायद 'दिनकर' जी के कन्धों पर था। प्रगतिवाद के रंग में रँगे हुए वीर सैनिक की तरह उन्होंने कला के मूल्यों का निर्धारण करते हुए कहा—"कला की प्रत्येक कृति मनुष्य को एक डग आगे ले जाने वाली होनी चाहिए।" उनकी दृष्टि से यह कला का स्वाभाविक उद्देश्य है। "अगर संसार के कलाकार कविता को इस स्वाभाविक उद्देश्य से भी मुक्त करना चाहते है, तो कविता संसार से उठ जाय, ऐसी कविता के बिना संसार की कोई हानि नहीं हो जायगी।............नभ नीला है, सरिता बहती है, फेनिल लहरों पर चन्द्र किरणें खेलती है और किरण के तारों पर चढ़ कर प्रेमी चन्द्रिका प्रेम के गीत गाते है—आदि सुकुमार शब्द-योजनाएँ मात्र कविता का स्थान नही ले सकतीं।.......... सफल कवि दृश्य और अदृश्य का वह सेतु है, जो मानवता को देवत्व की ओर ले जाता है।"

उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'दिनकर' जी काव्य को सउद्देश्य (सोद्देश्य) मानते हैं। यह उद्देश्य अलौकिक नहीं लौकिक आधार वाला ही होना चाहिए। उसकी उपयोगिता और उपादेयता स्वतः प्रकट होनी आवश्यक है। "मेरे नगपति मेरे विशाल' कविता जो उन्होंने हिमालय को संबोधित करके लिखी, उससे स्पष्टतया प्रकट है कि वे हिमालय की उपयोगिता स्वीकार करते हैं और इसीलिए उसके सम्मुख नतमस्तक है। 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' निबन्ध में कहा है—"हिमालय को देखकर हृदय में गौरव तो जगा, परन्तु उसके सामने मस्तक तब झुका जब कानों में अपनी ही भावना की यह गुन-गुनाहट सुनी कि नगराज हमारे भाल का रजत-किरीट है ; हमारे राज्य का द्वार-प्रहरी है। हिन्द महासागर का मनोरम ध्यान उस समय मार्मिक वेदना में भीग कर महत्तर हो उठा जब उसके वक्षःस्थल पर खेलने वाले यानों पर तिरंगे की ज्योंति नहीं मिली : धार के कणों में छिपकर गूँजने वाली तलवारों की झनकार ने बालू की तप्त साँसों के नाद को अपने भीतर गुम कर दिया। राजगिरि के वनों की हरियाली पर रवि-रश्मि की शोभा उस समय और भी निखर उठी जब धर्म की ज्योति ने उस पर अपनी चमक फेंकी।" दूसरे शब्दों में कवि की दृष्टि से उपयोगिता न केवल काव्य का लक्षण ही है, परन्तु वह कवि के लिए उद्दीपन का कार्य करता है।

इसके अतिरिक्त 'दिनकर ' जी लौकिकता को काव्य का आधारभूत गुण मानते हैं। उसमें अलौकिक लोक की छानबीन करना मूर्खता होगी। उनका कहना है कि 'आधुनिक सभ्यता का आधार भौतिक प्रेरणाएँ है" और "प्रेम और रोमान्स को मिलाने वाली गाँठ विज्ञान द्वारा खोली जा रही है। मनुष्य वह चाहता है जो उसे सहायता दे; वह नहीं

जो उसे भुलावा देकर उसे अकर्मण्य बना दे ।।"[१] जिस समय उन्होंने

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की छाती पर लिपट लिपट, जाड़ों की रात बिताते हैं ।।

इस चीत्कार के विरुद्ध "झन झन झन झन झनन" करती हुई 'क्रान्ति कल्याणी' की कल्पना की थी, अथवा 'हुंकार' में भूख से बिलबिलाते हुए बच्चों के लिए आकाश तक को चीरकर स्वर्ग लूटने का साहस किया था—

—हटो व्योम के मेघ पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
दूध ! दूध ! ! ओ वत्स तुम्हारा, दूध खोजने हम जाते हैं ।।

तब उन्होंने अवश्य ही इस भौतिकता व लौकिकता के सिद्धान्त को अपने सम्मुख रक्खा होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज की दरिद्रता किसी अलौकिक, अदृश्य तथा दैविक शक्ति के कारण नहीं, वरन् समाज के ही विकृत आर्थिक ढाँचे के कारण होती है जिसके लिए काव्य ऐसी साहसभरी कल्पना का चित्र खींचता है। क्रान्ति के आगमन में केवल 'झनझनाहट' की आवाज ही नहीं, उसका विनाशकारी और प्रलयंकारी स्वरूप भी स्पष्टतर है; परन्तु उसमें समाज के लिए कल्याणकारी उद्देश्य रक्खा गया है। 'व्योम के मेघ पंथ' से 'स्वर्ग लूटने' में मानवता (कवि का) का निस्सहाय अवस्था में किया हुआ अन्तिम उपाय स्पष्ट परिलक्षित होता है, परन्तु भूख और प्यास से व्याकुल बच्चों की माताओं के लिए, जिनके स्तन तक सूख गये हैं, ऐसी कल्पना वास्तव में लौकिक कर्म के लिए प्रेरित करते है। कवि के सिद्धान्त और व्यवहार में यह पारस्परिक तादात्म्य निस्संदेह स्तुत्य और सराहनीय है।

काव्य को लौकिक बनाने का अभिप्राय शायद 'दिनकर' जी का इस सिद्धान्त पर आधारित है कि कविता समाज की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं की ओर से मुँह मोड़ने वाली न होकर सदा उनका हल ढूँढ़ने के लिए क्रियाशील बनी रहे। उनका विचार है कि "कला की ऊँची कृत्तियाँ केवल जीवन की समीक्षा ही नही करतीं, वरन् उसकी समस्याओं का भी निदान, उसके अर्थों की टीका और कभी कभी उसका हल भी निकालती हैं।" इसके लिए एक कारण यह भी है कि वर्त्तमान युग में मनुष्य का अत्यधिक बौद्धिक विकास हो चुका है। उसकी प्रत्येक क्रिया मे मस्तिष्क का पुट अधिक और हृदय का संयोग बहुत कम होता है। हमारे प्रत्येक कार्य में कुछ न कुछ उद्देश्य और लक्ष्य होता है। ऐसी परिस्थिति में काव्य भी लक्ष्य-विहीन नहीं हो सकता और न वह सामयिक समस्याओं से पलायन ही कर सकता है। वास्तव में देखा जाय तो आज हमारे समक्ष कर्म की बेला है। उन्नीसवीं शताब्दी में, जैसा कि हमने ऊपर बताया है, स्वर्गीय राजा राम मोहन राय, दयानन्द, रामकृष्ण ओर विवेकानन्द के सिद्धान्तों एवं व्यक्तित्व से हमारे भीतर नवजागरण का स्फुरण

---

१. यह आक्षेप शायद छायावाद के उस महाकवि पर तो नहीं है जिसने लिखा था 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक! धीरे धीरे।'

हुआ और हमें एक प्रकार की बौद्धिक तृप्ति एवं राह मिली; आज बीसवी शताब्दी में हमारा जीवन-संग्राम और राष्ट्र-निर्माण की समस्याएँ उग्र रूप से हमें चेतावनी दे रही हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् तो इन समस्याओं ने और भी गहन रूप धारण कर लिया है। अतएव आज काव्य पर भी इस बात का उत्तरदायित्व है कि वह हमें उनके हल के लिए तथा हल को प्राप्त करने के लिए समुचित प्रेरणा दे। 'दिनकर' जी ने कहा है कि "यदि रवीन्द्रनाथ ने भी बीसवीं सदी में जन्म लिया होता.....तो वे युग की समस्याओं को अचिर मानकर उनकी ओर से मुँह नही फेर लेते; तब वे शायद इन समस्याओं के व्यूह में घुसकर वह करतब दिखाते जो इब्सन और शा, रोम्याँ रोलाँ और गोर्की में से कोई नहीं दिखला सका है।" कवीन्द्र रवीन्द्र तो संसार के दुःख, यहाँ की गरीबी, व्यथा और कष्ट आदि की याद कवि को दिलाते थे और उसे संबोधन करके उनके लिए उसे स्वर्ग से विश्वास लाने का आग्रह करते थे। यथा––

"कवि तबे उटे ऐसो, यदि थाके प्राण,
तबे ताई साथे, तबे ताई कोरो आजि दान।
बड़ो दुख, बड़ी व्यथा, सम्मुखेते कष्टेर संसार,
बड़ोई दरिद्र, शून्य बड़ो क्षुद्र, बद्ध अंधकार।
अन्न चाई, प्राण चाई, आलो चाई मुक्त वायु,
चाई बल, चाई स्वास्थ्य, आनन्द उज्ज्वल परमायु।
साहस-विस्तृत वक्ष पट। एई दैन्य माझारे कवि,
एक बार निये ऐसो स्वर्ग होते विश्वासेर छवि।"

लौकिकता से जुड़ा हुआ प्रश्न काव्य और सामयिक राजनीति के पारस्परिक सम्बन्ध का है। कुछ देशों में इस प्रकार की धारणाएँ बहुत अधिक विस्तार पारही है कि यदि राजनीति के कतिपय सिद्धान्त आरम्भ ही से युवा व्यक्तियों एवं अनपढ़ जन-समूहों में साहित्य के भीतर से पचा दिये जायें तो वे संस्कार का रूप धारण कर लेंगे। जिस प्रकार रोगी को शक्कर से लिपटी हुई कुनीन की गोलियाँ दे दी जाती है और उसका उद्धार हो जाता ह, ठीक उसी तरह अशिक्षित जनता को भी भेड़ों की तरह डंडे के बल हाँका जा सकता है और इस प्रकार एक मनचाही संस्कृति व सभ्यता का निर्माण किया जा सकता है। साम्यवादी विचारकों की तो यह धारणा इतनी बढ़ गई थी कि उनके बड़े बड़े लेखक क्रिस्टोफ़र कॉडवेल आदि ने अपनी पुस्तकों में यह बताने का प्रयास भी किया कि सभ्यता और इतिहास के प्रत्येक चरण में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इस प्रकार की चेष्टाएँ पाई जाती है। 'दिनकर' जी भी काव्य को और साहित्य को राजनीति से अलग नहीं मानते परन्तु वे एक भिन्न दृष्टिकोण से इस सारी समस्या को देखते है और एक निश्चित सीमा तक इस सिद्धान्त की उपादेयता स्वीकार करते है।

भारतीय साहित्य का अध्ययन करने से पता चलेगा कि राजा भोज के ज़माने

से कवियों, कलाकारों एवं संगीतज्ञों को राज्य में श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखा जाता था। बल्कि रीतिकाल के कवि तो राज्यों में आश्रय पाने के कारण ही काव्य-कला के आदर्श को ऊँचा उठाने में समर्थ हो सके। उदाहरणतः केशव ओरछा नरेश के यहाँ, बिहारी राजा जयसिह के यहाँ और भूषण राजा शिवराज के यहाँ आश्रय और प्रोत्साहन पाकर ही सुन्दर काव्य की सृष्टि कर पाये। यहाँ तक कि वीर गाथाकाल में भी 'पृथ्वी-राज रासो', 'खुमान रासो' आदि ओजभरे महाग्रंथ भिन्न राजाओं के आश्रयकाल में ही लिखे गये थे। यह एक अत्यन्त खेद का विषय है कि आज हमारे राजनीतिज्ञों एवं नेताओं को कवियों की कविताओं को सुनने अथवा उन्हें प्रोत्साहन देने का समय बहुत कम रह गया है। अतएव हमारे बड़े से बड़े कवि को आज केवल अपने श्रवणकर्त्ताओं की तालियों की गड़-गड़ाहट से ही संतोष कर लेना पड़ता है और उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करनी पड़ती है। परन्तु क्योंकि इन श्रवणकर्त्ताओं के भाग्य हमारे नेताओं की राजनीति निर्धारित करती हैं, कवियों को भी अपनी कविता-कला का जीवन की सामयिकता, भौतिकता और व्यावहारिकता से तादात्म्य स्थापित करना पड़ेगा। उन्हें सामयिक, राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों का समुचित अध्ययन करना पड़ेगा और जनता के लिए सहज मार्ग प्रशस्त करने के हेतु अपने भीतर आवश्यक क्षमता का विकास करना पड़ेगा। 'दिनकर' जी कला को राजनीति से ऊँचा नहीं मानते, और न उसके कार्यों को राजनीति से महान् समझते हैं; वे शायद इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते। उनका कहना है कि "राजनीति की ओर से साहित्य की आराधना कोई बुरी चीज़ नहीं, परन्तु राजनीति की अनुचरता स्वीकार करके साहित्य मनुष्य का कल्याण नहीं कर सकता।............कलाकार समय के साथ साथ और कभी संभव हो तो उससे आगे बढ़कर चले और रास्ते में इस बात की चिन्ता नहीं करे कि राजनिति का कौन-सा रूप अधिक आकर्षक और सुविधाजनक है।" कहने का तात्पर्य यह है कि वे कविता को किसी न किसी रूप में राजनीति से हटकर 'मिट्टी की पुकार' करती हुई देखना चाहते हैं। चाहे वह आकाश में विचरण करे, अथवा धरती पर घूमे, वे उसकी आँखें मनुष्य, उसकी धरती और उसकी समस्याओं पर केन्द्रित हुई देखना चाहते हैं।

कविता और विज्ञान के पारस्परिक संबंध के विषय पर भी 'दिनकर' जी के विचार स्पष्ट हैं। आज विश्व में सर्वत्र विज्ञान का बोलबाला है। वैज्ञानिक आविष्कारों और अनु-संधानों ने कला के मूल्यों को बहुत कुछ गिरा दिया है। आज कवि केवल बाजारू गायक समझा जाता है। परन्तु विज्ञान ने सुविधाएँ उपस्थित करके भी मनुष्य को संतोष और श्रद्धा एवं सद्भावना का पाठ न पढ़ाकर उसे युद्ध के लिए तैयार किया है। युद्ध की यह ज्वाला अब विज्ञान से नहीं बुझने वाली है। इसका उत्तरदायित्व अब कविता के कंधों पर है। "एटम के अनुसंधान से युद्ध नहीं रुक सकता। उसे रोकने के लिए तो मनुष्य के मन से इस भाव को ही दूर करना होगा कि युद्ध कोई आकर्षक, प्राण-प्रेरक या प्रिय पदार्थ है। दुनिया के सामने आज जो यह सबसे बड़ा सवाल है, उसका हल राजनीति या विज्ञान नहीं

निकाल सकता ।............. मनुष्य को समाधान देने के लिए या तो कविता को, विज्ञान को आत्मसात् करना होगा अथवा कविता की पकड़ में आने के लिए विज्ञान के लिए ही संशोधन स्वीकार करना पड़ेगा ।"

हमने आरम्भ में गांधीवादी दर्शन के उदय को तथा द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ को हिन्दी जनता के लिए अभूतपूर्व घटनाएँ माना है। वास्तव में देखा जाय तो जब दो सभ्यताएँ परस्पर आपस में टकराती हैं, तब एक तीसरी वस्तु पैदा होती है। पन्द्रहवी शताब्दी में हिंदुत्व और इस्लाम के मेल से हमें कबीर और अन्य सूफ़ी कवि मिले, बीसवीं शताब्दी में पूर्व और पश्चिम के मेल से हमें न केवल छायावादी ही प्राप्त हुए, परन्तु 'दिनकर' भी और उनके साथ न जाने कितने अन्य प्रगतिवादी कवि । आज प्रगतिवाद साहित्य का धर्म हो गया है । न केवल भारत में, बल्कि सारे विश्व-साहित्य में आज वह अपना झंडा उड़ाये चल रहा है। इसका बहुत कुछ श्रेय 'दिनकर' जैसे व्यक्तियों को है। "कविता को हम मिट्टी पर नहीं घसीटना चाहते और न यही चाहते हैं कि वह नीचे रहे। किन्तु उसे बराबर जीवन के बीच से उठकर ऊपर जाना चाहिए।.......... सादग़ी और प्रभावपूर्णता, इन्हीं के संतुलित योग से नई कविता अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है" यही 'दिनकर' जी का काव्य-विषयक मूल सिद्धान्त है ।

—श्रीगोपाल पुरोहित

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

श्री भगवतशरण उपाध्याय इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य और समाज-शास्त्र के विद्वान् हैं। इन सभी विषयों पर उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ और निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में उनकी लेखनी समान तीव्र गति से चलती है। "इंडिया इन कालिदास" भगवतशरण जी का महत्त्वपूर्ण आलोचना ग्रन्थ है। फादर हैरास ने इसे आधुनिक भारतीय प्रकाशनों में माइलस्टोन और कालिदास के काल संबंधी विवादों का सदा के लिए अन्त कर देने वाला बताया है । सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या महोदय ने इस ग्रन्थ को कालिदास संबंधी ज्ञान का आकर और विश्वकोष कहा है। इसमें उपाध्याय जी ने ग्रन्थों के आधार पर ही उस युग की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्था, कला-सम्बन्धी विचार और व्यवहार, शिक्षण-व्यवस्था, आर्थिक स्थिति, धन और दर्शन का तात्कालिक जीवन में स्थाम इत्यादि बातें स्पष्ट की हैं। इसमें न तो किसी प्रकार के अनुमान का आश्रय लिया गया है और न अपनी धारणाओं पर अज्ञात तथ्यों को पहचाना गया है ।

बहुत-बहुत पहले भगवतशरण जी ने हिन्दी में एक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा था। शायद 'नूरजहाँ'। और जहां तक मुझे स्मरण है उसमें देवता से ज्यादा महत्त्वपूर्ण उसकी पूजा थी। संभवत: वह 'अप्रिसिएशन' पूर्ण निबन्ध था। अत: उनके उस प्रयास की चर्चा यहाँ असंगत है। लेखक की सर्वोच्च कृति के आधार पर ही कुछ कहना चाहिए।

श्री भगवत शरण जी ने कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण समालोचनाएँ लिखी हैं। उन समालोचनाओं की संख्या इस प्रकार है :—

१. वासवदत्ता। यह श्री सोहन लाल द्विवेदी का काव्य है। इस पर तीन समालोचनात्मक लेख हैं।

२. ज्ञानदान। यह श्री यशपाल जी की कहानियों का संग्रह है। इस पर एक समालोचनात्मक लेख है।

३. विभूति। यह डॉ. रामकुमार वर्मा के तीन एकांकी नाटकों का संग्रह है। इस पर एक समालोचनात्मक लेख है।

४. दिव्या। यह श्री यशपाल जी का उपन्यास है। इस पर एक समालोचनात्मक लेख है।

५. वोल्गा से गंगा। यह श्री राहुल सांकृत्यायन जी की ऐसी कहानियों का संग्रह है, जिसमें राहुल जी ने आदि मानव-काल से लेकर गांधी युग तक का सामाजिक विकास कहानियों के माध्यम से दिखाया है। इस पर एक समालोचनात्मक लेख है।

६. माँ निषाद्.......... ! यह पं. चन्द्रबली पाण्डेय जी का एक भाषण है, जिसे उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साहित्य परिषद् के सभापति पद से दिया था। इसकी श्री भगवत शरण जी ने प्रतिवादात्मक आलोचना की है।

७. गरुडध्वज। यह श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र जी का नाटक है। इस पर एक समालोचनात्मक लेख है।

८. क्या गोरी क्या साँवरी (ले० श्री देवेन्द्र सत्यार्थी)। इस पर एक समालोचनात्मक लेख है।

९. पाटलिपुत्र की कथा (इतिहास अथवा पाटलिपुत्र के इतिहास-सामग्रियों का संकलन)। इस पर एक आलोचनात्मक लेख है।

१०. सुहागिन (श्रीमती विद्यावती 'कोकिल') समालोचनात्मक लेख।

११. नदी के द्वीप। यह "अज्ञेय" जी का दूसरा उपन्यास है। इस पर एक समालोचनात्मक लेख है। श्री भगवत शरण जी की यह समालोचना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः यह समालोचना का आदर्श है।

श्री भगवतशरण उपाध्याय जी की समालोचना पर विचार करते समय उनकी सभी समालोचनाएँ मुझे नहीं मिलीं। मेरे सामने सिर्फ़ पाँच ही समालोचनाएँ हैं—'विभूति', 'दिव्या', 'वोल्गा से गंगा', 'माँ निषाद्' और 'नदी के द्वीप'। अतः यह निबन्ध इन्हीं पाँच आलोचनाओं को सामने रख कर लिखा जा रहा है।

सभी समालोचनाओं में दृष्टि मार्क्स की है, जिसमें द्वन्द्वात्मक-संघर्षात्मक प्रगति का मूलतः आधार आर्थिक कारण माना गया है। अर्थात् भगवतशरण जी ने मार्क्स के इस सिद्धान्त को आत्मसात् कर लिया है कि मानव-समाज का विकास—जिसमें कला, संस्कृति,

दर्शन विचार आदि सभी कुछ है—वस्तुतः आहार की खोज में उत्पादक साधनों के उत्तरोत्तर विकास का इतिहास है। इसी कारण श्री भगवतशरण उपाध्याय का दृष्टिकोण सर्वथा सार्वभौम हो उठा है। सांस्कृतिक विकास में वह अन्तरावलंबन के सिद्धान्त को मानते हैं। संस्कृति को वह सब जातियों का सामूहिक सर्जन मानते हैं। इसको और भी स्पष्ट करें तो कहा जा सकता है कि उसमें से राष्ट्रीय को पृथक् कर सकना बहुत कठिन है। इसीलिए उनकी दृष्टि में एंथ्रोपालोजी, एथ्नालोजी, आर्कियालोजी, तुलनात्मक भाषा-शास्त्र, तुलनात्मक धर्मान्दोलन और तुलनात्मक कला-विकास अनिवार्य रूप से है। वह जिस किसी को भी देखें सभी पर इन सभी ज्ञानपुंजों का प्रकाश पड़ता ही है।

अपनी दृष्टि की प्रखरता के साथ ही आलोचना क्षेत्र में श्री भागवतशरण जी का आदर्श मल्लिनाथ है। आलोचना लिखते समय उनकी प्रतिज्ञा रहती है—"नामूलं लिख्यते किंचित नानपेक्षित मुच्यते'। इसीलिये आलोचना लिखते समय वह सारे संबंधों को भुला देते है। श्री यशपाल जी भागवतशरण जी के घने मित्र हैं। सिद्धांत की दृष्टि से भी दोनों में समानता है—दोनों मार्क्सवादी और प्रगतिशील है। यशपाल जी को वह हिन्दी का श्रेष्ठ कथाकार मानते है भी। पर "दिव्या" की आलोचना में भगवतशरण जी ने सारी गलतियाँ दिखा दी है, जो उसमें है। और ऐसा करते समय उन्होंने ज़रा भी रू-रियायत से काम नहीं लिया है। कठोर से कठोर शब्दों का भी प्रयोग किया है। उसे उन्होंने सर्वथा असफल बताते हुए ; यशपाल द्वारा ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन को अनधिकार चेष्टा भी कह दिया है। यह तो हुई मित्र के प्रति भी उनकी कठोर स्पष्टवादिता, पर वह इससे भी आगे जाते है। श्री राहुल सांकृत्यायन को श्री भगवतशरण जी श्रद्धेय मानते है—उनका चरण-स्पर्श भी कर लेते हैं। पर "वोल्गा से गंगा" की आलोचना करते समय वह अपनी श्रद्धा को ताक़ पर धर देते है। राहुलजी ने "वोल्गा से गंगा" की कहानिधों को ऐतिहासिक कहा। भगवतशरण जी ने उसकी (वोल्गा से गंगा की) एक-एक ऐतिहासिक ग़लतियों को निकाल कर स्पष्ट शब्दों में कहा—इसमें प्रारम्भिक इतिहास को उलट कर रखा गया है, हिन्दू काल असम्बद्ध और गलत है, मध्य काल भ्रामक और स्वाभाविक है। आधुनिक काल फूहड़ और मानव स्वभाव के विपरीत है। भगवतशरण जी ने राहुल जी की इन कहानियों में बौद्ध साम्प्रदायिकता अथवा साम्प्रदायिक पक्षपात भी दिखा दिया, जो मार्क्सीय दृष्टि में अपराध है। यही नही, जहाँ राहुल जी की नीयत में संदेह की गुजाइश थी, वहाँ उनकी नीयत पर भी संदेह किया।

कहने का अर्थ यह कि आलोचना लिखते समय भगवतशरण जी आलोच्य ग्रंथ के लेखक के बलाबल, उसकी सामाजिक मान-प्रतिष्ठा, अपने उसके संबंध आदि को नहीं सोचते। जैसी कि आज के सर्वश्रेष्ठ कहे जाने वाले हिन्दी आलोचक की विशेषता है। वह न तो सत्य को दबाते हैं, न शब्दाकार में सत्य को छिपाते हैं और न तो असम्बद्ध रूप में (आलोचना में) काव्य करने लगते हैं, जैसी कि आज के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी आलोचक

की शैली है। वस्तुतः सत्य को दृढ़ता के साथ व्यक्त करने में और सत्य को सत्य रूप में व्यक्त करने में भगवतशरण जी स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद ही हैं। हाँ, सिद्धांत और शैली में शुक्ल जी और उपाध्याय जी का कोई संबंध नहीं।

श्री भगवतशरण जी की आलोचना शैली शास्त्रीय है। पर वह इस अर्थ में शास्त्रीय नहीं है कि कुछ पुराने शास्त्रीय ग्रंथों को प्रमाण स्वरूप उद्धृत करते चलें, जैसा कि प्राचीन काल में था। पर नवीन शास्त्रीय आलोचक कहे जाने वालों से भी वह अलग हैं। वह शास्त्रों को भी निरखते-परखते हैं; कहीं भी इतिहास अपुष्ट प्रमाण अथवा संदेह निर्बल प्रमाण का प्रश्रय नहीं लेते। जैसा कि आज के श्रेष्ठ माने जाने वाले हिन्दी के शास्त्रीय आलोचक या तो अपने अज्ञानवश करते हैं अथवा हिन्दी के पाठकों को भ्रम में डालने के लिये करते हैं। भगवतशरण जी शास्त्रीय आलोचक इस अर्थ में हैं कि आलोच्य वस्तु से संबंधित शास्त्रों को उसके टेकनीकल रूप तथा द्वंद्वात्मक विकास और तुलनात्मक प्रभाव को भी इतिहास की कसौटी पर परख कर; फिर उस कसौटी पर आलोच्य वस्तु को कसते हैं। पर यह सारी प्रक्रिया उनकी मेधा में एक साथ और ऐसी तीव्र गति से होती है कि किसी एक को अलग कर सकना संभव नहीं रह जाता। पं० चन्द्रवली पांडेय जी के भाषण की आलोचना में उन्होंने शास्त्रों को भी निरखा और परखा है; उस पर करारे व्यंगों की वर्षा भी की है। क्योंकि वहाँ उनकी टक्कर शास्त्रों से भी हुई है। "वोल्गा से गंगा" की आलोचना में इतिहास शोधन के सभी औज़ारों का उपयोग किया गया है। एंथ्रोपालोजी की कसौटी पर प्रारम्भिक कहानियों का सिद्धांत—जिसे उसका मेरुदंड कहना चाहिए—उखड़ गया है। तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय ज्ञान का प्रयोग शुंगों और उसके पूर्व की कहानियों को परखने में निर्णायक है। आर्कियालोजी का प्रयोग तो समान भाव से आरंभ से लेकर हिन्दू काल तक की कहानियों में कसौटी और कसौटी को भी परखने वाली कसौटी के अन्दर है। इतिहास की निर्मल दृष्टि के कारण ही राहुल जी के बौद्ध पक्षपात अथवा उनकी साम्प्रदायिकता को लेखक ने दृढ़ता के साथ रख दिया है। इतिहास का ज्ञान हस्तामलकवत होने के कारण ही यशपाल की "दिव्या" की विफलता को उसने स्पष्ट कर दिया है। सुना है "वासवदत्ता" की प्रथम आलोचना पर श्री सोहनलाल द्विवेदी ने भगवतशरण से कहा कि 'वासवदत्ता' इतिहास नहीं, काव्य है, साहित्य है, कला है। इसके बाद भगवतशरण जी ने "वासवदत्ता" पर बाद में दो आलोचनाएँ ऐसी लिखीं, जिसमें कवि द्वारा "वासवदत्ता" में की गई प्रतिज्ञा को सामने रखकर कला और साहित्य के टेकनीकल ज्ञान की कसौटी पर और इतिहास की पृष्ठभूमि को देखते हुए आलोचना की गई है। "नदी के द्वीप" की आलोचना में भी कला पक्ष और विचार पक्ष को बड़ी खूबी से अलग भी दिखाया गया है और एक में मिला कर भी देखा गया है। आलोचना की यह कला भगवतशरण की ऐसी है जैसी अब तक हिन्दी में देखने में नहीं आई। स्थान-स्थान पर देशी और विदेशी क्लासिकल का आभास मिलता जाता है। कला का निखार भी स्पष्ट

हो जाता है और विचारों का असामाजिक तथा यौन रूप अलग स्पष्ट हो जाता है। आलोचना का अन्तिम परिमाण आलोचक के ही शब्दों में:—

"नदी के द्वीप" की कला, जैसा पहले कह चुका हूँ, सफल है, उसका सिद्धान्त समाज-विरोधी ग़लत। उपन्यास के रूप में उसका-सा अपने साहित्य में कुछ नहीं है। मैं उसे हिन्दी के छह सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गिनता हूँ, जिनमें दो 'अज्ञेय' के ही है ('शेखर एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप')। व्यंजना और बौद्धिक बारीकी उसमें गहरी है। भावों की बारीकी, उसका सहज विन्यास साहित्य की सुइकारी है। पर अफ़सोस कि उपन्यास पढ़ कर 'सत्य-नारायण' की कथा याद आ जाती है—सुन्दर पके फल में कीड़े।" यही नही आलोचक ने 'अज्ञेय' जी के दोनों उपन्यासों—"शेखर एक जीवनी" और "नदी के द्वीप"—की तुलना कर के यह देखा और दिखाया है कि जिस तरह "शेखर एक जीवनी" के पात्र और उनके आचरण के साथ 'अज्ञेय' अभिन्न है, उसी तरह "नदी के द्वीप" के पात्रों के साथ भी उसका लेखक है। पर "शेखर एक जीवनी" की गति समाज की ओर थी, क्रान्ति की ओर थी और "नदी के द्वीप" में "खेद है कि उनका अभियान 'दांडी' की ओर नहीं, 'पांडिचेरी' की ओर भी नहीं, वज्रयानी तांत्रिकों के 'श्री वर्द्धन' की ओर है।" इसीलिए आलोचक ने इस सुन्दर उपन्यास को कीड़ों से भरे हुए सुन्दर फल की भाँति त्याज्य बताया है, जैसे किसी समय का प्रशंसित बौद्ध धर्म अपने तांत्रिक और "श्रीवर्द्धन" रूप में त्याज्य हो गया। उसे भारतीय समाज ने अपने अन्दर से इस प्रकार उखाड़ फेंका कि जैसे वह कभी उसका रहा ही न हो?

इस प्रकार भगवतशरण जी की शास्त्रीय आलोचना में, आलोच्य वस्तु में प्रयुक्त वस्तुओं से सम्बन्धित शास्त्रों का रूढ़ और यथास्थित प्रयोग नहीं होता। वह शास्त्रों का प्रयोग, उनकी द्वन्द्वात्मक गति के सा, उसके विकास को देखते हुए और उसे इतिहास की पृष्ठभूमि पर रखते हुए करते हैं। देशी और विदेशी क्लासिक्स उनकी ज्ञान-रश्मि की भाँति प्रयुक्त होते हैं। इतिहास और समसामयिक वातावरण उनकी आलोचना में कभी छूटने ही नही पाते। उनकी दृष्टि से भी वह वस्तु को परखते है। आलोच्य वस्तु में वह ज्ञान और कला दोनों को सम्यक् रूप से देखते हैं। दोनों के योग और उनके सामंजस्य पर उनकी सतर्क दृष्टि रहती है। इसीलिए वह सम्पूर्ण भाव से आलोच्य वस्तु की आलोचना करने में समर्थ होते हैं।

भगवतशरण जी मार्क्सवादी आलोचक हैं, पर पार्टीज़न नहीं हैं। इसीलिए वह सिर्फ़ सिद्धान्त को न देखकर कला को भी देखते हैं। साहित्य के अन्दर वह निरन्तर दो पक्ष मानते हैं—सिद्धान्त (विचार) और कला। साहित्य को पहले साहित्य होना चाहिए। उसका कला-पक्ष उन्नत होना चाहिए। सुन्दर कला में लोक-कल्याणकारी सिद्धान्त भी हो सकता है और लोक-विघातक फैसिज़्म भी हो सकता है तथा वह कला-सिद्धान्त की ओर से उदासीन भी हो सकती है—यद्यपि उसका पुट उसमें होगा। मार्क्सवादी पार्टीज़न आलोचक भी इन तथ्यों से बेख़बर नहीं रहता। पर वह सिद्धान्त को कला से ज़्यादा महत्त्व देता है। भगवतशरण

ऐसा नहीं करते। भगवतशरण साहित्य में कला को अनिवार्य मानते है। सिद्धान्त से उदासीन कला को भी आनन्ददायक होने के कारण महत्वपूर्ण मानते है। हाँ,महान् कला वह उसी को मानते हैं, उनकी नजरों मे महान् साहित्य वही है जिसके सिद्धान्त में लोक-मंगल हो और जिसके अन्दर कला का विचार भी हो। इसी अन्तर के कारण वह कम्युनिस्ट आलोचक से भिन्न है। इसी कारण "दिव्या" और "वोल्गा से गंगा" की उनकी आलोचना कम्युनिस्टों से भिन्न किस्म की है। कम्युनिस्टों ने अपनी आलोचनाओं में जिनकी प्रशंसा के पुल बाँध दिए, उन्हे भागवतशरण जी ने तार तार कर दिया। पर इसका यह अर्थ नही कि वह कम्युनिस्टों से अपने इस मतभेद को उछालकर अपना हित साधन करते है। वह ऐसा करना कायरता समझते हैं।

श्री भगवतशरण जी की आलोचना शैली सुगठित, ठोस है। यहाँ तक कि अनेक स्थानों पर वह व्यंग और व्यंजनाओं द्वारा भी अपनी बात कह जाते है। पर इसका अर्थ यह नही कि वह कुछ कहने से डरने के कारण सिर्फ़ व्यंग और व्यंजना करते हों। वस्तुतः उनकी शैली में भी व्यंग और व्यंजना की भरमार रहती है। वह शब्दों से ऊपर भी कुछ कहते है। "विभूति" की आलोचना में व्यंगों की बहार है। "माँ निषाद् . . . " में व्यंग और व्यंग्य दोनों का अद्भुत अपूर्व योग है। तीखे व्यंगों की वर्षा "क्या गोरी क्या साँवरी" में है। उनकी भाषा संस्कृतगर्भित होती है, पर वह उनके भार से लदी नहीं होती। बीच बीच में वह उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी शब्दों का भी चुस्त प्रयोग करते है।" "साका चलाया" शायद भगवतशरण जी का ही प्रयोग है। वह इसका प्रचुर प्रयोग करते है। उनकी भाषा में गज़ब का प्रवाह, पैनापन और चित्रात्मकता भी है। वह रुक-रुक कर और रो-रो कर नहीं चलते। उनकी आलोचना तीव्रगति से पैनी और तीखी—बीच बीच में सिद्धान्त का पुट देती हुई, प्रमाणों की वर्षा करती हुई चलती है। जब विरोधी पर वह हमला करते है, तो उनमे अद्भुत ओज प्रकट दिखाई पड़ता है। वह प्रमाणों और तर्कों से विरोधी को तोप देते है। एक बाढ़ का-सा अनुभव होने लगता है। अध्ययन और अर्जित ज्ञान का स्रोत जैसे अनायास फूट पड़ता है। कम लोगों ने अध्ययन का उपयोग आलोचना के क्षेत्र में इतना किया होगा। आज यद्यपि वस्तु को छूकर आलोचना, यहाँ तक कि इतिहास लिखने वाले 'पंडितों' की कमी नही है। पर भगवतशरण वस्तु को छूकर आलोचना नहीं करते। हिन्दी साहित्य में यह अपराध भगवतशरण पर नही लगाया जा सकता कि उन्होंने ग्रन्थ को छूकर आलोचना की है। उनकी आलोचनाएँ कभी नोटिस मात्र नहीं होतीं। उन्होंने जो भी आलोचनाएं कीं, विस्तृत और सप्रमाण आलोचनाएँ की है। ज्ञान और अध्ययन के प्रयोग से, भाषा और शैली के प्रवाह से भगवतशरण जी की आलोचनाएँ अपने आप में एक साहित्य है।

पं. रामचन्द्र शुक्ल जी ने जिस तरह हिन्दी में जायसी और तुलसीदास जी की आलोचनाएँ की हैं, उस प्रकार किसी साहित्यकार पर हिन्दी में भगवतशरण जी ने आलोचनाएँ नहीं की हैं। कालिदास पर भगवतशरण जी ने उसी प्रकार विस्तृत समालोचना

ज़रूर की। पर न तो कालिदास हिन्दी के हैं और न आलोचना हिन्दी में है। अतः भगवतशरण जी की कोई वैसी कृति हिन्दी में नहीं है। किन्तु हिन्दी के साहित्य ग्रन्थों पर हिन्दी भाषा में भी उन्होंने कुछ आलोचनाएँ की है। उन आलोचनाओं की सूची प्रारम्भ में ही दे दी है। इसमें से कोई भी आलोचना बीस कॉलम से कम की नहीं है। इन आलोचनाओं के द्वारा भगवतशरण उपाध्याय की आलोचना शैली का पता लग जाता है। थोड़े में मैंने यहाँ उनकी आलोचना शैली पर भी प्रकाश डाला है। भगवतशरण जी की अपनी एक आलोचना शैली है। उनकी शैली में भारतीय प्राच्य विद्या, कला, साहित्य के साथ ही, विश्व इतिहास और विश्व का क्लासिकल साहित्य-ज्ञान तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का भरपूर समावेश रहता है। धैर्यपूर्वक और किसी पूर्व धारणाओं से ऊपर उठकर न्याय करने की प्रवृत्ति भी उनमें है। इस प्रकार श्रेष्ठ समालोचक के गुण और उसकी योग्यता दोनों का प्रमाण उनकी इन कुछ समालोचनाओं से मिल जाता है। इसलिए हिन्दी समालोचना साहित्य का अध्ययन करने वालों के लिये भगवतशरण जी की समालोचनाओं का पढ़ना और उन पर विचार करना परम आवश्यक है; क्योंकि वह अपने ढंग की एक ही समालोचना हैं; क्योंकि हिन्दी साहित्य का विकास अब उत्तरोत्तर जिस दिशा की ओर हो रहा है; उसके लिये वैसी आलोचना शैली परम आवश्यक है और क्योंकि वह मार्क्सीय—प्रगतिशील होकर भी पार्टिज़न स्पिरिट से ऊपर और मुक्त है।

वैजनाथसिंह 'विनोद'

अमृतराय

अमृतराय के आलोचना ग्रन्थ हैं—'नयी समीक्षा' और 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा'। अमृतराय प्रगतिवादी आलोचक हैं। मार्क्सवादियों ने आलोचना शास्त्र और आधुनिक साहित्य पर ही अधिकतर लिखा है—अमृतराय भी इसका अपवाद नहीं हैं। अन्य साहित्येतर विषयों पर भी लिखा है—गाँवों में शिक्षा प्रचार का ढोंग, तीन जादूगर, संकट ग्रस्त साम्राज्यवाद का सोवियत विरोधी अभियान। 'नयी समीक्षा' की लेख-भूमिका (—लेखक की ओर से) में, इन्होंने अपनी आलोचना के मुख्य कार्य, आलोचनादर्श को स्पष्ट कर दिया है, "वर्ग संघर्ष की तीक्ष्णता पर पर्दा डालना ही सुधारवाद की मुख्य विशेषता है। अपने अन्दर इसी चीज़ से लड़ना हर मार्क्सवादी, लेनिनवादी आलोचक का पहला काम होना चाहिए। सुधारवाद क्रान्तिकारी मार्क्सवाद-लेनिनवाद का वर्ग शत्रु है और उसके साथ वैसा ही निर्मम बर्ताव करना चाहिए।" वस्तुतः अमृतराय सदैव 'निर्मम बर्ताव' और 'मोर्चा बुद्धि' का परिचय देते ह जो सत्य समालोचनादर्श के प्रतिकूल है। ऐसा स्यात् कोई ही लेख मिले जिसमें वह घूम-फिर कर रूस पर न पहुँच जाते हों। 'प्रेमचन्द और हमारा कथा साहित्य' नामक लेख में प्रेमचन्द को भी रूसी चश्मे से देखते हैं और लिखते हैं, 'प्रेमचन्द की गतिशीलता ही उनकी अजरता-अमरता का रहस्य है। उनकी पंक्ति-पंक्ति में पराधीन, दुखी, शोषित भारत के प्राण बोलते ह। आज हमें फिर एक प्रेमचन्द की आवश्यकता

: ३२ :

अन्यान्य आलोचक

डॉ. रामकुमार वर्मा

डॉ. रामकुमार वर्मा विश्लेषण की पद्धति का अनुसरण करते हुए आलोचना में भी, कविता और नाटक की भाँति रचनात्मक शैली के समर्थक रहे हैं; तथा आलोचना के अन्त में आपने आलोच्य विषय से अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़ा है। यही कारण है कि आज तक उन्होंने अपनी समालोचना से अनेक साहित्यिकों की समीक्षा करते हुए उन्हें अपना शत्रु नहीं बनाया है। आलोचना करने में वे विषय को वहीं छोड़ देने के पक्षपाती नहीं है, वरन् उसकी यथार्थ रचना की रूपरेखा देने की शैली में भी विश्वास रखते है। आलोचना उनके गूढ़ अध्ययन के परिणाम स्वरूप ही प्रस्तुत की गई है। जीवन की अनेकरूपता को विविध साधनों और शैलियों के माध्यम से अनुभव के सत्य की ओर लाकर सँवारना ही उनकी कला का प्रधान लक्ष्य रहा है।

डॉ. रामकुमार वर्मा के आलोचना साहित्य का प्रारम्भ उनकी "साहित्य समालोचना" पुस्तक से होता है। इसमें साहित्य के विभिन्न अंगों पर अंग्रेजी शैली से आलोचनात्मक प्रकाश डाला गया है। इसमें भी आलोचक अपने कर्त्तव्य में सहज सजग है, तथा उसकी अनुभूतियाँ विस्तृत और ज्ञानव्यापक दिखाई देती हैं। उसके पीछे एक ठोस बौद्धिक तत्त्व प्रतीत होता है। यद्यपि यह कृति आकार में छोटी है, तथापि इससे वर्मा जी के अध्ययन एवं अनुशीलन का परिचय प्राप्त हो जाता है।

"कबीर का रहस्यवाद" (१९३१) वर्मा जी की प्रथम ठोस और मौलिक खोजों से परिपूर्ण आलोचना की पुस्तक है। इसमें रहस्यवाद, आध्यात्मिक विवाह, आनन्द, गुरु, हठयोग, सूफ़ीमत और कबीर, अनन्त से योग आदि लेखों के अन्तर्गत कबीर के रहस्यवाद पर मौलिक दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है। यह आलोचना गवेषणापूर्ण शैली में कबीर के संबंध के अनेक विवादास्पद प्रश्नों, विशेषतः रहस्यवादी पक्ष पर प्रकाश डालती है। साथ ही, जायसी आदि रहस्यवादी कवियों को सामने रख कर आपने कबीर को तुलनात्मक ढंग से परखा है। कबीर की कृतियों तथा कला के मूल्यांकन के हेतु पर्याप्त सैद्धान्तिक ज्ञान उपस्थित हो गया है।

वर्माजी ने "कबीर पदावली" (१९३७) का सम्पादन भी किया है, जिसके प्रारंभ में ५४ पृष्ठों की आलोचनात्मक भूमिका है। कबीरदास जी के जन्म के संबंध में मतभेद है। मृत्यु का भी कोई निश्चित संवत् निर्णय नहीं किया जा सका है। उनका जन्म मुसलमान के घर हुआ या ब्राह्मण के यहाँ? इन सभी प्रश्नों पर गवेषणापूर्ण शैली में प्रकाश डाला

है। उनकी गुरुदीक्षा के संबंध में जो डॉ. श्यामसुन्दरदास जी ने संदेह उठाया है, उसे भी निवारण करने का उद्योग किया है। इस पुस्तक में हमें डॉ. वर्मा की गवेषणा एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का ज्ञान होता है। जीवन-संबंधी प्रश्नों के अतिरिक्त उन्होंने कबीर के महत्त्व को भी स्पष्ट करने का उद्योग किया है और तत्कालीन धार्मिक एवं मानसिक स्थितियों को समझाते हुए यह सिद्ध करने का उद्योग किया है कि कबीर ने शताब्दियों की संकुचित चित्तवृत्ति को परिमार्जित कर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उदार बना दिया है। प्रसंगवश तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रश्नों——जैसे कबीर के काल की समष्टि में राम, कृष्ण, सूफ़ी, योग आदि संबंधी साहित्य ने कैसा वातावरण उपस्थित कर दिया था; उनमें किन प्रेरणाओं से सन्त-मत की स्थापना हुई; उस सन्त-मत का कबीर के अनुसार क्या रूप है; ईश्वर-माया, हठयोग, सूफ़ीमत, रहस्यवाद और रूपक आदि का क्या तात्पर्य है; इन्हें किस प्रकार और क्योंकर कबीर ने ग्रहण किया आदि——को डॉ. वर्मा ने गवेषणात्मक शैली में व्यक्त किया है। आलोचनाओं में गाम्भीर्य के साथ सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी है। साहित्यिक अनुशीलन एवं आलोचनात्मक अध्ययन की अपूर्व क्षमता इस पुस्तक से प्रकट होती है।

डॉ. वर्मा की सर्वोत्तम कृति उनका "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (१९३८) है। इतिहास-लेखन बहुत उत्तरदायित्व का कार्य है। इसमें कवियों, लेखकों तथा किसी काल के साहित्य-निर्माताओं की मूल प्रवृत्तियों का निरूपण करना, नये अन्वेषणों का उनमें निर्वाह कर अपना मत निरूपण करना, कठिन कार्य है। वैज्ञानिक विवेचना की गंभीरता के साथ साथ इतिहास लेखक का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। डॉ. वर्मा ने साहित्य के इतिहास लेखन के कार्य को सफल उत्तरदायित्व से निबाहा है। उनका अध्ययन विस्तृत तथा व्यापक है। वास्तव में हिन्दी साहित्य के इतिहास में जितनी जटिलताएँ एवं गुत्थियाँ है, और जिनकी खोज हो चुकी है, उनका प्रथम वार इस ग्रन्थ में वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित ढंग से निरूपण हुआ है।

इस ग्रन्थ पर विस्तारपूर्वक विचार करने से पूर्व यह निर्देश करना आवश्यक है कि इसकी शैली आलोचनात्मक है। आलोचनात्मक शैली द्वारा इतिहास को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना करना डॉ. वर्मा का प्रधान दृष्टिकोण रहा है। आपने साहित्य की संस्कृति का आदर्श सुरक्षित रखते हुए पश्चिम की आलोचना शैली को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। अभी तक की संपूर्ण उपलब्ध सामग्री का उपयोग भी स्वतन्त्रतापूर्वक किया है। इसमें इतिहास लेखक के उत्तरदायित्व का निर्वाह पूर्ण रूप में हुआ है।

इस ग्रन्थ में सात प्रकरण हैं—प्रथम प्रकरण में इतिहास के रूप में हिन्दी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास के ऊपर विचार किया गया है। हिन्दी आलोचना के अभी तक के प्रकाशित समस्त ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। सिद्ध साहित्य और जैन साहित्य

का दिग्दर्शन कराया गया है। दूसरे प्रकरण में चारणकाल के अन्तर्गत डिंगल साहित्य, हठयोग, मनोरंजक साहित्य का विवेचन है। वास्तविक ग्रन्थ तीसरे प्रकरण—"भक्तिकाल" से प्रारंभ होता है, जो बहुत विस्तृत एवं गंभीर बन पड़ा है। चन्द, कबीर, तुलसी और नन्ददास के अध्ययन गहन हैं। "पृथ्वीराजरासो" की प्रामाणिकता का कुछ सविस्तार वर्णन है। वर्मा जी कबीर के तो विशेषज्ञ ही है। कबीर के मूल सिद्धान्तों की इस ग्रन्थ से अच्छी जानकारी प्राप्त हो सकती है। तुलसी पर विचार-विमर्श विस्तृत है, जिसके अन्तर्गत "गीतावली" की संक्षिप्त पर उत्तम समीक्षा है ।तुलसी के दार्शनिक विचारों में रामानुज सम्प्रदाय के मान्य विचारों की झलक दिखाई गई है; रसों तथा भावों के कुछ उदाहरण देकर उन्होंने अपनी आलोचना को अधिक उपादेय बना दिया है। सूर पर विचार यथेष्ट है किन्तु नन्ददास को भी काफ़ी महत्त्व प्राप्त हो गया है। कृष्णकाव्य में रसखान पर मौलिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। वैष्णव कवियों को समझाते हुए वर्मा जी ने संस्कृति पर भी प्रकाश डाला है। विष्णु तथा कृष्ण की उपासना के संबंध में भाण्डारकर और फरुखियर की पुस्तकों का आश्रय ग्रहण किया गया है। कही कहीं अन्य धार्मिक विश्वासों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इस पुस्तक के संबंध में बा. गुलाबराय ने एक स्थान पर लिखा है :–

"हम वैज्ञानिक विवेचन में धार्मिक विश्वासों से प्रभावित होने के पक्ष में नहीं हैं, तथापि कल्पनात्मक काव्यों को विधिकाव्य मानने के विरोधी है। वर्मा जी ने जयदेव की तो प्रशंसा की है और वे प्रशंसा के योग्य भी हैं किन्तु उन्होंने अभिनव जयदेव, विद्यापति की कविताओं में ऐन्द्रिकता की अधिकता बतलाने में बात को कुछ अतिरंजित कर दिया है। उनके किये हुए विद्यापति के वर्णन से पाठकों के हृदय में उनके प्रति अश्रद्धा सी उत्पन्न होने लगती है।"

निश्चय ही "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" लिख कर डॉ. वर्मा ने अपने अध्ययन, अनुशीलन एवं साहित्यिक क्षमता का परिचय दिया है। उनकी आलोचना-पद्धति पूर्ण वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध है। गवेषणात्मक विचार एवं चिन्तन आपकी शैली की विशेषताएँ है। वर्मा जी की दृष्टि खोज और तर्क पर विशेष रूप से रहती है। साहित्य का इतिहास लिखने से पूर्व आपने तद्‌विषयक सामग्री का प्रचुरता से संकलन तथा अध्ययन किया है। फिर प्रामाणिक सामग्री को आधार मान कर मौलिक निष्कर्षों तक आये हैं। आलोच्य विषयों, कलाकारों, कवियों की विशेषताओं का आपने तर्कपूर्ण सांगोपांग वर्णन किया है।

आलोचक डॉ. रामकुमार वर्मा ने रेडियो पर साहित्य और जीवन के संबंध में अनेक निबन्ध प्रसारित किये हैं, जिनमें उनकी समालोचनात्मक अन्तर्दृष्टि मिलती है। "कबीर का दर्शन"; "तुलसी के राम"; "तुलसी की कविता"; "उपन्यास और समाज सुधार"; "श्री वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास कला"; "छायावाद का प्रभाव कविता पर";

"किताबों की बातें"; "जीवन मेरी दृष्टि में"; "कविता का जन्म"; "लेखक और प्रचार" इत्यादि उच्चकोटि के साहित्य समालोचनात्मक निबन्ध रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनमें वर्मा जी ने आलोच्य लेखक या प्रतिपाद्य विषय के अन्तस्तल तक पहुँच कर तर्क द्वारा पुष्टिकरण करते हुए आलोचनाएँ प्रस्तुत की हैं। वे साहित्य तथा कला की आन्तरिक परिधि तक पहुँच कर तथ्यपूर्ण विवेचना प्रस्तुत करते हैं; गुणानुवाद या ईर्ष्या—स्पर्द्धा में कही नहीं बहे हैं। इनकी पृष्ठभूमि में अंग्रेजी आलोचना शास्त्र को भी अपनाया गया है। जहाँ वे पक्षपात के विरोधी हैं, वहाँ कटुता या संकुचितता के भी विरुद्ध हैं। उनकी उदारता और चित्त की विशालता स्पष्ट है। आलोचना के अन्त में आपने आलोच्य विषय से अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़ा है।

डॉ. वर्मा की साहित्य-साधना के तीनों स्वरूपों—कविता, नाटक तथा समालोचना में जीवन की अभिव्यक्ति ही कला के रूप में आती रही है। वे जीवन और कला में अवि-च्छिन्न सम्बन्ध देखते हैं, शास्त्र के ज्ञान और कला में नहीं। आपके सामने कला जीवन का मुकुट बन कर आती है; कला जीवन से ही उत्पन्न होकर जीवन का शृंगार करती है, जिस प्रकार फूल की सुगन्धि फूल के क्रोड़ में ही पोषित होकर संसार के समक्ष फूल की घोषणा करती है। वह जीवन की निवासिनी होकर जीवन का परिष्करण करती है और जीवन को दिव्य बनाती है। डॉ. वर्मा इस बात की आवश्यकता समझते हैं कि कला की अभिव्यक्ति तथा निर्माण के लिए जीवन का अन्तरतम कोष उद्घाटित कर दिया जाय। जीवन इन्द्रियों से व्यवधान रहित होकर मुक्त हो जाय और वह अपने स्पन्दन में नक्षत्रों के संगीत की लय भर सके। संसार के अणु और परमाणु के विकास का इतिहास उसके दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर अपनी विविध ज्ञानेन्द्रियों को एक ही सम के धरातल पर ले आये और संसार की प्रत्येक गति में एक सम का अनुभव करे। अनेक दृश्यों और अनु-भवों का केन्द्र सौंदर्य पर आकर स्थिर हो जाय और जीवन विविध दिशाओं में जाने वाली रेखा में भी एक अखिल चित्र का रूप ले सके, जो सत्य हो, सुन्दर हो और कल्याण-कारी हो। अपने व्यक्तिगत प्रतिबन्धों को तोड़कर जीवन में प्रवेश करना और आनन्द के रंगों को एकत्रित कर उनसे अनुभवों के चित्र निर्मित करना आपकी कला का प्रमुख ध्येय रहा है। जीवन के अनुभवजन्य आनन्द को अभिव्यक्त करने के लिए आपके पास तीन साधन हैं—कविता, नाटक और आलोचना।

अपनी कविता में आप संसार की विषम परिस्थितियों में भी एक सम देखते हैं। जब आपकी काव्यजनित भावनाओं में एक संगीत की धारा अजस्र रूप से प्रवाहित होती है, तो आप मुक्त वृत्त की रचना कर ही नहीं सकते। आपके काव्य के सौंदर्य-बोध में मुक्त वृत्त एक विषमता उत्पन्न करता है, जिससे आपके चित्रों का रूप बनने के बजाय विकृत हो जाता है। नाटकों में आपकी कला जीवन के यथार्थ से उद्भूत होकर सजीव आदर्श की सृष्टि करने में प्रगतिशील रही है। जीवन के स्वाभाविक गति-प्रवाह को एक बल

देना अथवा उसकी दिशा में झुकाव ला देना ही उनकी नाट्य-साधना का प्रमुख उद्देश्य रहा है। अपनी इस कला का प्रयोग आप सामाजिक नाटकों में विशेष रूप से कर सके हैं। आलोचना में भी आप यथार्थ रचना की रूपरेखा देने की शैली में विश्वास करते हैं। तात्पर्य यह है कि डॉ. रामकुमार वर्मा जीवन की अनेकरूपता को विविध साधनों और शैलियों के माध्यम से अनुभव के सत्य की ओर लाकर उसे सौदर्य से सँवारना चाहते है।

डॉ. रामकुमार वर्मा का साहित्य जीवन से निकट सम्बन्ध रखता है। प्रश्न उठता है कि उनकी दृष्टि में "जीवन क्या है ?" इस प्रश्न का उत्तर महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कलाकार रामकुमार के संपूर्ण साहित्य में भाँति भाँति रूपों में उसी का प्रतिपादन है। वर्मा जी के "उत्सर्ग" नाटक में डॉक्टर शेखर ने जो शब्द जीवन की गतिविधि का परिचय देते हुए कहे हैं, उनसे कलाकार रामकुमार वर्मा का दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। वर्मा जी लिखते है :–

"जीवन सुन्दर है, मधुर है जैसे चाँद की हँसी, फूल की सुगन्धि, पक्षी का कलरव। नदी की लहर जो हमेशा आगे बढ़ना चाहती है। फैलती है, तो जैसे पलक खुल रही है ! और वह पल भर में संसार का तट छू लेती है। मेरे विचार से जीवन की परिभाषा इससे अधिक क्या हो सकती है ? इसमें सुख है, सुगन्धि है, रूप है; और है ऐसी प्रगतिशीलता जो अपने से निकल कर सारे संसार को छू लेती है। . . . . मैं जीवन को कीड़े की तरह रेंगते हुए नहीं देखना चाहता। मैं चाहता हूँ कि जीवन फूल की तरह खिले और सुगन्धि की तरह संसार में समा जाय। मै चाहता हूँ कि कोई ऐसी चीज़ दूँ जो किसी न किसी तरह नई हो और उनके मन की उत्सुकता बढ़ाती हुई उन्हें किसी सत्य या रहस्य से परिचित करा दे। मैने देखा है कि हाथ से छुए जाने वाले सौंदर्य में अधिक आकर्षण है; आत्मा से छुए जाने वाले रूप में कम आकर्षण है . . . . . मैं जीवन में रूप के आकर्षण को कम नहीं समझता ; उससे जीवन में जागरण आता है . . . . . . मै जीवन को सौंदर्य और सुख का केन्द्र मानता हूँ ; ऐसे सौंदर्य का जो कभी पुराना न हो, जिसमें कभी बुढ़ापा न आये और ऐसे सुख का जो विपत्ति के बादल से भी धुँधला न होने पाये . . . . मै आकस्मिक घटना को ऐसी ही समझता हूँ, जैसे वर्षा के मध्य बिना सूचना दिये सूरज की किरण निकल आये . . . मैं शक्ति और पुरुषार्थ में पूरा विश्वास रखते हुए भी भाग्य में आस्था मानता हूँ। . . . .मैं देखता हूँ कि मेरे चारों ओर फूल खिल रहे है, झरने बहते चले जा रहे है और पहाड़ माथा उठा कर मौन भाषा में कह रहा है कि हमारे हृदय में गुफाओं के गहरे घाव है, किन्तु हम खड़े होकर आकाश से बातें कर रहे हैं। सौंदर्य, साहस, और शक्ति के ये अग्रदूत मेरा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं ; मुझे जीवन का रास्ता दिखा रहे है। फिर मेरा जीवन फूल की तरह खिला हुआ, निर्झर की तरह प्रगतिशील और पहाड़ की तरह महान् होने से कैसे रुक जायगा ?"

इस प्रकार हम देखते है कि डॉ. रामकुमार वर्मा की कला का एकमात्र उद्देश्य जीवन

की अभिव्यक्ति है। उनकी कविताएँ उन क्षणों की अभिव्यक्ति हैं जिनमें उन्होंने जीवन की गति अनुभव की है। अपनी आलोचना में बुद्धिवाद के सहारे तर्कपूर्ण शैली में जीवन को परखा है। कवि होने के कारण आपकी आलोचनाओं में एक कवि-सुलभ मृदुता आ गई है। समीक्षा के क्षेत्र में वे जीवन-सम्बन्धी सत्यान्वेषण के पक्षपाती हैं। उनकी आलोचनाओं, भाषणों, तथा रेडियो वार्त्ताओं पर उनके मनन तथा अनुशीलन की छाप है। मौलिक ढंग से तर्कपूर्ण गवेषणा पद्धति में आप विशेष सिद्धहस्त हैं। इस शैली में उनका शब्द-चयन सरल, स्निग्ध और विचारानुकूल होता है। उनके शब्द विचारों के सच्चे प्रतीक होते हैं। रेडियों-वार्त्ताओं में भाषा सरल व्यवहार में आने वाली हिन्दी है, जिसमें भाव-लड़ियाँ सजाई गई हैं। हृदय की बात कहने के लिए भाषा को सहज स्निग्ध बना लिया गया है। गंभीर विषयों के प्रतिपादन में भी इन्होंने अपने विचारों को अस्पष्ट या दुरूह नहीं होने दिया है। वर्मा जी की शैली प्रौढ़ है। स्पष्टता, गंभीरता, प्रभावोत्पादकता और खोजपूर्ण सामग्री का अपने सम्पूर्ण तर्कों सहित उपयोग इनकी विषेषताएँ हैं।

रामचरण महेन्द्र

परशुराम चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी के आलोचना ग्रंथ हैं :—

(१) मीराबाई की पदावली २. सूफी काव्य संग्रह ३. हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-भावना का विकास ४. उत्तरी भारत की संत परम्परा ५. संतकाव्य ६. मध्यकालीन प्रेम साधना ७. मानस की राम-कथा ८. नव निबंध।

इन ग्रंथों से स्पष्ट है कि विद्वान् लेखक की विशेष सुरुचि का केन्द्र मध्यकालीन साहित्य है। लेखक एक कठोर साहित्य-साधक तथा सच्चे अनुसन्धित्सु के रूप में सम्मुख आता है। लेखक के मतानुसार "आधुनिक आलोचना पद्धति में अनुसंधान का, चाहे वह शुद्ध वैज्ञानिक हो अथवा केवल ऐतिहासिक मात्र ही क्यों न हो, एक बहुत बड़ा हाथ है। इसके द्वारा उसकी विविध प्रक्रियाओं में न केवल विवेचन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है, अपितु आलोच्य कृति के अधिक-से-अधिक स्पष्टीकरण का पूरा अवसर भी मिल जाता है....... किसी साहित्यिक कृति-विशेष की आलोचना उसी दशा में पूर्ण कही जा सकती है जब उसमें उसकी विशेषताओं के अनुसार प्रायः सभी आवश्यक दृष्टिकोणों से विचार किया गया हो, किन्तु इसके साथ ही जिसमें किसी भी एक पक्ष पर उसके उचित अनुपात से अधिक बल भी न दिया गया हो" ('आलोचना' विशेषांक, अक्तूबर १९५३)। सामान्यतः इसी स्वस्थ दृष्टिकोण के अनुसार लेखक ने समालोचना की है।

'मीराबाई की पदावली' मीरा के विषय में समुचित अध्ययन की ओर प्रवृत्ति जगाने

में समर्थ हुई है। लेखक ने मीरा के पदों की प्रामाणिक तथा शुद्ध पाठ पर विशेष दृष्टि रखी है और सम्पादन पटुता का भी अच्छा परिचय दिया है। अपनी अध्ययनपूर्ण, विवेचनात्मक भूमिका में मीरा के जीवन और काव्य पर प्रकाश डाला है। मीरा की अन्य भक्त संत कवियों तथा आधुनिक कवयित्रियों, सूर, कबीर, जायसी, देव, ैदास, महादेवी आदि से संक्षिप्त तुलना भी की है।

'सूफ़ी काव्य संग्रह' तीन भागों में विभाजित है। प्रथम भूमिका भाग में सूफ़ियों के इतिहास तथा दर्शन का साधारण परिचयात्मक विवेचन है। द्वितीय भाग में ११ प्रेम गाथा तथा १२ स्फुट काव्य लेखकों का परिचय और उनकी रचनाओं के अवतरण दिये गए हैं। तीसरे भाग में टिप्पणियाँ हैं। इस संग्रह की महत्ता इसी में है कि एक ही स्थान पर संक्षिप्त किन्तु सम्पूर्ण सूफ़ी सम्प्रदाय का परिचय दिया जाता है। वैसे न तो अवतरणों के चयन में और न विवेचन करने में पर्याप्त सफल हुआ है फिर भी कुछ अंशों पर आवश्यकता से कम प्रकाश पड़ा है जैसे भाषा पर, कबीर के नीति काव्य पर अन्य लेखकों ने बहुत कम लिखा था। चतुर्वेदी जी संतों के संगीत प्रेम का अच्छा अध्ययन कर सके है। संग्रह खंड में लेखक ने प्रत्येक कवि की श्रेष्ठ साखियों का संकलन ऐसा किया है कि मूल विशेषताओं से पाठक भली भाँति अवगत हो जाता है। इस संग्रह में कुछ कवि तो पहली ही बार प्रकाश में आए हैं जैसे निश्चलदास, रामरटदास आदि। परिशिष्ट में संतों की पारिभाषिक शब्दावली—गगन, निरति, मुदित आदि पर टिप्पणियाँ देकर पाठकों की कठिनाई दूर कर दी है।

'मध्यकालीन प्रेम साधना' के दस निबन्धों में सम्प्रदाय के मुख्य आधार प्रेम-भक्ति के विविध रूपों की, विविध सम्प्रदायों की दृष्टि से सहृदयतापूर्ण व्याख्या हुई है।

इस प्रकार की डॉ० बड़थ्वाल ने संत साहित्य का जो अध्ययन प्रारम्भ किया था, उसकी परिणिति चतुर्वेदी जी में हो रही है।

'हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह' में प्रेम भावना का सात्त्विक विवेचन हुआ है साथ ही हिन्दी साहित्य में प्रेम के विविध रूपों का जो विकास हुआ है, उनके परिस्थितिजन्य कारणों का उल्लेख भी हुआ है। लेखक का मत है कि इस्लामी प्रभाव के फलस्वरूप ही हिन्दी काव्य में परमीय भाव का ग्रहण हुआ। स्थान-स्थान पर और भी मौलिक मत मिलते हैं जो नवीन दृष्टि से विचारने की प्रेरणा देते हैं, प्रेम प्रवाह के विकास का कला की दृष्टि से भी मूल्यांकन हुआ है।

चतुर्वेदीजी की आलोचना शैली स्पष्ट तथा वैज्ञानिक है। लेखक में विद्वत्ता के साथ सूक्ष्म पर्यालोचन की शक्ति भी है। इतनी गम्भीरता है। यथा—लेखक ने जायसी को हिंदू धर्म एवं संस्कृति से भलीभाँति परिचित बताया है, जो संगत नहीं प्रतीत होता।

चतुर्वेदी जी का विशेष गौरव उनके संत साहित्य के विवेचन में है। अपने ७७८ पृष्ठों के वृहद् ग्रंथ 'उत्तरी भारत की संत परंपरा' में लेखक ने केवल संत परम्परा का परिचय देने की चेष्टा की है। सात अध्यायों में कबीर के पूर्वकालीन संतों से लेकर महात्मा गांधी

तक के संतों की जीवनी और उनके सिद्धांतों का विवेचन है। लेखक के शब्दों में "संत परंपरा के अंतर्गत सम्मिलित किए जाने वाले संतों का चुनाव करते समय सबसे अधिक स्थान स्वभावतः उन लोगों की ओर ही दिया गया है जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से कबीर साहब अथवा उनके किसी अनुयायी को अपना पथ-प्रदर्शक माना था अथवा जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों और साधनाओं को किसी न किसी प्रकार अपनाया था। फिर भी यहाँ कुछ ऐसे लोगों को भी स्थान देना पड़ गया है जो सूफ़ियों, सगुणोपासकों, नाथपंथियों वा अन्य ऐसे सम्प्रदायों के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी संत परम्परा में गिने जाते आए हैं और जो अपने संतमतानुकूल सिद्धान्तों वाली रचनाओं के आधार पर भी उक्त संतों के अत्यन्त निकटवर्ती समझे जा सकते ह, इसीलिए किसी 'बानी' की रचना न करने वाले महात्मा गांधी को भी इस पुस्तक में स्थान मिल सका।" उक्त वक्तव्य से तथा पुस्तक से भी यही स्पष्ट है कि कबीर इस संत-भवन की नीव स्वरूप है। इसीलिए कबीर के जीवन और सिद्धान्तों पर सर्वाधिक प्रकाश डाला गया है, फिर भी कबीर के जीवन के सम्बन्ध में अंतिम निर्णय नही दिया गया क्योंकि यथेष्ट सामग्री अभी तक उपलब्ध नही हो सकी। इस ग्रथ की महत्ता विशेष रूप से इसी में है कि अब तक ऐसी अकेली कोई पुस्तक न थी जिसमें एक साथ इतने संत सम्प्रदायों का परिचय प्राप्त होता। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की सम्मति सत्य ही है कि "यह एक प्रकार से हिन्दी संत परम्परा का विश्वकोष भी है।"

क्योंकि उक्त पुस्तक में केवल संतों की परम्परा से परिचित कराने का सत्प्रयत्न था इसलिए दूसरी पुस्तक 'संत साहित्य' में संतों के मतों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही पुस्तक मे संतों की काव्य-रचना-शैली का परिचय उनकी चुनी हुई पद्यात्मक रचनाओं के संग्रह के साथ दिया गया है। इस पुस्तक की भूमिका महत्त्वपूर्ण है जिसमें संत साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा के साथ उनके काव्य का शास्त्रीय दृष्टि से अलंकार, भाषा, छंद आदि से विवेचन है। लेखक ने संतों की विभिन्न प्रवृत्तियों और विशेषताओं तथा उनके काव्य का व्यावहारिक दृष्टि से मूल्यांकन किया है।

ललिता प्रसाद सुकुल

हिन्दी आलोचना क्षेत्र में अल्प किन्तु सारगर्भित लिखने वालों में कलकत्ता के सुकुल जी का भी विशिष्ट स्थान है। इनके दो आलोचना ग्रन्थ हमारे सम्मुख हैं—१. काव्य चर्चा २. साहित्य जिज्ञासा। इन दोनों पुस्तकों में इनके समीक्षात्मक निबन्ध संकलित हैं।

'साहित्य जिज्ञासा' की भूमिका स्वरूप लेखक ने लिखा है, 'वर्षों के अगाध साहित्य-पारावार तट पर खड़े हुए एक मुमूर्ष-जिज्ञासु की अनसुलझी गुत्थियाँ कितनी और क्या

हो सकती है, वही आज इन कतिपय पृष्ठों में साहित्य जगत् के समक्ष प्रस्तुत है। गुत्थियों को सुलझाने की शक्ति तो मुझमे नहीं, किन्तु उन्हें पेश करने का अधिकार अपना अवश्य मानता हूँ।" निस्संदेह 'काव्य चर्चा' और 'साहित्य जिज्ञासा' एक जिज्ञासु की दृष्टि को व्यक्त करती हैं। लेखक ने स्थान-स्थान पर पूर्व प्रचलित धारणाओं से मतभेद प्रकट करते हुए पाठकों को भी जिज्ञासोन्मुख कर दिया है। 'नई तुला पर हिन्दी साहित्य' में वह 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'रसायन' (रस—अयन) रस का घर—से मानते है, किन्तु अन्य विद्वानों के पूर्व प्रचलित मतों का विवेचन नही करते। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालों के प्रचलित नाम—वीरगाथा काल, भक्तिकाल आदि—उन्हें ठीक प्रतीत नहीं होते, किन्तु इनके स्थान पर कौन-सा नाम होना चाहिए—यह वह नहीं बताते क्योंकि 'गुत्थियों को सुलझाने की शक्ति मुझमें नहीं'—ऐसा कहा ही है। फिर भी अन्त में उन्होंने कुछ संकेत कर ही दिया है—"छोटे-छोटे विभागों को व्यक्ति विशेष के नामों के आधार पर नाम देने की प्रथा अनुचित नहीं ठहरती" इस तरह वे भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग नामकरणों का समर्थन करते हैं। किन्तु इससे पहले वे लिख चुके है, "किसी काल को केवल मात्र 'गद्य-काल' कहने से उस काल के साहित्य की अन्तर्हित भावना, चेतना अथवा उसकी आत्मा का बोध नहीं होता" —यह स्पष्ट अन्तर्विरोध है। व्यक्ति के आधार पर नामकरण भी मूल चेतना अथवा भावना से अवगत कहाँ कराता है?

सुकुल जी कार्य-कारण सम्बन्धों (जैसे छायावादी प्रवृत्ति को द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक प्रणाली की प्रतिक्रिया बताना) के आधार पर हिन्दी साहित्य के इतिहास की व्याख्या अनुचित मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है, "यह धारणा भी भ्रामक नही कि छायावादी अथवा आधुनिक प्रकार की रहस्यवादी प्रणाली पर इतिवृत्तात्मक काव्य की रचना संभव नहीं। उदाहरण स्वरूप आधुनिक हिन्दी काव्य का परम शिरमौर प्रसाद द्वारा रचा गया 'कामायनी' महाकाव्य दर्शनीय है।" सुकुल जी की यह धारणा हमें मान्य नहीं। क्योंकि कामायनी में गीति-कोमल प्रतिभा का प्रस्फुटन इतिवृत्तात्मकता की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ है। 'कामायनी' की इतिवृत्तात्मकता भी आंतरिक भावों का स्पर्शजन्य पुलक लिए हुए है।

'नई तुला पर हिन्दी साहित्य' नामक लेख में 'सफल आलोचक' के सम्बन्ध में उनकी यह धारणा कि, "साहित्य के सिद्धान्त-मात्र का ज्ञान ही सफल आलोचक के लिए पर्याप्त नहीं, उसे साहित्य के प्रत्येक अंग के निर्माण की व्यावहारिकता से भी परिचित होना चाहिए। यह वह तभी जान सकता है जब स्वयं विविध साहित्यांगों की रचना करने का प्रयास करे" भ्रमात्मक है।

लेखक की किन्हीं धारणाओं से मतभेद होने पर भी यह स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं कि इस लेख से हिन्दी साहित्य के इतिहास को नूतन दृष्टि से देखने की प्रेरणा मिलती है। पूर्व प्रचलित विचारों को वैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण के बिना वे स्वीकार नहीं करते। कुछ निबन्धों में विषय-वस्तु की नवीन व्याख्या भी विद्वत्तापूर्ण है। 'दर्शन द्वन्द्व या

समन्वय', 'लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरधर भजी' (साहित्य जिज्ञासा) तथा 'रहस्यान्वेषण में छाया की प्राप्ति' (काव्य चर्चा) ऐसे ही लेख हैं। कहीं कहीं नितान्त नूतन उद्भावना भी की है। जैसे परम्परागत चार प्रकार के वीरों के अतिरिक्त 'सहिष्णुवीर' की कोटि भी प्रस्तुत की है।

सुकुल जी हिन्दी के साथ अंग्रेज़ी के एम. ए. भी हैं। दोनों क्षेत्रों से भलीभाँति परिचित है। 'हिन्दी और अंग्रेजी की समानान्तर धारणाएँ', 'शेक्सपीयर में नारी' 'ट्रेजेडी और उसकी परम्परा' (साहित्य जिज्ञासा) आदि लेख इसका प्रमाण हैं।

इनके आलोचना सिद्धान्तों का परिचय 'महान् साहित्य', 'हिन्दी साहित्य का अगला चरण', 'काव्य प्रयोजन' आदि (साहित्य जिज्ञासा) लेखों से होता है। उनके कुछ सिद्धान्त निम्नलिखित है :—

१. अमरता साहित्य का चरम लक्ष्य है और यही उसकी साधना। अमरता की स्वाभाविक कसौटी होगी 'समय'। जिस कृति की प्रेरणा जितनी ही अधिक सजीव होगी उतनी ही अधिक अमरता की वह अधिकारिणी होगी।

२. यदि साहित्य एक ओर किसी जाति के जीवन का इतिहास है तो वही दूसरी ओर उसके वर्तमान की आलोचना होकर भावी संकेत के रूप में जन्म कुंडली का अभिधान है। एक ही स्रोत से इस वरदायिनी त्रिपथगा का प्रवाह कैसे सिद्ध होता है, इसके रहस्य को समझना ही साहित्य के मर्म की वास्तविक समीक्षा है।

३. मनुष्य की तर्क-शक्ति विवाद और वितर्कों को चुप अवश्य कर सकती ह किन्तु परम शान्ति, संतोष और जिज्ञासा की तृप्ति उसमें कहाँ ? इसके विपरीत रसाभिधान यदि सफल हो तो तर्क-युक्त होता हुआ भी वह जिज्ञासा और विकल्पों को न केवल शान्त और तृप्त करने में ही समर्थ होता है वरन् विवेक और चेतना को बल देने में भी बड़ा सहायक सिद्ध होता है।

स्पष्ट है कि सुकुलजी रसवादी समीक्षक हैं। उन्होंने प्रगतिवाद की कटु आलोचना की है। क्योंकि "भारतीय काव्य की युगों से स्थिर रस परिपाटी में उसे विचार-पंगुता का दोष दीख पड़ता है।"

सुकुलजी की शैली सरल तथा स्पष्ट है, सस्ती भावुकता से बची हुई है, गम्भीर है, किन्तु सरस भी।

डॉ० जगन्नाथ शर्मा

डॉक्टर जगन्नाथ शर्मा के आलोचना ग्रंथ हैं :—(१) हिन्दी गद्य शैली का विकास (२) प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन (३) हिन्दी गद्य के युग निर्माता।

शर्मा जी शुक्ल निकाय के आलोचक हैं : शुक्ल पद्धति के आलोचक, समालोचना के

लिए एक विशेष मापमान को अनिवार्य समझते हैं। यह मापमान भी यथासम्भव शास्त्रीय होता है। डॉ० शर्मा ने शास्त्रीय तत्त्वों का उपयोग करते हुए प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसमें शुक्ल-पद्धति की वैधानिक समीक्षा का प्रौढ़ रूप परिलक्षित होता है। लेखक ने भारतीय नाट्य शास्त्र पर पूर्ण आस्था प्रकट करते हुए आमुख में लिखा है, "नाट्य रचना का भारतीय विधान पूर्ण एवं सम्पन्न है। उसके सार्वकालिक तथा सार्वजनीन सिद्धान्त आज भी भारतवर्ष में मान्य और उपादेय है। भले ही कीट प्रभृति पश्चिमी विद्वान् आत्मदैन्यानुभूति मूलक उद्गम निकालते और मीन-मेष करते रहें, भारत आज भी आदर्श प्रिय तथा सूक्ष्म विवेचना का निपुण प्रेमी बना है" इसी तथ्य के आलोक में प्रसाद के नाटकों की निरख-परख की गई है ! किन्तु पाश्चात्य पंडितों ने नाट्य रचना में जिन तथ्यों को महत्त्व दिया है, उसके अनुसार भी यथासंभव निरीक्षण-परीक्षण हुआ है---वस्तु, नेता, रस, 'नाटक ख्यातवृत्तं पंच सिन्धसमन्वितं' के साथ संघर्ष, सक्रियता, समष्टि-प्रभाव तथा द्वंद्वात्मक चित्रांकन पद्धति का भी उल्लेख हुआ है। यथा अजातशत्रु के नाटकत्व पर विचार करते हुए तो लेखक यहाँ तक लिख देता है, "नाटकों का प्रारंभ जो क्रिया-व्यापार है वह तो उसी के व्यक्तिगत पर आश्रित है।"

प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक है। अतएव 'प्रमुख रूपकों की नाटकीय वस्तु में अन्वित ऐतिहासिक अंशों का सुसंबद्ध उल्लेख किया गया है। इनके ही नाटककार की भावुकता तथा विचारधारा का समन्वय दिखाया गया है और उसकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाशन हुआ है। तात्पर्य यह कि शास्त्रीय सिद्धान्तों के अतिरिक्त रचनागत तत्त्वों के आधार पर भी आलोचना हुई है।

प्रसाद के नाटकों में गीतों का विशेष महत्त्व है। इसका सुविस्तृत विवेचन आयोजित था जो नहीं हुआ। 'चंद्रगुप्त' नाटक के नायकत्व तथा चन्द्रगुप्त के चरित्र का गंभीर विश्लेषण भी नहीं हुआ, एक योद्धा की दृष्टि से चन्द्रगुप्त चाहे सफल हो, प्रेम सम्बन्धों में उसकी असफलता स्पष्ट है। चाणक्य के महाकाव्योचित महाप्राण व्यक्तित्व के सम्मुख वह बहुत छोटा पड़ जाता है। प्रसाद के कुछ नाटकों की विशेषकर चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त की तुलना होती तो स्पष्टीकरण अच्छा हो सकता। कुछ भी हो पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और प्रसाद के नाटकों को समझने में उसका विशेष स्थान रहेगा।

'हिन्दी गद्य के युग निर्माता' में भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द पर लेख हैं। यद्यपि कुछ लेख अच्छे हैं तथापि पुस्तक अपने नाम को सार्थक नहीं कर सकी। इस पुस्तक से तो लेखक की प्रथम पुस्तक 'हिन्दी गद्य शैली का विकास' महत्त्वपूर्ण है। जयशंकर प्रसाद का नाटककार के अतिरिक्त काव्यकार तथा निबन्धकार की दृष्टि से भी विवेचन अपेक्षित है तथा लेखक प्रेमचन्द की रचनाओं का मूलमंत्र प्रेमचन्द के इस कथन को पाता है---'अन्त में मैं कह सकता हूँ कि मैंने नवीन कलेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। और हम

इससे बहुत कुछ सहमत भी है—किन्तु इसकी पुष्टि में 'गोदान' उपन्यास की समीक्षा आवश्यक थी। गोदान पर जो लेख है वह अपूर्ण है। टालस्टाय के 'युद्ध और शांति' (War and Peace) के साथ जो तुलना हुई है वह सुसंगत नहीं। इस सम्बन्ध में नंद दुलारे बाजपेयी का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में' लेख पठनीय है।

डॉ० शर्मा की शैली सरल, स्पष्ट तथा वैज्ञानिक है। सस्ती भावुकता से वह दूर है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त

प्राचीन साहित्य के अध्ययन, शोध, आलोचना और सम्पादन का कार्य करनेवालों में डॉ० गुप्त ने महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। आधुनिक आलोचना पद्धति में अनुसन्धान चाहे वह शुद्ध वैज्ञानिक हो अथवा केवल ऐतिहासिक—का बड़ा योग है। क्योंकि पर्याप्त सामग्री की उपलब्धि से आलोच्य कृति के स्पष्टीकरण का पूर्ण अवसर मिल पाता है। डॉ० गुप्त अपनी कृति 'तुलसी जीवनी तथा कृतियों का वैज्ञानिक अध्ययन' में इसीलिए सफल हो सके हैं। यद्यपि इसके पूर्व भी इनका 'तुलसी सन्दर्भ' नामक लेख संग्रह प्रकाशित हो चुका था तथापि इस शोध-कृति में तुलसी के जीवन चरित विषयक सम्पूर्ण सामग्री का अति परिश्रम तथा वैज्ञानिक प्रणाली से अनुसन्धान किया। डॉ० गुप्त ने तुलसीदास की कृतियों की वहिरंग और अन्तरंग परीक्षा के आधार पर प्रामाणिक जीवनी लिखने का प्रयास किया है। प्रयास ही किया है क्योंकि निर्णयों को 'हर्फ़े आख़िर' मानने का लेखक का आग्रह नही दिखाई देता। यथा—तुलसी के जन्मस्थान विषयक सामग्री की परीक्षा करने के पश्चात् उसका निर्णय इस प्रकार है, "फलतः दोनों पक्षों के प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर यह कहना कठिन है कि दोनों में कौनसा स्थान कवि का स्थान है, और यह भी सर्वथा असम्भव नहीं कि कोई तीसरा स्थान इस पुनीत पद का अधिकारी हो। यह अवश्य निश्चित जान पड़ता है कि गोस्वामी जी बहुत समय तक राजापुर रहे थे और यात्रा उन्होंने कदाचित् उसी सूकर क्षेत्र की की थी जो सोरों कहलाता है" ऐसा ही विवेचन लेखक ने तुलसीदास की जाति-पाँति के सम्बन्ध में किया है। इस प्रकार उनकी विवेचन पद्धति अनेक स्थानों पर उत्सुकता जगाकर रह जाती है और आगामी शोधकर्त्ताओं के लिए मूल्यवान सिद्ध हो सकती है। प्रबल पुष्ट प्रमाणों के अभाव में ऐसा विवेचन ही वैज्ञानिक विवेचन कहा जा सकता है। इस कृति से गुप्तजी की मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियों का प्रौढ़ रूप दृष्टिगत होता है। साथ ही इनका विवेचन-विश्लेषण विवेकपूर्ण, वस्तुनिष्ठ तथा सरल स्पष्ट है।

कृतियों के काल, क्रम, पाठशोध और सम्पादन के महत्त्वपूर्ण किन्तु कठिन-कठोर कार्य को लेखक ने भलीभाँति सफलतापूर्वक पूरा किया है। रामचरितमानस तथा पद्मावत (जायसी ग्रन्थावली) के पाठ-शोध-कार्य इसके सजग प्रमाण हैं। लेखक ने पाठों के अध्ययन-अनुशीलन में जिस वैज्ञानिक रीति का अवलम्बन किया है वह अन्य विद्वानों के लिए भी

आदर्श हो सकता है। लेखक के ही शब्दों में उनके पाठ-शोध के आधार निम्न हैं:

१. विभिन्न प्रतियों का मूल पाठ कहाँ तक सुरक्षित और उसमें प्रतिलिपिकार के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति ने कहाँ तक हस्तक्षेप किया है।

२. विभिन्न प्रतियाँ किसी एक ही प्रति की प्रतिलपियाँ हैं अथवा प्रतिलिपिकारों के सामने एक से अधिक प्रतियाँ आदर्श के रूप में थी।

३. विभिन्न प्रतियों के आदर्श—वे प्रतियाँ जिनसे प्रतिलिपियाँ की गई—किस लिपि में लिखे गए थे।

४. विभिन्न आदर्शों का मूल स्रोत किस लिपि में था, अथवा लिपियों के अनुसार उनसे एक से अधिक मूल स्रोत ज्ञात होते है।

५. आदि प्रति की लिपि इन स्रोतों के द्वारा कौन सी हरती है।

६. आदि प्रति में भाषा का स्वरूप—उपर्युक्त लिपि सम्बन्धी सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए क्या था।

७. आदि प्रति में योजना-सम्बन्ध कहाँ तक और किस प्रकार का है।

८. विभिन्न प्रतियों में प्रक्षेप-सम्बन्ध कहाँ तक और किस प्रकार का है।

९. विभिन्न प्रतियों में प्रतिलिपि सम्बन्ध कहाँ तक और किस प्रकार का है।

१०. प्रतिलिपि और प्रक्षेप सम्बन्ध के अतिरिक्त विभिन्न प्रतियाँ क्या किसी अन्य प्रकार के पाठ सम्बन्ध से भी संबंधित है।

११. पाठ-भेद के स्थलों पर पाठ निर्धारण में कवि के निश्चित प्रयोग कहाँ तक सहयोग देते है।

१२. निर्धारित पाठ कहाँ तक कवि की प्रति के निकट पहुँचा हुआ माना जा सकता है।

'पद्मावत' का पाठ और 'आईन-ए-अकबरी' नामक लेख ('आलोचना' जुलाई १९५४) में डॉ० गुप्त ने दोनों प्रायः समकालीन पुस्तकों से आए ३२ शब्दों की तुलना द्वारा उपर्युक्त सम्पादन सिद्धान्तों की पुनः यथार्थता प्रमाणित की है। इन्ही आधारों के अनुसार गुप्त जी ने श्री अगरचन्द नाहटा के द्वारा संकलित 'बीसलदेव रासो' की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पाठानुशीलन सहित संस्करण तैयार करने का स्तुत्य कार्य किया है। डॉक्टर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी तथा श्री नामवर सिह द्वारा सम्पादित संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो पर आलोचना ('आलोचना' जुलाई १९५३) करते हुए गुप्तजी ने रासो के मूल पा -निर्धारण के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं।

शोधकर्त्ताओं को गुप्त जी की 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' (१८६७-१९४२) से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। स प्रकार की अन्य सहायक पुस्तकों की अत्यन्त आवश्यकता ह।

डॉ० सूर्यकान्त

डॉक्टर सूर्यकांत के आलोचना ग्रंथ हैं:–

१. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास।

२. साहित्य मीमांसा।

'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' १९३० में लाहौर से प्रकाशित हुआ। इस इतिहास का ऐतिहासिक महत्त्व है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' में इस सम्बन्ध में लिखा है "इस इतिहास की रूपरेखा अधिकतर 'के' की 'ए हिस्ट्री आव् हिन्दी लिटरेचर' से निर्धारित हुई है। इस इतिहास में लेखक ने अंग्रेजी साहित्य के भावों का प्रमाण देते हुए हिन्दी साहित्य को समझाने की चेष्टा की है। यद्यपि किसी साहित्य का वास्तविक महत्त्व उसी में अन्तर्हित भावना से समझाया जाना चाहिए, अन्य साहित्य जो अन्य समाज का चित्रण है, किसी भी दूसरे साहित्य के समझाने का साधन नहीं हो सकता, तथापि जहाँ तक विश्वजनीन भावनाओं से सम्बन्ध है, उनकी तुलनात्मक व्याख्या अवश्य हो सकती है, यही दृष्टिकोण शास्त्री जी द्वारा लिया गया ज्ञात होता है। इससे उनके पाण्डित्य और व्यापक ज्ञान का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। साहित्य की विवेचना के साथ उन्होंने अपनी भाषा में गद्य काव्य की छटा भी छिटका दी है जो सम्भवतः इतिहास जैसे विषय के लिए अनुपयुक्त है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शास्त्री जी ने साहित्य के महान् कवियों को समझाने की अच्छी चेष्टा की है। "जैसा कि इतिहास के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि यह इतिहास विवेचना-प्रधान है। अनेक स्थानों पर विवेचना आत्मप्रधान हो गई है। लेखक कवि की भावधारा में इतना लीन हो जाता है कि एक-एक कवि की आलोचना चालीस से भी अधिक पृष्ठों में हुई है। कबीर,जायसी,सूर,तुलसी आदि की आलोचनाएँ इसका प्रमाण हैं। फिर भी इन कवियों का मार्मिक स्पष्टीकरण हुआ है, गुरुनानक पर भी गम्भीर आलोचना हुई है, विद्यापति और तुलसी की तुलना भी पठनीय है। 'वैष्णव धर्म और ईसाई मत' प्रकरण में, ईसाईधर्म प्रचारकों की वैष्णवमत पर ईसाइयों केप्रभाव विषयक धारणा का खण्डन किया है। द्विवेदी युग के साथ इस इतिहास की समाप्ति हुई है। किन्तु परिशिष्ट में "भाषा विज्ञान" नाम का अध्याय है। इसका कारण यह है कि लेखक ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन भाषा के आधार पर किया है। वह इस प्रकार है :–

१. शैशवकाल—११५०—१४०० चारण काल

२. किशोरकाल—१४००-१५५० वैष्णव सम्प्रदाय से प्रभावित काल

३. तारुण्य काल—१५५०-१८०० हिन्दी साहित्य पर लाहित्य की छाप

४. आधुनिक काल—१८००—आज तक पाश्चात्य देश का सम्पर्क

'साहित्य मीमांसा' सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी ग्रंथ है। इसमें अधिकतर पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों का ही आश्रय लिया गया है। इस ग्रंथ पर पाश्चात्य काव्य-शास्त्र

सम्बन्धी विचारों का प्रभाव डॉ० श्यामसुन्दर दास के 'साहित्यालोचन' से भी अधिक है। फिर भी कहीं-कहीं पौरस्त्य समीक्षा-शास्त्र का भी उल्लेख हुआ है। पुस्तक का महत्त्व बढ जाता यदि साहित्य की भारतीय परिभाषाएँ पाश्चात्य लक्षणों के अनुपात में भी दी जातीं और तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता। यह पुस्तक चार खंडों में विभाजित है—१. साहित्य २. पद्य, ३. गद्य. ४. पद्य-गद्य। आगे अनेक उपखंड है। गद्य और पद्य का अन्तर भलीभाँति स्पष्ट किया गया है। साहित्य की सभी प्रमुख विधाओं—उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक आदि—का विवेचन हुआ है। इसके अतिरिक्त जीवन-चरित्र और 'पत्र' शीर्षक अध्याय भी है। उदाहरणस्वरूप नेहरूजी का पुत्री के नाम तथा गांधीजी का कुटुम्ब के नाम पत्र दिए गएहै, जो पठनीय है। आलोचना, नाटक, शब्द-शक्ति और रस पर जिस विस्तार से विवेचन की अपेक्षा हो सकती है, वैसी इस पुस्तक में नही हुई। साहित्य की नवीन विधाओं—एकांकी, नाटक, रेखाचित्र, गद्यकाव्य आदि—को लिया ही नही गया। यह पुस्तक पश्चिमी दृष्टिकोण से परिचित कराने की दृष्टि से ही सफल कही जा सकती है।

लेखक ने तुलसीदास और जायसी की सारणी बना कर अत्यन्त महत्त्व का तथा परिश्रम-साध्य कार्य किया है। यह कार्य कवि की मनोवैज्ञानिक आलोचना में अत्यन्त लाभ दे सकता है।

डॉ० सूर्यकांत की शैली संस्कृत-गर्भित तथा अलंकृति के चातुर्य-चमत्कार को लिए हुए है।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान

डॉ० इन्द्रनाथ मदान के आलोचना ग्रंथ है—१ हिन्दी काव्य विवेचना २. हिन्दी कलाकार ३. प्रेमचन्द—एक विवेचना। इनकी प्रारम्भिक पुस्तक 'हिन्दी काव्य विवेचना' विद्यार्थी-वर्ग के लिए लिखी जान पड़ती है। लेखक की आलोचना के स्वरूप की परिचायक 'कलाकार' और 'प्रेमचन्द' है। 'कलाकार' में कलाकारों—कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, प्रसाद निराला, पन्त, महादेवी, गुप्त, नाटककार प्रसाद और प्रेमचन्द—पर सारगर्भित निबन्ध हैं। 'कलाकार' में कवि की काव्य-कला की अपेक्षा उसकी आत्मा के उद्घाटन का प्रयास अधिक किया गया है। 'कलाकार' की भूमिका में मदान लिखते हैं, "यदि लेखक अथवा कवि की आत्मा को अधिक महत्त्व दिया जाय और संवेदनात्मक भावना से उसकी कृतियों की छानबीन की जाय तो लेखक और साहित्य दोनों का हित सम्पादन हो सकता है।" निस्संदेह लेखक ने संवेदनात्मक दृष्टि से, बिना किसी विशिष्ट आलोचना पद्धति—शास्त्रीय अथवा नवीन प्रगतिशील—को अपनाए, अपनी आलोचना की है। कलाकार की आत्मा को प्रकाश में लाने के लिए मदान पहले उन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक

तथा पारिवारिक परिस्थितियों का विवेचन करते हैं, जिनका कलाकार के व्यक्तित्व एवं जीवन-दर्शन के निर्माण में प्रमुख हाथ है । लेखक के अनुसार, "परिस्थितियाँ ही उसके जीवन की दिशा को मोड़ती हैं और जीवन की दिशा के मोड़ ही साहित्य में प्रतिबिम्बित होते हैं ।" डॉ० मदान परिस्थितियों के प्रभाव को किसी व्यक्तित्व के निर्माण में कितना महत्त्वपूर्ण समझते हैं वह 'कलाकार' के एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा, "महादेवी का जीवन विचित्र परिस्थितियों के प्रभावों से पूर्ण है । सम्पन्न और शिक्षित परिवार में जन्म, चित्रकला और संगीत की शिक्षा का प्रबन्ध, बुद्ध की करुणा की गहरी छाया, दार्शनिक चिन्तन, पति से पृथक् जीवन, सेवा-भावना का अत्यधिक उज्ज्वल रूप आदि ने मिलकर उनके व्यक्तित्व को ऐसा रूप दिया है कि हिन्दी ही नहीं भारत और विश्व में कोई स्त्री कलाकार उनकी कोटि में नहीं आ सकती । जीवन के पट में ऐसे बहुरंगी धागों का संयोग अन्यत्र नहीं मिल सकता ।" इसी ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली का आश्रय 'प्रेमचन्द' में भी लिया गया है—"आरम्भ का सुधारवादी आन्दोलन उदारतावाद से आरम्भ होकर असहयोग में समाप्त होने वाला राजनीतिक संघर्ष और सविनय आज्ञा-भंग आंदोलन और अन्त में सोशलिज़्म और कम्युनिज़्म की विचारधारा—ये प्रमुख प्रभाव कहे जा सकते हैं, जिन्होंने उनके मस्तिष्क का निर्माण और उनकी कला को आकार दिया ।"

खटकने वाली बात यही है कि मदान जहाँ कलाकार में अन्य परिस्थितियों का विवेचन करते हैं वहाँ साहित्यिक परम्परा का अवलोकन नहीं करते । कबीर को जहाँ तत्कालीन परिस्थितियों ने क्रान्तिकारी बनाया वहाँ उनका काव्य एक निश्चित साहित्यिक परम्परा का विकास भी है । ऐतिहासिक पद्धति के अतिरिक्त अपनी व्याख्या के स्पष्टीकरण के लिए तुलनात्मक आलोचना प्रणाली का भी सहारा लिया गया है । इस तुलना-क्रम में एक ही युग के कलाकार भी हैं और विभिन्न युगों के महान व्यक्ति तथा कलाकार भी । यथा, लेखक ने जहाँ महादेवी की स्थान-स्थान पर अन्य छायावादियों के साथ तुलना की है वहाँ मीरा से तुलना भी की । कबीर की गांधी और निराला की केशव से तुलना भी हुई है । कहीं-कहीं आलोचक ने निर्णयात्मक पद्धति का प्रयोग भी किया है । महादेवी के सम्बन्ध में तो निर्णय ऊपर दिया ही जा चुका है । प्रसाद के सम्बन्ध में उनका मत है, "कवि प्रसाद हिन्दी के गौरव ह और आधुनिक कवियों में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है ।" इस पुस्तक का मूल्य विचारों की मौलिकता की दृष्टि से नहीं, संकलन बुद्धि तथा आकर्षक शैली के कारण है ।

'प्रेमचन्द—एक विवेचना' में प्रेमचन्द के उपन्यासों का संक्षिप्त विवेचन है । प्रेमचन्द के सम्बन्ध में उनका निष्कर्ष इस प्रकार हैं— "यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय, समाजवाद और पूँजीवाद का समन्वय, क्रान्ति और रूढ़िवाद का समन्वय वे मौलिक तत्त्व थे, जिनसे उनका मस्तिष्क और कथा अनुप्राणित थे ।" पुस्तक के अन्त में प्रेमचन्द से हुआ पत्र-व्यवहार है जो प्रेमचन्द के जीवन, विचारों तथा कला को जानने में अत्युपयोगी है । इस पुस्तक ने प्रेमचन्द पर अध्ययन को आगे बढ़ाने में विशेष सहायता दी है ।

लेखक ने 'आलोचना' (जुलाई १९५३) में उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'नए मोड़' की आलोचना की है। इससे उनकी आलोचना के आधुनिक प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय मिल जाता है। यथा, "लैम्प की रोशनी से, बीच-बीच में कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश में वे दोनों आशा-निराशा के दोनों कदमों से ऊपर की सड़क पार करती जा रही थीं। दूर, बहुत दूर, किसी नए लक्ष्य को पाने के लिए, किसी 'नए मोड़' की तलाश में जहाँ यह सब कुछ न हो, समय के पंखों पर जहाँ विवेक नयी ज़िन्दगी लिए उड़ रहा हो। वे जा रही थीं अपने चारों कदमों से रूढ़ियों को कुचलती, पुराना छोड़ती, नया नापती—हर 'नए मोड़' पर"— इस पर मदान आलोचना करते हैं—"यह आशावाद की दृष्टि से तो सराहनीय है, पर लेखक इस पलायनवाद की धारा में बहकर यह नहीं सोचते कि केवल चार कदम किस तरह परम्परागत रूढ़ियों को कुचल सकते हैं। चार कदम, जब वे चारों ही कोमल और सुकुमार हों ? फिर भी उपन्यासकार ने समस्या का समाधान न करके अपनी रचना के स्तर को कलात्मक दृष्टि से ऊपर उठा दिया है और जीवन के समीप ला दिया है। ..... अन्त में प्रेमचन्द के शब्दों में मैं उस उपन्यास को मानव-जीवन का एक सफल चित्र समझता हूँ। मानव-चित्र पर भट्ट जी ने पूरा प्रकाश डाला है और उसके रहस्यों को खोलने का पर्याप्त प्रयत्न किया है।"

'कलाकार' और 'प्रेमचन्द' की शैली में विशेष अन्तर है। इसलिए लेखक की सामान्य शैली का स्वरूप जानने में कठिनाई होती है।

विश्वम्भर मानव

मानव जी के आलोचना ग्रन्थ हैं—१. खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थ २. हमारे कवि ३. महादेवी की रहस्य साधना ४. सुमित्रानन्दन पन्त।

प्रथम दो पुस्तकें विद्यार्थी वर्ग को दृष्टि में रखकर लिखी जान पड़ती हैं। 'हमारे कवि' में चन्द वरदाई, विद्यापति और कबीर की संक्षिप्त आलोचना है। 'खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थ' में खड़ी बोली के कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों—कामायनी, साकेत, प्रियप्रवास, नूरजहाँ, सेवासदन, प्रेमाश्रम, ग़बन, गोदान आदि—पर कुछ प्रकाश डाला गया है। ये आलोचनाएँ प्रायः परिचयात्मक हैं फिर भी परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी हैं। 'मानव' जी की वास्तविक आलोचना के दर्शन महादेवी और पन्त सम्बन्धी आलोचना में होते हैं। इन आलोचनाओं में भी लेखक शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष की ओर अधिक उन्मुख है। 'मानव' जी छायावाद और रहस्यवाद से विशेष प्रभावित हैं। अतएव इनके समीक्षा-सिद्धान्तों पर भी इन दोनों वादों की छाप है। छायावादी काव्य शुद्ध कलात्मक काव्य है—उपयोगितावादी अथवा प्रचारण-शिक्षण का उसका दृष्टिकोण नहीं। छाया-वादी कवि अनन्यानुभूति से ही सृजन-निर्माण करता है और यही आनन्द ही उसका चरम

साध्य है। अतएव आलोचक भी किसी उपयोगितावादी दृष्टिकोण के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन नहीं करता। वह कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य स्थापित करता है, उसका आह्लादन-प्रसादन होता है और पाठक को भी आह्लादित-आस्वादित करने की योग्यता को अधिक महत्ता देता है। 'मानव' ऐसे ही आलोचक है। इसी दृष्टिकोण के अनुसार मानव महादेवी को अधिक से अधिक गौरव दे सके है––"स्थूलता, कलह और क्लेश के लोक से ऊपर उठा वे हमें एक सूक्ष्म आनन्द के पूत वातावरण में विचरण करने का अवकाश देते है। किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा के प्रचार का माध्यम न होने से वे शुद्ध कलात्मक है। उत्कृष्ट काव्य के वे उदाहरण है। परम सत्य के निरूपक होने से वे 'सत्य', आत्म कल्याण के दूत होने से 'शिव', वासनाविहीन होने से वे 'सुन्दर' है"। महादेवी को विश्व के महान् कवियों में स्थान देते हुए वे लिखते है, "ऐसी अतुल मेधाविनी दार्शनिक कवयित्री ने इस भारत-भूमि में जन्म नहीं लिया, इतिहास इस बात का साक्षी है और आज तक का भारतीय वाङ्मय इस तथ्य की घोषणा शताब्दियों तक करता रहेगा।" 'मानव'जी ने महादेवी की भाव-धारा के अनुभूतिमय विश्लेषण तथा प्रतीकों के स्पष्टीकरण से महादेवी के काव्य को समझने मे पर्याप्त सहायता दी है। फिर भी महादेवी के 'दुःखवाद' का स्पष्टीकरण पूरा नहीं हो सका। महादेवी के दुःख का एक वह स्वरूप भी है जो उन्हें 'चलचित्रों के ठोस धरातल को नही छोड़ने देता'––किन्तु इस स्वरूप की व्याख्या नहीं हुई। महादेवी के गीत सर्वत्र सजल कोमल ही नही, कही-कही उनमें भव्यता भी है––यह पक्ष भी अधूरा रह गया है। 'एक ही पथ पर' अध्याय में लेखक ने महादेवी की अन्य रहस्यवादियों––कबीर, जायसी, प्रसाद, पंत, निराला आदि––से संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित तुलना की है। मीरा और महादेवी की तुलना सन्तोषप्रद नहीं। लेखक ने महादेवी के अक्षय गुणों का परिचय देकर गुणग्राहकता का परिचय दिया है, किन्तु दोषों की ओर उसकी दृष्टि तक नही गई।

'सुमित्रानन्दन पंत' में 'मानव' ने पंत जी की भावधारा की आदर्शवादी दृष्टिकोण से विशद आलोचना की है। पुस्तक का प्रथम अध्याय 'व्यक्ति और साहित्य' मूल्यवान है, उसके द्वारा पंत के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद के संबंध में विद्वानों की भिन्न-भिन्न धारणाओं की समीक्षा करते हुए अपना मत स्थिर किया है। अपने मत के विरोधी आलोचकों––डॉ० देवराज, डॉ० रामविलास शर्मा आदि––की कटु आलोचना की है। ऐसा करते हुए लेखक ने कही अप्रासांगिक-असंबद्ध चर्चाएँ की है। इससे पुस्तक की सुसूत्रता नष्ट हो गई है। 'मानव' ने पंत का छायावादी दृष्टिकोण, उनकी रहस्यवृत्ति, उनकी प्रगतिशीलता, पंत और प्रकृति, पंत जी की प्रेम-भावना, उनका विचार जगत् और अन्त में उनके भाव और कला-पक्ष का विस्तृत स्पष्टीकरण किया है। अवश्य ही पूर्ण सहृदयता से उन्होंने पंत-काव्य के गुणों की निरख-परख की है। किन्तु कहीं-कहीं पंत की प्रशंसा में लेखक इतना बह गया है कि उसकी अपनी आलोचना से पंत-काव्य की इतनी महत्ता प्रकट नहीं होती, त्रुटियों की ओर उसकी दृष्टि कम गई है, किन्तु महादेवी की

'रहस्य साधना' की अपेक्षा कहीं अधिक। वस्तुतः छायावादियों के लिए वे सहृदय समीक्षक हैं और प्रगतिवादियों के लिए निर्मम आलोचक। आलोचक के मत कहीं-कहीं व्यक्तिगत हो गए है :—वे तर्कसंगत नही, यथा बच्चन की स्थिति को अंग्रेजी के शैली और कीट्स जैसी,'ग्रन्थि' के खंडकाव्यत्व की सफलता निराला के 'तुलसीदास' के समान और ब्रजभाषा के लालित्य माधुर्य पर अनावश्यक प्रहार करना। इसी प्रकार 'गुजन' के गीति-काव्य की अत्यधिक प्रशंसा हुई है, किन्तु यहाँ लेखक अन्य गीतिकारों के साथ तुलना करना भूल गया है (क्योंकि पंत का स्थान कम ठहरता)। वैसे वह हर स्थान पर तुलना करता है। लेखक को इन गीतों की रचना में पूरी तन्मयता दिखाई देती है। हमें तो गीतिकाव्य के लिए अपेक्षित सशक्त अनुभूति का अभाव दिखाई देता है।

लेखक ने स्थान-स्थान पर तुलनात्मक तथा निर्णयात्मक आलोचना प्रणालियों का प्रयोग किया है। तुलनात्मक आलोचना भी केवल अपनी व्याख्या के स्पष्टीकरण की दृष्टि से नहीं है, वरन् निर्णय देने का दृष्टिकोण अधिक लक्षित होता है। यथा पंत जी का स्थान इस प्रकार निर्धारित किया है, "पंत जी हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों—तुलसी, सूर की कोटि में आते हैं और आधुनिक हिन्दी कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। यदि क्रम पर ही आग्रह हो तो इस समय वह इस प्रकार है–मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रा-नन्दन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी आदि।" 'मानव' के इसी क्रम पर पर्याप्त आपत्ति हो सकती है। अच्छा होता यदि वे मैथिलीशरण गुप्त को इस तुलना-क्रम में न रखते। अन्त में पंत जी की 'विराट् कल्पना' तथा 'लम्बी और कुछ घटना-प्रधान' रचनाओं को देखकर उनसे महाकाव्य लिखने की आशा भी करते है। उनको आशंका है तो केवल इतनी कि वे अपने कथानक का निर्माण 'मानस' के समान सामान्य जीवन को सीधे प्रभावित करने वाली घटनाओं के आधार पर कर सकते है या नही। पर आश्चर्य है कि 'मानव' की दृष्टि इस बात पर न गई कि पंत की सुकुमारता महाकाव्योचित ओज को किस प्रकार वहन कर सकेगी।

'मानव' कृत 'कामायनी' की टीका विद्यार्थी वर्ग में पर्याप्त प्रसिद्ध है। निस्संदेह इस टीका ने 'कामायनी' की दुरूहता को दूर करने का प्रयास किया है तथापि इसमें जो त्रुटियाँ रह गई है उनका परिशोधन अत्यावश्यक है।

छायावाद से प्रभावित तथा कवि होने के कारण 'मानव' की शैली में कल्पना तथा भावुकता की रंगीनी है।

गंगाप्रसाद पाण्डेय

पांडेय जी के आलोचना ग्रंथ हैं—१. काव्य कलना २. निबंधिनी ३. नीरक्षीर ४. महादेवी वर्मा ५. छायावाद रहस्यवाद ६. कामायनी: एक परिचय ७. आधुनिक

कथा साहित्य ८. मीरा गीतावली ९. कला कुसुम १०. महाप्राण निराला।

काव्य की धाराएँ और समीक्षा-पद्धतियाँ समानान्तर होते हुए भी परस्पर आदान प्रदान करती हैं, प्रभावित करती हैं। पांडेय जी ने भी छायावाद, रहस्यवाद तथा इनको महिमा मंडित करने वाले कवियों—प्रसाद, निराला और महादेवी पर लिखा ही नहीं, वे इन वादों से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। 'छायावाद और रहस्यवाद' लिखते समय नहीं आज भी वे छायावाद, रहस्यवाद के प्रवलतम समर्थकों में से हैं, उनकी आस्था और भी अतुल-अटल हो गई है, "वस्तुतः छायावाद युग-चेतना का प्रतीक है—अखिल जीवन के विकास का स्वर-संधान अथवा मोड़ है। मनुष्य और शेष प्रकृति के बीच जिस साहचर्य, सौहार्द तथा संबंध की छाया-युग ने स्थापना की वह अद्वितीय होने के साथ इस भौतिक विज्ञानी युग में चेतन विज्ञान की प्रतिष्ठा का द्योतक, समर्थक और सजग प्रहरी है। दुःख है कि इस काव्य का व्यावहारिक उपयोग तथा सम्यक समालोचन अभी तक नहीं हो सका। अन्यथा विश्व के विचारक तथा साहित्य-पारखी इसकी प्रशंसा करते कभी न थकते। इस पयस्विनी के भगीरथ रवीन्द्र की दुंदुभि दुनिया में बज चुकी है। कुछ भी हो, अब समय आ गया है जब कि इस बात की घोषणा की जा सकती है कि भारतीय साहित्य का वह युग इस युग के विश्व-काव्य में से श्रेष्ठ और सुन्दरतम है। निस्संदेह बीसवीं शताब्दी की बाज़ी भारत की है" (अवन्तिका, मार्च १९५४)। इस प्रकार छायावादी कविता की अन्तर्निहित भावनाएँ ही पांडेय जी की समीक्षा के मानदंड बन गई हैं। छायावादी कवि भौतिक उपयोगितावाद अथवा स्थूल नैतिक उपदेश की दृष्टि से काव्य-निर्माण नही करता। उसका लक्ष्य सौंदर्य सृष्टि है और उसका सीधा संबंध नीति से न होकर आह्लादन-प्रसादन से है। पांडेय जी का भी यही मत है, "कला में वाह्य जीवन संबंधी आरोप चाहे वह धार्मिक हों, चाहे नैतिक, अनुचित हैं।" (छायावाद रहस्यवाद) इसी पुस्तक में अन्यत्र लिखते हैं, "मंगल वस्तुतः सुन्दर है। उसमें मानव हृदय को आकृष्ट करके तन्मय करने की क्षमता होती है। उसमें केवल प्रयोजन की भौतिक स्थूल अभाव की ही तृप्ति नहीं है। साहित्य साधना से प्राप्त आनन्द तथा विश्राम साधारण पार्थिव आनन्द से भिन्न माना गया है।" इस आलोचना दृष्टि के साथ पांडेय जी समझते हैं कि काव्य का कार्य अज्ञात रूप से—व्यंजना और आह्लाद के माध्यम से—व्यष्टि-समष्टि को स्थायी रूप से प्रभावित करना है। इस प्रकार लेखक काव्य के चिरन्तन और सांस्कृतिक मूल्यों को भी महत्ता देता है। लेखक ने 'महाप्राण निराला' में आलोचक के कर्त्तव्य-कर्म का भलीभाँति स्पष्टीकरण किया है—"पहला, साहित्यकार का हृदय कितना व्यापक है और संसार के ऊपर उसका कितना अधिकार है। दूसरा, वह स्थायी रूप में कितना व्यक्त हुआ है, अनुभव का बल उसे कहाँ तक प्राप्त है और इन दोनों का सामंजस्य उसने किस सीमा तक किया है।" कुछ इन्हीं आलोचना सिद्धांतों के आलोक में पांडेय जी ने काव्य की निरख-परख की है।

'महाप्राण निराला' में जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, निराला के विराट्

व्यक्तित्व का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक तथा चरितमूलक समीक्षा-पद्धतियों द्वारा सफलता-पूर्वक हुआ है। लेखक ने कवि के जीवन की उन सभी घटनाओं का उल्लेख किया है जिनमें 'निराला' का निराला स्वभाव विनिर्मित हुआ। और फिर इसी स्वभाव के प्रभाव-प्रतिबिम्ब का निर्देश उनकी कविता से किया है। तुलनात्मक समीक्षा प्रणाली का उपयोग करते हुए कहीं-कहीं निराला और पन्त की काव्य-प्रवृत्तियों का स्पष्टीकरण उनके जीवन के प्रकाश में किया गया है। कवि की भावनाओं और विचारों के साथ शैली पर भी प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः लेखक का प्रधान उद्देश्य निराला के 'महाप्राण' व्यक्तित्व का विश्लेषण था और इसमें वह पूरा कृतकार्य हुआ है।

महादेवी के संबंध में लेखक के विचारों में पर्याप्त विकास परिलक्षित होता है। 'अवन्तिका' मार्च १९५४ और 'साहित्य संदेश' सितम्बर १९५४ के महादेवी संबंधी लेख इसका प्रमाण है। लेखक ने महादेवी की वेदनानुभूति का अनुभूतिमय विश्लेषण किया है। आत्मा की परमात्मा के प्रति वियोग-व्यथा का स्पष्टीकरण तो अनेक समीक्षकों ने किया है, किन्तु, " विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है"—इस भावधारा का विश्लेषण पांडेय जी ने इन दोनों लेखों में अच्छा किया है। महादेवी के इस पक्ष पर प्रकाश डालने की और भी आवश्यकता है।

'हिन्दी कथा साहित्य' में "कथा साहित्य की प्रतिनिधि प्रणालियों का परिचय तथा कलाकारों की अपेक्षा कथा की मूल चेतना के ऐतिहासिक विकास व्यवस्था का ध्यान अवश्य ही अधिक रखा गया है" लेखक का कहना ठीक ही है। कथाकारों के संबंध में लेखक का निष्कर्ष इस प्रकार है—"प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में गांधी का दर्शन दिया तो इलाचन्द्र ने मनोविज्ञान का। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने मध्ययुग की भावुकता में आधुनिकता की पॉलिश चढ़ाई तो भगवतीचरण वर्मा ने उसमें ब्रासो की चमक ला दी। निराला और जैनेंद्र ने भारतीय दर्शन को व्यावहारिकता दी तो अज्ञेय ने स्नेह की स्पष्टता। वृन्दावन लाल वर्मा का इतिहास और साहित्य का समन्वय अपने ढंग का अकेला है जैसे प्रसाद के नाटकों का। 'बंगभंग' के बाद अन्तःसलिला की भाँति प्रवाहित क्रांति की भावना ने भी साहित्य में अपने मन्तव्य का प्रकाशन पाया है। यशपाल इसके अगुवा हैं, किन्तु क्रांति की अपेक्षा यौवन की उष्णता के वे अधिक निकट हैं।"

उक्त उदाहरण पांडेय जी की आलोचना शैली से भी अवगत करा देता है जो प्रायः भावुकता और कल्पना-प्रधानता को लिए रहती है तथा तरल और मर्मस्पर्शी है। पर यह कहीं-कहीं रहस्यमयी भी हो जाती है—गद्य-काव्य का आनन्द अवश्य आ जाता है, किन्तु तथ्य स्पष्ट नहीं हो पाता।

प्रभाकर माचवे

वैसे माचवे जी ने १९३२ से लेकर आज तक हिन्दी तथा मराठी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अनेकों कविताएँ, कहानियाँ और आलोचनाएँ लिखने के अतिरिक्त 'परन्तु' उपन्यास (?) और 'खरगोश के सींग'—व्यंग्यात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। किन्तु इनको छोड़कर पुस्तकाकार साहित्य समालोचनात्मक ग्रन्थ तीन हैं :

१. व्यक्ति और वाङ्मय
२. समीक्षा की समीक्षा
३. संतुलन

'व्यक्ति और वाङ्मय' में सन् '३६ से सन् '५२ तक लिखे हुए लेखों का संग्रह है। इन लेखों में आदिकाल से आधुनिक काल तक के भारतीय कवियों की रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का निरीक्षण-परीक्षण किया गया है। इन कवियों में संस्कृत, हिन्दी, बंगाली, मराठी, तमिल, मलयालम, तैलगु, कन्नड़, गुजराती, पंजाबी के कवि आते हैं। इन कवियों पर लेखक ने जिस दृष्टिकोण से दृष्टिपात किया है वह लेखक के ही शब्दों में इस प्रकार है—"लेखक व्यक्ति की वर्तमान आचार-स्थिति को साहित्य के लिए कसौटी मानने को तैयार नहीं, हाँ—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से वह अन्तर-मानस के ऐतिहासिक अध्ययन की चेष्टा आवश्यक समझता है।" किन्तु लेखक ऐसा कुछ ही कवियों के संबंध में कर सका है और वह भी पूर्णतया नहीं। लेखक 'व्यक्ति' और उसके 'वाङ्मय' को पृथक् नहीं देखना चाहता किन्तु यह भी कुछ ही कवियों के संबंध में हो सका है। साथ ही माचवे लेखकों के व्यक्तित्व के किसी विशेष पक्ष को ही मूर्त्त कर सके हैं, सम्पूर्ण व्यक्तित्व का पर्यवेक्षण सम्भव नहीं हो सका। इस पर्यवेक्षण में भी गहराई का अभाव है। फिर भी इतनी विभिन्न भाषाओं के कवियों का एक ही पुस्तक में समाहार हिन्दी में प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास है। पाठकों की ज्ञानवर्धकता में यह पुस्तक पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकती है। माचवे जी का बहुभाषा-ज्ञान भी सराहनीय है।

सत्समालोचना पाठकों की रुचि का परिष्कार—परिमार्जन करती है, किन्तु दूषित आलोचना पाठकों की रुचि में विपर्यय भी उत्पन्न कर सकती है। अतएव 'समीक्षा की समीक्षा' भी अपेक्षित है। माचवे जी का इस संबंध में प्रयास कुछ सीमा तक सफल है। माचवे जी ने 'समीक्षा की समीक्षा' में हिन्दी समीक्षा की सीमा-मर्यादा तथा समस्याओं पर मूल्यवान मन्तव्य दिए हैं। साथ ही तत्संबंधी प्रश्नों को इस विधि से रखा है कि पाठकों में आलोचनात्मक बुद्धि का भी उद्बोधन होता चलता है। फिर भी इस पुस्तक का उद्देश्य दिशा-संकेत मात्र है, दिग्दर्शन कराना नहीं। माचवे जी ने विभिन्न आलोचकों और आलोचनात्मक पुस्तकों पर जो विचार प्रकट किए हैं उनसे मतभेद हो सकता है (और जैसा लेखक स्वयं भी कहता है) किन्तु लेखक किसी पूर्वाग्रह को लेकर नहीं,चलता। उसमें गुण-ग्राहकता है। कुछ विद्वान् माचवे की आलोचनाओं में अन्तर्विरोध भी खोज सकते हैं, किन्तु

इसका कारण यह है कि लेखक ने रसवादी, मनोवैज्ञानिक, वस्तुवादी, सामाजिक तथा क्रोचे के भाव-सौंदर्य-मूलक तत्त्वों, सबका समुचित मात्रा में उपयोग किया है। लेखक ने स्वयं कम लिखा है, अन्य विद्वानों के मत ही अधिक दिए हैं।

तृतीय पुस्तक 'संतुलन' समीक्षात्मक लेखों का संग्रह है। और यह प्रथम दोनों पुस्तकों से अच्छी है। ये लेख तीन भागों में विभक्त है—१. कला और साहित्य २. आधुनिक कविता ३. आधुनिक गद्य। इनमें से प्रथम भाग अधिक महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने कला के सामयिक तथा शाश्वत दोनों पक्षों पर शास्त्रीय पद्धति से विचार किया है। इन लेखों में कला के संतुलित स्वरूप के लिए लेखक फ्रायड और मार्क्सवाद में समुचित समन्वय की अपेक्षा रखता है। इन लेखों से स्पष्ट है कि लेखक केवल विवेचन के रूप में ही नहीं, विचारों की मौलिकता सहित उपस्थित होता है। समालोचनाओं को कही-कही हृदयंगम करने में कठिनाई उपस्थित होती है। इसका कारण है अत्यधिक जानकारी जो इनकी शक्ति भी है और दुर्बलता भी। इनकी जानकारी की प्रचुरता ज्ञान का घटाटोप बनकर इनकी समालोचना की वैज्ञानिकता को आवृत्त कर लेती है। अनेक स्थानों पर तो पाठक को इनका मूल मन्तव्य ही हाथ नहीं आता। ऐसा इसलिए भी होता है कि माचवे जी ज्ञान और पाण्डित्य के प्रदर्शन मे भी लग जाते हैं। इनकी समालोचनाएँ विस्तृत ज्ञान-राशि का संचित कोष सी बन गई है। माचवे प्रायः 'ड्राइडन' की यह उक्ति देते हैं, "If too many foreign words are poured in upon us, if looks us if they were designed not to assist the natives but to conquer them." यही तथ्य माचवे की अत्यधिक पाश्चात्य उक्तियों के संबंध में सत्य है। इनके विस्तृत ज्ञान से संस्कृत, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू की उक्तियों से पाठक जितना आतंकित होता है उतना प्रभावित नही।

शिवनाथ

शिवनाथ के आलोचना ग्रन्थ हैं—१. हिन्दी कारकों का विकास २. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ३. आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका ४. अनुशीलन ५. मीमांसिका ६ हिन्दी नाटकों का विकास ७. भारतेन्दु की कविता।

शिवनाथ जी की प्रमुख पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' में शुक्ल जी के समस्त काल का सर्वांगीण विवेचन हुआ है। उपक्रम में शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व-विकास का विवेचन सामयिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आंदोलनों के आलोक में किया गया है। आलोचना के प्रकरण में काव्य, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि के सम्बन्ध में शुक्ल जी के आलोच्य सिद्धान्तों का गम्भीर प्रतिपादन हुआ है। शुक्ल जी की समाजवाद और रहस्यवाद सम्बन्धी रणाओं की विशद व्याख्या अवश्य हुई है, किन्तु शुक्ल जी की ऐसी धारणाओं के कारण नवीन कवियों के प्रति जो अन्याय हुआ, उसका विवेचन नहीं हुआ। शुक्ल-सिद्धांत

की दृष्टि से प्राचीन आचार्यों से शुक्ल जी की मत-विभिन्नताओं का रूप-स्पष्टीकरण भी अच्छा हुआ है। निबन्ध के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों और शुक्ल जी की धारणाओं में मतभेदों को परखते हुए शुक्ल जी की निबन्ध-शैली की विशेषताओं का उद्घाटन विद्वत्ता-पूर्ण है। यद्यपि इस पुस्तक से लेखक की गहन अध्ययनशीलता का परिचय मिल सकता है तथापि इस से शुक्ल जी के कृतित्व का स्पष्टीकरण ही अधिक हुआ है, उस पर आलोचना कम हुई है। पुस्तक के आकार को देखते हुए ऐसा सम्भव भी नहीं था। फिर भी शुक्ल जी पर अध्ययन को विकसित करने में इस पुस्तक ने विशेष योग दिया है। आज लेखक के आलोचनात्मक दृष्टिकोणों में भी विशेष विकास हुआ है। और इसका परिचय उनके 'आधुनिक आलोचना का उदय और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' नामक ('आलोचना' अक्तूबर, १९५३) लेख से मिलता है। लेखकके शब्दों में "आज हिन्दी समीक्षा के शुक्लजी निकाय के अन्तर्गत आने वाले समीक्षक बहुत कम हैं। इसी निकाय को पकड़ कर चलने वाले समीक्षकों का मूल्य आज नहीं के बराबर है। जो सुधी हैं उन्होंने अपना दूसरा मार्ग भी निकाला है। इसका भी कारण है। वह यह कि आज समीक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि साहित्य को संस्कृति के सभी अंगों की विवेचना के परिप्रेक्षित में देखा जाय। आज साहित्य के क्षेत्र में कोई 'विशुद्धवाद' और 'शाश्वतवाद' को लेकर नहीं चलना चाहता। ऐसी स्थिति में आज की समीक्षा समष्टिवादी आधार पर शुक्ल-निकाय की समीक्षा से परिस्थिति वश आगे बढ़ चुकी है।"

'आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका' में आ ुनिक साहित्य के आर्थिक प्रभावों के बीच निरखने-परखने का नवीन प्रयोग-प्रयास है। यहाँ आर्थिक दृष्टि के बाहुल्य प्राबल्य ने आलोचना को एकांगी सा बना दिया है।

इनके चिंतनपूर्ण निबन्ध संग्रह 'अनुशीलन' में शोध-सम्बन्धी श्रद्धा, तथा ज-भाषा सम्बन्धी—निबन्ध विशेष अच्छे हैं। 'इसके व्यावहारिक रूप' निबन्ध में इन्होंने अत्यन्त विद्वत्ता से सिद्ध किया है कि यह सिद्धान्त कला के लिए नहीं है।

'मीमांसिका' के भविष्य और संस्कृति विषयक १८ निबन्धों के संग्रह में लेखक को दावा है कि "इन निबन्धों में मैं अपने को खोल सका हूँ।" निस्संदेह सरल स्पष्ट शैली में गहरे गम्भीर विचारों को सुलझाने का सुप्रयत्न किया गया है। लेखक के शब्दों में "तो संघर्षों में पड़ कर एक पक्ष ग्रहण करता जा रहा हूँ, ग्रहण कर ही लिया है, ऐसा समझिए" और वह पक्ष है "उसके (जनता के) जीवन में कुल मिल कर, उसके जीवन-स्वर समझकर और इस प्रकार उसके जीवन से प्रेरणा लेकर साहित्य-निर्माण ही साहित्य की कोटि में रखा जा सकता है", किन्तु लेखक ऐसे जन-साहित्य का हामी है जो कलात्मक हो। वस्तुतः यही स्वस्थ, संतुलित तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण है। अतएव भावी साहित्य पर विचार करते हुए उसने गांधी, रवीन्द्र अरविन्द और मार्क्स को एक ही स्तर पर प्रतिष्ठित कर उन्हें सांस्कृतिक नेता कहा है। ऐसा उन्होंने इसलिए किया है क्योंकि वह

साहित्य को संस्कृति के सभी अंगों के परिप्रेक्षित में देखना चाहते हैं। आज यही उनकी आलोचना का विकसित माप-मान है। 'विकसित', इसलिए क्योंकि अपनी पहली मान्यताओं से वह आगे बढ़ चुके हैं।

कन्हैयालाल सहल

सहल जी के आलोचना ग्रंथ हैं—१. समीक्षांजलि २. आलोचना के पथ पर ३. समीक्षायण ४. साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव ५. कामायनी दर्शन (प्रो० विजयेन्द्र स्नातक के साथ मिल कर लिखी है)। ६. वाद समीक्षा।

'समीक्षांजलि' में कला और काव्य विषयक कुछ लेखों के अतिरिक्त पन्त के 'गुंजन' और सियारामशरण गुप्त के 'बापू' पर विस्तृत लेख हैं। बाबू गुलाबराय ने भूमिका स्वरूप लिखा है "प्रस्तुत संग्रह में यद्यपि पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों का समावेश किया गया है तथापि उसमें प्रमुखता भारतीय सिद्धान्तों को ही दी गई है। फिर भी लेखक का दृष्टिकोण उदार और व्यापक है और उसी के अनुकूल शैली भी प्रसादमयी है।" इस संग्रह में 'गुंजन गरिमा', 'बापू-विमर्श', 'कला का त्रिकोण' आदि लेख विशेष अच्छे हैं। 'आलोचना के पथ पर' ग्रंथ में लेखक के विविध विषयों—शैली का स्वरूप, औचित्य सिद्धांत, रहस्यवाद का स्वरूप, लहर, कामायनी, ग़बन, महाकाव्य, सूफ़ी धर्म, राजस्थानी कहावतें आदि—पर लेख है। नंददुलारे बाजपेयी ने भूमिका में ठीक ही लिखा है, "सहल जी ने अपने निबन्धों में जिन साहित्यिक मतों का उल्लेख किया है, वे किसी सम्पूर्ण विचार-पद्धति के अंग बनकर नही आए है। वे प्रायः प्रकीर्णक है, अतएव लेखक को अपने विषय-निरूपण में स्वतन्त्र विचार-पथ ग्रहण करने का अधिक अवकाश रहा है।" प्रायः इन लेखों में विषयों का पूर्ण प्रतिपादन नहीं हुआ, किन्तु संकेतों से विचारोत्तेजन अवश्य हो जाता है। 'कामायनी','लहर','ग़बन' तथा 'औचित्य सिद्धान्त' पर लेख पठनीय हैं।

'समीक्षायण' में ध्रुवस्वामिनी, साकेत, प्रियप्रवास आदि पर छात्रोपयोगी लेख संग्रहीत हैं।

'कामायनी दर्शन' में कामायनी के विभिन्न सर्गों पर लिखे लेखों में लेखक की तथ्य-ग्राहिता तथा सुलझी दृष्टि का अच्छा परिचय मिलता है।

'साकेत' के नवम सर्ग का 'काव्य वैभव' में लेखक ने परिश्रमपूर्वक काव्य-सौन्दर्य सहित पदों की व्याख्या की है। लेखक ने मैथिलीशरण गुप्त की सम्मतियों का भी पूरा लाभ उठाया है। इस पुस्तक का साधारण टीकाओं से कहीं अधिक महत्त्व है।

'वाद समीक्षा' में हिन्दी साहित्य के पाँच प्रमुख वादों—छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा अभिव्यक्तिवाद—पर संक्षिप्त लेख हैं।

'हिन्दी की प्रयोगवादी कविता' डॉ० नगेन्द्र का लेख है। 'रहस्यवाद का स्वरूप',

'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और प्रगतिवाद' तथा 'अभिव्यंजनावाद' में साहित्य की अपेक्षा आधारभूत दर्शन अथवा मनोविज्ञान की चर्चा ही अधिक है। 'छायावाद' लेख में लेखक ने छायावाद की १५ विशेषताएँ बतायी है, जिनका न कोई क्रम है और न स्पष्टीकरण का प्रयास।

यथा. पहली विशेषता है प्रतीक पद्धति, दूसरी पलायनवादी प्रवृत्ति, तीसरी आत्माभिव्यंजन, व्यक्तिवाद और निराशा . . . . . .। तीसरी विशेषता में एक साथ तीनों तत्त्वों का समाहार हास्यास्पद है। लेखक की यह पुस्तक सफल नही कही जा सकती।

डॉ० देवराज

डॉ० देवराज के आलोचना ग्रंथ है––'छायावाद का पतन' और 'साहित्य चिंता'। इन्होंने 'रस और संस्कृति दोनों की सम्मिलित दृष्टि' तथा वादयुक्त धरातल पर साहित्य का निरीक्षण-परीक्षण किया है। 'छायावाद का पतन' में मौलिक सूझ-बूझ के साथ, तार्किक शैली में, छायावाद के पतन के कारणों का विवेचन है। इनके विचार में छायावाद की प्रधान कमजोरी कल्पनाधिक्य है और उसकी तीन प्रधान विशेषताएँ है––१. धूमिलता या अस्पष्टता २. बारीकी या गुम्फन की सूक्ष्मता ३. काल्पनिकता और कल्पना-वैभव। आलोचक की ये मान्यताएँ कुछ सीमा तक ठीक है और इन्हें मानने में हमें कोई आपत्ति भी नही। किन्तु कहीं-कहीं उनकी विचित्र स्थापनाएं है। जैसे "छायावादी काव्य की पदावली प्रकृति-सम्बन्धी संकेतो से भरी पड़ी है। इस स्थापना की सत्यता की परीक्षा पाठक पल्लव, गुंजन, परिमल, नीरजा, कामायनी आदि की प्रायः किसी भी कविता को पढ़कर कर सकते है।" इस सम्बन्ध में हम यही कह सकते है––Too much generalisation means nothing. आश्चर्य की बात है कि उपर्युक्त कृतियों की किसी भी कविता में उन्हे प्रकृति कैसे दिखाई देती है। वैसे भी छायावाद में जहाँ प्रकृति का वर्णन हुआ है वहाँ भी प्रकृति प्रमुख नही, प्रायः कवि का दृष्टिकोण प्रधान रहा है। 'साहित्य चिंता' में लेखक का यह कथन हमारी बात का समर्थन करता है––"पंत का हृदय प्रकृति में अधिक रमता है, प्रसाद का नारी (अथवा प्रेमपात्र के) सौन्दर्य में। उन्हें प्रकृति जहाँ सुन्दर लगती है वहाँ मानों नारी के ही रूप की झलकें दिखलाती हैं––प्रकृति का सौन्दर्य भी मूल में नारी का सौन्दर्य है।" आलोचक ने छायावादियों के 'शब्द-मोह' 'चित्र-मोह' और 'कल्पना-मोह' के सम्बन्ध में जो आपत्तियाँ उठाई, इनका उत्तर विश्वम्भर 'मानव' ने 'सुमित्रानंदन पंत' में विस्तार से दिया है। अवश्य ही आलोचक से कहीं-कहीं छायावादी कविता के अर्थ समझने में भारी भूलें हुई हैं। फिर भी पुस्तक का अपना महत्त्व है। छायावाद के पतन के सम्बन्ध में इतने विस्तार से लिखने का प्रथम प्रयास लेखक के द्वारा ही हुआ।

'साहित्य चिंता' के १७ चिंतनपूर्ण निबन्धों में लेखक ने अधिक संतुलित दृष्टि का

परिचय दिया है। लेखक ने कुछ निबन्धों के अन्त में अतिरिक्त टिप्पणियाँ दी हैं, जिनमें उन पुरानी मान्यताओं को सुधारा या दुहराया है। अवश्य ही आत्मालोचन की यह सत्प्रवृत्ति हिन्दी आलोचना के लिए स्वास्थ्यवर्द्धक सिद्ध होगी। इन निबन्धों से लेखक के विस्तृत गंभीर अध्ययन तथा मौलिक चिंतन-मनन का परिचय मिलता है। 'साहित्य और संस्कृति', 'साहित्य का प्रयोजन', 'प्रयोगशील साहित्य', 'किरण संचय', 'जैनेन्द्र की उपन्यास कला' निबन्ध पठनीय हैं। अनेक नूतन समस्याओं को लेखक ने हिन्दी आलोचकों के सम्मुख रखा है। पृष्ठ १३५ पर देव और बिहारी की तुलना में लेखक देव के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण नहीं चुन सका।

लेखक ने 'आलोचना' अप्रैल १९५३ में, प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध, अपनी नूतन मान्यताओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया है--"(१) रवीन्द्रनाथ उच्चतम कोटि के कवि नहीं हैं। उनका स्थान कालिदास से नीचे है। ठीक जैसे कालिदास का शेक्सपीयर और वाल्मीकि से नीचे है। (२) छायावादियों का यह विचार कि उनका सांस्कृतिक स्तर रीतिकालीन कवियों से उच्चतर है, ग़लत है (३) कामायनी की अधिकांश प्रशंसा का कोई ठोस आधार नहीं है। (४) प्रेमचन्द में धार्मिक-दार्शनिक (डाइमेन्शन) नही मिलती, अतः उनकी कला में ऊँचाई नही है। (५) ल्यूकैक्स का यह (मार्क्सवादी) मन्तव्य कि कला सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन से समृद्ध बनती है, दास्ताएव्स्की के महत्त्व की व्याख्या करने में असमर्थ है, इत्यादि।" लेखक हिन्दी के 'अच्छे आलोचकों' से उक्त निर्णयों के सम्बन्ध में उत्तर चाहता है। स्वयं लेखक ने छायावाद पर इतना लिखा है किन्तु फिर भी दूसरी व तीसरी मान्यताओं के बारे में हिन्दी जगत को प्रभावित नही कर सका। पता नहीं रीति-काल की भोगवादी रसिकता, प्रकृति विमुखता तथा रूढ़िबद्ध संकुचित दृष्टिकोण को छाया-वाद की परिष्कृत सौन्दर्य एवं प्रेम की सुरुचि तथा प्रकृति-प्रियता के सम्मुख कैसे रख सका है। अच्छा हो कि डॉ० देवराज कामायनी पर एक ऐसी पुस्तक लिखें जो केवल 'सम्मति' ही न बन कर रह जाय वरन्--जैसा कि डॉ० देवराज श्रेष्ठ आलोचक के लिए आवश्यक मानते हैं--वह 'अपनी बात को, विश्लेषण द्वारा, पाठकों के मन में उतार सकें।' जहाँ तक चौथी स्थापना का सम्बन्ध है, इसमें कुछ मौलिकता नहीं।

छायावादी कवियों की व्यक्तिगत वेदना ने भी समष्टिगत गम्भीर करुणा का रूप धारण कर लिया है--विष भी अमृत बन गया है। 'नीरजा' की अधिकांश कविताएँ देखने से स्पष्ट हो जायेगा कि जिन परिष्कृत भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है, वह रीति-काल में दुर्लभ हैं। 'निराला' के सम्बन्ध में तो प्रश्न ही नहीं उठता।

सत्यपाल विज

नलिन विलोचन शर्मा

श्री नलिन विलोचन शर्मा सुप्रसिद्ध विद्वान स्व० पं० रामावतार शर्मा के सुपुत्र हैं। आजकल पटना कॉलेज में हिन्दी-अध्यापक हैं। उनके आलोचनात्मक निबन्धों का एक संग्रह है—'दृष्टिकोण'। इनकी आलोचना में मनोवैज्ञानिक पहलू को विशेष महत्त्व दिया गया है। शर्मा जी की पैठ अंग्रेजी साहित्य में है। यों तो हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य का गहरा अध्ययन है ही, पर वे विशेषतया अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित हैं। अंग्रेजी साहित्य के लेखकों का नाम सुने-सुनाये नहीं कहा करते हैं बल्कि उनसे परिचित रहते हैं, तब ही उनकी बातों में आलोचनात्मक दृष्टिकोण देते हैं। इसमें कला-संबंधी निबन्धों की संख्या अधिक है। अपने निबन्धों में मौलिकता लाने की चेष्टा अधिक किया करते हैं। वस्तुतः इनके लिखने की टेकनीक नई है। पैनी दृष्टि, सूझ-बूझ और बात कहने का ढंग मालूम है। हाँ, कहीं-कहीं चमत्कार और पाण्डित्य-प्रदर्शन में इनके विचार उलझ से जाते हैं।

कुछ तुलनात्मक निबन्ध भी इन्होंने लिखे हैं—जैसे—'प्रेमचन्द और जैनेन्द्र' 'तुर्गनेव और दॉस्तॉव्स्की' जिनमें मौलिक दृष्टिकोण और नवीनता है। पर भाषा अनेक स्थलों पर बनावटी और दुरूह हो गई है।

इनकी आलोचना-शैली पर अंग्रेजी का प्रभाव अधिक है। वैसे भी ये पाश्चात्य काव्य-प्रयोगों को हिन्दी के साथ संग्रथित करने के हिमायती हैं। ये साहित्य को किसी खास दायरे में बन्दी न बनाकर उसे व्यापक बनाने के पक्ष में हैं। विचारों के आदान-प्रदान से ही साहित्य की भीतरी शक्ति बढ़ेगी और उसमें विभिन्न दृष्टिकोणों को पचाने की शक्ति भी सुपुष्ट होगी—ऐसी इनकी धारणा है। इस तरह की विचारधारा निश्चय ही साहित्य की नई परिपाटी की ओर इंगित करती है।

कृष्णकुमार सिनहा